With best wishes
from.
Narayan.

उमाचल ग्रन्थावली—११

योग से रोग-निवारण

[परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण]

श्रीमत् स्वामी शिवानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

ब्रह्मचारी योगेश्वर

शिवानन्द योगाश्रम

४७१, नेताजी कॉलोनी

कलकत्ता-५०

परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण

गुरु पूर्णिमा, वि० २०३०

शिवानन्द मठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य बारह रुपये मात्र (१२.०० रुपये) Rs. 15.00

Rs. 15.00

पुस्तक बन्ध[illegible]कर्ता :

श्री राधाश्याम भ[illegible] [illegible]० ए०

श्रीगुरु बाइण्डिग वर्क्स

१८, रामनाथ विश्वास लेन,

[illegible]कत्ता-६

प्रधान विक्रेता :

एकमी एण्ड कम्पनी

८/१, एस्प्लानेड ईस्ट,

कलकत्ता-१

मुद्रक :

सुराना प्रिन्टिग वर्क्स

२०५, रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

श्रीमत् स्वामी शिवानन्द सरस्वती

उत्सर्ग

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

रहें सभी जन सुख से,
विश्व के सब हों निरामय।
देखें सभी कल्याणमय,
व्यापे न जन को दुःख-भय॥

प्रस्तावना

हमारे द्वारा प्रस्तुत **'योग से रोग-निवारण'** पुस्तक के मूल में हैं श्री आनन्दीलाल गोयनका और श्री राधाकृष्ण नेवटिया। इनकी आर्थिक सहायता और व्यवस्था से ही यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। वास्तव में इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय सिर्फ ग्रंथकार को ही नहीं है, जो इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे वे भी इनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करेंगे यही हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत पुस्तक हमारी बंगभाषा में प्रकाशित **'योगबले रोगारोग्य'** पुस्तक के संस्करण का हिन्दी अनुवाद है। **अनुवादक ऋषि जैमिनी बरुआजी ने** बंगभाषा के ज्ञान की अप्रौढ़ता के कारण अंग्रेजी संस्करण यौगिक थेरपी (Yogic Therapy) ग्रन्थ से हिन्दी में अनुवाद किया है। पुस्तक का शेष अंश 'योगविद्या का विजय-अभियान' प्रभृति भागलपुर के ख्यातिप्राप्त डॉ० श्री दीपनारायण सिंह द्वारा अनूदित है। अनुवादक श्री बरुआजी ने अति अल्प पारिश्रमिक लेकर पुस्तक का अनुवाद किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ-रीडर श्री अमीरी ठाकुर ने अति अल्प पारिश्रमिक लेकर इसकी प्रूफ-रीडिंग की है तथा पाण्डुलिपी का संशोधन किया है। मुद्रक श्री नवरतनमल सुराना ने शुल्क बांकी रखकर प्रकाशन-कार्य में सहायता प्रदान की है। अतः उल्लिखित अनुवादक, प्रूफ-रीडर तथा मुद्रक के प्रति हम इसके प्रकाशन-जनित ऋणी हैं। भगवान से हम प्रार्थना करते हैं कि धर्म तथा देशहित कार्य में इन लोगों ने जो योगदान किया है, इसके लिए इन्हें उद्बुद्ध रखें।

इस प्रथम संस्करण में हमने इसे दोष तथा त्रुटिहीन बनाकर प्रकाशित किया है—ऐसा विश्वास नहीं है। हम आशा करते हैं कि अग्रिम संस्करण में त्रुटिहीन बनाकर परिष्कृत रूप में प्रकाशित कर आपके सम्मुख रख सकेंगे।

होली पूर्णिमा, संवत वि० २०२२

—**प्रकाशक**

हमारी यौगिक गवेषणा

विज्ञान के बल से मनुष्य असाध्य साधन कर रहा है। मनुष्य ऊर्ध्व आकाश में उड़ रहा है, अचिन्तनीय वेग से महाकाश में घूमते हुए, पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है; समुद्र की अतल गहराई में निर्बाध विचरण कर रहा है; चन्द्रलोक, शुक्र तथा मंगल-ग्रह में जाने की परिकल्पना कर रहा है। फिर भी मनुष्य जरा, व्याधि और अकाल-मृत्यु के अधीन होकर असहाय जीवन-यापन कर रहा है—यह मनुष्य के लिए अगौरव की वस्तु है। मनुष्य को इस अगौरव से, इस जरा, व्याधि और अकाल-मृत्यु के हाथ से बचाया जा सकता है या नहीं, मृत्यु मनुष्य के इच्छाधीन हो सकती है या नहीं—इसी भावना में हमारा मन व्याकुल हो उठा। औषधि की सहायता से मनुष्य अकालमृत्यु से बच नहीं सकता—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने आते रहते हैं। **एक मात्र भारतीय योग-विद्या की सहायता से मनुष्य जरा, व्याधि और अकालमृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है**—इसी कारण से हमने योगविद्या की गवेषणा आरम्भ की।

हमें सर्वदा स्मरण रखना होगा कि दो-चार आसन मुद्राओं के अभ्यास से शरीर को रोगमुक्त नहीं रखा जा सकता। हठयोग के पाँच अंग हैं—धौति, वस्ति, आसन, मुद्रा और प्राणायाम। धौति की सहायता से नाभिप्रदेश तथा उदर में संचित समस्त दूषित पदार्थों को बाहर किया जा सकता है। नाभि-प्रदेश तथा उदर में यदि कोई दूषित पदार्थ संचित न रहे तो कोई भी कठिन रोग शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकता।

शरीर में दूषित पदार्थों के संचित होने का एक और स्थान है—वस्ति-प्रदेश। वस्तिक्रिया द्वारा यदि मलाशय सर्वदा स्वच्छ रखा जा सके तो वस्ति-प्रदेश में भी किसी रोग-बीजाणु और रोग-बीज के संचित होने का भय न रहेगा। योग की इस धौति-वस्ति की सहायता से समस्त रोगों का प्रतिरोध किया जा सकता है, अकालमृत्यु का

प्रतिरोध किया जा सकता है, दीर्घकाल पर्यन्त स्वस्थ शरीर और दीर्घायु मिल सकती है।

हठयोग की और भी एक आश्चर्यजनक क्रिया है—मुद्रा। मुद्रा शरीरस्थ ग्रन्थियों को स्वस्थ और सबल बनाती है। ग्रन्थियों का अन्तर्मुखी रस शरीर-गठन करता है, शरीर को पुष्ट बनाता है, शरीर को स्वस्थ और सबल बनाता है। ये ग्रन्थियाँ मनोविकास के यन्त्र हैं। इन ग्रंथियों को स्वस्थ और सबल रखने के लिए मुद्रा का अभ्यास आवश्यक है; क्योंकि यही हमारी शारीरिक और मानसिक उन्नति का उपाय है।

हठयोग का और भी एक उपकारी आविष्कार है—प्राणायाम। मुद्रा और प्राणायाम की उपकारिता प्रस्तुत पुस्तक में विशद रूप से वर्णित है। योग के दो-एक अंग नहीं, योग के पंचांगों के समाहार द्वारा ही जरा, व्याधि और अकालमृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक और आयुर्वेदिक चिकित्सा की तरह यौगिक चिकित्सा भी व्यवसाय रूप में परिणत न हो—इसी उद्देश्य से हमने हठयोग की क्रिया को सहज-साध्य बनाकर सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

हमारे देश के छात्र-छात्राओं के शरीर में औषध-विष संचारित न होकर निर्दोष योगविद्या उनके बीच प्रसारित हो—इसके लिए हम राष्ट्रनेताओं और शिक्षकों के समक्ष अनुरोध ज्ञापन करते हैं।

योगशास्त्र की कठिन क्रियाएँ, जैसे धौति, वस्ति तथा कुम्भक प्राणायामादि हैं, उनका अनुशीलन सर्वसाधारण के लिए संभव नहीं है। यही कारण रहा कि सर्व-साधारण के लिए उपयोगी नवीन क्रियाओं के उद्भावन के लिए हमारे मन में आकांक्षा जगी।

भारत के सुदूर पूर्व सीमान्त में, आसामके एकान्त आश्रममें रह कर बहुत वर्ष पहले हमने योगविद्या की गवेषणा प्रारम्भ की। इसीके फलस्वरूप महोपकारी सहज यौगिक क्रियाओं के उद्भावन में हम सक्षम हो सके हैं। योग की कठिन धौति-वस्ति क्रियाओं को हमने सहज साध्य

धौति-वस्ति क्रिया के रूप में परिणत कर दिया है। कठिन और विपन्न कुम्भक प्राणायाम के स्थान पर सर्व-साधारण के लिए उपकारी सहज प्राणायाम और भ्रमण-प्राणायाम का विधान किया है। हमारे द्वारा आविष्कृत सहज अग्निसारक्रिया आमाशय और पेट की गड़वड़ी में अति शीघ्र आराम पहुँचाती है। यही सहज अग्निसारक्रिया प्राणघातक हैजेका भी अव्यर्थ प्रतिषेधक है। हमारे द्वारा प्रचारित भ्रमण प्राणायाम और सहज प्राणायाम आदि सर्दी, खाँसी, इन्फ्लुएंजा प्रभृति रोग में अविलम्ब सहायता पहुँचाते हैं। इस प्राणायाम के अभ्यास से ज्वर रोग कभी भी शरीर को आक्रान्त नहीं कर सकता। यही सहज प्राणायाम आदि टाइ-फायड, निमोनिया तथा यक्ष्मा प्रभृति रोगों का भी प्रतिषेधक है।

रक्तचापवृद्धि, हृद्‌रोग प्रभृति प्राणघातक रोग भी हमारी यौगिक विधि से अल्प प्रयास में अच्छे होते हैं। कॉरोनरी थ्रॉम्ब्रोसिस, कैन्सर प्रभृति दुरारोग्य रोगों में भी सहज यौगिक प्रक्रिया का आरोग्यकारक चमत्कार देखकर हम विस्मित हैं।

अभी हम दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जरा, व्याधि और अकाल मृत्यु का प्रतिषेधक सहज उपाय आविष्कृत हो गया है। सभी के लिए इसका करना और दूसरों को उत्साहित करना संभव है। सर्व-साधारण यदि इस योगपथ पर अग्रसर हो तो भविष्य में पृथ्वी के सभी मनुष्य रोग और अकाल-मृत्यु को जीतकर इच्छामृत्यु को आयत्तकर लेंगे।

मनुष्य के अधिकांश रोगों की सृष्टि होती है पथ्य की त्रुटि से, अतः पथ्य-व्यवस्था निर्दुष्ट होना आवश्यक है। इसीलिए योग-विद्या के अनु-शीलन के साथ-साथ खाद्य के सम्बन्ध में भी हमारी गवेषणा हुई है। खाद्य-गवेषणा के फलस्वरूप हमारी 'खाद्य-नीति' नामक पुस्तक बंग भाषा में प्रकाशित हुई है। इस ग्रंथ का कुछ अंश प्रस्तुत पुस्तक में भी संनिविष्ट किया गया है। हमारी इस पुस्तक की सहायता से जन-साधारण को उपकृत होते देखकर हम अपने परिश्रम को सार्थक समझेंगे।

—स्वामी शिवानन्द सरस्वती

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण करीब चार वर्ष पहले ही समाप्त हो गया था। पर हम अपनी आर्थिक असुविधा के कारण सठीक समय पर द्वितीय संस्करण छाप कर इच्छुक व्यक्तियों को इसे प्रदान करने में असमर्थ रहे। अतः इसके लिये हम हृदय से दुःखी हैं। इस संस्करण के प्रकाशन में सलकिया (हावड़ा) निवासी श्रीयुत सत्यनारायणजी अग्रवाल ने १५००) रुपये की मदद की है। हम उनके इस लोक-कल्याणकारी भावना का आदर करते हैं।

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में हमने अपनी बंगला पुस्तक "खाद्य नीति ओ शिशु पालन विधि" से 'माता का स्वास्थ्य' 'नारीयल की उपादेयता' 'शिशु पालन के नियम' प्रभृति विषयों का हिन्दी अनुवाद समावेश किया है, तथा प्रथम संस्करण को परिमार्जित किया है।

कागज, छपाई आदि द्रव्य मूल्यों की अतिशय वृद्धि के कारण हम अपनी इच्छा के विरुद्ध पुस्तक का मूल्य बढ़ाने को बाध्य हुए हैं।

श्रीमत् स्वामी शिवानन्द सरस्वती

गुरु पूर्णिमा
विक्रम सम्वत्—२०३०

उमाचल योगाश्रम
कामख्या, गौहाटी-१०
आसाम

प्रथम संस्करण की भूमिका

राष्ट्र में कोटि-कोटि स्वस्थ संतति का अवतरण हो !

मनुष्य जब आदिम सभ्यता के युगों में जीवन बिता रहा था, उसी इतिहास-पुरातन काल से रोगों से मुक्ति पाने का संघर्ष भी वह प्रारम्भ कर चुका था। जो उपचार रोग-शमनकारी सिद्ध हो रहे थे, उनके चार भिन्न स्रोत थे। आदिम युगों का मानव भी रोगी बनकर अपने को विवश व त्रस्त महसूस करता होगा। इसीलिए विवशतापूर्वक वह उन स्रोतों का सहारा भी चिकित्सा के लिए स्वीकार करने लगा था, जिन्हें कि स्वस्थावस्था में वह अपने से दूर रखता था। ये चार स्रोत थे : वानस्पतिक जगत, खनिज जगत, पशु जगत और चौथा था स्वयं रोग-जनित विष। आज भी बहुत अधिक लोगों में इस बात पर बड़ी भारी उलझन फैली हुई है और वे आश्वस्त नहीं हैं कि मानव-शरीर की विभिन्न प्रणालियों में औषध का कहाँ तक हितकर प्रभाव पड़ता है। इसका आधारभूत कारण यही है कि रोग-निदान, शरीर-विज्ञान, अस्थि-शास्त्र और जीव-क्रिया (Physio-chemistry) विषयक रसायन-शास्त्र का ज्ञान अभी तक पर्याप्त नहीं है। इसी अधूरेपन का परिणाम यह है कि हमारे श्रेष्ठ चिकित्सक अधिक से अधिक ऊंचे दर्जे के प्रयोगाश्रयी नीम-हकीम भर बन पाये हैं। तभी तो लोकजगत ने यह तीव्र कटाक्ष मुहावरे के रूप में युग-स्थायी बना दिया है : शतमारी भवेद्वैद्यः, सहस्रमारी चिकित्सकः—हमारे महादेश में इस कथन से सभी परिचित हैं, इसका अर्थ है कि नौसीखिया चिकित्सक औषध का काम-

चलाऊ ज्ञान प्राप्त करने के लिए, अपनी मोटी बुद्धि से रोगियों पर औषध-जन्य विषयों का प्रभाव देखने-समझने में जब तक सौ रोगियों का प्राणान्त नहीं कर लेता, वह सिद्ध वैद्य नहीं वन पाता ! ऐसी अवस्था में जो अपने को चिकित्सा-प्रवीण परम सिद्ध वैद्य अथवा डाक्टर कहलाने का दम्भ भरते हैं, उन्होंने तो अवश्य ही एक हजार से ऊपर रोगी इसलिए इस धरती से उठा दिये होंगे, क्योंकि नित्य नई तैयार होनेवाली औषधियों का सही असर जानने के लिए इससे अच्छा कोई दूसरा उपाय उनके पास न था ।

रोग उनका पिण्ड किसी कीमत पर नहीं छोड़ते, जो मामूली से बीमार पड़ते ही डाक्टरों और औषधियों की शरण में भागते हैं । ज्यों ही एक रोग शान्त होता है कि नये रोगों का अतिक्रमण उन पर प्रारम्भ हो जाता है, वे पुनः रोग-शय्या शायी वन जाते हैं और अन्त में अकाल मृत्यु की दयनीय स्थिति तक उनके सामने मुँह खोलकर खड़ी हो जाती है ।

पशु-पक्षी जगत में रोग-शमन की रीति-नीति

पुराने जमाने के जो समझदार लोग थे, वे भी आतंकित भाव से औषधियों के दीर्घ अवधि तक संत्रस्त करनेवाले दुष्प्रभाव की चर्चा कर गये हैं । इसी विरुद्ध प्रभाव ने उन्हें विवश कर दिया था कि वे इस बात का अध्ययन करें कि पशु और पक्षी रोगजनित उपचार किस प्रणाली से करते हैं । घरेलू कुत्ते, यह देखा जाता है, बजाय इसके कि रुग्ण होने पर अपने सबसे प्रिय भोजन का स्पर्श तक करें—एक दिन का उपवास रखते हैं । यहाँ तक कि पूरे या आधे दिन के लिए वे धूप में जाकर लेट जाते हैं और इसका सीधा असर यह होता है कि वे नये सिरे से जानदार निरोग प्राणी वन जाते हैं । उपवास और सूर्य-स्नान से लाभान्वित होकर वे पुनः चलने-फिरने और भोजन करने लगते हैं ।

घरेलू बिल्ली भी जब अस्वस्थ हो जाती है, प्रायः ऐसा ही करती है, भोजन का स्पर्श नहीं करती, घास के तिनके चबाती है, इसको वापस उगल देती है, और पुनः हमारी प्यारी स्वस्थ पुसी बन जाती है। ज्वराक्रान्त होने पर घरेलू गाय घास खाना रोक देती है, प्रायः किसी तलैया के पास शान्त भाव से लेटी रहती है और यह देखा जाता है कि वह उस ताल में से अधिक-से-अधिक जल पीने का उपक्रम करती रहती है। इस रीति से उपवास करते हुए और अधिक-से-अधिक जल पीते हुए उसके रोग का शमन स्वभावतः हो जाता है।

पशु-पक्षी जगत में रोग-शान्ति का यह उपाय देखने के बाद मनुष्य समाज को भी यह बलवती प्रेरणा मिली कि क्यों न वह भी औषध-सेवन से अपने को त्यक्त रखे। इसी प्रेरणा के बल पर उसने वह चिकित्सा-प्रणाली आविष्कृत की, जिसे हम प्राकृतिक चिकित्सा के नाम से जानते हैं। इसीका यह सीधा परिणाम है कि वैदिक युगों में भी रोगों के शमनकारी उपायों में सूर्य-स्नान, जल-चिकित्सा आदि उपाय अनुभूत कर लिये गये थे; वेदों में इस प्रकार के सन्दर्भ यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। इस प्रकार औषध-चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा दोनों ने ही प्राचीन-काल से लेकर मौजूदा जमाने तक समान भाव से गति प्राप्त की है।

प्रकृत चिकित्सा-उपायों के मार्ग में प्रबल अवरोध

अहिंसा, मित्रवत् प्रेम और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श ऋषि-युगों में उद्‌घोषित हो जाने के बाद भी, यद्यपि यह मानसिक जगत में अवश्य सूक्ष्म स्तर पर प्रिय बन सका, लेकिन दुनिया में आज तक ठोस रूप ग्रहण नहीं कर सका है, क्योंकि बुद्धिवादियों की अहंमन्यता से ग्रस्त रूढ़िवादिता, सामन्ती तत्त्वों का व्यक्तिवादी दम्भ एवं शक्ति-मत्त अधिकारों की प्रबल वासना और व्यापारी जाति की निरन्तर बढ़ती हुई अधिकाधिक लाभ की लोभवृत्ति इस दिशा में सबसे बड़े अवरोधक

कारण रहे हैं और अहिंसा और विश्ववन्धुत्व के आदर्श को निष्क्रिय बनाते रहे हैं। जिस प्रकार अहिंसा आदि मानवीय गुणों के साथ व्यवहार होता आया है, कुछ वैसा ही प्राकृतिक चिकित्सा के ऊपर आसन्न संकट वना हुआ है।

आँखों को चकाचौंध करनेवाली प्रचार-धूमधाम जगजाहिर करते हुए औषधियों के तथाकथित आविष्कर्त्ताओं ने अपने कर्णभेदी प्रौपेगैंडा के वल पर चिकित्सा के सवसे निर्दोष प्रकृत उपायों को दृष्टि-ओझल करते हुए, उन्हें सर्वथा वहुत दूर पीछे फेंक दिया है, और कुछ इस तरह कि आज वे अछूतों के तुल्य अग्रहणीय से प्रतीत होते हैं, पराभूत भाव से केवल उन औषधि-प्रतिपादकों का ही मार्ग-अनुसरण करने से लगते हैं।

जनता का सामूहिक मानस-स्तर ऐसा ही होता है कि वह गम्भीर चिन्तन से सदैव पराङ्मुख रहता है। वह तो परम्परा से चली आ रही रीतियों का समर्थक हुआ करता है और सवसे वड़ी वात यह कि वह सदा ही प्रचार और एकांगी मत-प्रवलता से बुद्धू वन जाने में अपनी कोई हानि नहीं देखता। इन सब वातों का ही यह परिणाम है कि आज भी रोग-त्रस्त जनता से चिकित्सा के प्राकृतिक उपाय आँखों से ओझल वने हुए हैं। केवल कुछ चिन्तन-प्रिय व्यक्तियों को छोड़ कर कोई भी ऐसे रोगशामक उपायों का अवलम्बन ग्रहण नहीं करता है।

विश्व का स्वयंसिद्ध चिकित्सा-चमत्कार

इस देश का योगवल से चिकित्सा करने का जो तरीका है, वही प्रकृत रीति से पूर्णतया रोगनाश का एकमात्र उपाय है, क्योंकि इसके अन्तर्गत पूर्णतया रोग-मुक्ति, दुवारा रोग-ग्रस्त होनेकी सम्भावना का अन्त, शरीर की चतुर्मुखी ओजस्विता वनी रहने का नियमन और रोग-निरोधक चमत्कार सन्निहित रहते हैं। औषधियाँ अस्थायी तौर

पर रोगों को दूर कर सकती हैं, लेकिन वे अन्दर प्रविष्ट होकर अपने विष-जन्य अनुवर्ती प्रभावों द्वारा स्वास्थ्य को आघात पहुँचाती हैं। प्राकृतिक चिकित्सकों द्वारा दी गयी हिदायतों के मुताबिक उपवास, जलीय चिकित्सा, मिट्टी का लेपन और धूप-स्नान आदि से भी रोग पराभूत हो जाते हैं और ये ही ऐसे उपाय हैं, जिनसे औषधियों के समान अनुवर्ती दुष्प्रभाव न तो प्रकट होते हैं, न ही ये दुवारा समुचित स्वास्थ्य के लौटने में कोई विघ्न उपस्थित करते हैं। इसीलिए कहना होगा कि मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए औषध-प्रणाली से प्राकृतिक चिकित्सा ही अधिक संरक्षक है। यह दूसरी बात है कि इस सत्व-प्रणाली में कुछ देर लगती है और औषधियों की सरल रीतिकी अपेक्षा उसमें विरक्ति व क्लेश पैदा करनेवाली पद्धति का अनुगमन करना पड़ता है। फिर भी इस प्राकृतिक चिकित्सा की अपनी सीमाएँ हैं। यह भी तात्कालिक रोग-शान्ति प्रस्तुत कर सकती है, लेकिन भावी रोगों के प्रति प्रकृत अवरोधक शक्ति का सहज गठन कर सके, इस दृष्टि से यह शरीर के दुर्बल केन्द्रों को तत्काल संपुष्ट करने की इतनी शक्ति नहीं रखती। इसकी अपेक्षा केवल योगवल ही ऐसा है, जो इन सबसे अलग अपने को विशिष्ट रूप में प्रमाणित कर सकता है—यह जितनी क्षमता के साथ रोगों की चिकित्सा कर सकता है, उतनी ही सवलता के साथ सीमातीत रूप में रोग-निरोधक शक्ति भी शरीर में उत्पन्न कर सकता है। आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाएँ स्नायु-शिराओं, मांसपेशियों, रक्त-नलिकाओं, ग्रन्थियों के साथ-साथ हृदय और फेफड़ों आदि को भी इस रीति से शक्तिवान बनाती हैं कि कोई भी रोगकीटाणु या रोग शरीर में प्रविष्ट होने का रास्ता नहीं पा सकता। ऐसे ही कारणों के वल पर यौगिक पद्धति सी समस्त चिकित्सा-प्रणालियों में शीर्ष पद की अधिकारिणी हो सकती है। हमारे पूर्वजों द्वारा जो यौगिक विज्ञान खोज निकाला गया था, वह इस विश्व का स्वयंसिद्ध एक चमत्कार है और मानव जाति के लिए एक वहुमूल्य निधि-कोष है।

योग-बल का राष्ट्रव्यापी वरदान

योगियों ने शरीर-रचना-शास्त्र और शरीर-विज्ञान का गहन व सही ज्ञान प्राप्त कर लिया था, समस्त मानवता के लिए ऐसे वरदान-स्वरूप योग का आविष्कार उनके लिये ही सम्भव था। आज कुछ ग्रन्थियों का नया ज्ञान होने से और उनके आन्तरिक स्राव का पता चल जाने मात्र से समस्त पश्चिमी मेडिकल साइंस में आमूलचूल परिवर्तन तुल्य क्रान्ति सी उपस्थित हो गयी है—जब कि केवल पाँच सदियों पहले उन्हें इन ग्रन्थियों का अल्पमात्र या बिल्कुल कोई ज्ञान नहीं था और न ही वे यह जानते थे कि इनका क्या कार्य है। लेकिन प्राचीन युगों के ऋषियों को इन ग्रन्थियों के विषय में समग्र ज्ञान था और उसके बल पर ही वे हमारे लिए सरल यौगिक क्रियाएँ विरासत में छोड़ गये हैं।

चिकित्सा-विषयक विद्याओं का लक्ष्य रोग-प्रतिबन्ध होना चाहिए, न कि केवल उनकी मुक्ति-शान्ति। सिर्फ योग-पद्धति में ही मानवता को इस लक्ष्य तक पहुँचाने की प्रबल धारणा-शक्ति है। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक पाँच वर्ष के अबोध बालक के लिए भी और शतायु अवस्था प्राप्त वयोवृद्ध व्यक्ति के लिए भी, दोनों के लिए समान रूप से सरल व्यावहारिक प्रयोग विद्यमान हैं। इन सरल व्यायामों के साथ सुनियोजित आहार-नीति और जीवनयापन-रीति के पालन करने से मृत्यु-पर्यन्त रोगों से प्रतिरक्षा और स्थायी तरुणाई नियमित रूप से पुष्ट की जा सकती हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन इसी सुस्पष्ट उद्देश्य के साथ किया जा रहा है, ताकि यौगिक विद्या के ऐसे चमत्कारों से पूर्ण दर्शनशास्त्र से स्वतन्त्र भारत के सभी नागरिक परिचित हो जायें, जो कि गरीबी, रोग-बहुलता और असामयिक मृत्यु के अभिशापों से अभी तक ग्रस्त हैं।

इस प्रकाशन के पूर्व पर्याप्त व्यक्तिगत अनुभव इस विषय में आजमा कर देखे जा चुके हैं। हमारे सामने इन प्रयोगों को रोगियों पर आजमा

कर देखने का काफी सुअवसर रहा है। यह पुस्तक 'योग-वले-रोग-आरोग्य' (योग वल आधारित चिकित्सा) इसी सदुद्देश्य से लिखी गयी है कि स्वास्थ्य के परिरक्षण के क्षेत्र में हमारे योग-विषयक व्यावहारिक अनुभवों को देश की सेवा में प्रस्तुत किया जाये। हमारी यही साधु कामना है कि भारत के घर-घर में स्वस्थ वालकों का अविर्भाव हो और विश्व भर में मनुष्य जाति से असामयिक निधन एवं रोगों का सदा-सदा के लिए नामोनिशान मिट जाये।

रोगों के कारणों का खुलासा देते हुए, हमने मेडिकल साइन्स का सहारा लिया है। आयुर्वेद योगशास्त्र के कनिष्ठ भ्राता के तुल्य है और दोनों ही मातृ-शक्ति वेद के सुपुत्र हैं। इस वजह से हमने रोगों के कारणों की चर्चा के प्रसंग में विशेष रूप से आयुर्वेद का संदर्भ लिया है। जहाँ पर आयुर्वेद के प्रमाण वहुत ही संक्षिप्त हैं या कुछ क्लिष्ट हैं वहाँ पर प्राकृतिक चिकित्सा अथवा पश्चिमी चिकित्सा-विज्ञान की मदद लेना श्रेयस्कर माना है। अतः यह हम साभार स्वीकार करते हैं कि रोगी मात्र की सेवा में समर्पित प्राकृतिक चिकित्सा, ऐलोपैथी और आयुर्वेद—इन सभी शास्त्रों से सहज भाव में उपलब्ध होनेवाले साहित्य के अतिरिक्त हमने योग-विषयक ग्रंथों का दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ-लेखन के दौरान में उचित समझा है। इसलिए, हम सभी विषयों के अर्वाचीन-प्राचीन ग्रन्थ-लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः शान्तिः ॐ।

—स्वामी शिवानन्द सरस्वती

दीपान्विता, अक्टूबर, '५०

उमाचल योगाश्रम,
कामाख्या, गौहाटी-१०
आसाम

योगशास्त्र में शरीर-विज्ञान

एवं

रोग-निदान

●

प्रथम परिच्छेद

योग-शास्त्र पर एक दृष्टि

वेद एवं योग

वेदविद्या ज्ञान का असीम लहराता हुआ महासागर है, योगविद्या इसी में दिव्य भाव से देदीप्यमान बना हुआ एक बहुमूल्य मुक्ता रत्न है। योग का वास्तविक अर्थ ही यह है कि सर्वोच्च दैवी भाव से सर्वोच्च आत्मभाव का सम्मिलन हो जाए। इसीलिए योग सामान्यतया इसी उद्देश्य से व्यवहार में लाया जाता है और उसको निरन्तर सिद्ध किया जाता है, ताकि अपनी यथार्थ आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सके और हम इस सृष्टि के जंजाल-रूपी भवबन्धन से मुक्ति पा सकें।

राजयोग तथा हठयोग

स्थूल दृष्टि से योग-पद्धति के दो प्रधान अंग हैं: राजयोग और हठयोग। ये एक प्रकार से दो अलग विशिष्ट विषय हैं। राजयोग मुख्य रूप से मानसिक शुद्धि को इस रीति से सिद्ध करने का व्यावहारिक मार्ग है कि हम अपने मानस के स्वयं ही अधिष्ठाता बन जायें और उस उच्चस्तरीय स्वानुभूति पर आसीन होकर, अपनी आत्मा के दिव्य अंश से साक्षात्कार कर सकें, जिसकी उपलब्धि प्रायः साधारण मानसिक

शक्तियों से असम्भवप्राय है और जो विषय हमारी ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच के वाहर हैं।

राजयोग का अध्ययन पातञ्जलयोगदर्शन में विस्तार से किया गया है। इस प्राचीन ग्रन्थ में कुल मिलाकर चार परिच्छेद हैं; जिसमें पहला है समाधि पाद, जिसके अन्दर गहन ध्यान की अवस्था तक पहुँचने के मार्ग को प्रशस्त किया गया है। दूसरे परिच्छेद में साधना पाद विषय है, इस स्तर पर आकर व्यक्ति प्राणायाम और ध्यान मग्न होकर साधना के व्यावहारिक आधार का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। तीसरे परिच्छेद में विभूति पाद है—इसमें किन उपायों से मानस की शक्तियों पर आत्मनियन्त्रण करते हुए अलौकिक क्षमता अर्जित की जा सकती है, यह स्पष्ट किया गया है। अन्तिम और चतुर्थ परिच्छेद में कैवल्य पाद है—इसमें वह इष्ट स्थिति आ जाती है, जब कि आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है और साधक भौतिक जगत की उस सीमा का अतिक्रमण करने लगता है, जिसे कि हम साधारण मानसिक शक्तियों के वल पर ही अनुभूत कर पाते हैं।

हठयोग और चिकित्सा की सहज सिद्धि

इस सन्तुलन में हठयोग एक दूसरा मार्ग है। यह मुख्य रूप से शरीर की शुद्धि को इस रीति-नीति से साधित करता है कि हमारी भौतिक देह दिव्य भाव से आलोकित मानस का आधार वन सके। हमारी इस भौतिक देह की सिद्धि हम इस तरह कर सकते हैं कि हमारी कुण्डलिनी जाग्रत भाव से सहस्रार तक उत्थान करती चली जाए और उस अवस्था में साधक अपनी आत्मा से वास्तविक रूप में साक्षात्कार कर सके। यह हठयोग का संक्षिप्त परिचय है।

इस ग्रन्थ में योगवल आधारित चिकित्सा का विस्तार इसी हठ-योग के माध्यम से किया गया है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम यहाँ पर हठयोग-विषयक कुछ प्रधान वातों की चर्चा कर लें।

हठयोग के अनुसार हमारा शरीर साधना की आधार-भूमि है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—शरीर की साधना प्रथम धर्म है।

यदि हमारे जीवन का यह आधार बहुत सबल, दृढ़, दोषरहित है, तो हमारे जीवन-कृतित्व की सबसे ऊंची मञ्जिल की मीनार इस पर सुरक्षित भाव से खड़ी की जा सकती है। हठयोग का सबसे पहला कथन यही है कि यह शरीर यन्त्रवत् मशीन है और हमारी आत्मा इस मशीन का चालक ड्राइवर है। मस्तिष्क, बुद्धि, अहं आदि इस आत्मा के शक्तितत्व अथवा जीवन-शक्ति रूप हैं। ये सब शक्तितत्त्व स्नायु व ग्रन्थियों द्वारा अपना कार्य किया करते हैं। यदि स्नायु-प्रणाली एवं ग्रन्थि-प्रणाली का कार्य सामान्य, प्रकृत अवस्था में स्वास्थ्यप्रद है, तो अपने इस शरीर द्वारा हम अपनी आत्मा के दिव्यभाव से, ईश्वरीयभाव का साक्षात्कार करते हुए, परम सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। जो लोग ऐसी सिद्धि अर्जित करने में पूर्ण रूप से सफल एवं सक्षम होते हैं, उन्हें हम दैवी आत्माधारी मनुष्य कहा करते हैं। हम ऐसे मनुष्यों की पूजा करते हैं और समाज में उनके प्रति व्यापक समादर प्रसूत होता रहता है, क्योंकि वे सजीव रूप में ईश्वरीय अंश से सम्भूत होते हैं, और शरीरधारी देवत्व के प्रतिनिधि मान्य किये जाते हैं।

विकारों के स्थूल प्रभाव

लेकिन यदि हमारे शरीर के अवयवों की प्रकृत अवस्था सामान्य नहीं है अथवा उनके स्वास्थ्य में दोष का समावेश हो जाता है, तो ऐसे व्यक्ति में पाशविक वृत्ति अथवा पशुभाव की अत्यधिकता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि जब किसी आदमी का यकृत रुग्ण हो जाता है तो वह व्यक्ति कलहप्रिय और चिड़चिड़े स्वभाव का बन जाता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति में उसकी यौन-ग्रन्थियाँ बहुत अधिक सक्रिय अथवा उदासीन होने लगती हैं, तो वह वासना-बहुल ही नहीं हो जाता, स्वार्थी भी बन जाता है।

मंगल-ग्रन्थिका भी उदाहण ले लें। इसके दोषयुक्त हो चुकने पर कोई भी आदमी चोर, डाकू और हत्यारा तक वन जाता है। शिव-शक्ति (ऐंटीरियर पिट्यूटरी और पोस्टीरियर पिट्यूटरी) ग्रन्थि के विकार-ग्रस्त होने पर रोगी के मानस की अवस्था अधःपतन की ओर प्रवृत्त होने लगती है, वह शैतान वन जाता है, भयङ्कर आदतों से युक्त वनते हुए वह निर्मम तथा दया-त्यक्त भी हो जाता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विना शारीरिक अवयवों के उचित शोधन और दोषरहित किये, कोई भी आदमी अपने मानस की दिव्यता का अधिकारी नहीं वन सकता और न ही वह दैवी भाव से युक्त मानसिक शक्ति का स्वामी हो पाता है।

हठयोग का यह सर्वोपरि घोषित सिद्धान्त है, शंखनाद के तुल्य उसका अन्तिम निर्णय है कि कोई भी व्यक्ति जन्मना बुरा या गलत आदमी नहीं हुआ करता। जिन्हें हम बुरे आदमी कहते हैं, वे वास्तव में बुरे नहीं हुआ करते, उनके शारीरिक अवयव ही क्षतिग्रस्त अथवा विकारयुक्त हुआ करते हैं।

हठयोग के साधन से और उचित आहार-विहार से अवयव के दोषों का और विकारों का संशोधन सुविधा के साथ किया जाना सम्भव है। ऐसी स्थिति में हम सहज भाव से यह भी समझ गये होंगे कि किस तरह रोगों की चिकित्सा में हठयोग प्रकृत भाव से अपना सही काम कर सकता है और इसके वल पर किस तरह दैवी सिद्धि अर्जित की जा सकती है।

लय-योग और स्वरोदय-योग

हठयोग की दो शाखायें लय और स्वरोदय हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा लय-योग से हम सरल रीति से मानसिक एकाग्रता सम्पन्न कर सकते हैं। शीघ्र ही हम अपने आगामी ग्रन्थ 'ध्यानयोग' में इन विषयों पर अधिक से अधिक सामग्री प्रस्तुत करेंगे।

स्वरोदय योग हमें श्वास-नियंत्रण का परिज्ञान देता है, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों का नियंत्रण सहज सम्भाव्य हो जाता है। ये हमारी श्वास-प्रणाली के अवयव हैं। यदि हम इड़ा और पिंगला पर नियंत्रण रखना सीख जायें तो हमारे सभी प्रकार के रोग निरोग भाव को प्राप्त हो सकते हैं। सुषुन्ना का नियंत्रण व्यक्ति को एक चमत्कारी स्थिति में ले जाकर बैठा देता है, उसके वाद वह आत्म-साक्षात्कार या दिव्य ज्ञान लब्ध हो जाता है। उस अवस्था में कुण्डलिनी को मूलाधार से सहज में उठाकर सहस्रार तक ले जाना उसके लिए वहुत सरल काम हो जाता है।

कुण्डलिनी और सहस्रार के सरल अर्थ

कुण्डलिनी शक्ति का वास्तविक स्वरूप कुछ उदाहरण रूपमें हम इस तरह समझ सकते हैं कि जिस तरह कुण्डली मारे हुए सर्प अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत वनाकर संचित किये रहते हैं, कुछ उसी तरह कुण्डलिनी शक्ति वास्तव में ठोस जीवनी शक्ति का मानवी स्वरूप हुआ करती है, अथवा यह भी कह सकते हैं कि सुगठित मानवी देह में कुण्डलिनी ही वास्तविक ठोस जीवनी शक्ति बन कर रहा करती है। जव हम कुण्डलिनी को उन्नत करने की या उठाने की वात करते हैं, तो उसका अर्थ यही होता है कि मनुष्य का दिव्य भावसे अथवा देवत्वसे सम्मिलन हो जाये, साक्षात्कार हो जाए, एकाकार हो जाए।

स्वरोदय योग का अर्थ भी हम समझ लें। इस शास्त्र से शुभ प्रवास के लिए सही और निरापद मुहूर्त निकालने की विधि हाथ लगती है। उसके वाद वायुयान-दुर्घटना अथवा ट्रेन-दुर्घटना, अथवा वस व अन्य प्रवास-जनित दुर्घटनाओं से अपनी रक्षा की जा सकती है, उन्हें टालनेकी क्षमता प्राप्त करना सहज हो जाता है। इसी प्रणाली द्वारा उस पद्धति का आविष्कार किया गया है, जिससे कि वहुत पहले, अग्रिम रूप में आसन्न रोग या मृत्यु का सही अन्दाज कर लिया जाता है।

आयुर्वेद में भी इस परिज्ञान का कुछ समावेश किया गया है। इसी योग के उचित प्रयोग से विवाहित स्त्री-पुरुष विवेक और सद्बुद्धि का साधन काम में लाते हुए मनचाहे पुत्र अथवा कन्याएँ सन्तति रूप में प्राप्त कर ले सकते हैं। इस विषय का निरूपण हमने विस्तार से अपने बंगला भाषा के ग्रन्थ 'विविध प्राणायाम और नेति धौति' में किया है।

हमारी भौतिक देह और ईश्वरीय सृष्टि

सप्तस्तरीय विभाजन, अथवा कि सप्त लोक, जिनका दिग्दर्शन वेद तथा पुराणों में किया गया है, आत्म-नियोजित सप्तस्तर या कि सप्तलोकों के ही सदृश हैं, जो कि इस प्रकार हैं : भूः अर्थात् मर्त्यों का लोक, भुवः अर्थात् मृतकों का लोक, स्वः अर्थात् दिव्य गुणों से विभूषितों का लोक, महः अर्थात यक्ष-गंधर्व आदि अंशावतारों का लोक, जनः अर्थात ऐसी दैवी विभूतियों का लोक (जो कि साधारण अहंभाव से कुछ ऊपरी सतह के हैं); तपः अर्थात् ऐसे दिव्यालोक से ज्योतिमान ऐसी आत्माओं का लोक, जिनमें देवताओं की सी शक्ति व परमानन्द है और परम पिता परमेश्वर की उस अभूतपूर्व शक्ति से परिचित है, जिससे कि इस सृष्टि का उदय हुआ है; सत्य अर्थात् सर्वोच्च स्तरीय प्राणियोंका लोक, जिसमें अवस्थित होकर वे सदैव ईश्वरीय भाव का रसास्वादन किया करते हैं—जो कि सदैव ही ईश्वर से एकात्मभाव में बद्ध रहते हैं, और जो सदैव ईश्वर के अंशभूत होकर वहाँ अवस्थित हैं। ज्ञान से उनका साक्षात्कार हुआ रहता है।

तीन विराट विश्वलोक

सृष्टि के इस विकास-क्रम में इन सप्तलोकों का वर्गीकरण इसके उपरान्त, तीन अंचलों अथवा भावलोकों में किया गया है : त्रिलोक नाम की संज्ञा इन्हें ही दी गयी है। ये एक प्रकार के तीन विराट विश्व हैं : भूलोक अर्थात निचली दुनिया, अन्तरिक्ष लोक अर्थात् ऊर्ध्वलोक और द्युलोक अर्थात् सर्वोच्च लोक।

अधः त्रिलोक का परिचय

सप्तलोक के प्रारम्भिक तीन खण्ड, जिनका नाम भूः, भुवः और स्वः है, इन तीनों को एक साथ मिलाकर अधः त्रिलोक भी कहते हैं। इन तीनों तक हमारे मानस और हमारी बुद्धि की पहुँच सहज है। भूलोक में तो हम सब निवास करते ही हैं और हमारे दैनन्दिन जीवन में हम तीन प्रकार की चेतन अवस्थाओं का या तो भोग करते हैं अथवा कह सकते हैं कि उनसे होकर गुजरते रहते हैं :—१. जाग्रत अवस्था, २. स्वप्नावस्था और ३. सुषुप्ति। इनमें से जाग्रत अवस्था ही सर्वप्रमुख एवं वर्चस्वी रहती है। मृत्यु के उपरान्त आत्मा भुवः लोक में पहुँच जाती है, जहाँ पर स्वप्नावस्था सर्वप्रधान रहती है। यहीं पर पहुँच कर इस सार्वकालिक स्वप्नलोक में हमारी आन्तरिक इच्छाएँ और वासनाएँ, हमारी घनीभूत आशाएँ और भयप्रद भावना स्वरूप ग्रहण करते हुए निश्चित रूपरेखा ग्रहण करती हैं और वे ही हमारे मानस में भिन्न प्रकार के हर्षप्रद अथवा कि दुखद संवेगों का कंपन भरती रहती हैं। लोकजीवन में हम मरण के उपरान्त जिसे स्वर्ग या नरक का वहुश्रुत जीवन कहते हैं, वह एक प्रकार से यही दुखद अथवा हर्ष-भरित संवेग होता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो कि ज्ञानदीप्त मानस के धनी होते हैं और जिनके प्रज्ञाचक्षु बहुत प्रबुद्ध होते हैं, वे प्रायः बीच के भुवः लोक को विना विघ्न के लांघ जाते हैं और मृत्यु के बाद उन्हें स्वः-लोक में पहुँचने का अधिकारी मान लिया जाता है। वहाँ अवतरित होकर, वे उच्चकोटि के चिन्तन-मनन, गहन ध्यान-धारणा से उत्पन्न सुखद संवेगों का आनन्द लेते हैं, अथवा उत्तम गुणों से पूर्ण कर्म करने के फलस्वरूप सुषुप्ति की गहन निस्तब्ध शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वहुत साधारण आत्माएँ भी इस स्वः-लोक में प्रविष्ट होने या यहाँ पर स्थिरभाव से रहने का सुअवसर पा जाया करती हैं—लेकिन उनकी यह अवधि प्रायः संक्षिप्त ही होती है। इसका कारण यह है कि मानव मात्र में कुछ न कुछ

अच्छाई जन्मतः निहित रहती है, उसीके प्रसाद-स्वरूप वह इस लोक में पहुँचने का पात्र मनोनीत हो जाता है। इस तन्द्रावस्था के लोक से भी लोग पुनर्जन्मों के माध्यम से पृथ्वी को वापस लौट सकते हैं, ताकि वे मानसिक और बौद्धिक विकासक्रम में अतीन्द्रीय समुन्नतावस्था के परम पद को ग्रहण करने की सिद्धि प्राप्त कर सकें।

बोधि-लोक में पहुँचने का उपाय

हम अपने मस्तिष्क व बुद्धि से अपनी आत्मा का वोध कर सकते हैं। किन्तु इसके समग्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमें बोधि (अन्तः-स्फूर्ति) जागरण की जरूरत रहती है। बुद्धिपरक जीवन से आगे यही दूसरी विकासात्मक अवस्थिति होती है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस बोधि का लोक महः नामक स्तर से भी ऊपर होता है; जब कि महर्लोक मात्र अनुभव का स्थान भर होता है, इस महर्लोक में ही परिशुद्ध बुद्धि बोधि अथवा अनुभवों के साथ अन्तर्ग्रथित हो जाती है।

ऊर्ध्व त्रिलोक का विवरण

अधो त्रिलोक के उपरान्त अब हम ऊर्ध्व त्रिलोक का मर्म प्राप्त कर लें। ये अधो से बहुत ऊपर स्थित हैं। ज्ञान, सत्य और तापस—ये तीनों ऊर्ध्व नामक संज्ञा से अभिहित होते हैं। ये तीनों लोक बोधि की परिसीमा के अन्तर्गत रहते हैं। इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि ये मानस और बुद्धि की पहुँच के वाहर और दूरस्थ परिसीमाओं में आसीन हैं।

इस ऊर्ध्व त्रिलोक के तीन भाव-क्षितिजों तक पहुँचने से पहले यह जरूरी है कि वह आवेशमयी आकांक्षा, क्रोध, लोभ, सृष्टि के सही उद्देश्य के प्रति अज्ञान एवं जीवन के सही महत्व के प्रति मोहांध, दर्प, विद्वेष, (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि) षड् रिपु को पूर्णतया पराभूत कर ले और लौकिक हितों की महती एषणाओं की प्रवलता से हावी होनेवाले प्रभाव का दमन कर दे, तभी वह इस ऊर्ध्व त्रिलोक

की परिधि में प्रविष्ट होने की पात्रता ग्रहण कर सकता है । इन लोकों में सन्ताप का सर्वथा अभाव होता है ; ये चिदानन्द व सार्वभौम ज्ञान के महत् आलोक से नैसर्गिक वने रहते हैं, यहाँ पहुँचने के वाद सृष्टिचक्र के जन्म-पुनर्जन्म विषयक आवागमन की यातनाओं को सहने के लिए कभी भी कोई मृत्यु-लोक में वापस नहीं लौटता । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि सृष्टि का विकास-क्रम केवल उस भौतिक स्तर पर ही अवरुद्ध नहीं हो जाता, जिसे कि हम अपनी पृथ्वी-माता कहते हैं, लेकिन यह विकासचक्र तो हमारी मानसिक सीमाओं-परिकल्पनाओं से भी परे, उन मृत्युरहित लोकों में भी अवतरित होता है, जिसका परिज्ञान हम प्राप्त करने की कभी चेष्टा नहीं करते । अपनी वास्तविक आत्मा का अन्तर्ज्ञान प्राप्त करने अथवा भगवान से साक्षात्कार करने से पूर्व साधकों को यथार्थ में प्रगति की इसी विकासात्मक चक्रवत् क्रमगति से गुजरना पड़ता है । इसे निजी या व्यक्तिगत विकास की वोधि-दिशा भी कहा जाता है ।

प्राणिभेद का भिन्न विकासक्रम

व्यक्तिगत आत्मा के विकासात्मक पथ की प्रणाली से भिन्न एक दूसरी प्रणाली प्राणि-भेद से और होती है । वर्तमान सभ्यता में मानव रूप जो पशु है, वह अपनी आत्मा से अपरिचित अविद्या के गहन पंक में फँसा हुआ रहता है, इसलिए यह आवश्यक है कि यथार्थ ज्ञान के वास्तविक अवतार के स्वरूप उसे मानव-देहधारी देवता के रूप में अपना आत्म-विकास करना होगा । उसी के वाद यह सम्भव है कि हमारी भौतिक दुनिया की यह नीरस जिन्दगी चिन्मय जगत् में परिवर्तित हो सके । युद्ध, नर-संहार और घृणा का जो पैशाचिक नाटक, मानव के अन्दर गहरे अवस्थित, आन्तरिक पशुभाव इस समय निरन्तर रखने में दैनन्दिन व्यस्त है, वह चिन्मय जगत में प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त उच्चस्तरीय प्राणी का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और उसी के वाद दिव्य

कार्य-व्यापार में वह अपना वास्तविक रोल पूर्ण कर सकने में सक्षम हो पाता है। भौतिक पदार्थों के रचयिता दिव्य शक्ति-स्रोत उस परम परमात्मा की अनन्त और असीम इच्छा यही रहती है कि वह अपने ही निर्माण में अपनी प्रतिच्छवि का सर्वोच्च स्तरीय प्रतिदर्शन करता रहे।

इसी दुनिया में, इसी सृष्टि में आखिर एक दिन वह अवश्य आयेगा जब कि दिव्यातिदिव्य परम परमात्मा की यह इच्छा सम्पूर्ण रूप से व्यक्त होगी, पूर्ण होगी—उसी दिन उसका महान यश उसके निजी हस्तकौशल रूप रचना मानव में सर्वोच्चस्तरीय अभिव्यक्ति प्राप्त करेगा। अभी तक इस दिशा में केवल प्रारम्भ मात्र ही यह सम्भव हो पाया है कि इस पृथ्वी पर ईश्वर रूप मानव को प्रस्तुत करने का महान कार्य यथासाध्य सम्पन्न हो सके। किन्तु यह प्रारम्भ मात्र कितनी अवधि में हुआ है, यदि हम इस पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो अवश्य हतप्रभ रह जायेंगे; विगत दस सहस्र वर्षों पूर्व हमारी मानवी सभ्यता की प्रगति प्रारम्भ हुई थी और इस दीर्घ अवधि में हम अभी तक ईश्वर-रूप मानव को प्रस्तुत करने का शुभारम्भ मात्र ही कर सके हैं!

अन्य लोकों से सम्बन्धित सिद्धांतों के रहस्योद्घाटन विषयक भाव-कथा की चर्चा विस्तार से हमने एक अलग ग्रन्थ में की है, जोकि ईशोपनिषद् की व्याख्या के रूप में है। इस विषय पर हमने 'जन्मान्तर-वाद' नामक अपने स्वतन्त्र लेख में भी काफी लिखा है। इसलिए इस ग्रन्थ में उन सभी मन्तव्यों को दुहराने की जरूरत नहीं है। अन्य लोकों अथवा नक्षत्रों के विषय में हमारे शास्त्र-प्रणेताओं ने जो लिखा है, वह केवल कपोल-कल्पना मात्र ही नहीं है, न ही उनका वास्तविक सार शाब्दिक सिद्धांतों तक ही सीमित है। भारतीय योगीजन यद्यपि अपने प्राण तो इस म्रियमाण देह में अवस्थित रखते हैं, लेकिन उनमें उच्चस्तरीय भावजगत् में अथवा अन्य लोकों में परिभ्रमण की दिव्य शक्ति विद्यमान रहती है और अपने सूक्ष्म देहतत्व से वे इस विचरण-क्रिया को कर पाते हैं। इस क्षमता को अर्जित कर लेने से, सृष्टि की विकास-प्रणाली के

अन्तराल में जो रहस्य अथवा घनीभूत सत्य विद्यमान रहते हैं, उनका सहज प्रत्यक्षीकरण करने में वे सफल भी होते रहते हैं। ऐसे ही सिद्ध योगियों के फलप्रद ज्ञान से शास्त्रों का निर्माण सम्भव हो पाया है।

ब्रह्मांड और लघु ब्रह्मांड-रूप मानवी देह

योगीजनों का ऐसा कथन है कि ब्रह्माण्ड के व्यापक गठन में जिस त्रिलोक की व्याप्ति है, वही मानवी देह में भी समाविष्ट है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारी देह एक प्रकार से व्यापक ब्रह्माण्ड का लघु रूप है। पंचभूतों में से जो प्रमुख है, वह आकाशभूत इस समस्त ब्रह्माण्ड को सत्वगुण की सहायता से धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार आकाश-भूत ने ही लघु ब्रह्मांड रूप हमारी देह को भी धारण कर रखा है। आकाश का आश्चर्यजनक लक्षण अथवा उसका प्रधान गुण ध्वनि है। मानवी देह में हमारी कर्णेन्द्रियाँ इस ध्वनि को ग्रहण करने के लिए सक्षम बनाई गई हैं, अतः आकाशभूत का कार्य-व्यापार श्रवण योग्य हमारी कर्णेन्द्रियों को केन्द्र बनाकर सर्व अंशों में पूर्ण होता रहता है। हमारी देह-प्रणाली में जितने भी वायु-व्यक्त शून्य स्थान (Vacumm) अथवा छिद्र हैं, उदाहरण-स्वरूप रोमकूप, नाड़ियाँ, स्नायु और धमनियाँ आदि, इन सबका सम्भूत जन्म आकाश तत्व से ही हुआ है।

सत्व और रज नामक जो शक्तितत्त्व हैं, वे अपना अभ्युदय एवं अपनी अभिव्यक्ति वायुभूत के माध्यम से किया करते हैं। अनादि शक्ति के श्वासरूप वायु का विराट स्वरूप वायुभूत तत्त्व ही होता है। इस वायु नामक तत्त्व का गुण और उसकी प्रभावकारी क्षमता का लक्षण स्पर्श है, किन्तु इसमें ध्वनि की क्षमता भी अन्तर्भूत रहती है। यही वायु हमारी स्पर्शेन्द्रियों में सुखद भाव का अथवा हर्ष आदि प्रतिक्रियाओं का संचार किया करती है। यही वायु हमारी देह में सबसे सशक्त जीवनी शक्ति है और अत्यावश्यक पोषाणुओं की एवं जीवनोपयोगी बीजाणुओं की रचना किया करती है। इसी के साथ यही

वायु हमारी देह के समस्त अंग-प्रत्यङ्गों की गतियों का संचालन करती है और देह के समस्त तरल पदार्थों को उनकी भिन्न-भिन्न प्रणालियों में प्रवाहित करती है तथा रक्त-संचार को प्रेरक गति प्रदान करती है।

आधारभूत अग्नि अथवा ज्योति को तेजोभूत अथवा अग्नितत्त्व कहा गया है। और रज नामक शक्तितत्त्व इन्हीं के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। रज का प्रधान गुण रूप है, जिसे स्थूल भाषा में हम रंग भी कह सकते हैं। इसमें स्पर्श एवं ध्वनि की क्षमताएँ स्वाभाविक रूप से निहित रहा करती हैं। यह तेजोभूत हमारी देह में विशेष रूप से दृष्टि का अवदान प्रस्तुत करता है। इसी बात को इस रूप में भी कह सकते हैं कि तेजोभूत की सहायता से हम विभिन्न प्रकार के दृश्यों को देखने में समर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार इंजन में अग्नि प्रधान रूप से शक्ति-प्रदायक अंग बनकर दहकती है, उसी रूप में हमारी मानवी देह में मुख्य रूप से शक्ति संचालक बनकर यही अग्नि स्थित रहती है। यही अग्नि है, जो पाचक अंगों में जठराग्नि का स्वरूप ग्रहण कर खाये हुए भोजन को पचाती है और इसी प्रक्रिया द्वारा रक्त एवं अन्य रस द्रव्यों को उत्पन्न किया करती है। इसी तेजोभूत-आधारित रजतत्त्व से हमारे शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा नियमित बनती है—हमारे शरीर के पोषण एवं विकास के लिए जीवनपर्यन्त यही उत्तरदायी बना रहता है।

जलभूत अथवा अप्तत्त्व जो कि एक प्रकार से जल का आधारभूत अंश है, रज और तम के संयुक्त उद्भव के स्वरूप में विद्यमान है। जल की मुख्य अन्तःशक्ति स्वाद अथवा रस है। इसमें प्रकृत रूप से ध्वनि (अर्थात् शब्द), स्पर्श और रूप अन्तर्निहित रहते हैं। जलीय अंश का गुण धर्म हमारी स्वाद-इन्द्रिय जिह्वा में प्रगट होता है और उसी में केन्द्रित रहता है। हमारी देह के अन्दर जितनी भी ग्रन्थियाँ और रक्त-प्रणालियाँ आदि हैं, उनमें जो ग्रन्थि-स्राव और रक्त, वीर्य आदि जितने तरल पदार्थ हैं, वे जलभूत से ही निर्मित हुआ करते हैं।

पृथ्वीभूत (अथवा क्षितितत्त्व, जो कि पृथ्वी का आधारभूत अंश है) तम के घनीभूत रूप का परिणाम है। इसकी विशिष्ट कार्यक्षमता गन्ध के रूप में रहती है। पृथ्वीभूत में शब्द, स्पर्श, रूप और रस प्रकृत रूप से निवास करते हैं। पृथ्वी का आधारभूत अंश यह पृथ्वीतत्त्व प्रधानतया गन्धेन्द्रिय में अपना कार्य नियोजित करता है। हमारी देह के अन्दर अस्थि, चर्म, मांस-पेशी, दाँत, मज्जा आदि जितने भी ठोस पदार्थ हैं, वे पृथ्वी तत्त्व के भौतिक स्वरूप से प्रगट हुआ करते हैं।

पाँच भौतिक तत्त्वों के पाँच अधिदेव

योगशास्त्र के अनुसार आकाशभूत (ether) के आदिदेव इन्द्र हैं। 'इन्द्रे भूतानि' इन्द्र ही पाँच तत्त्वों को सक्रिय करते हैं। इन्द्र के आदेश से ही ये पाँचों मूल भौतिक तत्त्व सृष्टि का कार्य करने के लिए प्रवृत्त हुआ करते हैं। आकाश इन्द्र की विराट देह के रूप में इस तरह विद्यमान है, जिसकी सहस्र-सहस्र आँखें चमक रही हैं। अपनी इन्हीं संख्यातीत आँखों से इन्द्र देवता इस समग्र सृष्टि का कार्य-संचालन ही नहीं करते, इस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण भी रखते हैं। यही कारण है कि भगवान इन्द्र को 'शतदृष्टि' कहा गया है। वायुभूत के देवता मातरिश्वा अथवा वायु हैं और वे सारी सृष्टि में श्वास-प्रश्वास के अधिदेवता माने जाते हैं। इस विराट् ब्रह्माण्ड में जो भी चित्र-विचित्र लीलायें देखने में आती हैं, वे वायु द्वारा ही संचालित होती हैं। वायु द्वारा ही हमारी देह के अन्दर श्वासक्रिया सम्भव हो पाती है।

तेजस् के अधिदेवता अग्नि कहे गये हैं। इनका प्रवेश समग्र ब्रह्माण्ड के छोटे से छोटे पदार्थ में सम्भव है। इसीलिए भगवान अग्नि को ज्ञातव्य देवता कहा गया है, जिसका सरल अर्थ है कि वे सर्वज्ञाता हैं। 'रूपम् रूपम् प्रतिरूपो बभूव' अग्निदेव अपना स्वरूप सहस्रों रूपों में प्रगट किया करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में जो कुछ भी आकार अथवा स्वरूप रहित था, उसको अग्नि ने ही आकार और स्वरूप प्रदान किया। जिसे

हम शक्ति अथवा क्रियाशीलता कहते हैं, वह इसी अग्नि का लौकिक कार्य है। अग्निदेव ही विश्व के असंख्य पदार्थों की रचना करते हैं और हमारी देह के अन्दर जितने भी छोटे-बड़े अवयव हैं, जो कि जीवनीशक्ति से ओतप्रोत वायु की अनन्त लहरियों से संचालित हुआ करते हैं, अग्नि द्वारा ही परिपुष्ट वनते हैं और प्राणवान वनते हैं।

अप् तत्त्व के अधिदेवता वरुण हैं। जीवन में जो भी आह्लाद है और जो भी तरलता है, उसके मूल स्रोत ये ही हैं। वेदों में इसीलिए इन्हें असुर कहा गया है। असुर का अर्थ जीवन होता है। युग-युगों से सृष्टि में जीवनी शक्ति के जो अनन्त रूप हमें देखने में आते हैं, वे इन्हींके द्वारा रचित हुए हैं। वरुण केवल समग्र तरल पदार्थों के ही स्वामी नहीं हैं, वे मृत्युरहित जीवन-प्रवाह के भी प्रतीक कहे गये हैं। उनके दिव्य स्पर्श से शतशत वरदान प्राप्त होते हैं। वरुण हमारी सृष्टि के सौन्दर्य-प्रदाता हैं।

यद्यपि हमारे इस विराट भौतिक जगत् में आकाशभूत सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु हमारी चेतन इन्द्रियाँ उसके सारे कार्यव्यापार को ग्रहण करने में पूर्णतया योग्य नहीं हैं। वायु को हमारी आँखें यद्यपि नहीं देख पातीं, किन्तु हम उसका स्पर्श अवश्य अनुभव कर सकते हैं। यही कारण है कि आकाश से अधिक वायु का इन्द्रिय-वोध सम्भव हो सकता है, किन्तु वायु के सन्तुलन में अग्नि अधिक सूक्ष्म नहीं रहती। जल और पृथ्वी की अपेक्षा वह कम भौतिक रह पाती है। हम विद्युत-प्रदीप्त वल्व और ज्वालाओं की चिनगारी आदि देख सकते हैं, ये अग्नि के भिन्न रूप हैं। यही कारण है कि अग्नि को स्थूल और सूक्ष्म के बीच की चीज कहा गया है। इसके सन्तुलन में जल, पृथ्वी के ठोस रूप से कहीं अधिक सूक्ष्म है। एक प्रकार से उसे हम अर्धस्थूल पदार्थ कह सकते हैं। पृथ्वीभूत में तम का अंश विशेष रूप से प्रधान रहता है। पृथ्वीभूत में आकर प्रायः सभी शक्तितत्त्व अथवा शक्ति की क्रियाशीलता एक प्रकार से गति-अवरुद्ध-सी मालूम होती है। यही कारण है कि हम धरती के एक खण्ड को या किसी चट्टान को ठोस और स्पन्दन-

हीन वस्तु मानते हैं—जिसमें किसी प्रकार की चल-शक्ति का अभाव रहता है। आकाशभूत में क्योंकि सत्वगुण विशेष रूप से सार्वभौम होता है, इसीलिए इसकी सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रिया हमें दृष्टिगोचर नहीं होती, पर यह अवश्य है कि हम उस समय वायु, अग्नि और वरुण इन तीनों देवताओं के महान कार्य-व्यापार और उनकी लीलाओं का अनुभव करने लगते हैं। जिस प्रकार तूफान, विजली की कड़कड़ाहट और जल-बोझिल बादलों का घनीभूत अतिरेक भाव आसमान में उमड़ने-घुमड़ने लगता है, कुछ उसी प्रकार, कुछ उसी के समानान्तर लघु ब्रह्माण्ड स्वरूप हमारी देह के अन्दर भी ये तीनों देवता अपने कार्यव्यापार की लीला का खेल खेला करते हैं।

इस प्रकार हमारी देह विराट ब्रह्माण्ड का एक लघु रूप है, यह हमने भली प्रकार समझ लिया।

अब हम इस देह की आन्तरिक रचना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का इस दृष्टि से अध्ययन करेंगे, ताकि उनके विकार-ग्रस्त होने पर हठ-योग किस तरह मंगल और कल्याण उपस्थित कर सकता है, उसका गहन ज्ञान हमें सरलता से हो जाए।

ग्रन्थियों का विवरण

द्वितीय परिच्छेद

भौतिक जगत सात स्तरों में विभक्त है, उसी तरह लघु ब्रह्माण्ड रूप हमारी देह सात स्तरों में गठित है। इनमें से हरेक विशिष्ट स्तर किसी एक विशिष्ट तत्त्व का कार्य-क्षेत्र अथवा केन्द्र आधार हुआ करता है। परिभाषा रूप में इन स्तरों को अथवा तत्त्वों के गतिकेन्द्रों को चक्र कहते हैं, इन्हें ग्रन्थि-केन्द्र (Gland Centre) भी कहा जाता है। हमारे प्रबुद्ध पाठकों को सरलता से यह विषय समझ में आ जाय, इसलिए हम देह के अन्दर निवास करनेवाली इन अंगभूत ग्रन्थियों का, ब्रह्माण्ड के सात स्तरों के समानान्तर, इन सात ग्रन्थियों के नाम प्रयोग में लायेंगे। वे इस प्रकार हैं : महत्‌ग्रन्थि, अहंग्रन्थि, व्योमग्रन्थि अथवा नभोग्रन्थि, वायुग्रन्थि, अग्निग्रन्थि, वरुणग्रन्थि और पृथ्वीग्रन्थि।

योगियों ने देहप्रणाली की आन्तरिक रचना के क्रमबद्ध स्वरूप अथवा अन्तःशक्ति विषयक स्तरावस्थिति को देखते हुए, इन ग्रन्थियों का नाम इस प्रकार रखा है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

इस स्थल पर हम अध्यात्म-विद्या विषयक अपना कोई मन्तव्य प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। यहाँ पर हम विषय के अन्तर्गत शरीर-विज्ञान की ही चर्चा आगे बढ़ा रहे हैं। यही कारण है कि प्राजापत्यसूत्रम्-जैसे अर्द्धांश में यौगिक और अर्द्धांश में आयुर्वेदिक शास्त्रों की मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए और उनका ही अनुसरण करते हुए, हमने यहाँ पर ग्रन्थियों के नामों का, नवीनतम आधार पर, नवीनीकरण करने का साहस किया है।

शरीर के अन्दर जो ग्रन्थियाँ हैं, वे अन्तर्मुखी स्राव उत्पन्न करने में समर्थ हुआ करती हैं। ये स्राव रक्त से मिश्रित होकर शरीर का पोषण ही नहीं करते, शरीर को एक नियमित स्वास्थ्य की स्थिति में भी रखते हैं। इन अन्तर्मुखी स्रावों में से जो वहुत उत्तम अंश के स्राव हैं, वे हमारे मस्तिष्क को सुदृढ़ वनाते हैं और इसे चेतन अवस्था में रखते हैं। पारस्परिक सहक्रिया व सहायता द्वारा शरीर की समस्त ग्रन्थियाँ इस तरह सक्रिय वनी रहती हैं, जिससे कि हर व्यक्ति के देह की पुष्टि ही वृद्धि को प्राप्त नहीं होती, उसका मानसिक गठन भी सुपुष्ट होता रहता है। जहाँ समस्त ग्रन्थियाँ इस तरह एक दूसरे के काम में परिपूरक सिद्ध होती हैं, वहों पर कुछ विशिष्ट ग्रन्थियाँ शरीर की कुछ उल्लेखनीय प्रणालियों में अपनी प्रभावोत्पादक क्रिया के कारण प्रधान भाग ही लेने नहीं लगतीं, वहाँ पर वे हावी भी हो जाया करती हैं। एक व्यक्ति प्रायः ऐसी ही प्रधान और विशिष्टता-प्रभावित ग्रन्थियों की रचना का स्थूल प्रतिविम्ब हुआ करता है और इसमें इन ग्रन्थि-विशेष के गुण-धर्म प्रधान बन जाया करते हैं।

अव हम ग्रन्थियों के कार्य-कारण और विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

व्योमग्रन्थि अथवा नभोग्रन्थि

किसी विशिष्ट भौतिक तत्त्व (Force or Principal) के प्रधान कार्य से शरीर की समग्र शारीरिक प्रणालियों का सुस्पष्ट स्वरूप निश्चित हुआ करता है। फिर भी, जव हम अध्ययन करते हैं, तो यह ठीक समझ लेना चाहिए कि इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं के जो मुख्य केन्द्र हैं, वे सहायक या गौण केन्द्रों से सर्वदा कुछ भिन्न स्थिति में रहते हैं। कण्ठ के अन्दर जो ग्रीवास्थि (Collar-bone) है, उसके और गर्दन के ऊर्ध्वभाग के वीच में जो स्थान सुरक्षित है, वहाँ पर आकाशतत्त्व के क्रिया-संचालन का मुख्य केन्द्र हुआ करता है। यहीं पर व्योमग्रन्थि का अपना कार्यक्षेत्र रहता है। व्योमग्रन्थि पंचग्रन्थियों के समूह का नाम है,

जिनके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्र-ग्रन्थि (Thyroid), उपेन्द्र-ग्रन्थि (Parathyroid), तालुग्रन्थि (Tonsil), लालाग्रन्थि (Salivary glands) आदि ।

व्योमग्रन्थि से निःसृत होनेवाले रस रोगों से निःसृत होनेवाले विषों का समाहार करते हैं और विशेष रूप से शरीर को मजबूत व स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं। यदि ये ग्रन्थियाँ अपनी प्रकृत अवस्था में सक्रिय रहती हैं तो उस हालत में शरीर की अन्य ग्रन्थियाँ और स्नायु आदि दुर्वल व कृश नहीं होने पातीं। लेकिन दूसरी ओर यदि ये ही ग्रन्थियाँ अधिक अस्वस्थ अथवा हीन प्रकृति की होने लगती हैं और रक्त में अपना स्राव पर्याप्त मात्रा में सिंचित कर पाने में अवश रह जाती हैं, तव परिणाम यह होता है कि हमारे शरीर पर रोगों का आक्रमण सम्भव हो जाता है। हम रोगी वनने की स्थिति में हो जाते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है और यहाँ पर उसे दुहराने की आवश्यकता है कि शरीर में निःसृत होनेवाले इन अन्तर्मुखी रसों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से हमारे मानस का गठन दृढ़ होता है और हमारी मानसिक अवस्था चैतन्य वनती है, तरोताजा रहती है। व्योमतत्त्व में सत्वगुण का प्रधान अंश विद्यमान रहता है। यही कारण है कि जिस व्यक्ति की देह में व्योमग्रंथि की सार्वभौम प्रधानता रहेगी, उसका मानस सदैव ही उत्तमोत्तम सात्विकता से, जैसी कि प्रायः देवताओं में पाई जाती है, ओतप्रोत रहेगा। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि महिलाओं में व्योमग्रंथि पुरुषों की अपेक्षा वहुत ही सवल होती है। यही कारण है कि जिन स्त्रियों में व्योमग्रंथि सर्वप्रवल है, उन सवल और सद्गुण-विभूषिता रमणियों में प्रेम, ममत्व, स्वार्थरहित अनुरक्ति आदि प्रिय भावनायें अधिकाधिक विद्यमान रहा करती हैं। जिन लोगों में इस व्योमग्रंथि के क्रिया-संचालन की जरा-सी खरावी आ जाती है, जैसे कि वहुत अधिक स्राव अथवा मात्रा से कम स्राव अथवा साधारण दुर्व-

लता आदि, तो मानस की मृदुता और चित्त की सामान्य सरसता आदि फिर नहीं रह पातीं। इसी के साथ उच्च विचार अथवा आदर्श-चिंतन की क्षमता भी ह्रास को प्राप्त होने लगती है। एक प्रकार से अवसाद, नैराश्य और किसी भी काम में मन न लगने की मनोवस्था दीमाग पर हावी रहने लगती है। कार्यविमुखता और जी उचाट रहने-सी अप्रिय बातें उसके दैनन्दिन स्वभाव में शामिल हो जाया करती हैं।

वायुग्रंथि

वक्ष-प्रदेश में इस ग्रंथि का प्रधान अधिष्ठान स्थित है और यहीं पर वायु की क्रियाओं का केन्द्र मान्य रहता है। व्योमग्रंथि की तरह वायुग्रंथि भी पांच ग्रंथियों के समूह का नाम है। ये इस प्रकार हैं: फुसफुस, हृदय, ग्रीवा और कोषाणु-निर्मात्री ग्रंथियाँ। इनके अतिरिक्त, अनेक सहायक एवं शाखा-प्रशाखा रूप लघु ग्रंथियों का समावेश भी यहीं रहता है। वायु प्रधान रूप से शरीर की रक्षा करनेवाली शक्ति है और अंग-प्रत्यंगों का संचालन भी शरीर में इसके अधीन हुआ करता है। यही कारण है कि वायु की प्रधान गतिविधि फेफड़े और हृदय में रहती है, जो कि शरीर-प्रणाली के दो बहुत ही गम्भीर दायित्वोंका वहन करनेवाले अवयव हैं। यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि शरीर में अन्य अवयव कुछ देर के लिए विश्राम लेने के निमित्त रुक भी सकते हैं, लेकिन ये दोनों ही अवयव किसी भी क्षण जीवनपर्यन्त नहीं रुक सकते। दिन और रात ये एकसाँस काम किया करते हैं। एक क्षण के लिए भी इनका रुकने या विश्राम लेने का अर्थ बस यही हो सकता है कि वह व्यक्ति चिरनिद्रा में सदा सर्वदा के लिए सो जाए। अर्थात् मृत्यु-मुख में पहुँच जाए!

जब तक वायुग्रंथि-समूह में पाई जानेवाली समस्त ग्रंथियाँ प्रकृत और स्वस्थ अवस्था में रहती हैं, उस समय तक शरीर-प्रणाली के समस्त कार्य-विधान सुचारु रूप से चलते रहते हैं और शरीर में किसी प्रकार

की अनियमितता और रोग का प्रवेश नहीं हो पाता। जब ये ग्रन्थियाँ दुर्बल हो जाती हैं तो सीधी बात यह समझ लेनी चाहिये कि इन ग्रन्थियों के कार्यमें ह्रास आ जाने से जो क्षति शरीर में होती है, तो फिर शरीर की अन्य ग्रन्थियाँ किसी भी प्रकार उसकी पूर्त्ति नहीं कर सकतीं। और, स्पष्ट परिणाम सामने यह आता है कि स्नायु और धमनियाँ और शरीर के अन्य अवयव फिर किसी भी हालत में अपने नियमित कार्य का संचालन नहीं कर पाते। शरीर-प्रणाली एक प्रकार से रोगग्रस्त अथवा विकृत होने लग जाती है।

दूसरी ओर, यदि किसी व्यक्ति की वायुग्रन्थि बहुत अधिक मजबूत और स्वस्थ अवस्था में है तो उसमें आत्म-नियन्त्रण, उत्तम स्वभाव का सन्तुलन, शुद्ध मानस की रुचिरता और पवित्र हृदय की भावनाएँ प्रचुर होने लगती हैं। समाज में ऐसे ही व्यक्ति निष्कामभाव से सेवाभावी बनकर अग्रसर होते हैं। उनमें स्वार्थ अथवा संकुचित और क्षुद्र भावनाएँ किसी भी रूप में नहीं आ सकतीं। समाज में ऐसे ही साधु स्वभाव, उमङ्ग और उत्साह से पूरित, स्वार्थत्यक्त और मर्यादाओं से बँधे हुए नियन्त्रणशील व्यक्ति ही श्रद्धा और आदर के पात्र बनते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों में वायुग्रन्थि प्रभावशाली रूप से अपना कार्य सम्पन्न करती रहती है। और, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उसे ही ठीक से समझाने के लिए फिर दोहराना चाहते हैं कि, वायुग्रन्थि के विकृत हो जाने से अथवा शरीर-प्रणाली में निहित किसी दोष से विवश अनियमित हो जाने से उस व्यक्ति-विशेष की मानसिक अवस्था चंचलायमान हो जाती है। वह बहुत अधिक बातूनी बन जाता है, उसमें कृतज्ञता की भावना का पूर्ण ह्रास हो जाता है। अर्थात् वह पूर्णतया कृतघ्न बन जाता है। यहाँ तक कि अपने हितैषियों और शुभकांक्षियों को नुकसान पहुँचाने में भी उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं रह जाता। उसका स्वास्थ्य कृश होने लगता है। वह क्षीण और कृशकाय हो जाता है। उसके सभी कामों में उतावलापन आ जाता है।

अग्निग्रंथि

उपरोक्त ग्रन्थियों की तरह यह ग्रन्थि भी ५ ग्रन्थियों के समूह से वनी है। अग्निदेव हमारी शरीर-प्रणाली में इन्हीं ५ मुख्य ग्रन्थियों के माध्यम से अपना शाश्वत कार्य किया करते हैं। इन ग्रन्थियों के नाम यकृत (Liver), प्लीहा (Spleen), सूर्यग्रन्थि या अग्न्याशय (Pancreas), शुक्रग्रन्थि (Suprarenal) और एड्रेनल ग्लैण्ड (Adrenal glands) ग्रन्थि आदि हैं। पेट के दायरे में जितनी भी छोटी-वड़ी और सहायक अन्य ग्रन्थियाँ होती हैं, और जो उपयोगी पाचक रसों का स्राव करती रहती हैं, उन सवके माध्यम से अग्निदेव अपनी जीवनोपयोगी गतिविधि का प्रसार सूक्ष्म रूप में करते रहते हैं। पर, हमें आवश्यक रूप में यह समझ लेना चाहिये कि ये छोटी और सहायक ग्रन्थियाँ अग्नि के मुख्य केन्द्र न होकर, गौण क्षेत्र ही हैं।

यदि अग्नि के सर्वोच्च प्रतीक सूर्य देवता हमारे विश्व में नितान्त आवश्यक गर्मी का अवदान अवरुद्ध कर देते तो इस पृथ्वी-मण्डल पर किसी भी रूप में सप्राण जीवन, चाहे वह वनस्पति जगत का और चाहे पशु अथवा मानव जगत का क्यों न होता, असम्भव हो जाता। सूर्य-रहित पृथ्वी केवल मात्र वर्फ के विराट् शिलाखण्डों से जड़वत् वनी रहती और हमें क्षीण प्राण का काफी सूक्ष्म-सा स्पन्दन भी देखने को न मिलता! कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे शरीर की भी है। हमारी देह के अन्दर जो अग्निदेव हैं, वे ही हमें प्राणवान रूप में और ओजपूर्ण अवस्था में रखते हैं। जिस दिन शरीर की आन्तरिक अग्नि प्रज्वलित होने से रुक जायेगी, उस दिन देह के अन्दर उमङ्गवती वनी हुई हमारी जिजीविषा श्वासहीन वन जायेगी और हमारा शरीर मृत्यु के साक्षात पाश में ग्रस्त हो जायेगा। अग्निग्रन्थि के जो अन्तर्मुखी स्राव हैं, उनमें उतनी ही तीव्र मात्रा में ज्वलन शक्ति विद्यमान रहती है, जितनी कि तेज से तेज नाइट्रिक एसिड अथवा हाइड्रोक्लोरिक एसिड अथवा सल्फ्युरिक एसिड आदि उन अम्ल पदार्थों में होती है, जिनकी जान-

कारी आधुनिक रसायन-विज्ञानको हो चुकी है। रसायनवेत्ता सारभूत अंशों से ऐसिड अथवा तेजाव तैयार किया करते हैं, ये अवयव अंश हाइड्रोजन आक्सिजन आदि हैं और ये सब हमारे शरीर में भी विद्यमान रहते हैं। इससे हम समझ सकते हैं कि अग्निदेव हमारी शरीर-प्रणाली में तेजाब के रूप में जो तरल अग्नि उत्पन्न करते हैं, शुद्ध रूप में अग्नि-उत्पादक ग्रन्थियों के समूह से उत्पन्न रसों से ही वह निपजती है। ये ग्रन्थियाँ विशुद्ध रूप से अग्निदेव की भट्टियों के रूप में हमारे शरीर में स्थित हैं। लोक-जगत् में इस तरल अग्नि को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है—जैसे : पाचक रस, पित्त अथवा अम्लीय पदार्थ। अपने आप अदृश्य रूप से उत्पन्न यह आन्तरिक अग्नि शरीर के तापमान को नियमित रखती है और शरीर के अन्दर अन्य अवयवों को सक्रिय वनाने में भरपूर सहयोग देती है। यह भोजन को पचाती है और उसके वाद पचाये हुए भोजन को रक्त में परिवर्त्तित करती है तथा भोजन के कुछ अंश को जीवनोंपयोगी अन्य तरल रसों में तैयार करती है। शरीर में मांस, मज्जा, अस्थि आदि जो मुख्य अंश हैं, उनके निर्माण में भी ये पाचक रस प्रधान रूप से आधारभूत कार्य करते हैं।

जिन व्यक्तियों में अग्निग्रन्थि अत्यन्त प्रवल रूप में विद्यमान रहती है, उनके अन्दर उत्कट चेतना होती है और वे कभी न थकनेवाले कार्य-कर्त्ता होते हैं। उनमें संवाहक चेतना का भरपूर अंश विद्यमान रहता है ; वे अद्‌भुत रूप से नेतृत्व करने की शक्ति अपने में निहित रखते हैं। ऐसे ही मेधावी व्यक्तियों में अग्निग्रन्थि अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाया करती है। और, ऐसे ही लोगों में से राजनीतिक नेता, सैनिक अधिकारी, जनरल और वे कमाण्डर पैदा होते हैं, जो युद्ध को अपना प्रिय विषय मानते हैं। लेकिन जब इन ग्रन्थियों में दोष आ जाता है तो ऐसे व्यक्ति अपनी प्रकृत चैतन्यता और शारीरिक शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं और वे समाज-विरोधी विघटन-कार्यों में अपना अधिक समय खराव किया करते हैं। यहाँ तक कि उनकी कुंठित दम्भ-भावना

और विश्वासघात तथा दुष्टता के भाव इस सीमा तक पहुँच जाते हैं कि उनके सगे नाते-रिश्तेदार और मित्र भी उनसे घवरा जाते हैं। वहुत हद तक जरा-सी शारीरिक अस्वस्थता होने पर अथवा अङ्गों में दर्द पैदा हो जाने पर वे वहुत जल्दी अधीर और बेचैन होने लगते हैं। भोजन के मामले में वे किसी भी प्रकार का नियन्त्रण करने में असफल रहते हैं। प्रायः ऐसे व्यक्ति रक्तचाप और पेट के रोगों के शिकार वने रहते हैं।

वरुणग्रन्थि

इस ग्रन्थि-समुच्चय के अन्तर्गत मूत्रग्रन्थि (Kidney), पितृग्रन्थि (Testes), कन्दर्पग्रन्थि (Prostate gland), मदनग्रन्थि (Cowper's gland) एवं नारी-देहस्थ मातृग्रन्थि (Ovary), रतिग्रन्थि (Bartholin's gland), मिथुनग्रन्थि (Skene's gland)—निम्नोदर की इन पाँच प्रधान ग्रन्थियों को एक शब्द में वरुणग्रन्थि कहा जाता है। वरुणग्रन्थि के अन्तर्गत ही लसिकावाही ग्रन्थियाँ (Lymphatic glands) भी आती हैं, जो वहुत ही सुकुमार होती हैं। ये रोग-निरोधक स्राव शरीर-प्रणाली में उत्पन्न करती रहती हैं और हमारे समग्र स्वास्थ्य के लिए आन्तरिक रक्षा-कवच का कार्य भी निभाती हैं। हम सव जानते हैं कि समग्र ब्रह्मांड का उद्भव अपतत्व अर्थात् जलीय सृष्टि से हुआ था, उसी प्रकार वरुणग्रन्थि के एक अंश के रूप में उत्पन्न ओज-तत्व (Semen or Spormatozoa) भी इन्हीं ग्रन्थियों के अन्तर्मुखी स्राव से उत्पन्न होता है और वे प्रजोत्पादन की क्षमता अधिक रूप से प्रगट करते रहते हैं। शरीर के अनेक अवयव जैसे स्नायु, तन्तु, कोषाणु, चर्म, अस्थि और मज्जा आदि इसी ओजतत्व से अर्थात् जीवनी-शक्ति से लब्ध तरल वीर्य से सम्पुष्ट हुआ करते हैं और वरुणग्रन्थि इस जीवन-संवाहक तरल पदार्थ का सुचारु रूप से नियमन करती रहती है। वरुणग्रन्थि को सोमग्रन्थि नाम भी दिया गया है। सोम का भाव उस दिव्य नैसर्गिक पेय से है, जिसकी चर्चा वेदों में आई है और जिसकी चाहना देवता

सदा किया करते थे। सोम का अर्थ जल भी होता है। जल नामक मूलाधार अंश के अधिदेव वरुण हैं। यही कारण है कि इसको सोमग्रन्थि कहते हैं। प्रायः सब जानते हैं कि जहाँ पर अमर्त्य अर्थात् अमर देवताओं का निवास है, उसको सोमलोक कहा जाता है। हमारे शरीरमें जहाँ पर मस्तिष्क का शिखर है, उसे दिवलोक कहा जाता है, जिसका अर्थ है, देवताओं के निवास का स्थान। इसी मस्तिष्क-प्रदेश में एक सोमग्रन्थि भी होती है, जो कि एक प्रकार से लघु ब्रह्मांड रूप शरीर में दिवलोक के समान ही है। इस ग्रन्थि की व्याख्या यथास्थान की जायेगी।

जिन व्यक्तियों में वरुणग्रन्थि बहुत प्रभावशाली रहती है, वे सदैव प्रसन्न चित्त रहते हैं और दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका व्यवहार बहुत सौम्य रहता है। वे अपने सुरुचिपूर्ण प्रिय शब्दों से सबको प्रसन्न रखते हैं और अपने मनभावन व्यवहार से अपने प्रति सबको आकर्षित करते रहते हैं। जिस किसी काम को वे शुरू करते हैं, उसमें ही उनकी उन्नति होती है और दुनियादारी के माननेवाले सम्भ्रांत व्यक्तियों के समाज में उनका यश निरन्तर फलता-फूलता रहता है। ऐसे व्यक्ति चाहे पुरुष हो, चाहे महिलायें हों, दोनों में ही उच्चस्तरका स्वास्थ्य आह्लादित रंजन के साथ पुष्ट रहता है। वे अपने पारिवारिक क्षेत्र में मनः-प्रिय शांति ही बनाये रखते हैं, आदर्श रूप से उसकी मर्यादाएं भी प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु जब वरुणग्रन्थि के क्रिया-संचालन में असन्तुलन उपस्थित हो जाता है, उस समय चाहे स्त्री हो और चाहे पुरुष, दोनों ही स्वार्थी मनोवृत्ति के बन जाते हैं। वे ईर्ष्यालु होने लगते हैं, लोभी हो जाते हैं, उनके हरेक व्यवहार में दोष-दृष्टि अथवा छिद्रान्वेषण करने की लत सबसे ऊपर बोलने लगती है। ऐसे व्यक्ति प्रायः क्रुद्ध भाव से भरे रहते हैं।

पृथ्वीग्रन्थि

हमारे शरीर में भौतिक रचना का जो आन्तरिक गठन है, वह मांसपेशियों और अस्थियों से पूर्ण होता है। इसका रहस्य यह कि पृथ्वी-

ग्रन्थि ही इन दोनों के निर्माण में प्रवृत्त रहती है। प्रायः सभी गति-संचालक शक्ति-लब्ध संवेगों का संपर्क जब पृथ्वीग्रन्थि से अधिक पड़ता है तो वे निष्क्रिय और क्रिया-रहित हो जाया करते हैं। ऐसी अवस्था में इस विषय पर कुछ ज्यादा प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। जिन व्यक्तियों में पृथ्वीग्रन्थि अन्य ग्रन्थियों की अपेक्षा प्रधान रहती है, उनके शरीर प्रायः भारी रहते हैं और उनमें रक्त, मांस और मेद की मात्रा भी अधिक रहती है। स्वाभाविक प्रकृति से वे उदार और धैर्यवान होते हैं। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए न तो वे कोई चिन्ता प्रगट करते हैं और न ही बढ़ी-चढ़ी मनोवांछनाओं का प्रदर्शन किया करते हैं। एक बैलगाड़ी की तरह से उनके जीवन के पहिये बहुत ही श्लथ गति से धीमे-धीमे और सुस्ती के साथ आगे चला करते हैं। वे कभी भी इस भौतिक दुनिया के जंजालों से अपना दिमाग बोझिल नहीं बनाया करते। जहाँ तक व्यावहारिक व्यक्ति बनने के सवाल हैं, वे प्रायः सभी प्रकार की दुश्चिन्ताओं को अथवा मानसिक द्वन्द्वों को अपने से दूर रखा करते हैं।

जब इस ग्रन्थि-विशेष के प्रकृत रूप में अथवा इसके कार्य-संचालन में कोई विकृति अथवा दोष आ जाता है, तो ऐसे स्वभाव के लोगों में अस्वाभाविक परिवर्तन हो जाता है। वे कुछ मात्रा में स्वार्थी ही नहीं हो जाते, उनमें व्यक्तिगत सुखों की तृष्णा भी बलवती होने लग जाती है।

अहंग्रन्थि

अहं तत्व अर्थात् सार्वभौमिक इच्छा-शक्ति हमारे शरीर के शिखर-प्रदेश में अवस्थित हमारे मस्तक में विद्यमान रहती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारा शरीर विस्तृत ब्रह्मांड का लघुरूप ही है। जिसे अंगरेजी में पीट्यूटरी ग्रन्थि नाम दिया गया है, वह हमारे मन्तव्य के अनुसार 'शिव-सती ग्रन्थि' है। अहंग्रन्थि भी ५ ग्रन्थियों के समुच्चय से बनी है। शिव-सती ग्रन्थि के अतिरिक्त ४ प्रमुख ग्रन्थियाँ हमारी दृष्टि, श्रवण-शक्ति, विचार-शक्ति और स्मृति की क्षमता का नियमन

किया करती हैं, इसी प्रदेश में अहंग्रन्थि का प्रभाव सक्रिय रहता है। इच्छाशक्ति के रूप में हमारे जो अहंभाव हैं, वे ही एक प्रकार से हमारे जीवन की समस्त प्रधान घटनाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखते हैं। कुछ उसी प्रकार यह अहंग्रन्थि हमारे शरीर में व्योम, वायु आदि सभी अन्य ग्रन्थियों पर अपना शासन किया करती है। अहंग्रन्थि का एक काम यह भी है कि वह जहाँ तक सम्भव हो सकता है, अन्य ग्रन्थियों के दोषों का तथा किसी भी प्रकार की कमियों का अथवा दुर्बलताओं का समाहार करने की चेष्टा ही नहीं करती, उनकी यथाशक्ति क्षतिपूर्ति भी करती है।

महान मेधावी और प्रतिभाशाली व्यक्ति, अग्रणी श्रेणी के साहित्यकार, कवि, वैज्ञानिक, दार्शनिक, मानवता के शुभचिन्तक सन्त और अतिमानव ऐसे ही व्यक्तियों के रूप में पैदा हुआ करते हैं, जिनमें अहंग्रन्थि बहुत अधिक प्रभावपूर्ण रहती है। इसके विपरीत जिन लोगों में यह ग्रन्थि दुर्बल होती है अथवा उसकी कार्यशक्ति में दोषों का प्रकोप हो जाता है तो ऐसे व्यक्तियों में पर्याप्त मात्रा में क्षुद्रता, छल-कपट, हृदयहीनता, शैतानियत-भरी दुष्टता व भौंड़ेपन जैसी बातों की प्रधानता होने लगती है।

महत्ग्रन्थि

अहंग्रन्थि से थोड़े ऊपर के प्रदेश में मस्तिष्क के अन्दर इस ग्रन्थि का निवास है। यह भी सोम, देवाक्ष (Pineal) रुद्र, त्रिकूट और सहस्रार ग्रन्थि प्रभृति ५ ग्रन्थियों के समुच्चय से गठित होती है। इसी प्रदेश में इसकी क्रियाशीलता का प्रभाव-क्षेत्र स्थित रहता है। इन ग्रन्थियों को एक प्रकार से लघु कारखाना समझना चाहिये, जिनसे गहन, गम्भीर, निष्णात और सात्विक भावनाओं की दीर्घ शृंखला के रूप में उत्पादन होता रहता है। ऐसे ही महत गुणों के संस्कारों से मनुष्य देवता के रूप में मान्य हुआ करता है और उसमें दिव्य भावनाओं और गुणों का

समावेश हो जाया करता है। महत्ग्रन्थि के आन्तरिक स्राव का नाम सोमधारा है। यह अमृततुल्य तरल पदार्थ मस्तिष्क से नीचे की ओर प्रवाहित होता है और शरीर की अन्य समस्त ग्रन्थियों को येन केन प्रकारेण सहायता पहुँचाता रहता है। इसके साथ ही यह समस्त स्नायु-प्रणालियों को चैतन्य प्रदान करता है और उन्हें सबल बनाता है।

जिन व्यक्तियों में इस ग्रन्थि का प्रभाव अपने समग्र रूप में होता है, वे विश्व में ईश्वरीय अवतार के रूप में पूजित हुआ करते हैं। वे वास्तविक रूप में इस पृथ्वी पर साक्षात् भगवान होते हैं और इस मर्त्य-लोक के महान् देवाधिदेव ब्रह्मा रूप मान्य किये जाते हैं। वे इसी जीवन में दिव्य जीवन का आनन्द-लाभ ही नहीं कर लेते, आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त करने में सफल होते हैं। उनके विशुद्ध जीवन और चरित्र पर रंच मात्र काली रेख उतरने नहीं पाती। इस दुनिया की वासना-आधारित एषणाओं की काली परछाँई उनके परिष्कृत मानस पर अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाती। मृदुतम भावनाओं के और महान मेधा के वे साक्षात् मूर्त्तिमान् पुरुष होते हैं। शारीरिक यातनाएँ अथवा दुःख, सबल शक्तिमत्ता अथवा दुर्बलता उनकी ग्रन्थियों के कार्य में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं कर सकती। उन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं रहती कि वे पूर्ण रूप से स्वस्थ हैं अथवा बीमार हैं, न ही उन्हें दुनिया की कोई भी चिंता अथवा दुविधा उनके शान्त गम्भीर स्वभाव पर अपना दुष्प्रभाव छोड़ सकती है। साधारण जनों के बीच में ऐसे आदमी अलग ही नजर आ जाया करते हैं, जिनमें महत्ग्रंथि मुख्य रूप से अपना चमत्कारी प्रभाव प्रगट करती रहती है।

ब्रह्मरन्ध्र

महत्ग्रन्थि के ठीक ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थापित है। भारतीय दर्शन-शास्त्र और शरीर-शास्त्र में यह शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यही ब्रह्म-रन्ध्र है, जो कि शरीर के अन्दर स्थित आकाश, जिसे कि हम देहाकाश

कहते हैं और ब्रह्माण्ड के आकाश, जिसे कि हम दिव्य आकाश कहते हैं, इन दोनों के बीच में एक आन्तरिक सूत्र सम्बन्ध स्थापित रखता है। यह ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार प्रदेश कहलाता है। प्रायः स्थूल दृष्टि से हम यही समझते हैं कि हमारी देह में सत्व, रज, तम--ये तीन गुण विद्यमान हैं, किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि हमारी देह में एक ऐसा भी प्रदेश है, जो इन तीन गुणों के प्रभावक्षेत्र अथवा कार्यक्षेत्र की सीमा से बाहर है और वह यही ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश है—जिसमें इन तीन गुणों से किसी प्रकार का भी संस्पर्श नहीं हो पाता। सरल भाषा में हम यह कह सकते हैं कि यह प्रदेश अमल धवल विशुद्ध चेतना का महासागर-स्वरूप प्रदेश है। इसी महासागर के बीच में योगशास्त्रों द्वारा वर्णित कैलाश नामक शिखर स्थापित है। योगिराज जनों की यह निश्चित मान्यता है कि यह शिखर समुज्ज्वल चेतना का मानो उच्चतम घनपिंड है। इस पर कभी भी कोई दोष आच्छादित नहीं हो पाता और इसी आसनपीठ पर सर्वोच्च सत्य की सत्ता परम शिव अपनी सर्वोपरि परम शक्ति के साथ संयुक्त रहकर निवास करते हैं।

हमेशा ऐसा ही नहीं होता कि किसी विशिष्ट व्यक्ति में कोई एक विशेष ग्रन्थि शरीर-प्रणाली के अन्दर बहुत अधिक प्रभावशाली बनी रहे। अधिकांश व्यक्तियों में हम देखते हैं कि एक से अधिक ग्रन्थियाँ क्रम से एक दूसरे पर अधिक प्रभावशाली और आधिपत्य रखनेवाली सिद्ध होती हैं। ऐसी अवस्था को मिश्र-ग्रन्थि कहा जाता है और ऐसे व्यक्ति अनेक ग्रन्थियों के मिश्रित प्रभावाधीन कहे जाते हैं। इस अवस्था में स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थियों के दोष और गुण व्यक्ति की देह में और उसके स्वभाव में अपना प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते हैं। इस लघु ग्रन्थ में यह सम्भव नहीं है कि हम इन ग्रन्थियों के कार्य और सम्बन्धित सिद्धान्तों की समीक्षा करने बैठें। यह तो एक अलग ग्रन्थ का विषय है और इस विषय पर अनेक योगियों ने अपने अनुभूत प्रयोग प्रकाशित किये हैं और उन सबका संग्रह एक अलग ग्रन्थ में ही उचित प्रतीत होता है।

भारत में ग्रन्थि-विज्ञान पश्चिमी देन नहीं

पश्चिमी शरीर-शास्त्र के विशेषज्ञों ने अपने ग्रन्थों और लेखों में बहुत अधिक विस्तार से ग्रन्थियों के चित्र-विचित्र रहस्यमय कामों पर प्रकाश डाला है। ये पश्चिमी शरीरशास्त्री इस क्षेत्र में अपनी इन नई सूझ-बूझों पर नादान बालकों की तरह बहुत अधिक हर्षित नजर आया करते हैं। इन लोगों के कथनानुसार अहम् अथवा व्यक्तित्व अथवा व्यक्ति-तत्व जैसी कोई चीज नहीं है और व्यक्तिकी जीवन-प्रणाली व उसके व्यक्तिगत स्वभाव की विशेषताएँ उसकी आन्तरिक ग्रन्थियों के रहस्य-मय स्रावों द्वारा नियंत्रित और निश्चित हुआ करती हैं। भारत में ग्रंथि-विषयक यह विज्ञान ताजा हाल अथवा आधुनिक युग का नहीं है, अपितु बहुत प्राचीनकाल से ज्ञात रहा है। भारत के ऋषि-मुनियों ने ग्रन्थियों पर अनुभूत प्रयोग करने के बाद यह प्रमाणित किया था कि शरीर में जो ग्रन्थियाँ हैं, उन्हें हमारे शरीर-विधान के दिव्य निर्माता की इच्छाशक्ति और मनःशक्ति के द्वारा कार्य करनेके लिए प्रेरित किया जाता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि हमारे शरीर का जो नियंता है, उसके हाथ में ये ग्रन्थियाँ केवल कार्य-विशेष के औजार तुल्य हैं। अभी तक पश्चिमी विशेषज्ञ भारतीय महर्षियों के द्वारा प्रणीत शरीर के आन्त-रिक चैतन्य भाव के सम्बन्ध में अपनी निर्णायक बुद्धि से काम नहीं ले पाये हैं। इसका स्पष्ट परिणाम यह है कि ग्रंथियों के रहस्य के सम्बन्ध में उसका ज्ञान नितान्त अपूर्ण है[१]।

इस परिच्छेद में हमारा उद्देश्य केवल देहतत्व के रहस्यों का संक्षेप में उद्घाटन करना है। हमने ऊपर वायु, अग्नि, वरुण के अधिदेवों द्वारा संयोजित उन विधि-विधानों की चर्चा की है, जिनकी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद सृष्टि की पृष्ठभूमि में जो मूलभूत रहस्य निहित हैं, उनसे हमारा साक्षात्कार हो जाये। वायु, अग्नि और वरुण जैसे त्रिदेव ही

१—लेखक ने बंगला-भाषा में ग्रंथियों के स्राव और उनके कार्य-विशेष पर "सहज यौगिक व्यायाम" नामक पुस्तक में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

हमारे भौतिक जगत की वस्तुओं के मुख्य निर्माता हैं। यदि इन त्रिदेवों में से एक भी प्रकुपित हो जाये अथवा इनके मूलभूत अंशों में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न हो जाये तो हमारी यह समस्त भौतिक दुनिया क्षणमात्र में न केवल ढह जायेगी, अपितु सम्पूर्ण अवसान को प्राप्त हो जायेगी। ये स्वयम् त्रिदेव अथवा तीन महान् मूल पदार्थ हमारी आन्तरिक शारीरिक रचना में न केवल जीवन और प्राण की प्रतिष्ठा करते हैं अपितु हमारी देह में प्रकृत तापमान और स्वास्थ्य आदि के भी नियंता बनकर रहते हैं। जहाँ जरा-सा विघ्न इन तीन मूल पदार्थों के सन्तुलन में अथवा इनके विधि-विधान में उपस्थित हो जाता है तो केवल हम बुरी तरह से रोगों के शिकार ही नहीं हो जाते, अपितु विषम रोग होने से मृत्यु हमें अपना ग्रास बनाने में देरी नहीं लगाती। योगशास्त्र में जिन व्यायामों की चर्चा की गई है, और जो स्थूल रूप से आसन, मुद्रा और प्राणायाम के रूप में माने जाते हैं, वे स्वयंसिद्ध मंत्रों की तरह हमारे शरीर में अधिष्ठित इन मूलतत्वों के रूप में त्रिदेव को सुस्पष्ट रूप से संतुलित रखते हैं। यही कारण है कि हम इस स्थान पर अपने उस कथन को दोहराना चाहते हैं, जो कि प्रारम्भ में हम साधिकार कह चुके हैं कि **योगविद्या हमें एक ऐसी चमत्कारी कुंजी हाथ में सौंप देती है कि जिससे न केवल हम आध्यात्मिक ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त कर सकते हैं अपितु रोगों से और क्लेशदायक वृद्धावस्था से अपने को मुक्त करते हुए चिरयौवन और दीर्घ स्वास्थ्य से परिपूर्ण शरीर-प्रणाली का गठन करने में समर्थ बनते हुए सर्वाङ्ग सुन्दर मानसिक गठन के भी अधिकारी बन सकते हैं।** यदि समग्र मानवता योगविद्या द्वारा प्रचारित प्रणाली को अपनी सुरक्षा के लिए स्वीकार कर ले तो वह युग-युगों के लिए असामयिक मृत्यु, अकाल निधन और कराल काल स्वरूप महामारियों के चंगुल से भी निश्चिन्त रह सकती है।

●

आयुर्वेद में शरीर-विज्ञान एवं रोग-विज्ञान

तृतीय परिच्छेद

आयुर्वेद और योग-शास्त्र दोनों का ही समान मूलाधार वेदों में वर्णित व अवस्थित है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में हमने इन दोनों को जुड़वाँ भाई कहा है। आयुर्वेद के अनुभूत ज्ञान का जो प्रथम समृद्ध ग्रन्थ तैयार हुआ था, उसका नाम ब्रह्मसंहिता है, इसमें एक प्रकार से अथर्ववेद के अनेक परिच्छेदों में से कुछ सहस्र मन्त्र और श्लोक संगृहीत किये गये हैं। ये मन्त्र और श्लोक चिकित्सा-प्रणाली, उपचार-पद्धति, विभिन्न औषधियाँ और उनके गुणों से सम्बन्धित हैं। इतिहासके उदय-कालमें इस प्रकार के अनेक आयुर्वेद-शास्त्र प्रस्तुत किये गये थे, किन्तु वे प्रायः सभी ब्रह्मसंहिता पर ही आधारित हैं। आयुर्वेद शास्त्र का कार्यक्षेत्र जब समाज में बहुत अधिक व्यापक हो गया और उसकी लोकप्रियता विभिन्न दिशाओं में गुंजित होने लगी तो पौराणिक युगों में आयुर्वेद पंचम वेद कहा जाने लगा। उसकी प्रख्याति आज तक भारत में उसी प्रकार जन-मानस में चली आ रही है।

मिश्र और ग्रीस की सभ्यता से और भी प्राचीन

महाभारत से कुछ समय पहले ही चरक और सुश्रुत जैसे चिकित्सा-शास्त्र लिपिबद्ध हो चुके थे। प्राचीन भारत में जिस प्रकार शल्य-चिकित्सा की परम्परा सर्वमान्य रूप में प्रचलित थी, कुछ उसका ही दिग्दर्शन सुश्रुत-संहिता में किया गया है। समय के प्रवाह में और पश्चिमी आक्रमणों के आघातों से प्रपीड़ित हमारे देश में आयुर्वेद की महत्ता के लक्ष-लक्ष प्रमाण ही केवल नष्ट नहीं हुए हैं, आयुर्वेद की व्यापक

महत्ता भी बहुत कुछ धुंधली पड़ चुकी है। मध्यकाल के आसपास आयुर्वेद-शास्त्र के बहुत बड़े ज्ञाता और पंडित चक्रपाणि हुए हैं, जिन्होंने अनेक आयुर्वेदिक ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने स्थान-स्थान पर सुश्रुत संहिता के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। दुःख का विषय है कि वे उद्धरण वर्त्तमान सुश्रुत-संहिता के संस्करण में प्राप्त नहीं होते। इससे प्रमाणित होता है कि हमारे आयुर्वेद के वे ग्रन्थ जो काल के क्रूर आघातों से येन केन प्रकारेण अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सके, उनमें भी प्राचीन शास्त्रों के समग्र प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। फिर भी आयुर्वेद का जो बचा-खुचा ज्ञान आज हमारी बहुमूल्य विरासत के रूप में हमें प्राप्त है, उतना अंश भी आधुनिक चिकित्सा-जगत में बहुत बड़े आश्चर्य का विषय बना हुआ है और उसके प्रशंसकों की संख्या दुनिया भर में कुछ कम नहीं है। उस सुदूर भूतकाल में, जब कि मिश्र की प्राचीनतम सभ्यता और ग्रीस की वैभववती सभ्यता का जन्म तक नहीं हुआ था, उस समय भारत वेद और वेदान्त में निहित प्रज्ञा और मनीषा के यश से समृद्ध बना हुआ था। उसी समय से आयुर्वेद-शास्त्र भी अपने व्यापक अनुभूत प्रयोगों के कारण, सामाजिक जीवन का एक सर्वमान्य और सर्वपूजित जीवन-अवलम्बन हो चुका था। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि विश्व के आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की आदिशक्ति रूप माता तो यही आयुर्वेद-शास्त्र की विचक्षण प्राचीनता है। श्री कोलबुक जैसे पश्चिमी विद्वानों ने और उनके समान ही अन्य सिद्ध लेखकों ने हमें बताया है और प्रमाणित किया है कि किस तरह भारत और ग्रीस की प्राचीन सभ्यताएँ भारत की अपनी निधि रूप चिकित्सा-प्रणाली से प्रभावित हुई थीं।

आयुर्वेद की विभिन्न शाखायें

निकट हाल में अर्थात पिछले दिनों नेपाल में और देश के अन्य भागों में आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों की जो पांडुलिपियाँ हाथ लगीं,

उनकी संख्या हजार से ऊपर है। इन अवशिष्ट पांडुलिपियों को यदि हम सरसरी निगाह से देखें तो पता चलता है और हम सहज में अनुमान कर सकते हैं कि आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली विषयक विज्ञान के तपःपूत ऋषि-मुनियों ने भारत में कितने विराट स्तर पर आयुर्वेद की महिमा को प्रशस्त बनाने का चमत्कार उपस्थित किया था। आज के आधुनिक औषधीय विज्ञान-क्षेत्र में पश्चिमी विद्वानों ने जो अनुसंधान-कार्य विस्तार से सम्पन्न किये हैं, उनकी तुलना में आयुर्वेद नामक चिकित्सा-विज्ञान के अन्तर्गत प्राचीनकाल में जो उत्तमोत्तम अनुसंधान संभूत हो पाये थे, वे किसी भी कोटि में कम प्रमाणित नहीं हैं। रोगों के कारण जानने की दिशा में निदान की जो शाखा, चिकित्सा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती है; उसका कारण यह है कि आयुर्वेदिक अनुसंधान और शोध-कार्य इस दिशा में बहुत ही अधिक विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित हुए थे। कुछ अपवादों को छोड़ कर आधुनिक विज्ञान के विकास में एक्स-रे आदि के जो सर्वमान्य वरदान हमें प्राप्त हुए हैं, इनके सिवाय अभी तक प्रचलित मेडिकल विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी जगत् किसी भी ऐसी शाखा का अतिरिक्त संगठन या सम्पादन नहीं कर सका है, जो कि आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी ऋषियों को मालूम न था या जिस विषय में वे अनुसंधान और शोध न कर चुके थे। हमें बतलाया जाता है कि आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में टीका लगाने की जो पद्धति है, वह विशेष रूप से एक नई देन है। किन्तु वास्तव में यह बात सच नहीं है। अथर्ववेद के प्राचीनतम युगों से ही टीका लगाने की व्यापक रीति और नीति हमारे देश में व्यावहारिक बनी रही है। सर्दियों के अन्त में लोगों को छोटी चेचक से रक्षा करने के लिए टीके दिये जाते थे और इसी की पुनरावृत्ति गर्मी के प्रारम्भ में भी की जाती थी। मेडिकल साइंस की प्रायः जितनी भी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, उन सब पर हमें आयुर्वेद के शास्त्र और शोध-प्रबन्ध हाथ लगते हैं। उदाहरण के तौर पर रोग-विज्ञान का निदान-शास्त्र है, जिसे

कि हम आधुनिक भाषा में पैथोलोजी कहते हैं। अस्त्र-चिकित्सा है, जिसे कि आज हम 'मेजर सर्जरी' कहते हैं। शल्य-तन्त्र है, जिसे कि आज हम 'माइनर सर्जरी' कहते हैं। औषध-प्रस्तुति-विद्या है, जिसे कि हम 'फार्माकोलोजी' कहते हैं। शरीर-व्यवच्छेद विद्या है, जिसे कि हम 'एनोटोमी' कहते हैं। शरीर-विज्ञान है, जिसे कि हम 'फिजियोलोजी' कहते हैं। शिशु-चिकित्सा है, जिसे कि हम 'पीडियाट्रिक्स' कहते हैं। धातृविद्या है, जिसे कि हम 'मिडवाइफ्री' कहते हैं। औषध की व्यवस्था-पद्धति है, जिसे कि हम 'आर्ट ऑफ मेडिकेशन' कहते हैं। विष-तन्त्र है, जिसे कि हम 'टॉक्सिकोलोजी कहते हैं। रसायन-शास्त्र है, जिसे कि हम 'कैमिस्ट्री' कहते हैं। वाजीकरण तन्त्र है, जिसे कि हम 'साइंस ऑफ एफ्रोडिज्याक' कहते हैं।

यह निश्चित है कि आज के आधुनिक नाम से हम जिस पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली को भारत में व्यापक रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसे वड़ी सरलता से आयुर्वेदिक प्रणाली स्थानान्तरित कर देती, यदि वे सभी आयुर्वेद-शास्त्र और उनकी शाखा-प्रशाखाएँ समुचित रूप से संगृहीत की जा सकतीं और उनका युगानुरूप प्रतिनिधि रूप में सम्पादन किया जा सकता और वर्तमान स्टेण्डर्ड के अनुसार उनका मुद्रण कराया जा सकता—जो कि इधर प्राचीन खोजों में सुलभ हुई हैं। हमें यह वात ठीक जान लेनी चाहिये कि पंश्चिमी जगत् की शीतप्रधान ऋतु में तीव्र गुण-धर्मवाली जो औषधियाँ और उनके स्रावों को तीक्ष्ण शक्ति प्रदान करते हुए जो प्रयोग होते हैं, वे किसी भी प्रकार हमारे शीतोष्ण-प्रधान देश के लिए न तो उचित हैं और न ही लाभदायक हैं। हमारा औषध-व्यवस्था-शास्त्र और रोगी की चिकित्सा करते समय विभिन्न औषधियों को रोगानुसार नियमित करने की पद्धति विशिष्ट रूप से हमारे देश की शीतोष्ण और उष्ण-प्रधान ऋतु के अनुसार निर्धारित व सिद्ध की गई है और यही कारण है कि भारतीय औषधियाँ

भारतवासियों को कभी हानिकारक सिद्ध नहीं होतीं और न ही उनके रोगोंको विषम बनाने का कारण बन पाती हैं।

हमने इस स्थल पर आयुर्वेद-शास्त्र के सम्बन्ध में इसलिए चर्चा की है, ताकि वर्तमान युग की विभिन्न मान्य प्रणालियों का अनुसरण करने वाले चिकित्सक इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। आज हमारा देश स्वतन्त्र है, इस नाते यह और भी आवश्यक है कि हम भारतीय पद्धति का संरक्षण करते हुए इस चिन्तन-मनन को अपने अध्ययन का विषय बनायें।

भारतीय योगदर्शन-शास्त्र ने पंचतत्व की प्राचीनतम सिद्धान्त-प्रणाली को आधारित बनाकर ही ब्रह्माण्ड में व्याप्त सृष्टि-रचना को समझाने में अत्यधिक रुचि ली है और इसी आधार पर उन्होंने शरीर-शास्त्र के नियमों और विकास-विषयक सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। आयुर्वेद आदिकाल से स्वयंभू पंचतत्वों की आधारभूत क्रिया-शक्तियों को बहुत अधिक महत्व देता रहा है और उसीको प्रमुख आधार मानते हुए उसमें शरीर-शास्त्र और रोग-शास्त्र के सिद्धान्त और नियमों का प्रणयन किया गया है—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ सुश्रुत २१।८

अर्थात् सोम या वरुण, सूर्य या अग्नि, अनिल अथवा वायु—ये तीनों देवता इस भौतिक जगत् की रचना करते हैं, उसका संरक्षण करते हैं और पोषण करते हैं। इसी प्रकार ये तीनों देवता आयुर्वेद के अनुसार वायु, पित्त और कफ के रूप में लघु ब्रह्माण्ड रूप इस शरीर को जन्म देते हैं, उसका पोषण करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।

वायु और उसके पाँच प्रकार

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।

वायु ही जीवन है। यही हमारा वल है और हमारे शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में यही क्रिया का समावेश करती रहती है।

वायु पाँच प्रकार की कही गई है—

पंचधा प्रविभक्तं शरीरं धारयति

हृदय में अवस्थित वायु को प्राण कहा गया है। यही वायु जब गुदा में अवस्थित होती है तो उसको अपान नाम दिया जाता है। नाभि-प्रदेश में जो घनीभूत वायु रहती है, उसे समान वायु कहते हैं। कण्ठ-प्रदेश की वायु उदान कही गई है और समस्त शरीर की प्रणालियों में जो वायु अपने रहस्यपूर्ण कार्यों का नियमन रखती है, उसे व्यान कहा गया है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

प्राणवायु

प्राणवायु का मुख्य कार्य श्वास और प्रश्वास है। हम पहले वायु को ग्रहण करते हैं और इसके वाद उसे निःसृत करते हैं। इस पद्धति से हृदय की आन्तरिक रचना में एक नियमित गति आती है। मुख में ग्रहण किया हुआ भोजन श्वास-प्रश्वास की सहायतासे यह हमारे पाकाशय में पहुँचाती है। जो रक्त है, वह धमनियों और शिराओं द्वारा सारे शरीर में परिभ्रमण करता है और इस प्रकार धमनियों और शिराओं आदि को अपना मुख्य कार्य पूर्ण करने के लिए नियमित रूप से यह प्रेरित करती है।

अपानवायु

इसकी प्रधान कार्य-निष्पत्ति यह है कि यह बाहरी वायु को अन्दर ग्रहण करती है और उसके वाद प्राणवायु द्वारा समस्त श्वास की ग्रहण और निःसरण-क्रिया में सहायक वनती है। इसी वायु के अधीन मल-मूत्र

और ओज आदि की अधोगति प्रकृत रूप में व्यवस्थित रहती है। स्त्रियों के शरीर में इसी वायु द्वारा कुक्षि में गर्भधारण प्रवृत्ति, प्रसव के समय शिशु को वाहर निकालने की सहज क्रिया और मासिक स्राव के समय शरीर-धर्म के अनुसार उनके रजःस्राव आदि का नियमन करती है।

समानवायु

यह उदर-प्रदेश में पित्त के स्राव से जो पाचक रस या आन्तरिक अग्नि के रूप में कार्यशील रहते हैं, उन्हें हमेशा सक्रिय रखती है। जो अर्ध-पक्व रूप में भोजन-कण बचे हुए रह जाते हैं, उन्हें पाकस्थली से ग्रहणी में पहुँचाने में सहायक होती है और उसे फिर छोटी आँत में पहुँचा देती है। इससे भी अधिक, छोटी आँत के आन्तरिक स्राव को अधिकाधिक प्रबल रूप में शक्तिलब्ध वनाते हुए यह भोजन के पाचन-कार्य में सहायक कारण वनती है। इसके वाद जब भोजन पक जाता है तो यह भोजन के उपादेय अंश को अन्य अंश से अलग कर देती है और जो तत्वहीन भोजन-अंश बचा रह जाता है, उसे बड़ी आँत से नीचे की ओर स्थानांतरित करने में प्रधान वनती है। समानवायु का एक कार्य यह भी है कि वह प्राणवायु और अपानवायु को संतुलित अवस्था में वनाये रखती है।

उदानवायु

हम मुख द्वारा जो ध्वनि करते हैं, बातचीत करते हैं और गायन करते हैं, इन सबके पीछे उदानवायु ही आधारभूत शक्ति है। इस वायु की जो नैसर्गिक प्रकृति है, उसी के माध्यम से हमारी मानसिक शक्तियों का सिंचन, पोषण और विकास होता है और हमारी स्मृति-शक्ति का निगूढ़ गठन सम्भव हो पाता है। योगशास्त्र का कथन है कि इसी वायु के बल पर कुण्डलिनी सहस्रार की ओर अग्रसर हो पाती है। योगीजन जब इस वायु को सिद्ध कर लेते हैं तो वे भौतिक जगत् का बोध करने

वाली मनःस्थिति की पहुँच से बाहर जो दिव्य मानसिकता के प्रदेश हैं, उनमें उनका प्रवेश सम्भव हो पाता है ।

व्यानवायु

आवश्यकता के अनुसार समस्त शरीर में रक्त तथा अन्य तरल पदार्थों का जो संवहन अथवा चक्रगति से परिभ्रमण होता है, वह इसी वायु के प्रभाव का फल है । हमारी मांश-पेशियाँ जो फैलती हैं और सिकुड़ती हैं, रक्त का प्रवाह मस्तिष्क तक जिस रूप में होता है और जिसके अदृश्य प्रभाव से हमें पसीना आता है, वे सभी कार्य इसी वायु के नियन्त्रण में रहते हैं । यदि यह किसी प्रकार से प्रकुपित हो जाती है तो समस्त शरीर की प्रणालियाँ रुग्ण होने लगती हैं ।

जब शरीर की पाँचों वायु प्रकुपित और असन्तुलित होने लगती हैं, तो शरीर का अवसान निकट आ जाता है और मृत्यु पूरे जीवन को पराभूत करने में विलम्ब नहीं लगाती ।

क्रुद्धः सः कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ।
युगपत् कुपिता एते देहं भिन्द्युरसंशयम् ॥

पित्त और उसके पाँच प्रकार

अग्निधर्म से प्रसूत पाचक रसों का स्राव करनेवाली ग्रन्थियाँ जिस उल्लेखनीय तत्त्व से शरीर का बलप्रद गठन करती हैं, वह पित्त है ।

दर्शनं शक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥

—चरक

विशुद्ध और प्रकृत रूप में पित्त हमारी दृष्टिशक्ति का नियमन करता है । शरीर को ओजस्वी बनाने की दृष्टि से बल प्रदान करता है । शरीर-तापमान को स्थिर रखता है । प्रकृत अवस्था की भूख और प्यास को

जाग्रत करता है और हमारी देह की मांस-पेशियों में सौम्य लचक का निर्धारण करते हुए शारीरिक कान्ति, स्निग्धता और बाह्य सौन्दर्य को सुस्पष्ट करता है। इतना ही नहीं, पित्त ही वह तत्व है, जो हमारे मानस की चिन्तन-शक्ति को और निर्णायक बुद्धि को निरन्तर वृद्धिशील बनाता रहता है।

यह पित्त भी ५ प्रकार का है। शरीर के अन्दर ये पाँचों पित्त अदृश्य रूप से देहाग्नि को प्रज्वलित रखते हैं और उनकी दहन-क्रिया को शरीर-धर्म के अनुरूप व्यवस्थित करते हैं—

पित्तं पंचधा प्रविभक्तं अग्निकर्मणोऽनुग्रहं करोति।

ये पाँच पित्त इस प्रकार हैं—पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक। "पाचक' पित्त भोजन के पचन में प्रवृत्त रहता है। 'रंजक' शरीर के अन्तर्गत जो अनेक प्रकार के रोग इत्यादि परिलक्षित होते रहते हैं, उनकी रंग-निष्पत्ति तथा मात्राएँ निश्चित करता है। 'साधक' का कार्य और भी अनोखा है, हमारी शारीरिक चेतना में जितना उत्साह और उमङ्ग से पूर्ण पौरुष रहता है, वह साधक पित्त की ही देन है। 'आलोचक' पित्त हमारी दृष्टि को स्वस्थ रखने की दिशा में एक प्रकार से प्रहरी का सा धर्म निभाता है। और, बाह्य शरीर-स्वरूप की दृष्टि से कांति, स्निग्धता आदि को उत्पन्न करने का जो महत् कार्य है, उसे 'भ्राजक' पित्त अपने अधीन रखता है।

पाचक पित्त

यह यकृत में और अग्न्याशय में उत्पन्न होता है। योगशास्त्र में इन दोनों अवयवों को सूर्यग्रंथि का नाम दिया गया है, जो बहुत समीचीन व सार्थक नाम है। यह भोजन का पाचन करता है और उपादेय अंश को तरल पदार्थों में परिवर्तित करते हुए, जो निरुद्देश्य अंश अवशिष्ट रह जाता है, उसे मूत्र, मल और स्वेद आदि के द्वारा शरीर से

निःसृत करने का कार्य भी पूरा करता है। इन सबसे वढ़कर इसका चमत्कारी कार्य यह भी है कि हमारे शरीर में जब रोगजन्य विषों का किसी प्रकार समावेश हो जाता है, तो पित्त ही आगे वढ़कर शरीर में अतिरिक्त ऊष्मा पैदा करते हुए उनका समाहार करने का दायित्व भी अपने ऊपर ले लेता है। यह सभी जानते हैं कि शरीर में जो नियमित तापमान है उसका कारण पित्त है। इस प्रकार उचित तापमान के वने रहने से पित्त शरीरकी समस्त जीवन-प्रणालियों को, उत्तम संरक्षण देनेकी दृष्टि से ऐसे जीवाणु तथा रक्ततत्त्वों को प्रभावहीन करनेवाले तत्त्व पैदा करता रहता है, जिनसे देह की आन्तरिक रचना में एक सौम्य संतुलन वना रहता है। अपने इन मूल कार्यों के अतिरिक्त यह पित्त शेष अन्य श्रेणी के पित्तों के कार्य में सहायक रहता है। यह प्रकुपित हो जाता है तो मन्दाग्नि, पित्त-प्रकोप, ग्रहणी, कब्ज, अतिसार आदि रोग प्रगट होने लगते हैं।

रंजक पित्त

यकृत में जो स्राव प्रकट होते हैं, उनका ही नाम रंजक पित्त है। पाचक पित्त भोजन के प्रधान अंश का पाचन करते हुए समान वायु की सहायता से उसे यकृत में प्रविष्ट कर देता है। अव यकृत तरल भोजन के अंश को एक विशेष प्रक्रिया द्वारा विशुद्ध करने का काम निभाता है और इस रंजक पित्त की सहायता से एक ऐसी रासायनिक प्रक्रिया उत्पन्न करता है कि उसमें रक्तिमा निखर आती है और वह अन्त में रक्तवर्ण हो जाता है। वास्तव में यह रंजक पित्त ही है कि जो परिपक्व तरल भोजन को उचित रूप से लाल रंग में रंगते हुए अन्त में उसे रक्त वना देने का मूल कार्य करता है। इस कार्य में रंजक पित्त के शेष स्राव वचे-खुचे भोजन को और अधिक पचाने में लग जाते हैं। जव इसका प्रकोप होने लगता है तो हमारी देह में पीलिया, रक्ताल्पता आदि श्रेणी के रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

साधक पित्त

मानव-जीवन में जब तक अत्युत्तम ओज और आनन्दमग्न रहने की जिजीविषा प्रबल नहीं बनती, तब तक जीवन नीरस और निरर्थक-सा रहता है। साधक पित्त ही वह विशिष्ट पदार्थ है, जो हमारी देह में ओजस्वी चैतन्य ही लब्ध नहीं करता, जीवन की उमंगों को आनन्दमय बनाने की दिशा में भी प्रवृत्त रहता है। इसके आन्तरिक स्रावों से जीवन में अलंध्य विघ्नों को पार करने की उद्दाम वासना जाग्रत होती है और असम्भव को सम्पन्न करने की उत्कट इच्छा प्रबल हो जाया करती है। भोजन के उचित पचन के बाद जब उसका उत्तमोत्तम अंश पौष्टिक रसों में और रक्त आदि में परिवर्तित हो जाता है, तो इसमें से अत्युत्कृष्ट जो अंश होता है, वही साधक पित्त के रूप में संचित होने लगता है। आध्यात्मिक सिद्धि में प्रवृत्त साधकों की जो समुन्नत धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं उनमें अपने निश्चित गंतव्य तक पहुँचने के लिए भी कठिन संकल्प की चेतना जिस कारण-भाव से आती है, वह यही साधक पित्त है। इसी स्राव के माध्यम से मेधा-शक्ति नवीन अभ्युदय को प्राप्त होती है। स्मृति तीव्र बनती है और समझने-बूझने की हमारी शक्ति और भी उच्चस्तरीय हो जाती है। इसी पित्त के प्रकोप से अथवा दूषित होने से हमारी देह में अशक्त होने की व निरुत्साहित रहने की प्रवृत्ति, मिरगी के दौरे, पक्षाघात, मानसिक विकृति आदि लक्षण व्याधि के रूप में प्रगट हो जाते हैं।

आलोचक पित्त

पित्त में जो सर्वश्रेष्ठ अंश होता है, वह इस श्रेणी में प्रवाहित होकर दृष्टि-प्रदेश में संचित होता रहता है और हमारी आँखों की ज्योति के रूप में अपनी शक्ति का प्रस्फुटन करता रहता है। आलोचक पित्त जब दिव्य-भाव को प्राप्त होता है तो योगीजनों को प्रबल रूप से समर्थ करते हुए उन्हें दिव्य दृष्टि से सक्षम करने में सबसे बड़ा सहायक हुआ करता

है। हम साधारण स्थूल दृष्टि से जिन गन्तव्य मार्गों को देखने की क्षमता नहीं रखते, उन समुन्नत लोगों को गहन दृष्टि से समझने-बूझने के लिए जिस दिव्य शक्ति की आवश्यकता होती है, वह एक प्रकार से आलोचक पित्त ही देने में समर्थ हुआ करता है। इसके विपरीत जव इस पित्त में कोई दोष आ जाता है, तो हमारी दृष्टि दुर्वल हो जाती है, शिथिल पड़ जाती है, अनेकानेक दोष आ जाते हैं और आँखों में जाले भी पड़ जाते हैं।

भ्राजक पित्त

पित्त के आन्तरिक स्राव में जो और भी मृदु किन्तु उज्ज्वल अंश होता है, वह हमारी देह में कान्ति पैदा करता है, देदीप्यमान स्निग्धता से हमारे शरीर को सुन्दर वनाता है, इसी अंश का नाम भ्राजक पित्त है। चर्म-प्रदेश में ही इसका निवास रहता है। इसमें किसी प्रकार के दोष आ जाने से देह में चर्मरोग उत्पन्न हो जाते हैं, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है, चर्म के प्रकृत स्वरूप में भी दोष पैदा हो जाता है।

विदग्धं चाम्लमेव च—

पित्त के प्रकोप से शरीर में अम्लता अधिक हो जाती है। यहाँ पर विदग्ध शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो इसका अर्थ यह है कि जो पूर्ण रूप से दग्ध हो जाय अर्थात् जो जल चुका हो या जो खर्च हो चुका हो। इसमें यह भाव भी अन्तर्निहित है कि जिसमें दोष आ गया हो अथवा जो अपने स्थान से च्युत हो गया हो। कुछ ऐसे भोजन-पदार्थ होते हैं, जिन्हें पाचन करने के लिए पित्त की नितान्त आवश्यकता रहती है, ऐसे विशिष्ट अवसरों पर भोजन के साथ पित्त स्वयं घुल जाता है और पाचक रसों में अम्ल-रस की अधिकता हो जाती है।

एक स्वस्थ देह में स्वाभाविक अवस्था में जो रक्त होता है, उसमें क्षार की मात्रा कुछ अधिक रहती है, फिर भी रक्त के अन्तर्गत अम्ल भी यत्किंचित् ही नहीं, उचित मात्रा में विद्यमान रहता है। भोजन

को विशेष रूप से पचाने के लिए जो पित्त घुलनशील हो जाता है, वही रक्त में अम्ल के रूप में विद्यमान रहता है और वहाँ पर सक्रिय रहते हुए शरीर में तरोताजगी और पोषण की अवस्था को वरावर सवल बनाने में नियुक्त रहता है। जब यह पित्त किसी विशेष भोजन को पचाने में असमर्थ हो जाता है तो स्वयं इसमें दोष आ जाता है। इसका ह्रास हो जाता है और अनपचे भोजन के साथ यह स्वयं भी दूषित वन जाता है। क्षीण अवस्था को प्राप्त ऐसा ही पित्त रक्त में विषाक्त अम्ल की वृद्धि कर देता है। फलस्वरूप अनेकानेक रोग तीव्र रूप से प्रकट हो जाते हैं।

श्लेष्मा या कफ और उसके पाँच प्रकार

आरुह्य धमनीर्गत्वा धातून् सर्वानयं रसः।
पुष्णाति तदनुस्वीयैर्व्याप्नोति च तनुं गुणैः॥

हमारे शरीर में जिन त्रिदोषों की प्रधानता है, उनमें पित्त के वाद दूसरा स्थान कफ का है।

हम प्रारम्भ से देखते आये हैं कि जो भी हमारी देह में मूल द्रव्य अथवा मूल पदार्थ अथवा मूल तत्त्व हैं, वे प्रायः सभी संख्या में ५-५ हैं अथवा पाँच-पाँच प्रकार के हैं।

कफ

इस विषय में कोई अपवाद नहीं है और यह कफ ५ प्रकार का माना गया है। धमनियों के मार्ग से होकर रक्त प्रवाहित हुआ करता है, किन्तु रक्तवाहिनियों से और भी जो सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, उनमें रस धातु प्रवाहित हुआ करती है और वह एक प्रकार से तरल रक्तकी सूक्ष्म रूप से विशिष्ट प्रतिवस्तु होती है। इन्हें लसिका-वाहिनी भी कहते हैं। रक्त की अत्यन्त परिशुद्ध दशा में यह लसिका अत्यन्त सूक्ष्म धमनियों द्वारा परिगमन

करती है और इस प्रकार चक्रगति करती हुई यह लसिका-ग्रन्थियों का सिंचन-पोषण करती है तथा शरीर में जो अन्य मूल द्रव्य हैं, उनको भी सम अवस्था में रखती है। इनकी अपनी विशिष्टता ही ऐसी है कि यह अपनी ही सामर्थ्य के बल पर समग्र शरीर-प्रणाली के अंश-अंश में पहुँचती रहती है। इसी विशिष्ट मूल रक्त-सत्त्व को श्लेष्मा नाम भी दिया जाता है।

श्लेष्मा का वास्तविक स्वरूप और प्रकृति

"श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीतलस्तथा।
तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत् ॥"

यह श्वेत होता है, क्योंकि इसमें तमोगुण अत्यन्त प्रबल रूप में विद्यमान रहता है। इसका स्वरूप तैलीय पदार्थ की तरह है। स्निग्ध होता है, शीत है, और स्वाद में मधुर है। शरीर के अन्दर एक विशिष्ट शरीरजन्य रासायनिक प्रक्रिया के कारण यह श्लेष्मा क्षारीय तरल के रूप में परिवर्तित रहता है, क्योंकि रक्त में क्षारीय अंश की प्रधानता रहती है और उसीके फलस्वरूप इसकी गुण-विशेषता क्षारमय धातुवत रहती है। जब रक्त में क्षारतत्त्व का ह्रास होने लगता है तो रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि श्लेष्मा की प्रकृत अवस्था में किसी कारणवश ह्रास होने पर भी क्षारीय प्रबलता से यह बोझिल हो जाया करता है। इस प्रकार ऐसे प्रकुपित रूप में जो क्षारीय तरल पदार्थ होते हैं, वे शारीरिक प्रणालियों द्वारा प्रायः स्वेद और मूत्र के माध्यम से शरीर से बाहर निःसृत होते रहते हैं।

हमारी देह में जो शारीरिक शक्ति है और कर्मशक्ति है, वह एक रूप से श्लेष्माजन्य ही है। इसे ओज धातु भी कहा जाता है अर्थात् यह हमारी आन्तरिक चेतना का मूल द्रव्य है। आयुर्वेदशास्त्र में अनेक स्थानों पर अनेक बार दोहराया गया है कि यही श्लेष्मा हमारी देह

में प्रधान तरल के रूप में पोषण, स्वास्थ्य-संवर्द्धन और सम्यक् स्थिति का कारण होती है ।

ओजश्च तेजो धातूनाम् शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि-पुष्टिबलोदयः ।
यन्नाशे नियतो नाशो यष्मिन् तिष्ठति जीवनम् ॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ।
उत्साह - प्रतिभा - धैर्य - लावण्य - सुकुमारताः ॥—वाग्भट्ट

वीर्य, मज्जा, अस्थि, मेद, चर्म, रक्त और अन्तर्मुखी स्रावों के रूप में जीवन को धारण करनेवाली ये जो सप्त धातुएँ हैं, इनके जो अत्यन्त सूक्ष्म और नैसर्गिक रस-रूप हैं, उसका नाम लोकभाषा में 'ओज' है । इसका मुख्य रूप से अधिष्ठान हृदय-प्रदेश में रहता है, किन्तु यह समग्र शरीर-प्रणाली में अपने को सूक्ष्म भाव से परिव्याप्त रखता है । इतना ही नहीं, यह शरीर-प्रणाली को यथास्थान उपस्थित रखने में अपनी शक्ति नियोजित करता है । जब शरीर में इस ओज नामक धातु की स्वाभाविक वृद्धि होने लगती है, तो हम अपने शरीर के अन्दर एक चतुर्मुखी शारीरिक विकास देखते हैं और व्यक्त रूप में हमारी हर्षोत्फुल्लता होने लगती है । इसके विपरीत जब ओज में किसी तरह से ह्रास आने लगता है तो सारे शरीर में मानो एक अभावका-सा प्रस्फुटन प्रारम्भ हो जाता है । जब इस ओज की रक्षा की जाती है और इसके सञ्चय की प्रवृत्ति नियमित रहती है तो हमारा जीवन भी बद्धमूल बना रहता है । मस्तिष्क की जो उच्चस्तरीय गुणात्मक वृत्तियाँ हैं, जैसे—उत्तम विषयों में अनुरक्ति, विषयों में गहन दृष्टि से प्रवृत्त होने की तीव्र बुद्धि, शालीन व्यक्तित्व और हृदय की सुकुमार मृदुता आदि जो शोभनीय प्रवृत्तियाँ हैं, वे ओज नामक धातु से उद्‌गत हुआ करती हैं ।

हमारे शरीर में श्लेष्मा के पाँच रूप विद्यमान हैं। वायु और पित्त की तरह यह भी पाँच प्रकार का ही होता है। शरीर के पाँच विभिन्न स्थानों में रहने के कारण ही इसके पाँच वर्गीकृत नाम मान्य हैं। वे हैं—क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन या तर्पक और श्लेषण।

क्लेदन श्लेष्मा

इस श्रेणी का कफ ग्रहण किये हुए भोजन को पाचक रसों की सहायता से बहुत सूक्ष्म अंशांश में पीसता हुआ उसे एक लुगदी के रूप में परिवर्तित कर दिया करता है। जैसे ही भोजन हमारे पेट में प्रविष्ट होता है कि पेट के अन्दर यथास्थान स्थित ग्रन्थियों से पाचक रसों का स्राव प्रारम्भ हो जाता है और वह न केवल भोजन को पचाने लगता है, प्रत्युत उसका परिपाक भी करने लगता है और उसे फेनिल भी बनाने लगता है। पेट के अन्दर यह जो पाचक स्राव निकलता है, वह और कुछ नहीं, यही क्लेदन श्लेष्मा है। हम अपने रसोई-घर में पानी को रखकर इसलिए उवाला करते हैं कि वह गरम हो जाये, इसी प्रकार स्वयंसिद्ध रूप में यह क्लेदन श्लेष्मा पित्त के द्वारा ऊष्मा को प्राप्त हो जाता है और अपने पाचक गुण के कारण भोजन को तरल रसों के रूप में परिवर्तित करने लगता है। यह प्रक्रिया जिस समय चलती रहती है, उस समय जो भोजन प्रारम्भिक स्तर पर पचने से अवशिष्ट रह जाता है, उसको पचाने के लिए अँतड़ियों की झिल्लियों से एक विशेष प्रकार के स्राव झरा करते हैं, जो उसे पूर्णतया पचा दिया करते हैं। इन रसों से भोजन के जिस अंश का अर्धपक्व भाग रहता है, वह भी पूर्ण पाक को प्राप्त हो जाया करता है। अँतड़ियों के इन रसों को भी क्लेदन श्लेष्मा नाम दिया गया है। जव इस श्रेणी के श्लेष्मा में किसी प्रकार का विकार आ जाता है, तो भूख की कमी, अपचन, रक्ताल्पता आदि दोष शरीर में प्रकट होने लगते हैं।

अवलम्बन श्लेष्मा

स्टील अथवा लोहे के यन्त्र नियमित रूप से काम करने की अयोग्य अवस्था में हो जाया करते हैं, यदि उनमें उचित रीति से ग्रीस अथवा मोबिल आदि स्निग्ध पदार्थों का सिंचन न किया जाये। इसका कारण यह है कि चिकने पदार्थों के प्रयोग से मशीन के जो विभिन्न पुर्जे एक दूसरे से रगड़ खाकर चलते हैं, उनका आन्तरिक संघर्षण समाप्त हो जाता है और वे यथावत् सहज सुविधा के साथ चिकनाई के कारण अपना काम करते रहते हैं।

पित्त के प्रयुक्त रहने पर शरीर-रूपी यन्त्र के अन्दर जो अवयवों के क्रिया-संचालन द्वारा होनेवाले उत्पन्न संघर्षण से एक गर्मी पैदा होती रहती है, उसको शान्त-शीतल करने के लिए इस श्रेणीका श्लेष्मा शरीर के तापमान को सन्तुलित बनाये रखता है। हमें ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे शरीर के मुख्य यन्त्र रूप अवयव वक्ष-प्रदेश में ही स्थित हैं। इस कारण यह विशिष्ट श्रेणी का श्लेष्मा भी समग्र शरीर-प्रणाली के अंशांश रूप में स्थित रहते हुए भी मुख्य रूप से वक्ष-प्रदेश में और सक्रिय रहता है। नियमित रूप से यह हृदय और फेफड़ों में अपनी स्निग्धता का संचार करता रहता है। इसलिए इन दोनों अवयवों की जो कम्पन-ध्वनि है, वह छाती की आवरण-भित्ति से नहीं टकरा पाती। वायु श्लेष्मा को प्रायः सभी अवयवों के ऊपर इस तरह से बिखेर देती है कि वे स्निग्धता से पूर्णतया ओतप्रोत हो जाते हैं। वायु ही शारीरिक अवयवों में स्निग्ध सिंचन का नियमित कार्य किया करती है। जब यह धातु किसी रूप में विषाक्त अथवा किसी उत्तेजक पदार्थ से संक्रमित हो जाया करती है तो हमारे शरीर में एक अवसाद छा जाता है और हम निरुद्यम रहने लगते हैं।

रसन श्लेष्मा

रसनेन्द्रिय में जिस श्लेष्मा का प्रादुर्भाव हुआ करता है उसे ही यह नाम दिया गया है। कुछ लोग इसे बोधक श्लेष्मा भी कहा करते हैं।

बोलचाल की भाषा में इसे लार भी कहा जाता है, जो कि लार-ग्रंथियों से स्राव के रूप में निकलता रहता है। इस श्रेणी का कफ हमारी रसना को उत्तमोत्तम स्वादों से लब्ध रखता है। और, जो क्लेदन श्लेष्मा है, वह भोजन के पाचन में अपूर्व रूप से सहायक रहता है। इस श्रेणी के कफ में जब किसी प्रकार से ह्रास आ जाता है अथवा कोई विषजन्य अवस्था पैदा हो जाती है तो भूख मारी जाती है और जो भी भोजन हम ग्रहण करते हैं, वह वेस्वाद लगा करता है।

स्नेहन अथवा तर्पक श्लेष्मा

इस श्रेणी का कफ आन्तरिक स्रावों के वल पर शरीर के समस्त अवयवों की श्रान्ति को प्रशमित किया करता है और साथ ही साथ उनमें ताजगी भी पहुँचाता रहता है। 'स्नेहनः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रि-तर्पणः।' शरीर के अन्दर स्थित सभी ग्रंथियाँ अपना पोषण रक्त के एक नैसर्गिक पदार्थ से एक विशेष प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया करती हैं और ग्रंथियाँ पूर्णतया रस-पोषित होती हैं, वे ही इस श्रेणी के श्लेष्मा का उपादेय स्राव प्रवाहित किया करती हैं। आयुर्वेद में पारिभाषिक रूप से हम जिसे स्नेहन श्लेष्मा कहते हैं, वह एक प्रकार से Internal secretions of endoctrine glands का पर्याय रूप है। पश्चिमी शरीर-विज्ञान द्वारा यह परिभाषा इन शब्दों में स्वीकृत की गई है। जैसे ही इस तृप्तिदायक श्लेष्मा में किसी तरह का सूक्ष्म ह्रास हो जाता है, तो हमारे स्वास्थ्य में गिरावट आ जाती है। यह हमारे शरीर-रूपी यन्त्र की आमूलचूल, क्रिया-प्रक्रियाओं पर अपना वहुत अधिक प्रभाव नियोजित रखता है। हमारी आँखों में और कानों में जो स्नेहन-क्रिया हुआ करती है और जिससे इन दोनों इन्द्रियों को पोषण प्राप्त होता है, वह इसी श्रेणी का कफ है। इसीके वल पर ये अवयव प्रकृत अवस्था में अपना काम करने में सम्भव हो पाते हैं। इस कफ में यदि कोई दोष आ जाता है तो हमारी दृष्टि में और सुनने की शक्ति में भी कमी हो जाती है।

मस्तिष्क में जो ग्रन्थियाँ होती हैं, उसके आन्तरिक स्राव से शरीर की प्रायः सभी ग्रंथियों का और अवयवों को पोषण प्राप्त हुआ करता है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार मस्तिष्क ही वह मुख्य स्थान है, जहाँ पर वह तर्पक श्लेष्मा अपना अधिष्ठान स्थायी रूपसे रखता है और यहींसे इसकी क्रियायें प्रसारित होती रहती हैं। योग-विषयक ग्रन्थों में इस स्वयंभू तर्पक श्लेष्मा का नाम 'सोम-धारा' अथवा 'अमृत-धारा' कहा गया है।

हमारे सारे शरीर में जो बारीक से बारीक रोमकूप छाये हुए हैं, उनमें स्नेहन अथवा तर्पक श्लेष्मा के सूक्ष्मांश विद्यमान रहते हैं फलस्वरूप हमारा चर्म प्रायः सभी प्रकार के रोगों से आक्रान्त नहीं हो पाता। जब इसमें किसी प्रकार के दोषों का समावेश हो जाता है तो हमारी स्मृति कमजोर पड़ जाती है और दृष्टि में तथा सुनने में अनेक प्रकार के व्याघात उत्पन्न हो जाते है।

श्लेषण श्लेष्मा

जितने भी अस्थियों के जोड़ हैं और जो भी ग्रन्थियाँ हैं, वे इसी प्रकार के कफ में लिप्त रहती हैं। यही कारण है कि क्रियाओं के समय अस्थियाँ एक दूसरी के रगड़ नहीं खा पातीं। यह श्लेष्मा केवल इतना ही काम नहीं करता, बल्कि अस्थियों के जोड़ों में जो मांस-पेशियाँ और स्नायु हैं उन्हें स्वस्थ, सबल, आर्द्र अथवा स्निग्ध बनाये रखता है। यही कारण है कि हम अपने अङ्गों के संचालन के समय किसी प्रकार की असुविधा महसूस नहीं कर पाते। जब इस श्रेणी के कफ में कोई दोष आ जाता है या इसमें कमी आने लगती है तो हमारी अस्थियों के जोड़ों में विगलनकारी रक्तविष व्याप्त हो जाता है और स्पष्ट परिणाम यह होता है कि या तो गठिया पैदा हो जाता है या फेफड़ों में मवाद पड़ जाती है और उसके बाद क्षय नामक सांघातिक रोग अपना घर करने लगता है।

त्रिदोष के प्रकोप और परिणाम

जब शरीर के मूलाधार तीन धातुओं में से वायु, पित्त अथवा कफ इनमें से कोई भी एक प्रकुपित हो जाता है और उस कारण कोई रोग उत्पन्न होता है तो वह एक-दोषज कहलाता है। इस श्रेणी के रोग साधारणतया चिकित्सा-साध्य हुआ करते हैं। किन्तु जब दो धातुओं में एक साथ प्रकोप हो जाता है तो अनुपात में दोष न केवल तीव्र हो जाते हैं, अपितु उनका स्वरूप भी विषम बन जाता है। द्वि-दोषज रोग या तो वायु पित्त के अथवा वायु कफ के अथवा पित्त और कफ के संयुक्त रूप से दूषित होने की अवस्था आने से प्रकट होते हैं। ऐसे रोगों की चिकित्सा में कुछ समय लगता है। दूसरे शब्दों में ये रोग कुछ समय-साध्य होते हैं। किन्तु जब तीनों ही दोष, वायु, पित्त और कफ एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं या उनमें असंतुलन स्थापित हो जाता है तो प्रायः ऐसे रोग सांघातिक सिद्ध हुआ करते हैं। जब तक इन त्रिदोषों में कोई प्रकोप या दोष या असन्तुलन अथवा ह्रास प्रकट नहीं होता प्रायः कोई रोग उत्पन्न नहीं हो पाते।

उदाहरण के रूप में जब किसी देश अथवा राष्ट्र में शासन-व्यवस्था बाह्य और आन्तरिक रूप से दृढ़ रहती है तो घरेलू शत्रु विद्रोह करने से भय खाते हैं और बाह्य शत्रु भी किसी प्रकार का आक्रमण करने का साहस नहीं कर पाते। हमारी शरीर-प्रणाली भी इसी प्रकार लघु रूप में एक शासन-व्यवस्था है और इसके तीन प्रधान शासनकर्त्ता वायु, पित्त और कफ हैं, जो योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार वायु, अग्नि और वरुण कहलाते हैं। जब तक ये तीनों शरीर-धर्म के शासक पारस्परिक सहयोग से शारीरिक प्रणाली का दृढ़ता के साथ संचालन करते रहते हैं, किसी भी प्रकार के रोग-कीटाणु न तो अन्दर प्रगट होने का साहस कर सकते हैं न ही बाह्य आक्रमण करने में समर्थ हो सकते हैं। और, इस प्रकार गढ़ रूप में जो शारीरिक रचना है, उसमें किसी प्रकार की क्षति नहीं हो

पाती। यही कारण है कि आयुर्वेद ने इन त्रिदोषों को रोगों का मूल-कारण माना है। इन्हीं के प्रकुपित होने से साधारण और विषम बीमारियाँ पैदा हुआ करती हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार यह सिद्धान्त मान्य किया गया है कि शरीर में सभी प्रकार के रोगों के मूल-संवाहक रोग-कीटाणु हुआ करते हैं, किन्तु आधुनिक चिकित्सा-जगत् के विशेषज्ञों ने जो प्रयोग और अनुसंधान किये हैं, उनसे यह निर्धारित किया गया है कि रोगों की इस प्रकार की परिकल्पना सही नहीं हो सकती। रोग कीटाणु स्वस्थ से स्वस्थ मनुष्य में भी विद्यमान रहा करते हैं। राजयक्ष्मा, हैजा, मोती-झरा और अन्य सांघातिक रोगों के कीटाणु ऐसे अत्यधिक स्वस्थ व्यक्ति में भी विद्यमान रहा करते हैं, जिनके स्वास्थ्य में कभी भी कोई विघटन होने की संभावना प्रकट नहीं हो पाती। जब तक शरीर-रचना में स्वयं कोई दोष नहीं हो पाता, ये रोग-कीटाणु हानि रहित ही रहते हैं। ऐसी अवस्था में रोग-कीटाणु आन्तरिक रूप में न तो संख्या-वृद्धि कर सकते हैं और न ही शरीर के ऊपर बाह्य स्पर्श से वायु-मण्डल में रहनेवाले रोग-कीटाणु अपना कोई हानिकर प्रभाव दिखा सकते हैं। इन दोनों तथ्यों से सिद्ध होता है कि केवल रोग-कीटाणुओं का संक्रमण ही रोगों का मूल कारण नहीं है, यह तो रोगवृद्धि अथवा उसके विकास में अनुवर्ती सहायक परिणाम हुआ करते हैं। जब रोग प्रगट हो जाता है तो वह दूसरी अवस्था होती है, जिसमें ये रोग-कीटाणु अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं।

इस पृथ्वी पर जो भी वस्तु खुली हुई अवस्था में रहती है और उसकी अवस्था में विगलन की प्रक्रिया ज्यों ही शुरू होती है त्यों ही उसके अन्दर बहुत सूक्ष्म कीटाणु प्रकट होने लग जाते हैं। कुछ ऐसी ही स्थिति शरीर में उस समय उत्पन्न होती है, जब कि अपक्व भोजन पदार्थ अँतड़ियों में पड़े रह जाते हैं या अन्य विजातीय द्रव्य एकत्र होते रहते हैं और वे कुछ समय पश्चात् विलगन-क्रिया से सड़ने लगते हैं। इसका सीधा

परिणाम यह होता है कि हमारे शरीर के अन्दर स्थित वायु पित्त और कफ ये तीनों मूलाधार संक्रमित हो जाते हैं और रोगों का विष प्रवल होने पर इन धातुओं को अपने अधीन कर लेता है। उस समय इनका संतुलन विगड़ जाता है, इनकी क्रियाओं में दोष आ जाता है और इनके विधि-विधान दुर्वल पड़ जाते हैं। इस तरह की स्थिति उत्पन्न होते ही रोग उत्पन्न करनेवाले ये विजातीय द्रव्य संचित अवस्था में शरीर के अन्दर वहुत वड़ी संख्या में विना किसी विघ्न-वाधा के रोग-कीटाणुओं को वहु-गुणित करने का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। शरीर के अन्दर जव ऐसी चिन्तनीय स्थिति हो जाती है तो वाह्य स्पर्श से जो कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होने लगते हैं वे भी विषाक्त शरीर-स्थिति को अपने अनुरूप पाते हैं और उनकी भी संख्या में शीघ्रता के साथ वृद्धि शुरू हो जाती है। इस स्पष्टीकरण से पाठक समझ गये होंगे कि शरीर के अन्दर रोगों की वृद्धि का बुनियादी कारण शरीर-प्रणाली में विषज पदार्थों का प्रवल होना है और उनके संक्रमण से तीनों दोषों में जो असन्तुलन आ जाता है उसकी वजह से शरीर में ऐसी स्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि अधिक से अधिक रोग-कीटाणु अपना उद्धत प्रभाव दिखाने की छूट पा जाते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त के प्रतिपादक इसीलिए प्राचीनकाल में यह सिद्धान्त मान्य कर गये थे कि ये त्रिदोष ही रोगों के आधारभूत कारण हैं। यह युग-प्राचीन त्रिदोष सिद्धान्त वहुत अधिक वैज्ञानिक है और सापेक्ष सत्यों पर आधारित है। इसकी तुलना में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का कीटाणुवाद किसी भी रूप में उसके समकक्ष नहीं है।

प्राचीन भारतीय चिकित्सा-विज्ञान में रोग-जीवाणु और कीटाणु

रोगाणु-संक्रमण का सिद्धान्त भी, जैसी कि प्रायः मान्यता है, आधुनिक युग की कोई मौलिक कल्पना नहीं है। यह भी काफी पुरानी

है और प्राचीन शास्त्रों में इसकी चर्चा बराबर मिलती है। आयुर्वेद में कृमि शब्द प्रायः सभी रोगाणुओं अथवा कीटाणुओं की जाति के लिए आता है और इनका भी स्थूल रूप में बाह्य और आभ्यन्तरिक, इस प्रकार से वर्गीकरण किया गया है।

क्रमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः।

जो बाहर के कीटाणु हैं, वे प्रायः कूड़े के ढेर में, गन्दे पानी में और मल आदि में उत्पन्न हुआ करते हैं। स्वेद आदि से बढ़ी हुई गन्दगी के कारण जो सूक्ष्म जीवाणु जूँ आदि के रूप में हमारे केशों में और बगल में उगे हुए लोमों के अन्दर उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी विशेष रूप से बाह्य और कीटाणुओं के अन्तर्गत गिना जाता है। हमारी शारीरिक प्रणाली के अन्तर्गत जो कीटाणु विद्यमान रहते हैं अथवा उत्पन्न हो जाया करते हैं, वे आन्तरिक कीटाणु कहलाते हैं। प्राचीन शास्त्र में उन्हें तीन प्रकार का कहा गया है : १—कफज, २—रक्तज और ३—पुरीषज।

कफज कृमि

हमारी बड़ी अँतड़ियों में प्रकुपित अथवा रोग-दूषित कफ में जो कृमियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनका ही यह नाम है। वे व्यापक रूप से अपनी संख्या में वृद्धि करती हैं और रोग बढ़ने के साथ सारे शरीर में फैल जाती हैं।

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः।

रक्तज कृमि

जब किसी न किसी प्रकार रक्त दूषित हो जाता है तो इस श्रेणी की अत्यन्त सूक्ष्म कृमियाँ बढ़ने लगती हैं। इसका गुणनफल तीव्र गति से होता है और ये समस्त रक्त प्रणाली में व्याप्त हो जाते हैं।

रक्तवाहिशिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः।

प्रायः सभी चर्मरोगोंमें जैसे कि छोटी चेचक, खसरा, बड़ी माता, फोड़े, फुंसी, दाद, घाव आदि ऐसी ही कृमियों से पूरित रहा करते हैं।

पुरीषज कृमि

हमारे अन्तःप्रदेश में जो संचित मल नियमित रूप से मलत्याग के समय वाहर न निकलने के कारण अन्दर ही अन्दर सड़ता रहता है, उसमें यह उत्पन्न हो जाती है। इनकी भी संख्या बड़ी शीघ्र गति से वढ़ा करती है। इन कृमियों से अतिसार, हैजा, संग्रहणी, ववासीर, अपचन, मन्दाग्नि आदि रोगों को प्रवल होने में सहायता मिलती है। ये कृमि प्रायः शरीर के अधोभाग में विद्यमान रहती हैं। अर्थात् पेट से लेकर गुदा तक के मार्ग में इनका अवस्थान रहता है। कभी-कभी, किन्तु वहुत कम, ये पेट से आगे के प्रदेश में भी अपना संक्रमण करने में सफल हो जाती हैं। उस समय जो डकार और निःश्वास-वायु निःसृत हुआ करती है, वह वहुत वदवू से भरी होती है।

हमारे आयुर्वेदशास्त्र के प्रणेता ऋषियों ने निदान-शास्त्र के अन्तर्गत अत्यन्त उच्चस्तरीय यह ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि जव वे किसी रोगी की नाड़ी देखते थे तो तत्काल ही मालूम कर लेते थे कि अमुक रोगी के अन्दर किस प्रकार का रोग वृद्धि पा रहा है और वह कितने दिनों से विद्यमान है। इन कृमियों का पता भी उन्हें नाड़ी-विज्ञान के माध्यम से आसानी से चल जाया करता था।

चिकित्स्य रोगों की संक्षिप्त सूची

चतुर्थ परिच्छेद

प्राचीन काल से भारत में आयुर्वेद के साथ-साथ योगशास्त्र में भी शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत चिकित्सा-सम्भव रोगों की विस्तृत सूची मिलती है। जबसे पश्चिमी चिकित्सा-प्रणाली पर आधारित चिकित्सा-विज्ञान ने हमारे शरीर में विद्यमान ग्रन्थियों की क्रिया-प्रक्रिया को बहुत अधिक महत्व देना प्रारम्भ किया है, तब से इस विषय की अधिकांश दार्शनिक स्वरूप की सामग्री की अधिकता होने लग गई है। उदाहरण के तौर पर जब आज के कृमि-ग्रन्थि विशेषज्ञों से हम प्रश्न करें कि गण्डमाला-रोग किस कारण विशेष से हुआ करता है तो वे तत्काल ही हाजिर-जवाब की तरह से उत्तर देंगे कि जब थायराइड ग्रन्थि मात्रा में अधिक स्राव करने लगती है तो इस श्रेणी का रोग प्रकट हो जाता है। पर यदि योगियों से हम इसी प्रकार का प्रश्न करें तो वे कुछ इससे मिलता-जुलता हुआ, और भी अधिक समीचीन उत्तर देंगे कि नभः-ग्रन्थियों में दुर्बलता हो जाने से इस रोग की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

आयुर्वेद के विज्ञजन इस प्रश्न का उत्तर देनेके लिए कारण बतायेंगे कि यह वायु और कफ के मिश्र दोष से हुआ करता है। तीन प्रकार के ऐसे शास्त्रीय उत्तरों से जो साधारण बुद्धि के आदमी हैं, न तो वे कुछ समझ पाते हैं और न ही वे इसका महत्व ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर हमने यह निश्चय किया है कि हम प्रत्येक रोग का कारण, उसकी चिकित्सा और पथ्य आदि की चर्चा ऐसी

साधारण रीति से करें कि कोई वात क्लिष्ट न रह जाय और विभिन्न चिकित्सा-प्रणालियों में जो भेद-प्रभेद हैं, उनकी पेचीदगियाँ इस चर्चा के अन्तर्गत न आने पावें।

आयुर्वेद में एक अत्यन्त वहुमूल्य नीति वचन है :

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्याविहीनस्य भेषजानां शतैरपि॥

अर्थात्—कोई भी रोग अथवा शरीर-दोष केवलमात्र उचित भोजन के नियमों का पालन करने से ही दूर हो सकता है। किन्तु, एक ओर तो हम अपथ्य करते रहें, आहार के नियमों का उल्लंघन करने में कोई संकोच न करें और दूसरी ओर अत्यधिक औषधियों का सेवन करने में उत्साह दिखाते रहें, तो किसी भी प्रकार यह सम्भव नहीं है कि वह रोग विमुक्त हो जाये।

इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार योगवल द्वारा की जानेवाली चिकित्सा में रुचि रखनेवालों के लिए यह आवश्यक है कि वे मूल रूप से आहार के उचित नियमों का और सिद्धान्तों का पालन करने की सतर्कता वरतेंगे और तत्सम्वन्धी आदेशों का भी विधिवत् पालन करेंगे। इस सुचिन्तित विधि में किसी प्रकार का भी जव विघ्न उपस्थित हो जाता है तो चिकित्सा की अवधि में अनावश्यक विलम्ब होने लगता है अथवा रोग-शमन की प्रायः सभी आशाओंसे हाथ धोकर निराश होकर बैठ जाना पड़ता है। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि जिन लोगों की योगासनों और योग-मुद्राओं में कोई रुचि नहीं है, ऐसे व्यक्ति भी यदि भोजन के उचित नियमों का पालन करते हुए स्वास्थ्य-सन्तुलन के लिए अन्य उपायों को ग्रहण कर लेंगे तो भी उन्हें यथोचित लाभ अवश्य होगा।

एक वात और भी है। एक ओर तो हम अपने शरीर को कष्ट देते हुए योगासन और योग-मुद्राओं का पालन करते हुए चले जायँ लेकिन

दूसरी ओर स्वास्थ्य के उपयोगी नियमों को अंगीकार करने से उदासीन रहें तो उस अवस्था में केवल उपचार के स्थान पर निष्फल प्रयास ही अन्त में हमारे सामने रह जायेंगे।

अजीर्ण रोग

लक्षण—क्षुधानाश, भोजन में रुचि का अभाव, साँस में दुर्गन्ध होना, पेट में वायु होना, हृदय की गति बढ़ना, कोष्ठ बद्धता या अति-सार उष्ण-प्रधान देशों में आमतौर पर पाये जाते हैं। सामूहिक रूप से इन्हें अजीर्ण कहा जा सकता है।

कारण—आहार वैषम्यात अजीर्णे जायते नृणाम्—अनियमित या असमय में भोजन करने से, जल्दी-जल्दी खाने से, गरिष्ठ भोजन से, भूख न रहने पर खाने से, अधिक चर्बीयुक्त भोजन या मांसाहार से, शारीरिक व्यायाम आदि के अभाव से या कमजोर पाचन-यन्त्रों से अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है।

हम जो भी भोजन करते हैं जिह्वा की लार से, पेट एवं यकृत के रस से आधा पच जाता है। इसके उपरान्त यह भोजन पेट में पहुँच जाता है। वहाँ "पाचक पित्त" द्वारा यह पूरी तरह जल कर पच जाता है। इस अवस्था में भी अगर भोजन नहीं पचता है तो यह एक जहरीले पदार्थ के रूप में बदल जाता है, वायु के स्वच्छन्द वितरण में बाधा उपस्थित कर देता है जिसके फलस्वरूप न श्वास-प्रश्वास के जरिये दूषित गैस निकल पाती है और न ही मल के रूप में गुदा मार्ग से यह निकल पाती है। यह दूषित गैस इस प्रकार सारे शरीर में फैल जाती है। रक्त को स्वच्छन्द रखने वाले यन्त्र एवं ग्रन्थियों को अधिक भार वहन करना पड़ता है, स्नायु शिथिल हो जाते हैं एवं शरीर में कमजोरी महसूस होने लगती है।

पाश्चात्य औषधि-विज्ञान के अनुसार अजीर्ण एक अन्य प्रकार का भी होता है जिसे Atonic Dyspepsia कहा जाता है। इस रोग

की आक्रमणावस्था में, पेट से अम्ल आवश्यकता से कम मात्रा में उत्पन्न होता है। अधिक भोजन करनेवालों के यकृत एवं प्लीहा को अनवरत काम करना पड़ता है एवं उन्हें कभी आराम नहीं मिल पाता। क्षमता से अधिक काम करने से ये यन्त्र शक्तिहीन होते जाते हैं और परिणामस्वरूप समुचित मात्रा में पाचक रसों का निर्माण नहीं कर पाते।

अजीर्ण यद्यपि काफी दुःखदायी होता है, पर यह मृत्युदायी नहीं है। लेकिन अजीर्ण के फलस्वरूप वहुत-सी मृत्युदायी वीमारियाँ अवश्य हो जाती हैं। अगर अजीर्ण रोग सुदीर्घकाल तक रह जावे तो अन्य वहुत-सी गम्भीर बीमारियाँ जैसे—कोष्ठवद्धता, अम्ल-शूल, पित्त-शूल, पेट में घाव होना, पित्त-अश्मरी आदि उत्पन्न होती हैं। अतएव इस रोग के मामले में लापरवाही न वरती जावे।

उपचार : प्रातः—सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया का अभ्यास करें। निःसारण, धोने की क्रियाएँ करें। स्नान क्रिया सं० १ और २ का अभ्यास करें। अग्निसार धौति सं० १ को १० वार, सं० २ को ४ बार; सहज प्राणायाम सं० १, २, ३ या भ्रमण प्राणायाम, वारिसार धौति।

मध्याह्न : स्नानक्रिया सं० १ या २।

सायं :—भ्रमण प्राणायाम, अग्निसार धौति सं० १ को १० बार; उड्डीयान ४ वार; अर्धकूर्मासन ४ वार : सहज प्राणायाम सं० १ और ३; सर्वाङ्गासन ३ मिनिट। उष्ट्रासन ३ बार, शयन पश्चिमोत्तान ५ वार, शीर्षासन ३ मिनिट। अगर पतला दस्त होता हो तो सहज अग्निसार धौति ३० वार।

दोनों समय भोजन के पश्चात् दाहिने नासिका-रंध्र से १ घण्टे तक श्वास लेवें। इस क्रिया से पाचक रसों के निर्माण में मदद मिलती है। (श्वास वदलने की क्रिया अन्यत्र देखें)।

रोग-निवारण के वाद ज्यों-ज्यों शरीर में शक्ति आवे क्रम वर्धमान

व्यायाम का अभ्यास करें। इन व्यायामों में उनको खास तौर से चुनें जिनका पाचन-प्रणाली पर सीधा असर होता हो।

नियम एवं पथ्य—भूख हमारे शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता है। इससे प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतएव हमें इस सम्बन्ध में काफी सावधान होना चाहिये। पर्याप्त भूख न लगने पर या भूख एकदम न लगने पर अपने इष्ट-मित्रों के आग्रह पर भोजन न करें। इस रोग के निर्मूल होने तक सुबह एवं अपराह्न का जलपान करना तब तक प्रारम्भ न करें जबतक भूख स्वतः लगने न लग जावे। काफी भूख महसूस होने पर पके रसदार फल कम मात्रा में खावें।

भोजन केवल मात्र २ वार करें। भोजन में साधारणतः पोषक द्रव्यों का सेवन करें, ताकि जल एवं वायु के मार्ग के लिये काफी मात्रा में स्थान शेष रहे। यह भोजन कभी भी यथेष्ट न होना चाहिए। नाश्ते की जगह की पूर्ति रसीले फलों से करें। इसके पूरे विवरण के लिये 'सन्तुलित भोजन' का प्रकरण देखें।

चावल, रोटी और तत्सदृश पदार्थों को भली प्रकार चवाकर खावें। ताकि मुँह के लार-रस से ही पाचन की प्रक्रिया आरम्भ हो जावे। हमारे भोजन में स्थित स्टार्च जातीय द्रव्य चूँकि उदरस्थ पित्त द्वारा नहीं पचाये जा सकते हैं अतएव यह आवश्यक है कि मुँह में ही इस प्रकार के भोजन पदार्थ को यथेष्ट मात्रा में चबाकर मुँह के लार-रस के सहयोग से इसे पचा लिया जावे। इस लार-रस से पेट की पाचन-ग्रन्थियों में रस का संचार होता है। हरी साग-सब्जी, फल, हल्का दूध, छाछ आदि क्षारीय पदार्थ अपचन के रोगी के लिये लाभदायक हैं।

दोपहर का भोजन १०-१२ बजे के बीच करें एवं शाम का भोजन ७ से ६ बजे के वीच करें। भूख के अभाव में भोजन करने से या अधिक भोजन करने के समान ही ऊपर लिखे समय के वाद भोजन करने से हानि होती है। दोपहर का भोजन पचने में ८-१० घण्टे का समय लगता है। अतएव ऊपर लिखे नियम रोगी या स्वस्थ व्यक्ति

दोनों के लिये हितकर हैं। भोजन के उपरान्त आधा घण्टे का विश्राम विद्यार्थी, शिक्षक एवं दफ्तर जानेवालों के लिये आवश्यक है। रात्रि-कालीन भोजन के उपरान्त ऊपर लिखे अनुसार विश्राम करें। साधारण गति से बरामदे या बगीचे में भ्रमण करना काफी उपयोगी है। खास तौर से इससे प्रगाढ़ निद्रा आती है।

उष्ण-प्रधान देश के लिये चाय उपयोगी पेय नहीं है, जैसे सभी प्रकार के तम्बाकू में निकोटिन नामक विष मौजूद रहता है उसी प्रकार चाय में टैनिन नामक जहर रहता है। इससे भूख की काफी क्षति होती है। अतएव धूम्रपान के साथ चाय भी वर्जनीय है।

अन्य बहुत-से रोगों की तरह ही अपचन में उपवास काफी लाभ-दायक है। उपवास के लिये एकादशी, पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिन काफी उपयोगी हैं। इन दिनों में पृथ्वी कुछ रसमय रहती है। समुद्र एवं समुद्र के आसपास की नदियों एवं नहरों में उठनेवाला ज्वार इस कथन को पुष्ट करता है। हमारा शरीर चूँकि पृथ्वी से सम्बन्धित है, अतएव हमारे शरीर में भी इसी प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। वास्तव में सभी व्यक्ति इसका अनुभव नहीं कर पाते। **ऊपर लिखे ३ अवसरों पर उपवास करने की प्रथा के ये आधारभूत सिद्धान्त हैं, एकादशी के दिन पूरा उपवास करना चाहिये एवं अन्य दो दिनों में आधा उपवास करें।** इस नियम का पालन करने से रोगों के आक्रमण का भय दूर होता है एवं आयु बढ़ती है। इस प्रकार का उपवास करने से अपचन के रोगी को काफी लाभ होगा। उसको उपवास के समय प्रचुर मात्रा में पानी पीना चाहिये। कोई व्यक्ति अगर विशेष पानी पीकर भी उपवास न कर सकें तो वे दूध, फल का रस सिर्फ १ बार ग्रहण कर सकते हैं। लेकिन जहाँ तक हो सके इससे बचें। **जो व्यक्ति किसी प्रकार भी उपवास नहीं कर सकते हैं या जिन्हें चिकित्सक ने मना कर रखा है वे एकादशी से पूर्णिमा तक सिर्फ हल्का भोजन कर उपवास विधि का पालन करें।**

अन्त्रवृद्धि रोग

(Hernia)

हमारे पेट में अन्त्र समूह पेट की दिवाल से घिरे हुये हैं। अगर अन्त्र-समूह का कोई भाग विकृत या दूषित वायु द्वारा किसी रिक्त स्थान में दवाव देकर पहुँचा दिया जाता है तो उसे अन्त्र वृद्धि या Hernia कहते हैं।

पेट के निचले हिस्से की दिवाल में कई छेद हैं। इसमें किसी छेद में से, कोई भी भीतरी अवयव वाहर निकल आता है तो इसे Inguinal Hernia कहते हैं। इन्हीं छिद्रों से होकर अण्डकोष के वहुत से मांसल रेशे मांसपेशियों के अंग से लटकते रहते हैं। स्त्रियों में गर्भाशय की मांस-पेशियाँ आदि इन्हीं छिद्रों से गुजरती हैं। जंघा में रक्तवाहिनी जहाँ से गुजरती है अगर अन्त्र-समूह के हिस्से उधर से गुजरते हैं तो पश्चिमी चिकित्सा शास्त्र के अनुसार Femoral Hernia कहते हैं। वच्चों में भी जव इस प्रकार छिद्रों में से निकल आता है तो उसे Umbilical Hernia कहते हैं।

अन्त्रवृद्धि के ऊपर लिखे भेदों के प्रत्येक के ३ विभेद हैं। अन्त्र-समूह का वढ़ा हुआ हिस्सा अगर हाथ से दवाकर या पेल्विक नसों के जरिये ठीक किया जा सकता तो उसे Reducible Hernia कहते हैं। अन्त्रवृद्धि रोग की सवसे गम्भीर अवस्था है Strangulated Hernia। इस प्रकार की स्थिति में वाहर निकला हुआ हिस्सा फूल कर गुदा की नसों के साथ उलझ जाता है ?

कारण : अनजाने में, हम अपने वच्चों को वड़े चाव से मछली, मांस, अण्डे, मक्खन, चावल और चाय देते हैं। इस प्रकार वच्चों के यकृत पर हम अधिक भार देते हैं। इससे यकृत कमजोर होकर कोष्ठ-वद्धता उत्पन्न करता है एवं अपानवायु को विकृत करता है। दूषित अपानवायु से शरीर की अन्य वायु भी दूषित हो जाती है और यहाँ

तक कि रक्त भी विकृत हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रणाली ही दोषी हो जाती है। जिन व्यक्तियों के अन्त्र-समूह में मल एकत्रित रहता है, दूषित अपान-वायु के दवाव से किसी भी छिद्र से अन्त्र-समूह वढ़कर निकल जाता है। इस प्रकार अन्त्र-समूह का यह वढ़ा हुआ दूसरे किसी भाग में प्रवेश कर जाता है। यह रोग वच्चों, वयस्कों या वृद्धों में अनियमित भोजन के फलस्वरूप ही होता है।

Inguinal या Femoral प्रकार के अन्त्रवृद्धि रोग में यद्यपि कष्ट अवश्य होता है लेकिन ये प्राणघातक नहीं है। कई व्यक्ति तो इसे यावत् जीवन भोगते हैं। Strangular जाति की अन्त्रवृद्धि सवसे भयंकर होती है। इस अवस्था में गुदा द्वार वन्द हो जाने के कारण मल वमन होकर निकलने लगता है। इस रोग की विकृत अवस्था में आपरेशन ही एकमात्र इलाज है।

चिकित्सा : प्रातः—सहज वस्तिक्रिया (इस हालत में सिर्फ विपरीत करणी, योगमुद्रा और पवन मुक्तासन का अभ्यास करना चाहिये। निःसारण एवं धोने की क्रियाएँ करें। उसके बाद ५-१० मिनिट तक टव में बैठ कर स्नान करना होगा उसी समय सहज अग्निसार ४० वार, अग्निसार धौति १ नं० १० वार, मूल वन्ध मुद्रा १० वार करना चाहिए।

मध्याह्न—टव में बैठकर १५-२० मिनिट तक स्नान करना होगा, उसी समय सहज अग्निसार ५० वार, अग्निसार धौति १ नं० १० वार, मूल वन्ध मुद्रा १० वार, सहज प्राणायाम ३ नं० २ मिनिट तक करना चाहिए।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, मूलवन्ध, अश्विनी मुद्रा, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, सहज प्राणायाम १, ४ और ८ नं० २ मिनिट तक प्रत्येक; शीर्षासन।

रोग की अवस्था वश में आने पर अभ्यास क्रमशः बढ़ावें।

ट्रस (Truss) नामक एक आधुनिक उपकरण है—जो रोगी को साधारण काम-काज रोग की अवस्था में भी करने में सहायता करता है। इससे वढ़ी हुई हर्निया पर थोड़ा दवाव पड़ता है। कमर के चारों ओर एक कमर पेटी रहती है, दोनों छोर मुलायम गद्दे नुमा रहते हैं। इनसे ही दवाव पड़ता है। लेकिन इस क्रिया से इलाज नहीं हो पाता है। इसके इलाज का उपाय यही है कि यकृत की अवस्था सुधारी जाय, मल-त्याग होना चाहिये, भूख भली प्रकार लगे एवं पेट में वायु शान्त रहे।

नियम एवं पथ्य : इस रोग के रोगी को कभी भी भारी वजन नहीं उठाना चाहिये। नाक साफ करते समय, खाँसते समय या मल-त्याग करते समय अधिक परिश्रम करने से हर्निया बाहर निकल आता है। अपने भोजन का ख्याल रखें, कभी भी भर पेट न खावें ताकि पेट पर किसी प्रकार का दवाव पड़े। इस प्रकार भूख भी लगेगी। एक साथ अधिक पानी न पीवें बल्कि वार-वार पीवें। अगर रोग बढ़ता नजर आवे तो उपवास करें। उपवास के समय पानी के साथ नींबू का रस या सन्तरे का रस पीवें। अम्लता और अपचन के प्रकरण में लिखे नियमों का पालन करें। घी, मक्खन, छेना, मिठाई, तेल एवं घी से वने पदार्थ, तथा हार्लिक्स, दूध पाउडर नहीं खाना चाहिये। मिठाई में गुड़ खाया जा सकता है।

अम्ल रोग

लक्षण : अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः—भोजन के अपचन से शरीर की आन्तरिक चेतना के ह्रास से, खट्टी और अप्रिय डकार आने से, छाती में या गले के अन्दर जलन होने से, जिह्वा का स्वाद नीरस वन जाने से यह समझ लेना चाहिये कि हमारे पेट के अन्दर अम्ल का आधिक्य हो गया है और अम्लरोग ने अपनी जड़ पकड़ ली है।

मुख्य कारण : पेट में पाचन क्रिया के समय जब ओषजन की ज्वलन-क्रिया प्रारम्भ होती है तो वह ज्वलन के बाद कार्बोनिक ऐसिड में परिवर्तित हो जाते हैं। हमारी पाचन-प्रणाली के अन्तर्गत जितनी भी रक्त केशिकाओं के समीप में असंख्य आमाशयिक ग्रन्थि स्थित हैं, कार्बोनिक ऐसिड कोष से ये ग्रन्थियाँ विशेष प्रभावित होती हैं और अपना रस स्राव करने लगती हैं। पेट में पचे हुए भोजन के प्रवेश करते ही ये ग्रन्थियाँ काफी सक्रिय हो जाती हैं और उनसे काफी मात्रा में पाचक रसों का स्राव होने लगता है। ये स्राव अम्ल रूप के होते हैं। हम बिना भूख के, कृत्रिम-भूख के या अल्प-भूख के होने पर जब भोजन कर लेते हैं तो इन ग्रन्थियों को वाध्य होकर अपने समय से अधिक श्रम करना पड़ता है। इससे निकलनेवाले स्राव के रासायनिक सहयोग के आधार पर जिस भोजन की पेट को आवश्यकता नहीं होती वह उदर के नीचे की छोटी आँत में धकेल दिया जाता है और कुछ अंश छोटी आँत में आगे सरक जाता है। इन दोनों प्रदेशों में पचे हुए या अनपचे भोजन के आते ही ज्वलन-क्रिया पहले से ही शुरू हो जाती है। क्लोम रस अपनी मुख्य क्रिया प्रारम्भ कर देता है। इसी स्थान पर अन्य सहायक ग्रन्थियों से पित्त आदि अन्य रस भी क्लोमरस के कार्य में सहायक होने के लिए स्रावित होने लगते हैं। लेकिन मुख्य वात यह है कि जब हम अतिरिक्त भोजन या विना भूख के भोजन कर लेते हैं तो उसकी पाचन क्रिया में, प्रायः ये सभी रस परस्पर मिलकर भी इतने सक्षम रहते हैं कि उसे पूरी तरह से पचाने का कार्य पूरा नहीं कर सकते। इसका स्पष्ट परिणाम यह होता है कि वह अनपचा भोजन अँतड़ी में ही सड़ने लगता है और फलस्वरूप आशा से अधिक स्रावित हुए पित्त आदि के साथ मिल कर आम्लिक अतिशयता के लक्षण उत्पन्न करने लगता है। जब स्थिति कुछ और उग्र हो जाती है अथवा हम इन लक्षणों के वावजूद बार-बार बिना भूख भोजन करते हैं या मात्रा से अधिक खाने की आदत डालने लगते हैं तो अँतड़ियों में यह सारा सड़ा हुआ पदार्थ विष के रूप में

परिवर्तित हो जाता है। यहाँ तक कि रक्त का विकार भी इनके संसर्ग से प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक वात तो यह होती है कि जब ये आम्लिक विष के पदार्थ ऊपर की ओर अपना प्रवेग करते हैं तो छाती में ही जलन नहीं होती, गला भी अत्यन्त दूषित और विकारयुक्त ज्वलन से परेशानी पैदा करने लगता है। ये आम्लिक विष रक्त की क्षारीय संतुलित अवस्था को निष्फल करने में भी पीछे नहीं रहता। इसी वात का निपट परिणाम यह होता है कि हमारे शरीर में, ह्रासमूलक भयंकर अवस्था घर कर लेती है।

प्रयोगशालाओं में तैयार किये जानेवाले रासायनिक अम्लों के समान ही, जिन्हें तैयार करने में हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि की आवश्यकता होती है, यह आम्लिक विष काफी सांघातिक होता है। पाचन-प्रणाली में भी, जिसे कि हम वता चुके हैं, यह आम्लिक विष कुछ इसी प्रकार तैयार होता है, क्योंकि सहायक क्लोम-ग्रन्थि आदि के जो रस आपस में मिलते हैं तो उनके रासायनिक सम्मिश्रण से ही यह अम्ल रस पेट में उत्पन्न होता है और इसलिए प्रकृत अवस्था में अधिक होने पर भयंकर रूप ग्रहण कर लेता है। पित्त में भी इसी प्रकार की ज्वलन क्रिया समाविष्ट रहती जब शरीर के अन्दर प्रकृत अवस्था होती है तो यह सारा ग्रन्थि-स्राव प्रकृत रूप में ही 'भोजन का पाचन करने में सहायक तत्व का काम करता है। और अपनी क्रिया पूरी करने के वाद स्वयं भी हानिरहित रूप में निष्फल वनता रहता है। पर जब यह वात नहीं हो पाती तो अतिरिक्त स्राव पाचन प्रणाली में अम्लीय विष (Toxin) वन जाता है। स्नायु, मांसपेशियों और अन्य महत्वपूर्ण अंगों में इन विषों का आंशिक प्रभाव पड़ने लगता है और ज्यों ही हमारी समस्त शरीर-प्रणाली अपने प्रकृतिगत धर्म को त्यागने के लिए विवश हो जाती है त्यों ही हमारे शरीर की सारी स्वस्थावस्था रुग्न वनने लगती है। इन अम्ल-विषों की अधिकता के फल-स्वरूप, शरीर में निरन्तर इनके वढ़ते रहनेसे, जठरशूल, ग्रहणी-रोग, ग्रहणी-व्रण, आम्लिक

प्रभाव से वृहदन्त्र आदि रोग उग्र रूप ग्रहण करने लगते हैं और इनकी पीड़ा से रोगी न केवल पीड़ित होने लगता है, अपितु कभी-कभी तिल-मिला भी उठता है। वास्तव में यह सारी स्थिति, शरीर-प्रणाली की, विषाक्तावस्था की स्वाभाविक पुकार है। वे अपने गृह-स्वामी (जीवन-शक्ति) से, इन शत्रुओं से त्राण पाने के लिए पुकार करने लगती हैं कि जल्द से जल्द उनकी रक्षा की जाय। यह रक्षक तत्व वास्तव में स्वस्थ रक्ताणुओं की सेना ही हो सकती है। अम्ल रोग की प्रतिरोधक शक्ति इस प्रकार रक्त में नये रक्ताणुओं से पुष्ट होकर बढ़ जाती है।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्ति-क्रिया करनी चाहिए और उससे सम्बन्धित आसन और मुद्राएँ काम में लानी चाहिए। मल-त्याग के वाद वमन-धौति व वारिसार-धौति क्रिया करें और अग्निसार-धौति संख्या १ को १० वार दुहराएँ। संख्या २ को चार वार करें, सहज अग्निसार ५० वार करें। इसके वाद भ्रमण-प्राणायाम करना चाहिए। सायंकाल भ्रमण-प्राणायाम कर, सहज अग्निसार को ४० बार दुहरायें, चार वार पश्चिमोत्तान आसन करें, चार वार पवनमुक्तासन करें, आठ बार योगमुद्रा करें, चार बार सर्वाङ्गासन करें और संख्या १, संख्या २ व संख्या ८ का सहज प्राणायाम प्रति वार दो-दो मिनट के लिए करें। जब इन रोगों पर क्रमशः नियन्त्रण होने लगे तो शनैः शनैः अन्य व्यायामों को शुरू कर देना चाहिए।

ग्रहणी-शूल अथवा अन्त्र-प्रदाह (Enteritis) के तीव्र आक्रमण होने के समय रोगी को ध्यानपूर्वक यह लक्ष्य करना चाहिए कि नाक कौन से रन्ध्र से श्वास ले रही है और उसी समय दूसरे रन्ध्र से श्वास लेने का उपक्रम शुरू कर देना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि वह नाक के वाएँ रन्ध्र से साँस ले रहा है तो दाएँ रन्ध्र से साँस लेने का उपक्रम आरम्भ करना चाहिए। और, अगर दाएँ से ले रहा है तो वाएँ से शुरू करना चाहिए। इस प्रकार यह क्रिया उपशामक औषधि रूप में सीधे असर

डालेगी। हमने आगामी पृष्ठों में इस श्वास-क्रिया के विषय में कुछ विशेष बातें प्राणायाम-विषय के अन्तर्गत लिखी हैं।

नियम एवं आहार

जितने दिनों तक शरीर में तापमान बना रहे अथवा दर्द की पीड़ा का अनुभव होता रहे, गुनगुने पानी के साथ नींबू-रस लेने के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। कुछ समय के बाद ठण्डा पानी पीया जा सकता है। इस रोग के रोगियों को प्यास प्रायः बिल्कुल नहीं लगती, लेकिन दिन भर में अपनी आदत डालकर पाँच या छः गिलास पानी अवश्य पीना चाहिए। अम्लरोग से पीड़ित व्यक्तियों में प्रायः भूख लगने की प्रतीति बनी रहती है। इसका कारण यह है कि आमाशयिक ग्रन्थियों में भोजन-शक्ति से अधिक सक्रियता आ जाती है और उनसे जो अतिरिक्त स्राव निकलते हैं वे कृत्रिम भूख-भावना उत्पन्न करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यह रोगी मरभुके की तरह पेटू बनने लगता है। प्रायः ऐसा भी होता है कि नियमित भोजन के समय उन्हें वास्तविक भूख नहीं रहती, केवल कृत्रिम-भूख का ही आभास उनके मानस पर बना रहता है। पिछले अध्ययन से अपनी मनःस्थिति पर नियन्त्रण करते हुए केवल एक गिलास पानी पी लेना पर्याप्त होता है। यदि इससे भी तृप्ति न हो तो कुछ खट्टा या मीठा फल लिया जा सकता है, पर इससे अधिक कुछ भी ग्रहण करने से परहेज रखना चाहिए। जब तक अम्लरोग का प्रभाव बना रहे, मक्खन, घी, टिन-बन्द मांस और मछली, अण्डा, पाउडर दूध, छेना आदि प्रकार के सारकृत भोजन कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार बाजार में बच्चों और बीमारों के लिए जो बहुप्रचारित टीनों में बन्द खाद्य पदार्थ मिलते हैं, उनसे भी बचकर रहना चाहिए।

जब रोग की प्रबल अवस्था पर कुछ नियन्त्रण कर लिया जाय तब तीन-चार दिनों के लिए हल्का भोजन लिया जाय। इसमें सब्जियों

का रस मात्र लिया जाय। फल का रस भी लेना चाहिए और दूध पीना चाहिए। इस वात का ध्यान रखें कि भोजन के पाँच हिस्से में से चार भाग क्षारीय पदार्थ हो।

जव तक रोगी पूर्ण रूप से स्वस्थ न हो जाय, स्निग्ध पदार्थ, गरिष्ठ भोजन, वहुत अधिक गरम भोजन, पकी हुई दाल और घी अथवा छेने की वनी वस्तुएँ या मिठाइयाँ एकदम रोक देना चाहिए। फिर भी तेल और घी को एकदम प्रयोग में न लाएँ, ऐसा भी नहीं होना चाहिए। घी, मक्खन अथवा तेल दाल तथा तरकारी बनाने में अल्प मात्रा में व्यवहृत किया जा सकता है। दूध के स्थान पर छाछ ज्यादा लाभ करता है। यदि दूध का पाचन ठीक हो तो केवल एक वार गरम किया हुआ जल-मिला दूध लेना चाहिए। उसे कभी भी पूरी तरह नहीं उवालना चाहिए। पर गाय के दूध के वनिस्वत यदि कच्चे नारियल से निकाला हुआ दूध प्राप्त हो सके तो रोगी को ज्यादा लाभ रहेगा। अकसर देखा जाता है कि ऐसे रोगी तुरन्त त्राण पाने के लिए कार्वोनेट के रूप में सोडा ज्यादा पीया करते हैं। डाक्टर लोग भी ऐसी अवस्थाओं में सोडी-वाई-कार्व और कैलोमल और अन्य क्षारीय मिश्रण प्रायः व्यवहार में लाते हैं। इस प्रकार की चिकित्सा से केवल क्षणिक लाभ ही हो सकता है, पर यह वास्तविक उपचार नहीं ; वल्कि इससे एक हानि यह भी होती है कि आमाशयिक ग्रन्थियोंको भी यह सक्रिय वना देता है और इतनी हानि भी पहुँचा सकता है कि वे ग्रन्थियाँ इस अतिरिक्त श्रम के वाद प्रायः थकने से अपना काम वन्द कर देती हैं। और उस समय स्थिति यह हो जाती है कि आमाशय में जव भोजन नहीं भी रहता तो भी इन ग्रन्थियों से अपने आप अम्लरस का स्राव होता रहता है। अतः इस प्रकार के उपचार केवल रोग में विषमता उत्पन्न करते हैं और कुछ समय के वाद रोग के पुनः उग्र हो जाने की सम्भावना इतने भयंकर रूप में प्रस्तुत कर देते हैं कि अन्त में ग्रहणी-रोग, ग्रहणी-शोथ और आमाशय-ग्रन्थि के शूल इत्यादि प्रवल रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।

इस रोग से सम्वन्धित कुछ अन्य वातों की जानकारी के लिए 'अपचन रोग' का अध्ययन भी करना चाहिए—जहाँ पर इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाला गया है ।

अर्धोन्माद
(Mania)

लक्षण—समाज में इस प्रकार के काफी आदमी हैं, जिनके आचरण या अभ्यासके फलस्वरूप, पड़ोसियों को, आत्मीय-जनों या भद्र पुरुषों को काफी असुविधा होती है ; क्योंकि उनकी प्रकृति ही कुछ विचित्र होती है । उनमें से कुछ को काफी घमण्ड होता है, कुछ वहुत ही भावुक होते हैं । उनमें से कुछ पुरुष स्त्रियों से घृणा करते हैं, कुछ ज्यादा प्यार करते हैं । ऐसे भी वहुत से आदमी पाये जाते हैं जिन्हें अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह रहता है । उनमें कुछ अत्यधिक आलसी, कुछ चापलूस, कुछ जुआरी एवं शरावी होते हैं । कुछ लोगों को धार्मिक प्रवृत्तियों का दिखावा करने का भी शौक होता है ।

कई स्त्रियों में भी यही पाया जाता है । अपने प्रेमी पति पर भी बहुत-सी स्त्रियाँ सन्देह करने लगती हैं । कुछ साधारण-साधारण-सी वात को लेकर पड़ोसियों या आत्मीय जनों से झगड़ पड़ती हैं । इसके अलावा बहुत-सी स्त्रियाँ चरित्रहीन पुरुषों का शिकार हो जाती हैं, साधारण-सी बात पर अधिक गम्भीर हो जाती हैं, अपने चिड़चिड़ेपन से सारे परिवार में अशान्ति पैदा कर देती हैं । इस प्रकार के स्त्री-पुरुषों को आमतौर पर अर्धोन्मादी (Maniacs) कहा जाता है ।

कारण—मस्तिष्क की अर्धचेतन अवस्था में शरीर एवं मन की प्रवृत्ति एक दूसरे से इस प्रकार बँधी रहती है कि कोई भी प्रतिक्रिया एक दूसरे पर साथ-साथ होती है ; अगर ग्रन्थियों की क्रिया में किसी भी प्रकार के तारतम्य का अभाव होने के फलस्वरूप व्यक्ति-विशेष के

स्वभाव में अन्तर आ जाता है। अतएव, अर्धोन्माद भी शरीर की रुग्णावस्था ही है। उदाहरण के तौर पर—पाचन-ग्रन्थियों के खराब हो जाने के फलस्वरूप मनुष्य का स्वभाव साधारण चिड़चिड़ा हो जाता है। काम ग्रन्थियों के खराव हो जाने पर मनुष्य क्रोधी हो जाता है, वायु की ग्रंथियाँ दोषी हो जाने पर मनुष्य स्वार्थी एवं क्षणिक विचारवाला हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि अर्धोन्माद ग्रन्थियों के दोषी होने के फलस्वरूप ही होता है।

उपचार—क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति अपने को रोगी कहलाने से असन्तुष्ट होते हैं, वे चिकित्सक या आत्मीय जनों पर क्रुद्ध भी हो सकते हैं। इसलिये किसी प्रकार से उन यौगिक क्रियाओं एवं आसनों के प्रति उनके मन में प्रेम पैदा करना चाहिये, जिनसे अजीर्ण आदि की चिकित्सा हो सके। इसके वाद क्रम वर्धमान व्यायाम का अभ्यास करावें। समय-समय पर व्यायामों में परिवर्तन करते रहें।

नियम एवं पथ्य—रोगी को मछली, मांस, अण्डा आदि का सेवन न करावें। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करें। अगर रोगी कोष्ठवद्धता का शिकार हो तो इसके निवारण का उपाय करना चाहिये। ताकि पेट की क्रियायें ठीक प्रकार होती रहें। स्नानादि के नियमों का भली प्रकार पालन करें। नशीली चीजों का व्यवहार न करें। टव में बैठ कर २-३ वार स्नान करना चाहिए।

अर्शरोग

(Piles)

लक्षण : गुदा की रक्तवाहिनी नसों एवं स्नायुओं में रक्त एवं हवा की गति अवरुद्ध हो जाने के फलस्वरूप गुदा के द्वार पर छोटे-वड़े दाने उभर आते हैं, इसे ववासीर कहते हैं। कहीं-कहीं ये १-२ या कहीं-

कहीं समूह में पाये जाते हैं। गुदाद्वार के बाहर पाये जानेवाले अर्श को वहिर्वली एवं अन्दरकी ओर पाये जानेवाले अर्श को अन्तर्वली कहते हैं। अर्श में दूषित रक्त एकत्र रहता है, जिससे इनमें तीव्र वेदना या खुजलाहट होती है। कभी-कभी ये फूट पड़ते हैं एवं अत्यधिक रक्तस्राव होता है। अर्श की ये ही कठिनाइयाँ हैं।

कारण : अर्श रोग का प्रमुख कारण है—अस्वस्थ यकृत। पुरानी कोष्ठवद्धता के फलस्वरूप भी अर्श का आक्रमण होता है। यकृत के रोग के साथ जिन व्यक्तियों के आमातिसार रोग रहता है, उससे विषाक्त पदार्थ निकल जाते हैं। जब यकृत रोग के साथ कोष्ठवद्धता हो तो विषाक्त पदार्थ शरीर-प्रणाली में ही एकत्र होते रहते हैं। इसका फल होता है—अर्शरोग। पाण्डुरोग के प्रकरण में यकृत-रोग के सम्वन्ध में सविस्तर प्रकाश डाला गया है। पुरानी वीमारियों के १-२ कारण कभी नहीं होते, उनके बहुत से कारण होते हैं। उसी प्रकार अर्श के वहुत से कारण हैं। शरीर के तीनों दोष विकृत होने पर ही अर्श रोग का आक्रमण होता है। इसे स्थान-विशेष की वीमारी कभी नहीं समझना चाहिये।

उपचार : प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया सं० २ का अभ्यास करें। धोने की क्रिया के वाद अवगहन स्नान या टव स्नान करें। टव में वैठकर अग्निसार धौति सं० १ को १० वार, मूलबन्ध मुद्रा १० वार ; अश्विनी मुद्रा २० वार, सहज प्राणायाम सं० १, २, ३ ; भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न : अवगहन स्नान व टव स्नान २० मिनिट तक, स्नान के समय २० वार अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करें ; मूलवन्ध मुद्रा—२० वार, अग्निसार धौति सं० १ को १० बार, सं० २ को ४ वार।

सायं : जल-स्नान ५ मिनिट, भ्रमण प्राणायाम, शयन पश्चिमोत्तान ५ वार, पवन-मुक्तासन ४ बार, अग्निसार धौति ४० वार, सहज

प्राणायाम सं० १, २, ३ ; सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, शशांगासन, सहज अग्निसार ३० बार ।

क्रम वर्धमान व्यायाम एवं जलपान के नियमों का पालन करें ।

नियम एवं पथ्य—औषधियों के आभ्यन्तरिक एवं वाह्य प्रयोग के सेवन कराने पर अर्शरोग वश में न आने पर आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक शल्य-चिकित्सा किया करते थे । आजके सर्जन भी ऐसा ही करते हैं । लेकिन सर्जिकल तरीकों से स्थानीय चिकित्सा मात्र ही होती है जो प्रकृति के विपरीत है । दूषित रक्त जो अर्श में एकत्र हुआ करता था वह इनके काटने के वाद शरीर में अन्य किसी स्थान पर एकत्र होगा । हो सकता है वह अर्श से भी भयानक हो । अतएव हमारी राय से ऑपरेशन कराने से फायदे की अपेक्षा नुकसान अधिक होता है । अगर यकृत एवं रक्त के दोषों का किसी प्रकार उपचार कर लिया जाय तो अर्श रोग स्वतः दूर हो जायेगा ।

अर्श से अगर अधिक मात्रा में रक्तस्राव होंवे तो लगातार ३ दिन तक उपवास करें । उपवास-काल में नारियल (डाब) का पानी, प्रचुर मात्रा में जल, फलों का रस, सेवन करें । पूर्णरूपेण विश्राम करें । इससे प्रचुर लाभ होगा ।

रोगी अगर वृद्ध हो तो उसे सुवह सिर्फ अनारस, अंगूर, वेल का शर्वत, पपीता, किसमिस, अनार का रस, नीबू का पानी आदि भूख लगने पर सेवन करने चाहिये । दोपहर का भोजन पाचन-शक्ति के अनुसार करें । शाक-सब्जी का सेवन सबसे अधिक करें । जिस पदार्थ से कोष्ठबद्धता हो उसका कत्तई त्याग करें । दोपहर के भोजन के साथ १०-१२ औंस हल्का दूध या छाछ सेवन करें । घी, तेल वर्जनीय हैं । चाय, शराव एवं अन्य नशीले पदार्थ यकृत एवं प्लीहा का रोगी बनाते हैं । अतएव इनका उपयोग न करें । रोगी की अवस्था ज्यों-ज्यों सुधरती जाये पथ्य के नियमों में छूट करते रहना चाहिये ।

आंशिक क्लैव्य और क्लैव्य रोग

(Impotency)

लक्षण : क्लैव्य का अर्थ है—१-२ मिनिट के सम्भोग से, या आलिंगन से, या विषय सुख के चिन्तन मात्र से वीर्यके स्खलन को रोकने की अक्षमता। इसे दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। आंशिक और पूर्ण क्लैव्यता।

आयुर्वेद के मत के अनुसार क्लैव्य रोग को सात विभिन्न श्रेणियों में उनकी उत्पत्ति या लक्षणों के अनुसार विभक्त किया गया है।

(१) मानसिक क्लैव्य—इस प्रकार की क्लैव्यता नव-विवाहित दम्पति या दीर्घकाल से पृथक-पृथक रहनेवाले युगल में पायी जाती है। मिलन के काफी पूर्व से ही मिलन की कल्पना मात्र से वीर्य, वीर्य-वाहिनी नसों में प्रचुर मात्रा में एकत्रित हो जाता है। सहवास के समय यही वीर्य आसानी से शीघ्र स्खलित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्त्री अगर पुरुष से वास्तव में प्रेम नहीं करती है या घृणा करती है, सम्भोग के समय बरावर का भावनात्मक उत्तर नहीं दे पाती है तो ऐसी स्थिति में समुचित उत्तेजना के अभाव में वीर्य समय से काफी पहले ही स्खलित हो जाता है। मानसिक क्लैव्य के यही सब कारण हैं।

(२) पित्तज क्लैव्य—साधारण स्वास्थ्य खराव हो जाने पर पित्त दूषित हो जाता है। वीर्य उत्पादन करनेवाली एवं प्रवाहित करने-वाली स्नायुओं, ग्रन्थियों एवं अन्य नसों पर दूषित पित्त का सर्वाधिक प्रभाव होता है। शरीर के यौन सम्बन्धित अङ्गों पर भी दूषित पित्त का काफी बुरा प्रभाव पड़ता है। परिणाम यह होता है कि सम्भोग की प्रक्रिया समुचित रूप से नहीं हो पाती और वीर्य स्खलन शीघ्र ही हो जाता है।

नशीले पदार्थों (जैसे—मारफीन, अफीम, शराब, गांजा आदि) के अभ्यस्त मनुष्य का पित्त शीघ्र ही दूषित हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन चञ्चल मनुष्यों का यकृत एवं हृदय इस प्रकार की नशीली वस्तुओं के सेवन से विकृत हो जाता है एवं इसीसे पित्त में भी दोष आ जाता है। आजकल की तथाकथित निर्दोष प्रचलित औषधियों में भी इन्हीं नशीली चीजों के सार प्रयोग में लाये जाते हैं। इनके सेवन के फलस्वरूप क्लैव्य तो आता ही है—साथ-ही-साथ अन्य भी कई प्रकार की बीमारियाँ शरीर में प्रवेश कर जाती हैं।

(३) शुक्र-निरोधज क्लैव्य—इस श्रेणी का क्लैव्य रोग उन व्यक्तियों को होता है जो ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिये यौवन प्राप्त हो जाने पर भी विवाह नहीं करते हैं, या जो विज्ञान या आध्यात्म की समस्या का समाधान में अनवरत लीन रहते हैं या जो सर्व शक्तिमान से सम्पर्क स्थापित करने में अपना सारा समय व्यतीत करते हैं। इन व्यक्तियों को इस श्रेणी का क्लैव्य रोग स्वभावतया हो ही जाता है।

(४) शुक्र क्षयज क्लैव्य—इस श्रेणी की क्लैव्यता शुक्र के अनावश्यक क्षय के फलस्वरूप होती है। अविवाहित जीवन में शुक्र के दुरुपयोग या विवाहित जीवन में अधिक सम्भोग करने से इस श्रेणी का रोग हुआ करता है।

(५) मेध्रज क्लैव्य—जिन व्यक्तियों को उपदंश, सुजाक आदि रोग पहले से रहते हैं उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है एवं इससे यौन सम्बन्धित अङ्गों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इन रोगों के कारण ये अवयव आंशिक या कई व्यक्तियों में सम्पूर्ण रूप से खराब हो जाते हैं।

(६) ध्वजभंगज क्लैव्य—अत्यधिक सम्भोग करने से कभी-कभी शरीर की वीर्यवाहिनी नसें टूट जाती हैं। इससे लिंग सम्भोग के समय दृढ़ नहीं हो पाता है। फलस्वरूप मनुष्य कभी भी सम्भोग नहीं कर पाता है।

(७) **सहज क्लैब्य**—इस श्रेणी का रोग, जिन व्यक्तियों की वीर्यवाहिनी नसों में जन्मजात दोष होता है, हुआ करता है। जन्म से ही स्त्रियों के गर्भाशय एवं पुरुषों की प्रजनन ग्रन्थियों में यह दोष होता है।

स्त्री या पुरुष दोनों में ही क्लैब्य के कारण समान ही हैं। जो स्त्रियाँ अविवाहित अवस्था में सम्भोग के कृत्रिम उपायों का अधिक उपयोग करती हैं या विवाह के पश्चात् अधिक पुरुष सहवास करती हैं उनमें आंशिक या पूर्ण शुक्र क्षयज प्रकार का क्लैब्य अवश्य हो जावेगा। परिणाम-स्वरूप सम्भोग के बाद कमजोरी, शिर-दर्द और प्रदर आदि की शिकायतें प्रारम्भ हो जाती हैं। सम्भोग के प्रारंभ में जल्दी या देर से जिन स्त्रियों में रति-आनन्द (Orgasm) का अभाव रहता है इससे यही समझा जावे कि इनके अवयव क्लैब्य रोग से पीड़ित हैं। इस प्रकार की स्त्रियों में गर्भधारण की शक्ति नहीं रहती है। मानसिक या शुक्र निरोधज क्लैब्य नियमित संभोग करने से ही दूर होता है। पित्तज एवं मेध्रज जातीय क्लैब्य इनके आधारभूत कारणों को दूर करने से मिटते हैं। जन्मजात क्लैब्य की चिकित्सा असंभव है। शेष दो प्रकार के क्लैब्य जैसे शुक्र क्षयज एवं ध्वजभङ्ग के लिये उपाय करने चाहिये। शुक्र क्षयज जातीय क्लैब्य के निवारण में उपयोगी उपाय ही ध्वजभङ्ग जातीय में भी उपयोगी हैं। इन उपायों को स्थिरतापूर्वक काफी समय तक काम में लाना चाहिये।

चिकित्सा : प्रातः—सहज वस्तिक्रिया अपनी सभी पूरक मुद्राओं और आसन के साथ करें। निःसारण एवं स्नान के पश्चात् 'मूलबन्ध' एवं 'महाबन्ध' का खड़े-खड़े या पानी में या टब में बैठकर करें।

दोपहर—मध्याह्न के स्नान के पश्चात् खड़े-खड़े या पानी में बैठकर 'शक्तिचालिनी' और 'महाबन्ध' मुद्रा का अभ्यास करें।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, सहज प्राणायाम नं० ३; मूलबन्ध, महाबन्ध ऊपर लिखे अनुसार करें। मत्स्यासन, सर्वाङ्गासन, शक्ति-

चालिनी मुद्रा (सर्वाङ्गासन के साथ) और शीर्षासन के साथ महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास करें ।

रोगी अगर ठण्ड सहन कर सके तो सायंकालीन स्नान का अभ्यास करावें । स्नान के समय सुवह की तरह मूलबन्ध एवं महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास करें ।

जिस रोगी को आंशिक या पूर्ण क्लैव्य हो, उसे २ या ३ बार सहज प्राणायाम, भ्रमण प्राणायाम प्रतिदिन करने चाहिये । इससे फुसफुस को शक्ति मिलेगी । अन्यथा सबसे आवश्यक महाबन्ध मुद्रा का अभ्यास नहीं किया जा सकेगा ।

आमाशय

(Dysentery)

लक्षण : दूषित वायु और दूषित पाचक रस अंग के बिना पचे हुए भोजन पदार्थ के साथ मिलकर बड़ी अँतड़ियों में ऐंठन पैदा कर देते हैं । इसके फलस्वरूप वार-वार दस्त होता है । इस प्रकार के मल के साथ आँव रहती है । इसी को आमाशय कहते हैं । आयुर्वेद में इसका नाम 'प्रवाहिका' है । इस रोग में बार-बार अधोदेश मल प्रवाहित होता है, इसीलिए इसे प्रवाहिका कहा जाता है ।

कारण : विना पचा हुआ मांस या अन्य आमिष जातीय खाद्य-सामग्री इसके प्रमुख कारणों में से हैं । ग्रीष्म प्रधान भारत में दाल मांस के स्थान पर उपयुक्त है । क्योंकि दाल में मांस के समान ही पोषक तत्व है लेकिन मांस की तरह हानिकारक नहीं है । कभी-कभी जब दाल पूरी तरह नहीं पक पाती या शरीर में पूरी तरह पच नहीं पाती, ऐसी हालत में विना पचे हुए मांस के समान ही यह हानिकारक हो जाती है । यहाँ तक कि पेट की पंच-पाचक अग्नि भी उसे नहीं पचा

पातीं। अधपकी या असिद्ध दाल भी असिद्ध मांस की तरह ही हानिकारक होती है। ये सब दूषित पदार्थ अगर तरल मल के माध्यम से शरीर से नहीं बाहर निकल जाते हैं तो अंतड़ियों की श्लैष्मिक झिल्ली पर आक्रमण कर वहाँ ऐंठन पैदा कर देते हैं। इस विषम स्थिति में सभी सम्बन्धित यन्त्र मिलकर इन विषैले पदार्थों को पेट से बाहर निकालने के लिये पंचाग्नि को सक्रिय सहयोग देते हैं। ये समस्त पाचक रस प्रभृति विषाक्त मल के संस्पर्श में जाकर श्लेष्मा के रूप में परिणत हो जाते हैं। यही कारण है कि इस रोग में मल का रूप कीचड़ जैसा तथा कफ मिश्रित होता है।

आधुनिक युग के चिकित्सकों के मतानुसार आमाशय का कारण एक प्रकार के कीटाणु हैं जिन्हें एमीवा (Amœba) कहते हैं। यह दूषित जल एवं मक्खी के माध्यम से फैलता है। आयुर्वेद के मतानुसार रोग बीजाणु इस रोग का मूल कारण न होकर गौण कारण है; क्योंकि स्वस्थ एवं सबल यन्त्र प्रणाली में कीटाणु कोई असर नहीं कर सकते हैं, कीटाणु तभी उत्पात मचा सकते हैं जब शरीर की अवस्था में कोई दोष हो। इसके फलस्वरूप शरीर की यान्त्रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है एवं शरीर में दूषित पदार्थ इकट्ठे हो जाते हैं।

उपचार : प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया संख्यक ३ करें। इसके बाद अर्ध स्नान या पूर्ण स्नान करें। सहज अग्निसार ६० बार; भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न—स्नान के पहले एवं बाद में अग्निसार धौति—५० बार करें।

सायंकाल—सहज अग्निसार—६० बार; अग्निसार धौति संख्यक १ और २ दस बार; और भ्रमण प्रणायाम। स्वस्थ हो जाने पर व्यायाम को क्रमशः बढ़ावें। जल-स्नान एवं जलपान के तरीकों का पालन करें। अगर योगिक उपाय से चिकित्सा की गई तो साधारण रूप का आमाशय एक या दो दिन में ही आश्चर्यजनक रूप से ठीक हो जायेगा।

नियम एवं पथ्य : कभी-कभी आमाशय के साथ ज्वर भी होता है। ज्वर के समय दो दिन तक उपवास करें। उपवास के समय नींबू या सन्तरे के रस के साथ ५-६ गिलास पानी पीवें। इससे ज्वर शान्त हो जायगा। ज्वर उतरने के बाद मट्ठा, बार्ली का पानी, नारियल का पानी या पके हुये फलों का रस भोजन में सेवन करें। भूख खुलने पर— शक्कर या देशी खांड एवं आग में पकाये हुए बेल का गूदा मिलाकर बनाये हुये शर्बत का प्रातःकाल सेवन करें। मध्याह्न में भली प्रकार पकाये हुए चावल, हरे केले और थानकुनी के पत्ते के रस के साथ या मूंग या मसूर की दाल का पानी, मट्ठा, पके केले छाछ या पुरानी इमली के खट्टे पानी के साथ खायें। इसके बाद ज्यों-ज्यों रोगी के स्वास्थ्य की अवस्था सुधरती जावे त्यों-त्यों खाद्य-पदार्थों का सावधानी से चुनाव करें।

रोग के आक्रमण के प्रथम दिन ज्वर न रहने पर भी उपवास कर पाकस्थली को आराम देना चाहिए। जब तक यह रोग वर्तमान रहे तब तक रोगी दूध या चर्बी का सेवन एकदम न करें। भोजन के पकाने में सावधानी बरतें। शाक-सब्जी बनाने में तेल या घी की अति अल्प-मात्रा का व्यवहार करें।

रोगी को शौच के लिये उठना नहीं चाहिए। इसके लिए गमले (Bed-Pan) का उपयोग करें। गम्भीर अवस्था में, ज्वर के साथ अगर मल में रक्त जाता हो तो स्नान न करें। पेट को खुला न रखें। फ्लानेल का एक कपड़ा सदैव बाँधे रखें। ऊपर लिखे यौगिक तरीकों से आमाशय में तुरन्त लाभ होता है।

आधुनिक मतानुसार एमीवा (Amœba) और बैसिलरी (Bacillary) दो प्रकार के आमाशय हैं। लेकिन योग में दोनों की चिकित्सा समान ही है। इन रोगों की अवस्था में मल-परीक्षा द्वारा कई प्रकार के कीटाणु देखे जाते हैं। योग में इन कीटाणुओं का कोई विशिष्ट स्थान नहीं हैं। यौगिक तरीकों द्वारा इन सब रोगों का सफ-

लतापूर्वक सुनिश्चित इलाज होता है। आधुनिक चिकित्सा-जगत् इन रोगों के लिये एन्टी-बायोटिक औषधियों का इन कीटाणुओं का नाश करने के लिये प्रयोग करता है। लेकिन इन औषधियों से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई है। यही कारण है कि कई देशों में इन औष-धियों के प्रयोग के विरुद्ध चेतावनी दी गई है। पाश्चात्य नवीनताओं का अन्धानुसरण करने का हमारे देश में प्रचलन है। साधारण जनता की कौन कहे—जो पूर्ण रूप से शिक्षित भी हैं, परन्तु सदैव रोगों के चंगुल में फँसे रहते हैं, हमारे अधिकारीगण भी इन पाश्चात्य नवीनताओं पर आश्रित रहते हैं। यौगिक चिकित्सा-पद्धति का यह सिद्धान्त है कि शरीर एवं मन के रोगों का इलाज प्राकृतिक साधनों से ही हो। इस सिद्धान्त को सभी विचारशील व्यक्तियों को महत्व देना चाहिये—चाहे वे इस देश के हों या अन्य देश के।

आरथ्राइटिस

लक्षण—आरथ्राइटिस एक प्रकार का वात रोग है। आयुर्वेद शास्त्र में इस रोग को सन्धिवात कहते हैं। देह के अस्थि-सन्धि स्थान को आक्रमण करता है जिससे कि सन्धिस्थान की स्फीति होती है—यह इस रोग का विशेष लक्षण है। पाश्चात्य-चिकित्सा शास्त्र के संज्ञानुसार यह सन्धिवात रोग अभी सारा विश्व में आरथ्राइटिस रोग के नाम से परिचित हुआ है। यह रोग एक ही समय में शरीर के विभिन्न अस्थिसन्धि स्थान पर आक्रमण करता है। असह्य वेदना के साथ देह ज्वराक्रान्त होती है। आजकल शिशुओं के वीच में भी इस रोग का विशेष प्रादुर्भाव देखा जाता है। यह रोग शिशु के हृद्‌यन्त्र को आक्रमण करके शिशुकी अकाल-मृत्यु का कारण होता है।

नाना प्रकार के लक्षण को विश्लेषण करके आधुनिक चिकित्सा शास्त्र आरथ्राइटिस रोग को दश या इससे अधिक भागों में विभक्त

किया है । सेकेण्डरी आरथ्राइटिस, इनफेकट्रिभ आरथ्राइटिस, अष्टिओ आरथ्राइटिस, निउरोप्यथिक आरथ्राइटिस, गनरियल आरथ्राइटिस, सिफिलिटिक आरथ्राइटिस, एट्रोफिक आरथ्राइटिस, डिफरमैंस आरथ्राइ-टिस प्रभृति । भयानक यन्त्रणा के साथ अस्थि-सन्धि स्थान जब रक्त वर्ण धारण करता है तब उसको सेकण्डरी आरथ्राइटिस कहता है । जब आरथ्राइटिस से आक्रान्त अंगुलियाँ कर्मशक्ति से रहित होती हैं एवं टेढ़ी हो जाती हैं तब उसको आरथ्राइटिस डिफरमैंस कहते हैं । स्थाना-भाववशतः अन्यान्य आरथ्राइटिस का विस्तारित विवरण यहाँ पर नहीं उल्लेख किया गया । आरथ्राइटिस के विभिन्न नामों से ही उनका लक्षण मालूम होता है ।

कारण—देह में सञ्चित दूषित पदार्थ ही इस रोग का प्रधान कारण है । अपरिमित आहार, थोड़ी भूख में या अक्षुधा में भोजन करना, अत्यधिक अंडे, मछली और मांस भोजन, अत्यधिक संहत खाद्य अर्थात घी, मक्खन और मिठाई का ग्रहण करना, अत्यधिक चाय, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, तम्बाकू के पतों का सेवन करना तथा दीर्घस्थायी अजीर्ण ; अम्ल और पित्त-दोष इस रोग का मूल कारण या सहकारी कारण है ।

चिकित्सा—सवेरे आनुसङ्गिक आसन मुद्रादि के साथ संख्या १ या संख्या २, सहजवस्ति क्रिया, प्रातः कृत्यादि, अर्द्धस्नान या टवस्नान, सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्या १-१० बार, संख्या २ ३ बार, सहज प्राणायाम संख्या—२, ३, ७, ६ प्रत्येक को २ मिनिट तक करें । हस्तमुद्रा और पदमुद्रा प्रत्येक को २ मिनिट करके करें, वमन धौति या वारिसार धौति ।

मध्याह्न :—टवस्नान, टब में बैठ कर सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्या १-१० बार, संख्या २-३ बार सहज प्राणायाम संख्या ३-२ मिनिट ।

सायं—सहज विपरीतकरणी अथवा विपरीतकरणी मुद्रा, जानु-शिरासन, हस्तमुद्रा, पदमुद्रा, अर्धशलभासन, मकरासन, सहज अग्निसार ४० बार, उड्डीयान ४ बार, सहज प्राणायाम संख्या १, ३, ७, ६ प्रत्येक २ मिनिट करें। शशाङ्कासन ३ मिनिट।

नियम और पथ्य—अक्षुधा या अल्प क्षुधा में भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। सवेरे में जलयोग नहीं करना चाहिए। मध्याह्न में आहार ११ से १२ बजे के बीच में करना चाहिए। अपराह्न के जलयोग में रसाल फल या फल का रस लेना चाहिए और कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिए। पाचकाग्नि की वृद्धि के लिए आरथ्राइटिस रोगी सप्ताह में १ या महीना में २ दिन पूर्ण उपवास करना चाहिए। उपवास के दिन में नींबू के रस मिश्रित जल या नारियल जल या फल का रस एक वार किम्बा २ वार ग्रहण कर सकते हैं। अमावस्या या पूर्णिमा तिथि पर रात में कोई खाद्य नहीं लेना चाहिए। (उपवास की नियमावली चतुर्थ अध्याय में देखिये) रोगमुक्त जब तक नहीं होता है तब तक मछली, मांस, अण्डा प्रभृति आमिष खाद्य, घी, मक्खन, छेना, मिठाई प्रभृति संहत खाद्य, बिस्कुट, लजेन्स और पाउडर दूध से तैयारी सभी खाद्य सम्पूर्ण रूप से वर्जन करना चाहिए। मिष्टि के अन्दर केवल गुड़ ले सकते हैं। चाय, कफी, बीड़ी, सिगरेट, नस्य, तम्बाकू के पत्ते, चूना प्रभृति मादक द्रव्य सम्पूर्ण त्याग देना आवश्यक है। भात और रोटी अति अल्प परिमाण में ग्रहण करना चाहिए। दाल, सब्जी, फल, दूध, दही, छाछ, हरा सब्जी और पत्ते एवं थोड़ा परिमाण में भात और रोटी प्रभृति सात्त्विक पथ्य ही इस रोग में सुपथ्य हैं।

इन्फ्लुएंजा ज्वर

(Influenza)

लक्षण—इनफ्लुएंजा के बाहरी लक्षण सर्दी के समान ही होते हैं, लेकिन इस रोग में तकलीफ अधिक होती है। इस रोग में—सूखी खाँसी, गले एवं फेफड़े में दर्द, हल्का सा ज्वर, सिर-दर्द, टॉन्सिल का फूलना आदि हुआ करता है। यह कोई खतरनाक रोग नहीं है। लेकिन कभी-कभी यह संक्रामक रोग हो जाया करता है। सन् १९१८ में, प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद संक्रामक प्रकार के इन्फ्लुएंजा से करीब १० करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। सन् १८८९-९० में भी इसी प्रकार की क्षति हुई थी। वास्तव में इन्फ्लुएंजा शीघ्र ही निमोनिया, प्लुरिसी और (Meningitis) आदि के रूप में बदल जाता है। ये रोग खतरनाक हैं।

कारण—इस रोग की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं—नभः एवं वायु-ग्रन्थियों का कमजोर होना। ये कमजोर ग्रन्थियाँ हैं—थाइरॉयड, पेराथाइरॉयड, टॉन्सिल और फुसफुस। आयुर्वेद के मतानुसार यह ज्वर वात-श्लेष्मा जाति का है। पहले वायु कुपित होकर कफ को कुपित कर देता है जिससे भूख की कमी एवं शरीर पर कफ का प्रभाव बढ़ जाता है। पाश्चात्य चिकित्सकों ने इस रोग का कारण एक प्रकार के Bacilli नामक कीटाणु बताया है। इन कीटाणुओं से जब फुसफुस आक्रान्त हो जाता है तब इसे Respiratory Influenza कहते हैं एवं यह शीघ्र ही निमोनिया, प्लुरिसी और श्वास-रोग में बदल जाता है। अगर रोगी की व्यवस्था ठीक प्रकार न की जा सकी तो रोगी के नाक एवं मुख से रक्त बहने लगता है और रोगी बहकने (प्रलाप) लगता है। इस कीटाणु से अंत्र-समूह आक्रांत होने पर इसे Gastro-Intestinal Influenza कहा जाता है, जिसकी चिकित्सा न करने पर पेट, अंत्र-समूह एवं वृक्क में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। अंत्र-समूह फूल उठते हैं,

अतिसार हो जाता है एवं यह रोग पाण्डु या टाइफॉइड में बदल जाता है। अगर शरीर की स्नायु आक्रान्त होती है तब ज्वर का तापमान काफी ऊँचा रहता है एवं आमतौर पर यह रोग Meningitis में बदल जाता है।

उपचार—ज्वर की अवस्था में श्वास-ग्रहण के लिये थोड़ा-थोड़ा नासिका-रंध्र बदले। एक ही रंध्र से अधिक समय तक श्वास न लें। ज्वर शान्त होने पर किसी भी प्रकार की वस्तिक्रिया से पेट साफ कर लें। स्नान करें। दिन में २-३ वार सहज प्राणायाम सं० १ और ७ का अभ्यास करें। प्रातः एवं सायंकाल भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें। स्वस्थ जीवन लिये क्रम वर्धमान व्यायाम का अभ्यास करें।

नियम एवं पथ्य—इस रोग के आक्रमण होने के ३ दिन तक बराबर विस्तर पर रहें। उपवास करें उपवास-काल में प्रथम दिन साधारण गर्म जल में नीबू का पानी मिलाकर पीवें। दूसरे दिन हल्का भोजन कर सकते हैं। हल्के भोजन में वार्ली का पानी, फल का रस इत्यादि सेवन करें। इससे आक्रमण की प्रथम अवस्था में काफी लाभ होगा। तीसरे दिन अन्य बहुत से लक्षणों में लाभ होगा।

इन्फ्लुएंजा में किसी भी औषधि, जैसे आजकल प्रचलित इन्फ्लुएञ्जा टेबलेटस् दिखावटी है, का त्याग करें। रोग को औषधि-शक्ति से दवाने के कारण कभी-कभी काफी उलझन पैदा हो जाती है। आयुर्वेद के मतानुसार पूर्ण विश्राम, उपवास एवं संतुलित भोजन काफी हितकर हैं। **'देयमौषधम् नवमेऽहनि'**—अर्थात् ऊपर लिखे उपायों से आठ दिनों में लाभ न हो तो कुछ चिन्ता की बात हो जाती है, तब इसका निदान करवाना चाहिये एवं नवें दिन औषधि सेवन करनी चाहिये। ऊपर लिखे यौगिक उपायों या भ्रमण प्राणायाम के अभ्यास से कोई भी गम्भीर रोग न हो पायेगा। साथ ही इन्फ्लुएञ्जा एवं अन्य वीमारियों से मनुष्य की रक्षा होगी।

उदरामय

(Diarrhœa)

लक्षण : 'आमय' अर्थात् रोग। उदर=पेट का आमय, इसीलिये इसका नाम उदरामय है। अफरा, नाभिप्रदेश में वेदना, पानी जैसे आमातिसारवाले दस्त होना, इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। कभी-कभी जब मलाशय में विना पचा हुआ मल एकत्रित हो जाता है एवं इसे पित्त आदि नहीं पचा पाते, तब शरीर की प्रकृति इस एकत्रित मल को तरल पाखाने के रूप में निकालती है। पेट के पाचक पित्त, रंजक पित्त, पाचक रस प्रभृति सम्मिलित भाव से ग्रहणी नाड़ी में कुछ दिनों से संचित अर्धजीर्ण खाद्य को पचा नहीं पाते, तब वायु के द्वारा प्रेरित नीचे आकर यही अजीर्ण खाद्य पदार्थ तरल रूप में पाचक रस के साथ अति मात्रा में निकलता है, आयुर्वेद में इसीको अतिसार भी कहा जाता है।

कारण : इसका कारण है—अधिक भोजन, असंतुलित आहार (जैसे मांस और मछली के साथ दूध का सेवन आदि), असमय एवं विना ठीक प्रकार चवाये हुये किया गया भोजन, पाचन का विना ध्यान किये एक वार के वाद दुवारा भोजन करना, मानसिक पीड़ा या शोकार्त स्थिति में किया गया भोजन, कृमि होना आदि।

चिकित्सा : प्रातः—मलत्याग के वाद सहज अग्निसार ६० वार ; अग्निसार धौति संख्यक १ को १० वार ; संख्यक २ को ४ वार।

मध्याह्न—भोजन एवं स्नान करने के पूर्व सुवह की क्रिया को दोहरावें।

सायं—ऊपर लिखे हुए अभ्यास को ही क्रमशः वढ़ावें।

नियम एवं पथ्य : रोग के आक्रमण के दिन पूरा उपवास करें। अधिक पित्त हो जाने पर नींबू का रस डाल कर काफी मात्रा में पानी का सेवन करें। अधिक वायु हो जाने पर पानी में चूने

का पानी या खाने का सोडा (Sodii-Bi-Carb) मिलाकर पीवें। दूसरे दिन नारियल का पानी, रसदार फल, वार्ली का पानी, छाछ या छेने का पानी अपने-अपने स्वाद या इच्छानुसार सेवन करें। आराम हो जाने के ३-४ दिन वाद भी खाने के मामले में सावधानी वरतनी चाहिये।। मांस, मछली, मशाले और चर्बीयुक्त भोजन न करें—

न च संग्राहकं दद्यात् पूर्वमामातिसारिणे।
अकाले संगृहीतन्तु विकारान् कुरुते बहून्॥

उदरामय की अवस्था में मल-निःसारण की क्रिया को रोकने के लिये औषधि प्रयोग घातक एवं प्रकृति-विरुद्ध है। क्योंकि संग्राहक औषधि के प्रयोग से विषाक्त मल शरीर में ही रह जायेगा। इससे हानि होती है। ऊपर लिखे यौगिक तरीकों से लाभ अवश्य एवं शीघ्र होगा। अध्याय ५ में लिखे अनुसार स्नान करना चाहिये। भोजन के वाद करीव १ घण्टे तक दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास लें।

आयुर्वेद के मतानुसार उदरामय ८-९ प्रकार का होता है। त्रिदोषज उदरामय कष्टसाध्य है। पित्त की अधिकता के फलस्वरूप दस्त हरे और पीले होते हैं। पित्त की कमी के कारण दस्त दुर्गन्धयुक्त एवं मिट्टी के रङ्ग का होता है। जब रोग की अवस्था में कफ की प्रधानता होती है, तब दस्त का रङ्ग सफेद एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। वायु की प्रधानता होने पर दस्त फेन एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इस प्रकार की सूचनाओं से वीमारी पहचानने में सुविधा होती है।

उन्माद रोग

(Insanity)

शरीर-जगत की स्वामिनी बुद्धि होती है। मस्तिष्क इसका प्रमुख कार्य-स्थल एवं मन इसका प्रमुख कार्यकर्त्ता है। मस्तिष्क में फैली

हुई बहुत-सी स्नायु एवं ग्रन्थियाँ मस्तिष्क से प्राप्त संकेतों को शरीर के अन्यान्य हिस्सों तक पहुँचाती हैं। मस्तिष्क में अवस्थित ग्रन्थियों के माध्यम से ही भावों की अनुभूति होती है एवं विचार पैदा होते हैं। कई कारणवश बुद्धि एवं मस्तिष्क को मिलानेवाली ये स्नायु एवं ग्रन्थियाँ जब ठीक प्रकार से काम नहीं करती हैं तब कार्य-प्रणाली में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुर के तार टूट जाते हैं एवं जीवन का संगीत मर जाता है। मस्तिष्क बुद्धि के नियंत्रण में नहीं रहता एवं जीवन की नैया कप्तान के बिना निरुद्देश्य, बिना किसी निश्चित मार्ग के भटकने लगती है।

निद्रावस्था में हमारे स्वप्नों पर बुद्धि का कुछ भी प्रभाव नहीं रहता एवं उस क्षण वे सत्य ही प्रतीत होते हैं। पर ज्यों ही बुद्धि का असर होता है, स्वप्न गायब हो जाते हैं। जब हम स्वप्न देखते हैं तब हमें प्रसन्नता, भय, उत्तेजना की क्षणिक अनुभूति होती है। इसी प्रकार उन्माद से पीड़ित व्यक्ति सभी प्रकार के भावों को मस्तिष्क के झंझावातों में खोजता है, एवं ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह उसके स्थायी स्वप्न के संसार में हो। वे रोते या हँसते हैं, वे आरोप या आक्रमण करते हैं जैसा कि हमारे उन्माद-रोग से ग्रस्त बन्धुओं के विषय में हमारा अनुभव होता है।

कारण—उन्माद के कारणों पर अगर विस्तार से प्रकाश डाला जाये तो ग्रन्थ भी पूरा हो सकता है। यहाँ पर हम उन्हीं कुछ विशेष कारणों पर प्रकाश डालेंगे जो शारीरिक एवं भावना-प्रधान हैं।

माता-पिता में से अगर कोई व्यक्ति स्वभाव से अत्यधिक चिड़चिड़ा एवं असंतुलित मस्तिष्क का हो एवं कोई व्यक्ति निर्बल 'स्वास्थ्य का हो तो उनके बच्चे कुछ-न-कुछ जन्मजात मानसिक या शारीरिक रोग से ग्रस्त रहते हैं। कालान्तर में इनमें से किसी-किसी को उन्माद रोग भी हो जा सकता है।

तम्वाकू, चाय या मद्य के अत्यधिक अभ्यास से हृदय, फुस्फुस, मस्तिष्क के कोष एवं ग्रन्थियों आदि का कार्य कम होने लगता है एवं ये अंग चेतना खो देते हैं। ये सव नशीले पदार्थ जव शरीर के अंगों पर अपना प्रभाव काफी समय तक रखते हैं एवं इन नशीले पदार्थों में मौजूद उनका विषाक्त अंश इन अंगों को काम नहीं करने देता है। इस प्रकार इन अंगों को समुचित क्रियाशील रखने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि इन नशीली वस्तुओं का उपयोग क्रमशः अधिक मात्रा में किया जावे। परिणामस्वरूप इन नशीले द्रव्यों से उनके शरीर एवं स्वास्थ्य नष्ट हो जाते हैं एवं इन नशा करनेवालों के जीवन में नशा मुख्य अंग वनकर रह जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क की सूक्ष्म-सूक्ष्म स्नायु अपना-अपना कार्य वन्द कर देती हैं, इसीसे उन्माद रोग होता है।

दीर्घकालीन कोष्ठवद्धता, विषाक्त पित्त भी शरीर की स्नायु, कोष एवं ग्रन्थियों को उपर्युक्त नियम से नुकसान पहुँचाते हैं। विषाक्त पित्त एवं एकत्रित मल से दुर्गन्धयुक्त हवा उत्पन्न होती है। इस गैस से रक्त-प्रवाह में व्यवधान होता है एवं मस्तिष्क पर घातक प्रभाव पड़ता है।

कामोत्तेजक विचार एवं अत्यधिक कामानुरक्ति के फलस्वरूप शरीर की रक्त-प्रणाली में हलचल पैदा हो जाती है। मस्तिष्क में स्थिति वहुत से कोष एवं स्नायुओं पर इसका घातक असर पड़ता है। इस प्रकार मन एवं बुद्धि के वीच रोड़ा अटक जाता है। यह भी उन्माद ही है।

स्त्रियों को, काफी दिनों से प्रदर-ग्रस्त रहनेपर, सुपारी, चूने के साथ अधिक पान खाने के अभ्यास से, तम्बाकू सूँघने के अभ्यास से, स्नायु-मंडल पर एक प्रकार का दवाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप वे शिथिल हो जाते हैं और उन्माद रोग की जड़ वन जाती है।

प्रेम विफल होना, आशा के अनुरूप कार्य न होना, सम्पत्ति का नुकसान होना, किसी आत्मीय के निधन आदि के कारण उत्पन्न अशुभ

विचारों के अत्यधिक चिन्तन से मन एवं मस्तिष्क पर काफी भार पड़ता है। पोषक खाद्य के बिना सेवन किये रात्रिकालीन अत्यधिक अध्ययन से भी मन पर भार पड़ता है। इन सबके फलस्वरूप शरीर में नानाविध दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसके लिये आयुर्वेद का मत समुचित प्रतीत होता है। आयुर्वेद के अनुसार उन्माद का प्रमुख कारण है—त्रिदोष, अर्थात् वायु, पित्त एवं कफ पदार्थों का दूषित हो जाना।

त्रिदोष के कारण उत्पन्न उन्माद भी तीन प्रकार का होता है। त्रिदोष की अवस्था में अगर वायु का प्रकोप अधिक होता है तब मन एवं बुद्धि की शृंखला भंग हो जाती है। इसे **वातोन्माद** कहते हैं। इसका रोगी अपने आप में मग्न होकर बड़बड़ाता है, गाता है, नाचता है या रोता है। इसी प्रकार पित्त के दोष के कारण **पित्तोन्माद** होता है। इस प्रकार का रोगी सब समय अत्यधिक उत्तेजित अवस्था में रहता है। कपड़े निकाल कर फेंकता है, गाली देता है, यहाँ तक कि कभी-कभी भयानक हमला भी कर बैठता है। इस प्रकार का उन्माद काफी चिन्ताजनक होता है। एवं इसका इलाज भी कठिन है। कफ-धातु अत्यधिक विकृत हो जाने पर एवं वात एवं पित्त के दोष से भी अधिक कुपित होने पर इस प्रकार के त्रिदोषज उन्माद को **कफोन्माद** कहा जाता है। इस प्रकार के रोगी एकान्त-प्रेमी होते हैं। इस रोग से ग्रस्त पुरुष स्त्री को या स्त्री पुरुष को चाहते हैं। अपनी ही जाति के प्रति उनका लगाव नहीं रहता।

उपचार—उन्माद की गम्भीर अवस्थाओं में जलचिकित्सा (Hydropathy) के अलावा अन्य कोई भी चिकित्सा सफल नहीं होती है। पागलखानों में प्रारम्भिक उपचार के रूप में रोगी को जल से भरे टब में इस प्रकार डुबाकर रखा जाता है ताकि उसकी नाक एवं मुँह जल की सतह से ऊपर रहें। इस प्रकार एक सप्ताह तक किया जाता है। इस कार्य के निमित्त मछली के आकार का एक टब विशेष रूप से बनाया जाता है। उन्माद की चरम सीमा पर रोगी को वश में लाने

के लिये रोगी को टब में लिटाकर बाँध दिया जाता है। इससे रोगी के उन्माद में कुछ लाभ होता है।

पागलों को इस बात की थोड़ी-थोड़ी समझ रहती है कि उनकी सेवा करनेवालों में से किसका व्यवहार कैसा है? उनकी हृदय से सेवा करनेवाले परिचारक के आदेश को वे भी मानते हैं। इस प्रकार के सहृदय परिचारकों को रोगी की सभी नशीली चीजों के उपयोग की आदतें छुड़ा देनी चाहिये। उनसे कुछ-कुछ यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करावें। दिन में ३ बार स्नान करावें। कई बार इस प्रकार के उपयोग सफल सिद्ध हुए हैं। यौगिक अभ्यासों के माध्यम से रोगी के मन को खेल-कूद में तल्लीन रखा जा सकता है। जब तक वह कुछ कठिन प्रकार के अभ्यास न करने लग जावे १-१॥ सेर जल में आधी छटांक नीबू का रस एवं २ तोला नमक मिलाकर देवें। यह उसी प्रकार प्रातःकाल करना चाहिये जिस प्रकार वस्तिक्रिया में किया जाता है। १-२ मिनिट के लिये सुबह एवं शाम उससे सहज विपरीतकरणी का अभ्यास करावें। इसके साथ ही साथ भोजन के नियमों का कड़ाई से पालन कराते रहें। इससे रोग के प्रभाव में कमी आवेगी एवं रोगी धीरे-धीरे यौगिक क्रियाएँ करने लगेगा। सहृदय परिचारक को चुन-चुनकर कुछ आसन एवं मुद्रायें खेल-खेल में स्वयं करके रोगी को दिखानी चाहिये। थोड़ा भ्रमण प्राणायाम सुबह-शाम करावें। काफी दिनों तक दिन में ३ बार स्नान करवाना चाहिये। इससे रोगी को लाभ होगा। अम्लरोग एवं पाण्डुरोग के प्रकरण में लिखे उपायों का ६ से १२ मास तक पालन कराते रहें। संतुलित शरीर एवं मन के लिये इन नियमों का पालन सदैव करना चाहिये।

नियम एवं पथ्य—पागल आदमियों के रक्त में अम्ल अंश काफी अधिक होता है। यही कारण है कि उन्हें कभी भी सर्दी की बीमारी नहीं होती। दूषित अम्ल एवं पित्त के कारण इस प्रकार के रोगी का मस्तिष्क एवं पेट सदैव ही विकृत रहता है। स्नान करने की क्रिया

तब तक जारी रखें जब तक कि उसके मस्तिष्क की गर्मी शान्त न हो जावे एवं शीतसे रोगी काँपने न लगे। बड़बड़ानेसे या चीखने-चिल्लाने से मस्तिष्क की गर्मी का पता लगता है। इसे शान्त करने के लिये रोगी को ठण्ड की आवश्यकता होती है एवं काफी समय तक रोगी के सिर पर पानी डालना चाहिये। यह क्रिया तब तक दोहराई जावे जब तक कि रोगी सो न जावे।

एकत्रित मल, कुपित अम्ल एवं पित्त मस्तिष्क के कोषों को विकृत कर देता है। इसलिये अगर पेट साफ रखा जाय तो ये दोनों ही दूषित पदार्थ बराबर बाहर निकलते रहेंगे। अतएव कोष्ठबद्धता के फलस्वरूप रोगीमें उन्माद बढ़ता है एवं इसकी विशेष रूपसे सम्भाल करनी चाहिये।

सुबह से सोने तक प्रति दो घण्टे के बाद रोगी को समझा-बुझा कर १ गिलास पानी पिलावें। कभी-कभी पानी में संतरे का रस या नींबू का रस मिला दें। प्रतिदिन १ चम्मच मधु पानी के साथ रोगी को देवें। डाब (कच्चा हरा नारियल) का पानी भी रोगी के लिये हितकर है। इन सब के उपयोग से रोगी को मूत्र अधिक होगा एवं मूत्र के साथ सभी प्रकार के विष बहकर निकल जायेंगे। इन सभी पेयों के सेवन से कोष्ठबद्धता भी दूर होगी।

उपदंश

(Syphilis)

लक्षण : उपदंश के कीटाणु या तो दूषित शरीर-प्रणाली में पैदा होते हैं या किसी अन्य व्यक्ति से संक्रमण होकर पैदा होते हैं। ये घावोंमें पैदा होते एवं बढ़ते हैं। शुरू-शुरू में ये विशेष आकृति में उत्पन्न होते हैं एवं जननेन्द्रिय पर बढ़ते हैं। जननेन्द्रिय का आधार कड़ा एवं बीच में उठा हुआ होता है। इन सब स्थानों पर ये बढ़ते हैं एवं बढ़कर एक

प्रकार का तरल पदार्थ पैदा कर देते हैं। इन घावों में किसी प्रकार की वेदना नहीं होती। जंघाओं के बीच एक प्रकार की ग्रन्थि जैसी उठ आती है जिसमें मवाद नहीं होती है। १ महीने के आस-पास यह रहती है और वाद में वैठ जाती है और यह घाव भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की मवाद-युक्त ग्रन्थियाँ वहुत कम रोगियों में पाई जाती हैं। विना मवाद की ग्रन्थि ज्यादा हानिकर होती है। उपदंश रोग की यह प्रारम्भिक अवस्था है।

६-७ सप्ताह के वाद यानी इससे आगे की स्थिति में शरीर के विभिन्न हिस्सों पर छोटे-छोटे दाने उभर आते हैं। शरीर की वायु-प्रधान अवस्था में ये दाने काले रहते हैं। इसे वातज उपदंश कहते हैं। इसमें सुई की चुभन जैसी वेदना होती है। ये दाने अगर पीले रंग के हों और इनमें कुछ गन्दगी तथा जलन हो तो इसे पित्तज उपदंश कहा जाता है। रक्त के अत्यधिक दूषित हो जाने के फलस्वरूप ये दाने लाल या तांवे के रंग के हो जाते हैं। इस प्रकार के उपदंश को रक्तज उपदंश कहते हैं। कफज जाति के उपदंश में गाढ़ी मवाद होती है एवं खुजली काफी होती है। त्रिदोषज उपदंश की जाति भी पायी जाती है। इस अवस्था में तीनों जाति के लक्षण सम्मिलित रूप में पाये जाते हैं। इसमें वात, पित्त और कफ तीनों ही दोषी हो जाते हैं। इसकी चिकित्सा कठिन होती है।

कारण : 'अधावनात् अत्युपसेवनाद्वा योनि-प्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशाः'—स्त्री और पुरुष जो अपने अंग को भली प्रकार नहीं धोते हैं, अत्यधिक प्रसंग करते हैं, या ऐसी स्त्री के साथ प्रसंग करते हैं जो रोगी होती है, उनको उपदंश रोग हो जाता है। अत्यधिक काम-प्रसंग के फलस्वरूप रक्त निर्बल हो जाता है और उपदंश का कीटाणु इसमें पैदा हो जाते हैं। किसी भी कारण से रक्त दूषित हो जाने या शरीर में त्रिदोष हो जाने से उपदंश रोग हो जाता है। वेश्याओं में विभिन्न पुरुषों के साथ अधिक मात्रा में सहवास

करने के कारण यह रोग अधिक पाया जाता है। सहवास के समय उपदंश के कीटाणु एक से दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। उपदंश रोग के मुख्य प्राप्ति-स्थान हैं—वेश्याओं के अड्डे। अतएव सभ्य समाज के मुख के ये धब्बे जब तक नहीं बन्द होंगे तब तक उपदंश रोग की रोक-थाम असम्भव है। रोगी के कपड़ों जैसे तौलिया आदि के उपयोग से भी यह रोग फैलता है। घावों से बहनेवाले रस (मवाद) से भी इस रोग के कीटाणु एक से दूसरे आदमी तक पहुँचते हैं।

उपचार : सुजाक रोग के समान ही इस रोग की भी चिकित्सा है। प्रभावित अङ्ग को सूर्यस्नान करावें। नये रोगी के प्रभावित अङ्ग को नित्य सूर्य-स्नान कराना चाहिये।

क्रम वर्धमान व्यायाम, उपवास का अभ्यास करें। जल-स्नान एवं जल पीनेके नियमों का पालन करें। प्रति-दिन ३ बार स्नान करें।

नियम एवं पथ्य : घावों को नित्य प्रति, एन्टीसेप्टिक जल या साबुन से धोवें। घावों पर त्रिफला की भस्म लगावें। घावों से रस का बहना न रोकें। नशीले द्रव्यों का सेवन बन्द करें। मछली, मांस, अण्डे, दूध, दही, छाछ और दूध से बनी मिठाई रोगी को सेवन नहीं करनी चाहिये। मध्याह्न भोजन पूर्ण रूप से शाकाहारी होना चाहिये। यह भोजन घी में बना होना चाहिये। रात के समय फल या रोटी के अलावा कुछ न खावें। अर्थात् हल्का भोजन करें। एकादशी का व्रत करें। उपवास के समय काफी मात्रा में नीबू का रस मिलाकर पानी पीवें। अमावस्या और पूर्णिमा को कुछ भी न खावें। घाव भरने के बाद दूध पी सकते हैं। यह बीमारी मिट जाने के बाद पुनः हो सकती है। विवाह या स्त्री-प्रसङ्ग रोग मिटने के दो वर्ष बाद तक न करें। इस अवधि में स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करें। अगर सम्भव हो तो लगातार दो दिनों तक उपवास करें इन सभी प्रकार के कीटाणुओं का नाश हो जायगा और भविष्य निरापद होगा।

ऋतुरोग

(Menstrual Troubles)

ऋतुकाल में स्राव कम होना, अनियमित होना एवं अधिक मात्रा में होना ऋतुरोग कहलाता है।

लक्षण—स्त्रियों के अङ्ग जब गर्भ धारण योग्य हो जाते हैं तब मासिक धर्म होना अपने आप प्रारम्भ हो जाता है। साथ ही गर्भ धारण की शक्ति समाप्त होने के साथ ही मासिक धर्म होना स्वतः बन्द हो जाता है। मासिक धर्म का समय प्रति २८वें दिन होता है। उष्णप्रधान देशों में मासिक धर्म प्रारम्भ होने की उम्र है १२ से १६ वर्ष के बीच ; जबकि शीतप्रधान देशों में यह उम्र है १४ से १८ वर्ष के बीच। मासिक स्राव समाप्त होने की उम्र ४५-५० के बीच है। आम तौर पर ऐसा ही पाया जाता है, लेकिन कहीं-कहीं व्यक्ति विशेष के आधार पर इसमें अन्तर भी पाया गया है। इस प्रकार मासिक धर्म का समय दिनों, महीनों या वर्षों में आगे-पीछे होता है।

मासिक स्राव क्या है? आइये, अब इस पर विचार करें। मासिक धर्म का गर्भाशय से काफी सम्बन्ध है। गर्भ की सुरक्षा के लिये गर्भाशय में प्रत्येक मास एक सूक्ष्म झिल्ली के द्वारा घर जैसा तैयार होता है। गर्भ की शरीर-रक्षा एवं शरीर-निर्माण के लिये वहाँ अतिरिक्त मात्रा में रक्त एकत्रित होता है। जब स्त्री गर्भ धारण करने में असमर्थ होती है, तब गर्भाशय में स्थित यह स्थान टूट जाता है एवं जो कुछ भी रक्त या अन्य पदार्थ वहाँ एकत्रित रहते हैं, वे योनि-मार्ग से वह निकलते हैं। यही है—मासिक स्राव। इसे ही साहित्यिक भाषा में "माता गर्भाशय के आँसू" कहा जा सकता है। आम तौर पर यह क्रिया तीन से पाँच दिनों तक चलती है ; इसी प्रकार गर्भाशय में गर्भ के लिये स्थान का निर्माण तब तक होता रहता है, जब तक कि स्त्री गर्भ धारण नहीं कर लेती। गर्भ धारण के बाद गर्भाशय का यह स्राव बन्द होता है।

युवावस्था में गर्भावस्था के अलावा मासिक धर्म का वन्द होना Amenorrhœa कहलाता है। प्रत्येक मास में मासिक स्राव के समय १०-१२ औंस रक्त निःसरण होता है। जिन स्त्रियों के स्राव कम होता है उनके रक्त भी कम निकलता है। अधिक मासिक स्राव को Menorrhagia कहते हैं। दो मासिक धर्म के वीच का समय २८ दिन रहना चाहिये, पर जहाँ कहीं इसमें अन्तर आता है—यानी दो मासिक धर्म के वीच का समय २८ दिन के स्थान पर कम या ज्यादा होने लगता है, उसे अनियमित मासिक धर्म कहा जाता है। इसमें कभी-कभी मासिक स्राव २-३ दिन ठहरकर पुनः प्रकट हो जाता है।

कारण—यौगिक मत के अनुसार, नभः एवं वरुण-ग्रन्थियाँ जैसे—थाइरॉयड, पेराथाइरॉयड, डिम्ब, Bartholin's glands आदि निर्बल होनेसे मासिक स्रावकी गड़वड़ी होने लगती है। ये सब ग्रन्थियाँ अपने पोषण के लिये शुद्ध रक्त प्राप्त करती रहती हैं एवं इससे होनेवाले स्राव के फलस्वरूप शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा होती है एवं शरीर रोगों के आक्रमण से वचा रहता है। इस प्रकार शरीर प्रणाली में शुद्ध रक्त का अभाव इन ग्रन्थियों के निर्वल होने के लिये उत्तरदायी होता है। कोष्ठवद्धता, मलेरिया आदि ज्वरों के कारण यकृत के विकृत हो जाने से शरीर का समुचित पोषण न होने के कारण शरीर में रक्त अशुद्ध हो जाता है एवं रक्त की मात्रा भी कम हो जाती है। परिणामस्वरूप स्त्रियों का साधारण स्वास्थ्य एवं ये ग्रन्थियाँ निर्बल हो जाती हैं। इस प्रकार की रुग्ण माताएँ गर्भ-निर्माण के लिये गर्भाशय को आवश्यक मात्रा में रक्त नहीं दे पातीं। उनका डिम्व रक्त को Corpus Luteum नहीं दे पाता है। जो कुछ भी साधारण मात्रा में रक्त सम्पूर्ण मास की अवधि में एकत्रित हो पाता है उससे मासिक स्राव नहीं हो पाता एवं स्त्रियों को नानाविध रोग घेर लेते है। अत्यधिक मोटी स्त्रियों के मामले में भी यही सत्य है। अधिक मोटापा अपने आप में एक रोग है।

संक्षेप में—मासिक धर्म सम्वन्धी सभी गड़वड़ीका मूल कारण है—शुद्ध रक्त का शरीर में अभाव। इसीके फलस्वरूप वात, पित्त एवं कफमें भी दोष आ जाते हैं। जहाँ अशुद्धता वहुत अधिक है, प्रकृति अत्यधिक स्राव के माध्यम से उसे वाहर निकाल देती है।

उपचार—प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया करें। निःसारण, अर्धस्नान या टव-स्नान ५ मिनिट तक करें। स्नान के समय २० वार मूलवन्ध मुद्रा करें। २० वार महावन्ध मुद्रा करें। इसके वाद सहज प्राणायाम सं० ५ और ८ करें।

मध्याह्न—टव-स्नान १० मिनिट। टव-स्नान के समय मूलवन्ध और महावन्ध मुद्राओं का २० वार अभ्यास करें।

सायंकाल—सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तान, सहज प्राणायाम सं० १, ५, ८; शक्तिचालनी मुद्रा, शीर्षासन या सहज शीर्षासन।

क्रम वर्धमान व्यायाम, जलपान, जलस्नान नियम सं० १ या २ का पालन करें। स्नान के समय मूलबन्ध एवं महाबन्ध मुद्राओं का अभ्यास करें। अगर रोगी सहन कर सके तो प्रतिदिन ३ वार स्नान करावें। कभी-कभी सूर्य-स्नान भी करें। ऋतुकाल में केवल सहज या भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें। अन्य व्यायाम न करें।

नियम एवं पथ्य—ऋतुकालमें हिन्दू स्त्रियाँ भोजन पकाना, भोजन परोसना, पति या वच्चों के साथ सोना तथा किसी को छूने में भी परहेज करती हैं। इसका कारण स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों पर आधारित है। ऋतुकाल में स्त्रियों के शरीर से वहुत अशुद्ध एवं रोगों के विष निकलते रहते हैं। स्त्रियों का गर्भाशय रक्त से भरा रहता है। नियमित काम करने के फलस्वरूप गर्भाशय स्थानभ्रष्ट हो सकता है एवं अत्यधिक मात्रा में रक्तस्राव हो सकता है। इसलिए ऋतुकाल में स्त्री-सम्पर्क से सदैव बचना चाहिये। ये वन्धन म अन्ध-विश्वास के परिणाम हैं और न ही नारी जातिके प्रति हमारे तिरस्कार के। यद्यपि इन नियमों में भारतीयों ने भी कुछ शिथिलता वरतनी प्रारम्भ कर दी है; क्योंकि आँख मूँदकर

पश्चिमी सभ्यता की नकल करना प्रारम्भ हो गया है। पश्चिमी प्रणाली के अन्तर्गत तथ्य यह है कि शीतप्रधान देशों में उष्णप्रधान देशों की तरह रोगके कीटाणु उत्पन्न होकर नुकसान नहीं पहुँचा पाते। यही कारण है कि हमें अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक कड़ाई के साथ सावधानी वरतनी पड़ती है। हमारे देहातों की स्त्रियाँ कम-ज्यादा आज भी इन्हीं नियमों का पालन करती हैं। ३-४ दिन तक वे खाना नहीं पकाती हैं, न ही पुरुष या बच्चों के साथ सोती हैं। वे ३-४ दिन तक अस्पृश्य रहती हैं। लेकिन वे अन्य भारी-भारी काम करती हैं। ठण्डी एवं सीड़भरी जमीन पर सोती हैं—ये सब स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध हैं, यह नासमझी है। उन्हें ३-४ दिन की इस अवस्था को रुग्णावस्था ही समझना चाहिये। इस अवधि में उनका काम हल्के किस्म का होना चाहिये, उन्हें शीत या गर्मी से बचना चाहिये। योनिमार्ग में कपड़ा नहीं रखना चाहिये। यह अस्वास्थ्यकर अभ्यास है। एक ढीला-ढाला जांघिया पहनें। अन्यथा सामने से पीछे की ओर ले जाकर एक कपड़े का पैड जैसा बाँधें। मासिक धर्म की ३ से ५ दिन की अवधि में गर्म पानी या ताजा पानी से स्नान करें। स्नान के नियमों का पालन करें। आमतौर पर गपशप, अपने आत्मीय जनों को पत्र लिखकर, चित्रकारी आदि कर अपना समय गुजारें। इस अवधि में सीना पिरोना, गम्भीर अध्ययन-अध्यापन त्यागें। जिस स्त्री को मासिक स्राव अधिक मात्रा में हो रहा हो, उसके पलंग के सिर की तरफ का हिस्सा ८ से १२ इञ्च तक नीचे रखें एवं रोगिणी के पेट पर गीला तौलिया रखें। इससे ५-७ मिनट में रक्तस्राव की मात्रा कम हो जायगी।

अगर यकृत रोग न हो तो मध्याह्न भोजन के साथ थोड़ा घी, मक्खन या ओलिव आयल खावें, छाछ पीवें। रात को भोजन के समय दूध पीवें। दूध अगर न मिले तो नारियल दूध सेवन करें। यह पोषण की दृष्टि से भी गाय या भैंस के दूध के बराबर ही है। शाक-सब्जी, फल सबसे अच्छा पथ्य है।

जल-पान के नियमों का पालन करें। अधिक मासिक स्राव की रोगिणी को एक साथ अधिक जल न पिलाया जावे, पर सारे दिन में काफी पानी पीना चाहिये। शीतऋतु में ठण्डे पानी की जगह गर्म पानी का सेवन करें।

एपेण्डिसाइटिस या अन्त्रोपाङ्ग-प्रदाह

लक्षण : इस रोग में मूल रूप से यह समझ लेना चाहिये कि अँतड़ियों के नीचे एक अन्त्रपुच्छ हुआ करता है, जो वहुत ही छोटी-सी थैली है और जिसका मुँह पेट के नीचे दायीं ओर मलाशय के निम्न-भाग से वाहर की ओर निकला हुआ रहता है और इसका मुँह छोटी थैलियों के समान होता है। दूसरी ओर से इसका मुँह वन्द रहता है। प्रायः इसकी लम्बाई ३ से ४ फुट और चौड़ाई डेढ़ इञ्च हुआ करती है। इससे वहुत-से आन्तरिक पुच्छ भी कभी-कभी देखने को मिल जाते हैं लेकिन वे वहुत ही कम व्यक्तियों में होते हैं। जितने शरीर-विज्ञान के अधिकारी हैं, वे अभी भी इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाए हैं कि इस विशेष अवयव का शरीर में क्या महत्वपूर्ण कार्य है? जव इस नलिका पर शोथ आ जाता है या इसमें किसी प्रकार का विकार हो जाता है तो कै आदि लक्षण इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था में काफी तेजी से प्रकट होने लगते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि इसका ऊपरी सिरा बहुत अधिक सूज जाता है और फट जाता है, उस अवस्था में रोग का स्वरूप उग्र हो जाता है। यह रोग प्रायः युवकों में ही देखने में आता है। वालकों या वृद्धों में इसके लक्षण कभी भी देखने को नहीं मिलते। एक ओर भी विशेष अन्तर है—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में ही यह रोग अधिक होता है।

कारण : आयुर्वेद के अनुसार पित्त के अन्दर जव किसी प्रकार का ह्रास होने लगता है तो इस रोग की सम्भावना वढ़ जाती है। रुग्ण

होने पर यह नलिका अञ्जीर के समान फूलकर अपना शोथ प्रकट किया करती है। आज तक यह रहस्य ही बना हुआ है कि यह रोग क्यों होता है ? प्रायः ऐसा होता है कि जो युवक शारीरिक श्रम में विश्वास नहीं करते और घर के अन्दर ही आरामप्रद जीवन बिताया करते हैं, जो कभी खेल-कूद में रुचि नहीं रखते, खुली हवा का सेवन नहीं करते, अत्यधिक आमिष भोजन किया करते—वे इस रोग के प्रायः शिकार बन जाते हैं। यह भी देखने में आया है कि इस प्रकार के युवकों में प्रोटीन-युक्त भोजन खाने की बहुत अधिक चाहना रहती है और इसका परिणाम यह होता है कि वे हमेशा अपच के रोगी बने रहते हैं। उस अवस्था में उनका पित्त भी कुपित रहता है। भोजन के न पचने से अँतड़ियों के अन्य छोटे-मोटे रोग बढ़ने लगते हैं और ऐसे ही रोगियों में एपेण्डिसाइटिस रोग उग्र रूप में अकस्मात् प्रकट होकर जीवन में भारी सङ्कट उपस्थित कर दिया करता है।

इस रोग के कारणों की गहराई से जाँच करने पर यह अवश्य पता चलता है कि जिन व्यक्तियों को बहुत कठिनाई से मल-त्याग होता है और जो सड़े हुए मल की बदबूदार अपान-वायु का बराबर त्याग करते रहते हैं अथवा जिन्हें आमातिसार रोग की वजह से कच्चा-पक्का आँव निकलता रहता है, इन अवस्थाओं में उनके आमाशय में रुके हुए मल से गतिरोध उत्पन्न हो जाया करता है। इसका सीधा परिणाम प्रायः यह होता है कि रुका हुआ मल जब नीचे की ओर मार्ग नहीं पाता तो वह इधर-उधर स्थान खोजते हुए इस नलिका में पहुँचकर न केवल अवरुद्ध हो जाता है बल्कि वहाँ अपनी सड़ान से इस अंश को अस्वस्थ बनाते हुए इसमें तीव्र प्रदाह भी उत्पन्न कर देता है। इसलिए कुपित पित्त, बहुत दुर्बल अपचन-अवस्था, कोष्ठबद्धता और अँतड़ियों में अवरुद्ध हुए एकत्र विषों के अत्यन्त विकृत हो जाने से इस रोग के प्रकट होने की सम्भावना प्रायः प्रबल हो जाया करती है।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया संख्यक १ लें, उसके साथ

अन्य आसन और मुद्राएँ करें। शौच आदि से निवृत्त होकर ५ मिनट तक या कुछ उससे अधिक समय तक टब-बाथ लें, इसके उपरान्त ३० वार सहज अग्निसार करें। संख्यक १ और ३ सहज प्राणायाम दो-दो मिनट के लिए करें।

दोपहर में या तो किसी नदी के तट पर जाकर स्नान करें अथवा तालाव में स्नान कर सकते हैं। स्नान करते समय अश्विनी मुद्रा २० वार, मूलवन्ध मुद्रा २० वार। ऐसी सुविधाएँ न हों तो घर पर १५ मिनट के लिए टब-बाथ लें। सायंकाल भ्रमण-प्राणायाम, ४ मिनट के लिए सर्वाङ्गासन, २ मिनट के लिए मत्स्यासन, ४ वार पश्चिमोत्तान-आसन, संख्यक १ अग्निसार धौति को १० वार और संख्यक ४ को चार वार करें। उड्डीयान ४ वार ; सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ६ करें। ३ मिनट के लिए शशांगासन या शीर्षासन करना चाहिए।

नियम एवं आहार : इस सन्दर्भ में हमें उन भोजनों को रुचि-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए जो प्रायः अग्निमान्द्य के प्रकरण में बताये गये हैं। अधिक से अधिक जल पीना चाहिए और जलस्नान आदि के नियमों का विधिवत् पालन करना चाहिए। यदि रोग में प्रारम्भिक सुधार नजर आए तो अन्य व्यायामों की मात्रा भी क्रमशः बढ़ाने से और अधिक लाभ प्राप्त होता है।

एलार्जी

लक्षण—कोई-कोई खाद्य-वस्तु ग्रहण से या कोई वस्तु के संस्पर्श से शरीर में जो अस्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है, उसका नाम एलार्जी है। दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि अण्डा खाने से ही कुछ संख्यक स्त्री-पुरुषों का श्वास कष्ट प्रारम्भ होता है। अण्डे इन सब आदमियों के लिए विष सदृश्य हैं। (चिंड़ि) इति मछली विशेष को खाने के साथ-साथ किसी-किसी के सर्व शरीर में आमवात के माफिक फुन्सी उभर आती

है। किसी को ठण्डा पानी में स्नान करने से ही शिर में पीड़ा और बुखार होता है। कोई-कोई बालक और बालिकाएँ अति शैशवकाल से इस प्रकार के एलार्जी द्वारा आक्रान्त होते हैं। कभी-कभी कोई-कोई परिवार के प्रायः सबके शरीर में इस प्रकार के एलार्जी का प्रभाव देखने में आता है। लेकिन जिनका स्वास्थ्य अच्छा है, देह निर्दोष है, उनके शरीर में कभी भी एलार्जी नहीं होती है।

कारण—ग्रन्थिक्रिया की अस्वाभाविकता अर्थात् रुग्नग्रन्थि और शरीर में सञ्चिलनषित पदार्थ ही इस रोग का प्रधान कारण है। प्रयोजन से अधिक भोजन ग्रहण करना, अक्षुधा या थोड़ी भूख में खाना और सुषम पथ्य के अभाव का फलस्वरूप यकृत, प्लीहा, मूत्रग्रन्थि प्रभृति रोगाक्रान्त होने लगते हैं और देह-सञ्चित पित्त, अम्ल प्रभृति दूषित चीज को देह उस समय वाहर नहीं कर सकता है। इससे यह रोग उत्पन्न होकर वढ़ता जाता है। शरीर में दूषित-पित्त का सञ्चय होकर इस रोग की सृष्टि होने पर, देह में स्फोटक उत्पन्न होता है। देह-सञ्चित दूषित चीज के प्रभाव से फुसफुस और टॉन्सिल रुग्ण होने पर ठण्डा पानी के संस्पर्श से एलार्जी की सृष्टि होती है। विभिन्न ग्रन्थियों की दुर्वलता से नाना प्रकार के एलार्जी उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—सुवह सहज वस्तिक्रिया सं १ (३ य अध्याय) प्रातः कृत्यादि के वाद वमन धौति या वारिसार धौति, (सप्ताह में दो दिन) सहज अग्निसार ४० वार, अग्निसार धौति सं० १ को १० वार सं० २ को ३ वार, सहज प्राणायाम सं० १, २, ३ प्रत्येक को २ मिनट करके शशांगासन ३ मिनट तक करें।

मध्याह्न में—स्नान के समय पर—सहज अग्निसार ४० वार, अग्नि-सार धौति सं० १ को १० वार सं० २ को ३ वार, सहज प्राणायाम सं० ३ को २ मिनिट तक करें।

सायंकाल में या रात में भोजन के पूर्व में—विपरीतकरणी मुद्रा या सहज विपरीत करणी ३ मिनट, जानुशिरासन ३ वार, सहज अग्निसार

४० बार, अग्निसार धौति सं० १ को १० बार, सं० २ को ३ बार। सहज प्राणायाम सं० १, २, ३ प्रत्येक को २ मिनट, शशांगासन २ मिनट तक करें।

रोग की प्रबलता ह्रास होने पर और रोग के आरोग्य के साथ-साथ क्रमवर्द्धमान व्यायाम के नियमानुसार आसन-मुद्रा और प्राणायाम की संख्या बढ़ाना चाहिए।

नियम और पथ्य—सप्ताह में एक दिन उपवास करना चाहिए। प्रति सप्ताह में एक दिन पूर्ण उपवास से यह रोग शीघ्रातिशीघ्र आरोग्य होने में विशेष सहायक होता है। (तृतीय अध्याय में उपवास विधि द्रष्टव्य) चाय, कॉफी, पान, बीड़ी, सिगरेट और नस्य प्रभृति मादक-द्रव्य सेवन का अभ्यास रहने से उसे परित्याग करना होगा। जब तक पूर्ण रूप से रोगी आरोग्य नहीं होता है तब तक मछली-मांस और अण्डे प्रभृति आमिष खाद्य परित्याग करना चाहिए। घी, मक्खन, छेना, मिष्टि-मिठाई प्रभृति संहृत खाद्य भी सम्पूर्ण छोड़ देना चाहिए, इस रोग में चीनी सेवन भी निषिद्ध। चीनी के बदले में गुड़ ले सकते हैं। दूध, दही, तक्र, दाल, साग-सब्जी और रसालफलादि इस रोग में सुपथ्य हैं। जलयोग दूध, रोटी, सब्जी और रसाल फल के बीच में सीमाबद्ध रखना चाहिए। अक्षुधा और अल्पक्षुधा में खाद्य ग्रहण नहीं करना चाहिए। तीव्र-क्षुधा के लिए दीर्घ उपवास या बार-बार उपवास करने में सङ्कोच नहीं करना चाहिए।

कच्छु या पामा रोग

(Itches & Scabs)

लक्षण—चमड़ी पर छोटे-छोटे दाने उभर आना एवं साथ-साथ उसमें खुजली होना इस रोगकी निशानी है। आमतौर पर यह अंगुलियों के बीच में, कलाई पर, पेट पर और पैरों पर होता है। आयुर्वेद के

अनुसार इनका नाम कच्छु है। इससे बड़ी प्रकार की बीमारी को पामा कहते हैं। इस अवस्था में फुंसियाँ मवाद से भरी होती हैं। इससे मवाद बहती रहती है और यह तुरन्त ही ठीक भी नहीं होती।

कच्छु एवं घमाची (गर्मी के दिनों में होनेवाली छोटी छोटी फुन्सियाँ) पीठ पर अधिक होती है। क्रमशः ये बढ़ती जाती हैं एवं इनमें खुजली होना शुरू हो जाता है। कभी-कभी इनमें से पानी जैसा तरल पदार्थ बहने लगता है एवं जलन पैदा हो जाती है। आयुर्वेद के मतानुसार इसका नाम पामा है।

कारण—पित्त की एक जाति है—भ्राजक पित्त। इसमें अगर किसी प्रकार की अव्यवस्था या दोष हो जाता है तब शरीर के चर्म को यह स्वस्थ नहीं रख पाता। चर्म को स्वस्थ रहने के कार्य में तर्पक श्लेष्मा भी कुछ मदद नहीं कर पाता है। ऐसी अवस्था में एक विशेष प्रकार के कीटाणु शरीर में प्रवेश कर, अपनी संख्या बढ़ाते हैं। हमारे रक्त की श्वेत कणिकाएँ इनका विरोध करती हैं। ऐसी अवस्था में ये कीटाणु रक्त की श्वेत कणिकाओं की पहुँच से बाहर बाहरी चर्म पर फोड़े-फुन्सी पैदा कर अपनी सुरक्षा का स्थान बना लेते हैं। श्वेत कणिकाओं एवं कीटाणुओं का यह युद्ध यहाँ भी बन्द नहीं होता। दोनों पक्ष के हताहत सैनिक मवाद या लस के रूप में बहने लगते हैं।

यद्यपि यह बीमारी सिर्फ चमड़े पर ही होती है लेकिन इसका कारण है शरीर के यंत्रों का दोषी होना। कोष्ठबद्धता, अस्वस्थ यकृत एवं प्लीहा, दूषित रक्त आदि इसके मूल कारण हैं।

जिन व्यक्तियों का रक्त दूषित होता है उन्हें अक्सर घामची या पामा (एक्जीमा) हो जाती है। जिन बच्चों को भरपूर भोजन नहीं मिलता, अधिक भोजन करनेवाले मोटे व्यक्ति एवं कोष्ठबद्धताके शिकार मनुष्य इस रोग से प्रभावित होते हैं। इसका कारण है रक्त-दोष।

उपचार—सुबह : सहज वस्तिक्रिया अपने पूरक आसन एवं

मुद्राओंके साथ, निःसारण एवं स्नान ; सहज प्राणायाम सं० २, ३, ८ ; उड्डीयान आसन, भ्रमण प्राणायाम।

सायं : भ्रमण प्राणायाम, सहज अग्निसार ३० बार ; शयन पश्चिमोत्तान, सहज प्राणायाम सं० २, ३, ८ ; अग्निसार धौति सं० १ को १० बार, सं० २ को ४ बार। वमन धौति व वारिसार धौति के अभ्यास से कम समय में ही चमत्कारिक लाभ होगा।

क्रम-वर्धमान व्यायाम का अभ्यास करें। सूर्य-स्नान, जल-पान एवं स्नान के नियमों का पूरा-पूरा पालन करें।

नियम एवं पथ्य—कीटाणुमारक मलहम का उपयोग कर कच्छु को दवा देना एक घातक अभ्यास है। यही कारण है कि मलेरिया ज्वर के शान्त होने के बाद कुनाइन का उपयोग किया जाता है। प्रकृति का यह नियम है कि शरीर में जो भी गंदगी या जहर फैला रहता है वह फोड़े-फुन्सियों के जरिये उसे निकाल बाहर करता है। इसलिये इनके पूरी तरह से निकल आने के उपरान्त मलहम आदि का उपयोग करने से नुकसान कम होता है।

ऐसी अवस्था में प्रत्येक सप्ताह में एक दिन के उपवास से काफी लाभ मिलता है। उपवास की अवधि में नींबू का रस मिला हुआ पानी काफी मात्रा में सेवन करना चाहिये। भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिये। प्रोटीन का सेवन न करें। फलों के साथ-साथ दूध का उपयोग बढ़ावें। इससे रक्त का क्षार गुण स्थायी रहेगा।

काला-पानी ज्वर

(Black Water Fever)

लक्षण : यह काला ज्वर से भी अधिक भयानक प्रकार का रोग है। रोगी २-३ दिन तक इसकी चपेट में रहता है। इसके बाद यह शान्त होता है। दुबारा ज्वर बढ़ने के समय रोगी को काला या बैगनी

रंग का पेशाब होता है। इसी कारण इस रोग का नाम है—काला-पानी ज्वर।

कारण : बुखार-नाशक दवा क्विनाइन की उत्पत्ति के पूर्व इस प्रकार का रोग कभी देखा-सुना नहीं गया। इस बीमारी से उन रोगियों को कत्तई भय नहीं करना चाहिये जिन्होंने क्विनाइन का सेवन कभी न किया है। क्विनाइन के दीर्घकालीन सेवन के फलस्वरूप हृदयावरोध होने की दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं। इस रोग की प्रवल अवस्था में हृत्स्पन्दन बन्द होकर या मूत्रावरोध होकर रोगी का शीघ्र ही प्राणान्त हो जाता है।

कालाआजार की ही तरह इस रोग में भी क्विनाइन का प्रयोग अस-फल होता है। इसके प्रयोग से लाभ होने के बजाय रोगी की स्थिति वदतर हो जाती है। क्विनाइन का तेज विष रोगी के रक्त, यकृत एवं प्लीहा को कमजोर कर देता है। इसके प्रभाव से श्वेत एवं लाल रक्ताणु टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और इस प्रकार की स्थिति पैदा हो जाती है कि श्वेत या लाल रक्ताणु का निर्माण ही न हो सके। क्विना-इन विष रक्ताणुओं को नष्ट कर शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति का अत्यधिक ह्रास करता है। विनष्ट रक्ताणु मूत्रमार्ग से निकलते हैं। यही कारण है कि पेशाब का रंग लाल या बैंगनी हो जाता है। धीरे-धीरे शरीर के सम्पूर्ण भागों में यह दोष फैल जाता है। डाक्टर भी निराश होकर क्विनाइन का प्रयोग त्याग कर सोडी-बाई-कार्ब, कालमेघ आदि का प्रयोग प्रारम्भ करते हैं। वे नमक के पानी का इंजेक्शन भी देते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर की जीवनीशक्ति की रक्षा करने एवं उसे वनाये रखने के लिये ग्लूकोज का भी प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की निराशाजनक स्थिति का अन्त होता है—रोगी की मृत्यु।

उपचार : इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण दृष्टिगोचर होते ही क्विनाइन के प्रयोग से वचें। मलेरिया के अन्तर्गत लिखे गये उपायों का अनुसरण करें।

कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस

(Coronary Thrombosis)

लक्षण : जिस रक्तवाहिनी नली से रक्त हृदय में आवागमन करता है उसे अंग्रेजी में Coronary कहते हैं। किसी बाधा के कारण ज़ब यह नली रुक जाती है, तब हृदय में रक्त न पहुँचने के कारण हृदय में रक्त का अभाव हो जाता है। हृदय का स्पन्दन वन्द होना चाहता है। रोगी को श्वास में काफी बेचैनी का अनुभव होता है और हृदय में गुरुतर वेदना होने लगती है। शरीर के ऊपरी हिस्से में रक्त की कमी के कारण, रोगी का चेहरा मृतक के चेहरे के समान निस्तेज हो जाता है। इस अवस्था में हमारे शरीर की प्रकृति (बनावट) रक्त में अतिरिक्त दवाव उत्पन्न कर हृदय को अत्यधिक रक्त पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करती है और यह रोगी के लिये लाभदायक है। अगर इस दवाव से रुकावट हट जाती है और हृदय में रक्त का यातायात होने लगता है तो रोगी का सारे शरीर में पसीना आने लगता है और कष्ट क्रमशः घट जाता है। दुर्भाग्यवश अगर यह अतिरिक्त दवाव भी उस रुकावट को दूर करने में असफल हो जाय तो हृदय में रक्त का अभाव एवं हृदय में शूल होता है। और यही रोगी के मरण की प्रारम्भिक निशानी है। यानी हृदय का सदा के लिये वन्द होना। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में हृदय का रक्त के अभाव में बन्द होने का नाम—Angina Pectoris है, जो कि खतरे का चिह्न है और अगर उसके प्रारम्भ में उपेक्षा की जाती है तो शीघ्र ही मृत्यु निश्चित है।

आजकल पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में यह बीमारी ज्यादा मात्रा में प्रचलित है। सिर्फ संयुक्तराष्ट्र अमेरीका में इस बीमारी से लाखों व्यक्ति मरते हैं। इस देश के धनी एवं उच्च शिक्षित मध्यवित्त समाज में यह रोग अपना स्थान बना रहा है।

कारण : सभी ग्रन्थियाँ, स्नायु, नाड़ी, शिरा, पेशी प्रभृति जीवन

एवं कार्य-सक्षमता के लिये रक्त से आवश्यक पोषण प्राप्त करती हैं। जो दो नाड़ियाँ हृदयमें रक्त पहुँचाने का कार्य करती हैं, उन्हें 'Coronary' कहते हैं। अगर इनसे रक्त का संचालन किसी कारण बन्द हो जाय तो हृदय का स्पन्दन रुक जाता है। संचार के सिलसिले में स्वस्थ रक्त जो सदैव तरल रूपमें रहता है कभी जमता या रुकता नहीं है। इसलिये अस्वस्थ या दूषित रक्त ही बीमारी का उपयुक्त कारण है। रक्त जिन कारणों से अशुद्ध हो जाता है उनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं :

१. जब रक्त में अम्लांश का आधिक्य हो जाता है, तो इसके सम्पर्क में रहनेवाली रक्तवाहिनियों की दीवारें जीर्ण शीर्ण हो जाती हैं, तब ये अपने स्थितिस्थापक गुण को खो देती हैं और रक्त जमने लगता है। हमारे शरीर की यन्त्र-प्रणाली इस अवस्था में हृदय को रक्त नहीं पहुँचा पाती। स्वभावतया उनका भविष्य 'Angina pectoris' के रूप में उत्पन्न हो जाता है।

२. जब रक्तगत अम्लविष का यकृत, मूत्रयन्त्र, फुसफुस, वृक्क आदि शमन नहीं कर पाते, तब कैंसर रोग-बीजाणु की तरह एक प्रकार के रोग-बीज रक्त में पैदा हो जाते हैं। फलस्वरूप सम्पूर्ण कॉरोनरी नाड़ी में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं और वहीं रक्त आसानी से जम जाता है। रक्त के जम जाने पर कॉरोनरी नाड़ी हृदय को समुचित मात्रा में रक्त नहीं दे पाती। परिणामतः यह रोग उत्पन्न होता है।

३. रक्त-शोधक यन्त्रों के कमजोर हो जानेपर अशुद्ध एवं अम्लीय रक्त में पत्थर के कण के समान एक कठोर टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है। यही सख्त बनकर कॉरोनरी नाड़ी के द्वारा रक्त के प्रवाह में बाधक बन जाता है। फलस्वरूप हृदय को रक्त प्राप्त नहीं हो पाता और इस रोग की सृष्टि हो जाती है।

४. शरीर में अत्यधिक चर्बी एकत्रित हो जाने पर कॉरोनरी नाड़ी के भीतर भी चर्बी संचित हो जाती है। फलतः रक्त का यातायात बन्द हो जाने पर हृदय को प्राप्त होनेवाले रक्त का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

अशुद्ध रक्त में उसकी तरलता का भी अभाव होने लगता है। इसलिए अधिक चर्बी और इस प्रकारके रक्त के कारण भी Thrombosis हो जाती है।

५. निरामिष भोजी व्यक्ति यदि आवश्यकता से अधिक गरिष्ठ पदार्थ (घी, मक्खन, छेना, छेने से बनी या घी से बनी वस्तुएँ) ग्रहण करने लगते हैं, तो उन्हें भी यह रोग हो जाता है। क्योंकि मांसादि की तरह गरिष्ठ पदार्थ खाने पर भी अम्ल की अधिकता होती है।

६. डाक्टरों का मत है कि शायद अधिक मानसिक परिश्रम, अपने अस्तित्व के वचाव की चिन्ता एवं दुश्चिन्ताओं पर भी इस वीमारी का दायित्व है। क्योंकि इसका प्रभाव पढ़े-लिखे लोगों में काफी देखने को मिलता है। लेकिन हम इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। हमारी समझ में इसके कारण हैं—(१) आहार-विहार की संतुलित प्रथासे दूर हट जाना, एवं (२) मनुष्य की सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में "आधुनिक औषधि" द्वारा एक अशान्ति की सृष्टि होना और यह आशा करना कि आज के युग के भोजनशास्त्री जिन्हें Endoctrinology का ज्ञान भारतीय योगियों के समान नहीं है—इसकी चिकित्सा का समुचित उपाय सोच सकेंगे। **बहुतसे लोग अपरिपक्व अवस्था में जो काल-कवलित होते हैं, इसका दायित्व असंतुलित भोजन पर ही है।**

उपचार : रक्तचाप-वृद्धि के अनुसार (रक्तचाप-वृद्धि रोग देखें)। कॉरोनरी थ्रॉम्वोसिस के रोगियों के लिये टव-वाथ सहज अग्निसार और सहज प्राणायाम लाभदायक होंगे। टव स्नान, सहज अग्निसार, सहज प्राणायाम पर हमलोग विशेष जोर देते हैं। टव-वाथ और उल्लिखित टव स्नान, सहज अग्निसार व सहज प्राणायाम जमे हुए रक्त को अतिशीघ्र तरल बना देते हैं। रक्तवाही शिराओं की शीर्णता शीघ्र ही घटने लगती है। प्राणायाम से मिलनेवाला औषजन हृत्पिण्ड की रुग्ण मांसपेशी को नीरोग बना देता है। यही कारण है कि कॉरोनरी थ्रॉम्वोसिस के रोगी यौगिक क्रियाओं के द्वारा अतिशीघ्र लाभ पाते हैं।

नियम एवं पथ्य : आयुर्वेद एवं भारतीय योगशास्त्र के अनुसार ग्यारह वर्ष की आयु तक बच्चों के पाचन-यन्त्रों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। इसीलिये योग-शास्त्र के अनुसार घी, मक्खन, अण्डा, मांस, क्रीम एवं इससे बनी मिठाई आदि खाना ग्यारह वर्ष से कम आयुवालों के लिए वर्जित है। क्योंकि यकृत एवं अन्य पाचन-यन्त्रों द्वारा इस प्रकार के भोजनको पचाने योग्य पाचक द्रव पदार्थ का निर्माण नहीं हो पाता। पाचन ग्रन्थियों को अपनी क्षमतासे अधिक क्रिया करनी पड़ती है, जिससे वे खराब हो जाती हैं। हमारे प्रिय बच्चे किस प्रकार और क्यों इतने शीघ्र मरणासन्न हो जाते हैं उसका यह मुख्य कारण है। हिन्दू-शास्त्र में लिखे नियम के अनुसार **"गर्म प्रदेश में रहनेवालों को ५० वर्ष की अवस्था के उपरान्त और शीतप्रदेश में रहनेवालों को ५५ वर्ष की अवस्था के उपरान्त मछली, मांस, अण्डे, घी, मक्खन, क्रीम एवं इनके द्वारा बनाये गये अन्य पदार्थ खाना छोड़ देना चाहिये।"** कारण स्पष्ट है कि यकृत, प्लीहा और अन्य पाचन-यंत्र इस उम्र के वाद इस प्रकार के पदार्थों को पचाने योग्य आवश्यक परिमाण में रस नहीं तैयार कर पाते—जैसा कि युवावस्था में होता है। भोजन को पचाने के लिए यौवन-ग्रन्थि रस तथा शिवसती ग्रन्थि-रस की सहायता अपेक्षित है। फलस्वरूप इस भोजन को पचाने योग्य स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी मुख्य ग्रन्थियों को जैसे यकृत, थाइरायड, प्लीहा, फुस्फुस एवं वृक्क आदि की क्षमता से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। फलस्वरूप वे क्रमशः कमजोर एवं निष्क्रिय हो जाती हैं। परिणाम होता है—रक्तचाप, हृद्रोग, वातरोग, पक्षाघात, Coronary Thrombosis एवं अन्य प्राणघातक रोगों की सृष्टि होने लगती है। इसलिये सारे रोगों की उत्पत्ति की जड़ और कुछ नहीं, गलत भोजन ही है।

भारतीय चिकित्सकगण अपने पाश्चात्य शिक्षकों द्वारा बनाये गये रास्ते का अन्धानुकरण कर रहे हैं। उन्हें न तो इस विषय में कोई ज्ञान है और न ही देश की परम्परा के प्रति उन्हें कोई श्रद्धा है। वे बच्चों,

बूढ़ों एवं रोगियों के भोजन में अण्डे, छेना, मक्खन आदि खाने की राय देते हैं। ये सब कुछ हद तक सुपाच्य हैं, हल्के हैं—इसमें सन्देह नहीं ; फिर भी इन हल्के पदार्थों को पचाने के लिये भी पाचक रस की काफी मात्रा आवश्यक होती है, जो बच्चों, बूढ़ों एवं रोगियों के यन्त्रों द्वारा निर्मित होना सम्भव नहीं। यह मुख्य विषय है—जिसे पाश्चात्य शरीरशास्त्री एवं चिकित्सक नजरअन्दाज करते हैं। भोजन के सिद्धान्त में पाश्चात्योंकी नकल करनेसे भारतीय चिकित्सकों के ज्ञान का अभाव ही झलकता है। **इस प्रकार वे बच्चों को स्थायी रोगी बनाते हैं एवं बूढ़ों और रोगियों को शीघ्र मृत्युके निकट ले जाते हैं।**

दूध में मक्खन एवं छेना मौजूद हैं, जो मनुष्य मात्र के प्राकृतिक खाद्य हैं। इसे अधिक पाचक रसोंकी कभी भी आवश्यकता नहीं होती। केसीन, मक्खन एवं घी आदि प्राकृतिक नहीं, बल्कि कृत्रिम खाद्य हैं और ये बहुत अधिक अन्तर्मुखी रस के बिना पचाये भी नहीं जा सकते।

अण्डा औसतन ४ औंस वजन का होता है, जबकि उसी वजन की मूँगफली और कागजी बादाम इससे पाँच गुना अधिक पोषक हैं। मूंगफली एवं बादाम में मक्खन या घी की अपेक्षा चर्बी अधिक है, मांस की अपेक्षा प्रोटीन अधिक हैं या यों कहें कि १ पौण्ड मूँगफली की प्रोटीन मूल्य के आधार पर पाँच पौण्ड मांस के बराबर है—तो अधिक स्पष्ट होगा। इतना होते हुए भी, इन्हें पचाने के लिए अधिक पाचक रस की आवश्यकता नहीं होती। अतएव मूंगफली या बादाम मनुष्यमात्र के लिये प्राकृतिक खाद्य हैं। अन्तर्मुखी ग्रन्थियों से उत्पन्न रस के बारे में भारतीय योगियों को चूंकि ठोस जानकारी है और वे भोजन को उचित रूप से योजनाबद्ध कर सकते हैं। हमारी यह उत्कट इच्छा है कि मानवता की रक्षा के हेतु पाश्चात्य चिकित्सक भी इसे ग्रहण करें।

चूँकि ग्रन्थियों से पैदा होनेवाले रस से रक्तकी अम्लता में होनेवाली कमी की आपूर्ति होती रहती है इसीलिये रक्त में अम्ल के आवश्यक अनुपातकी कभी भी कमी नहीं हो सकती है। लेकिन लवण का अनुपात

(Alkalinity) में अन्तर होता रहता है और इसकी कमी के बिना रोग अपने आप नहीं वढ़ सकते हैं। प्रत्यक्ष रूप से रोग का आक्रमण होने के पूर्व लवण का अनुपात घटता है और अम्ल (Acid) का अनुपात वढ़ता है। अव यह स्पष्ट है कि जब रोगियों के भोजन में हम अण्डा, मांस, मछली, छेना एवं मक्खन शामिल करते हैं तो अपने आप को धोखा देते हैं। क्योंकि ये सव घनीभूत खाद्य हैं एवं इनके खाने से रक्त में अम्लीय अंश की वृद्धि ही होती है, परन्तु इस रोग में दोषरहित पथ्य अपेक्षित है।

इसलिये कॉरोनरी थ्रॉम्वोसिस के मामले में भोजन के विषय में विशेष सावधानी वरतनी चाहिये। कड़ी भूख न लगने तक कुछ भी नहीं खाना चाहिये। थोड़े से पके रसदार फलों से या फलों के रस से प्रातःकालीन भूख मिटानी चाहिये। दोपहर के भोजन में थोड़ी मात्रा में चावल, हरी शाक-सब्जियों के रस के साथ रोटी, दही, मट्ठा, केले और दूध का सेवन करें। सायंकाल नीबू के रस और सन्तरे के रस का प्रयोग करें। रात्रि के समय दूध या फलों का रस लें। दुष्पाच्य भोजन से वचें।

सभी मादक द्रव्य जैसे—चाय, सिगरेट, नश्य या शराव आदि का प्रयोग कम-से-कम मात्रा में करें। अगर इनका प्रयोग कतई वन्द कर दें तो और भी अच्छा है।

कुष्ठ रोग

(Leprosy)

लक्षण—आयुर्वेदके मतानुसार सभी प्रकारके चर्मरोगोंको कुष्ठ कहा जाता है। कुष्ठ की १८ विभिन्न जातियाँ हैं, इन सभी की चिकित्सा के वारे में आयुर्वेद-ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार कुष्ठ की जातियों में से वातरक्त-व्याधि भी एक भेद है।

इसका आधुनिक नाम है Leprosy अर्थात् गलित कुष्ठ। इस जाति का कुष्ठ २ प्रकार का होता है। एक प्रकार में मवाद या लस होता है एवं दूसरे प्रकार में घाव।

लक्षण—इस रोग की आरम्भिक अवस्था में चमड़ी का वह भाग कुछ-कुछ अप्राकृतिक-सा लगने लगता है—जिन नसों से उस प्रभावित भाग को रक्त प्राप्त होता है वे थोड़ी फूल-सी जाती हैं एवं वह हिस्सा आंशिक रूप से चेतनाहीन हो जाता है। फलस्वरूप रोगीको इन स्थितियों का पूर्णज्ञान नहीं रह पाता एवं रोग भीतर-भीतर फैलता चला जाता है। इसके बाद की अवस्था में कभी-कभी शरीर का तापमान बढ़ने लगता है, हड्डियों में दर्द होने लगता है, अपचन, शिथिलता, अकारण अधिक पसीना आना या आवश्यकतानुसार पसीना न आना, बेचैनी होना, सिर के बाल-उड़ना, भौंहों का लुप्त होना आदि एक-एक कर या एक साथ हो जाते हैं।

तृतीय अवस्था में शरीर के विभिन्न हिस्सों में घाव जैसे होने लगते हैं। वहाँ की नसों में सुई की चुभन जैसी होने लगती है। सामने माथे की चमड़ी पर, गालों पर, नाक या कान पर सिकुड़न आने लगती है और कभी फूल उठती है।

चौथी अवस्था में रोग से प्रभावित भाग चेतनाशून्य हो जाता है, लाल दाने शरीरपर, अंगुलियों और अंगूठोंपर उभर आते हैं। कालान्तर में सड़ने लगते हैं एवं झूलने लगते हैं।

कारण—शरीरके अन्दर स्थित वायु एवं रक्त जब अत्यधिक दूषित हो जाते हैं तब रक्त साफ करने के यन्त्रसमूह को—जैसे यकृत और प्लीहा, फुसफुस एवं वृक्क आदि—काफी क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। इस अवस्था में शरीर में सिर्फ अशुद्ध रक्त शेष रह जाता है एवं रोग के कीटाणु वहाँ पनपने लगते हैं। चमड़ी के निचले भाग में ताकत नहीं रह जाती है कि वह इस प्रकार के विष का सरलतापूर्वक सामना कर सके।

फलस्वरूप प्रभावित हिस्से पर घाव होने लगते हैं। ये घाव कभी ठीक नहीं होते। इस प्रकार हाथ-पैर सड़ने एवं झूलने लगते हैं।

भारत, चीन, ग्रीस एवं रोम निवासियों की दीर्घकाल से प्रचलित धारणा है कि कुष्ठरोग के कीटाणु मछली खाने से शरीर में प्रवेश करते हैं। यह साधारण अनुभव है कि इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों में मछली खानेवालों की संख्या अधिक है। उदाहरणस्वरूप—उत्तरी भारत के अधिकांश लोग मछली नहीं खाते हैं। पूर्वी भारत के हिस्सों में जैसे बंगाल, आसाम, उड़ीसा एवं दक्षिण भारत के निवासी मछली-प्रेमी होते हैं। इन भागों के निवासियों में कुष्ठ रोगियों की संख्या भी अधिक पायी जाती है।

यूरोप के प्रसिद्ध डाक्टर हचिन्सन ने कई वर्षों तक इस व्यापक रोग पर गंभीरतापूर्वक अन्वेषण किया है। संसार के जिन देशों में यह वीमारी अधिक रूप से पायी जाती है या जहाँ नाममात्र को पायी जाती है, उन्होंने दोनों प्रकार के देशों का भ्रमण किया है। कुष्ठरोग के कारणों पर उन्होंने काफी आँकड़े संग्रह किये हैं। उनके दीर्घकालीन अन्वेषण के फलस्वरूप यह परिणाम निकला है कि—कुष्ठरोग के कीटाणु सड़ी हुई मछली में पैदा होते हैं। इसके अतिरिक्त अपर्याप्त मात्रा में नमक मिलाकर रखी हुई मछली में भी इस रोग के कीटाणु उत्पन्न हो सकते हैं। सूखी मछली में भी कीटाणु पाये जाते हैं। परीक्षा करने से यह भी पता चला है कि इस रोग के कीटाणु उत्पन्न होने के ऊपर लिखे कारण ही पर्याप्त नहीं हैं। आयुर्वेद के मतानुसार सिर्फ सड़ी हुई मछली ही नहीं, बल्कि सड़ा हुआ मांस, अण्डे आदि के सेवन से भी रक्त में इस रोग के कीटाणु उत्पन्न होने लायक वातावरण वन जाता है। इस विषय में और भी अध्ययन की आवश्यकता है। शाकाहारी व्यक्तियों में इस रोग से प्रभावित व्यक्तियों की संख्या नहीं के वरावर है। उन्हें यह रोग संक्रमण से होता है।

अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर चिकित्सा-जगत का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि साधारण प्रकार के कुष्ठरोग से पीड़ित व्यक्ति जिनकी चमड़ी कुछ-कुछ अस्वस्थ एवं पायोरिया से पीड़ित थी, जब यौगिक उपायों से उनके पायोरिया की चिकित्सा की गई तब कुष्ठरोग के लक्षण भी दूर हो गये। **पायोरिया का विष भोजन के साथ मिलकर एक प्रकार की तीव्र सड़न पैदा करता है जो शरीर-प्रणाली के साथ मिलकर कुष्ठरोग एवं श्वेतकुष्ठ के कीटाणु उत्पन्न करता है। कालान्तर में चर्म पर भी इसका प्रभाव होने लगता है। इस तथ्य पर वैज्ञानिक अन्वेषण अवश्य होना चाहिए।**

लेकिन आयुर्वेद के मतानुसार इस रोग का प्रमुख कारण कीटाणु नहीं है। जो व्यक्ति एक ही स्थान पर एक मछली खाते हैं—सभी इस रोग से प्रभावित नहीं होते। यही कारण है कि इस प्रकार के गंभीर रोगों का कारण आयुर्वेद त्रिदोष बतलाता है। शरीर में अवस्थित ये तीन धातु अगर संतुलित रूप से रहेंगे तब भयानक से भयानक कीटाणुओं से भी शरीर की रक्षा हो सकेगी—यह तथ्य है।

उपचार—प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया ; निःसारण, धोना एवं स्नान नियम सं० १ या २, तदुपरान्त बारिसार धौति, अग्निसार धौति, सहज अग्निसार ३० बार सहज प्राणायाम सं० १, ७, ६।

सायं : उड्डीयान, सहज अग्निसार २५ बार, सर्वाङ्गासन, उष्ट्रासन, सहज प्राणायाम सं० १, ७, ६ ; भ्रमण-प्राणायाम।

क्रम वर्धमान व्यायाम, सूर्यस्नान एवं जलपान के सिद्धान्तों का पालन करें।

नियम एवं पथ्य—कुष्ठरोग के रोगी के स्पर्श मात्र से ही यह रोग नहीं होता है। हैजे के कीटाणुओं के समान ही इसके कीटाणु जब तक दूसरे व्यक्ति के पेट में नहीं पहुँच जाते, तब तक इस रोग का असर

नहीं होता है। श्वास के जरिये कीटाणु शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इसलिये सुरक्षा की दृष्टि से रोगी से दूर रहना चाहिये, रोगी द्वारा व्यवहृत बर्तन का उपयोग न करें। उसके नजदीक बैठकर कुछ भी न खावें। कुष्ठ रोगी के छूनेके बाद फलोंको छूना भी नहीं चाहिये। अगर आक्रमण का सन्देह हो तो शरीर पर चालमूगरा तेल की मालिश कर सूर्यस्नान करें। मछली एवं अन्य मांसाहार, घी, मक्खन, छेना, मिठाई का भोजन में सेवन न करें। भोजन में कुछ कड़वे पदार्थ का सेवन करें। कड़वी शाक-सब्जी कीटाणुनाशक है, खासतौर से थानकुनी का रस। चिकित्सा की सुविधा के लिये थानकुनी का रस १-२ औंस प्रतिदिन सुवह सेवन करना चाहिये। भोजन की अन्य वस्तुएँ भी शाकादि ही होने चाहिये। वे पोषक एवं क्षारीय भी होने चाहिए।

आधुनिक लेबोरेटरियों ने अभी तक कुष्ठरोग की पूरी चिकित्सा का कोई उपाय नहीं निकाला है। स्थानीय रूप से चिकित्सा के कुछ उपाय हैं। लेकिन उनसे स्थायी इलाज नहीं हो पाता। एक स्थान पर मिट जाने के बाद शरीर के दूसरे हिस्से पर रोग हो जाता है। यौगिक चिकित्सा कालान्तर में इसके इलाज में सक्षम होगी ऐसा हमारा अनुभव है।

हम पुनः स्मरण कराना चाहते हैं कि बड़ी से बड़ी बीमारी के लिए वमन धौति, वारिसार धौति एवं अग्निसार धौति बहुत महत्वपूर्ण अधिकार रखती हैं। जब आप इस रोग के शिकार हों तो आमिष व संहत भोजन कदापि न खाएं, सात्विक भोजन ग्रहण करें।

कृशता

(Thinness)

कारण : ऐसा आम तौर पर देखा गया है कि पैदा करनेवाले बीज से उत्पन्न पौधे आकार-प्रकार, सबलता एवं आकृति में भिन्न-

भिन्न होते हैं। जो सबल होते हैं उनका खेती में उपयोग किया जाता हैं। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीनकाल में ग्रीस में निर्बल सन्तति को पहाड़ की चोटी से ढकेल कर मार डाला जाता था।

कमजोर स्त्री या पुरुष जन्मजात दोष के कारणों से ही होते हैं। इसके आलावा, नासमझ एवं गरीब माता-पिता जो अपने बच्चों को पोषक भोजन जैसे दूध इत्यादि नहीं दे पाते, वे आमतौर पर उनको चावल, रोटी, घी या मक्खन, अण्डे और अन्य पदार्थ खाने को देते हैं। इससे बच्चों का पाचन-यन्त्र कमजोर होकर खराब हो जाता है। इस प्रकार खराब भोजन करने के फलस्वरूप बच्चों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। अशक्त काम-ग्रन्थियों के फलस्वरूप वयस्क कृश हो जाते हैं। पोषक भोजन के अभाव से अम्लता अपचन या अत्यधिक मस्तिष्कजनित श्रम करने से भी कृशता हो जाती है।

उपचार : प्रातः—बच्चों के लिए (४ से ११ वर्ष तक) पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २ और ३, भुजंगासन, शलभासन और पाद-हस्तासन।

सायं : अर्धचक्रासन, योगमुद्रा, त्रिकोणासन, शयन-पश्चिमोत्तान, पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २ और ३ ; क्रम वर्धमान व्यायाम, जल पीने के नियम आदि का अभ्यास करें। वयस्कों को अपचन के प्रकरण में लिखे व्यायाम का अभ्यास करना चाहिये।

नियम एवं पथ्य : साधारण तौर पर संसार के ४।५ भाग प्रतिभा-शाली व्यक्ति कृश हैं। उनकी कुछ विशिष्ट ग्रन्थियों पर अत्यधिक मनन करने तथा बुद्धि का कार्य करने के फलस्वरूप अत्यधिक भार पड़ता है और इनकी पाचन-क्रियाएँ, रक्तसंचालन क्रियाएँ दोषी हो जाती हैं। अगर इन व्यक्तियों का स्वास्थ्य ठीक रहे और ये दीर्घायु हों तो हम सबके लिये सौभाग्य की बात है।

यों तो समुचित भोजन एवं ऊपर लिखे तरीकों से बच्चे अवश्य ही स्वस्थ बनेंगे। दूध, शाक-सब्जी एवं फल सभी के लिये आवश्यक है, लेकिन **बच्चों को दूध से वंचित रखना राष्ट्रीय अपराध है।** प्रति

व्यक्ति औसतन दूधकी आवश्यक मात्रा २० औंस है परन्तु यह दुर्भाग्यकी बात है कि हमारे देश में लाखों व्यक्ति को दूध प्राप्त ही नहीं हो पाता। एक बहुत अच्छी आदत है कि बंगाल में ५ वर्ष से १० वर्ष तक के बच्चों को मांस-मछली, अण्डे, अतिरिक्त मात्रा में घी या मक्खन नहीं खाने दिया जाता है। इस परम्परा का इतना अधिक महत्त्व है कि जो वर्णन से परे है। इसका आधारभूत सिद्धान्त है कि इस प्रकार के दुष्पाच्य भोजन के सेवन से बच्चों की पाचन-प्रणाली पर अत्यधिक भार पड़ता है और रक्तमें एक प्रकार का परिवर्त्तन हो जाता है, जिससे रोगके आक्रमण होने में मदद मिलती है। अतएव इस प्रकार के भोजन से बचाना ही चाहिये। नासमझी या उदासीनता के कारण उष्ण-प्रधान देशों की यह परम्परा नष्ट होती जा रही है। वयस्क कई रोगोंके कारण एवं समुचित भोजन के अभाव में कृश होते हैं। इन रोगों को समुचित उपाय से दूर करना चाहिये। नियमित जीवन होना चाहिये। प्राणायाम का अभ्यास करें, इससे रोग-निवारण में अवश्य मदद मिलेगी।

कैंसर (कर्कट रोग)

लक्षण : एक प्रकार के तन्तुरूप (फाइब्रायड) विषाक्त कीटाणु शरीर के किसी भागमें संचित होकर दिन प्रतिदिन निर्दय बनते हुए अपने निकट की लसिकावाहिनियों पर अपना सांघातिक आक्रमण शुरू कर देते हैं और बहुत ही जल्दी उनका स्वरूप ट्यूमर (अर्बुद) की तरह हो जाता है। ऐसे अर्बुदों से व्रण के समान रक्त और मवाद बाहर निकलने लगती है। बहनेवाले इस तरल पदार्थ में वे विषैले रक्तार्बुद रहते हैं, जो निरन्तर धमनियों में ऊपर-नीचे संचरण करते हुए लसिका-वाहिनियों पर आघात पहुँचाते रहते हैं और जहाँ भी दुर्बल स्थान पाते हैं, एक नया अर्बुद और तैयार कर देते हैं। शनैः शनैः शरीर भर में इस तरह ये अपना प्रसार कर देते हैं।

एक दूसरा रूप और है कैंसर पैदा होने का। यदि शरीरमें कहीं भी चोट आई हो या कोई घाव हो, तो वह भी कैंसर का रूप धारण कर सकता है। लेकिन यह जरूरी है कि पहले ही से शरीर में इस रोग के विषाक्त कीटाणु मौजूद हों। यों कैंसर कहीं भी शरीर में हो सकता है, लेकिन साधारणतः फेफड़े, यकृत, गुर्दे, अग्न्याशय, अँतड़ी, पेट, जिह्वा, गुर्दा, पित्ताशय, गर्भाशय आदि में ही कैंसर अपना विस्फोट किया करता है। स्त्रियों में प्रायः गर्भाशय और स्तनों में ही कैंसर देखा जाता है।

कारण : आयुर्वेद में इसकी चर्चा अर्बुद के अन्तर्गत आती है। आयुर्वेद के अनुसार वात-पित्त-कफ और रक्त के प्रकुपित होने से जिस अर्बुद की सृष्टि हो जाती है, उसे ही कैंसर कहा जाता है। यह ध्यान देने की वात है कि जिस रक्त में अम्लीय प्रभाव अधिक होता है, उसमें तन्तुरूप अर्वुद के कीट सहज रूपमें पनपने की सुविधा पा जाया करते हैं।

हमने षष्ठ परिच्छेद में भोजन-प्रकरण के अन्तर्गत अम्लीय व क्षारीय आहार की चर्चा विस्तार से की है। यदि मनुष्य को स्वस्थ शरीर रखना है और दीर्घ जीवन का अधिकारी बनना है, तो यह बहुत जरूरी है कि प्रतिदिन भोजन में वह अम्लीय भोजन से अधिक क्षारीय पदार्थ ले। जो लोग आदतवश या स्वभाववश या अज्ञानवश अम्ल-प्रधान भोजन अधिक लिया करते हैं उनका रक्त धीरे-धीरे अम्लीय होने लगता है। ऐसे रक्त के संशोधन करने के लिए यकृत, प्लीहा, फेफड़े और गुर्दों को आवश्यकता से अधिक श्रम करना पड़ता है, क्योंकि इन्हीं चार ग्रन्थियों पर रक्त-शुद्धि का प्रधान दायित्व भी है। जब हम निरन्तर भोजनमें अम्ल-प्रधान वस्तुओं को बराबर लेते रहते हैं और कभी ऐसी सुविधा नहीं देते कि इन ग्रन्थियों को अधिकाधिक श्रम करने से अवकाश मिले तो ये ग्रन्थियाँ बहुपरिश्रम से क्लान्त-श्रान्त और कृश हो जाती हैं और रक्तमें अम्लविष संचित होने लगता है। रक्त के इस अम्लविष में

ही कैंसर के रोग-वीजाणु पनपते हैं। जब कैंसर हो जाता है, तो शरीर में कीटाणुनाशक श्वेत रक्तकणों से ये अपनी रक्षा करने के रूपमें अर्बुद रूप गढ़ तैयार कर लेते हैं। लेकिन स्थिति यह होती है कि अर्बुद की यह गढ़-रचना वहुत अधिक समय तक कैंसर के विषाक्त कीटाणुओं की रक्षा करनेमें असमर्थ रहती है और इसीलिए वे रक्त में मिश्रित होकर प्रवाहित होने लग जाते हैं।

अण्डे, मछली और मांस अत्यधिक मात्रा में खानेवाले लोगों में यह रोग साधारणतया वहुत अधिक फैली हुई मात्रामें मिलता है। लेकिन उन शाकाहारियों में भी इसका प्रसार मिलता है, जो कि वहुत तले हुए पदार्थ लिया करते हैं। विशेष रूपसे उनमें जो कि अपना भोजन घी, मक्खन, पनीर अथवा छेना आदि से तैयार कर उसे वहुत गरिष्ठ वना देते हैं और साथ में मिठाइयों का भी प्रयोग किया करते हैं। ऐसे व्यक्ति भी कैंसर रोग से पीड़ित हो सकते हैं।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान जो कि घावोंको भरने के लिए निरंतर नवीन साधनों की खोज करने में परिश्रम कर रहा है, अभी तक इस रोग का कारण नहीं खोज पाया है। कुछ लोगों का कहना है—धूम्र-पान करने से यह रोग होता है, लेकिन यह तो इस रोग को उभाड़ने का एक कारणमात्र हुआ। हमारे मत से धूम्रपान प्रधान कारण न होकर आनुषङ्गिक कारण है। पथ्य-दोष से जिनका शरीर अम्लधर्मी हो गया है, वे यदि धूम्रपान के आदी वन जायँ तो उनके शरीर में यह रोग उत्तेजित होकर उग्र रूपमें प्रकट हो जाता है। प्रकट तभी हो सकता है जव कि उनके शरीरमें वहुत पहले से तन्तु में अर्बुद प्रकार के विषैले कीटाणु संचित रहे हों। वास्तव में होता है यह तम्बाकू में विद्यमान निकोटीन विष-मिश्रित रक्त के और भी रोग-सम्भव अवस्थामें दुर्वल वन जाने से। **यह एक सबसे कड़ी सचाई है कि बीड़ी-सिगरेट पीनेवाले और शराबी अपने व्यसनों के कारण अपना शरीर**

ऐसा दुर्बल बना लेते हैं कि उनमें रोग-अवरोध की क्षमता एकदम नष्ट हो चुकी होती है। यही कारण है कि वे निकोटीन आदि से उत्तेजना-प्राप्त कैंसर जैसे रोगाणुओं के आक्रमण के बहुत जल्दी शिकार हो जाते हैं और बीमार पड़ जाते हैं। परन्तु जो धूम्रपान और शराब आदि का सेवन नहीं करते, उनमें इस प्रकार के उग्र प्रभाव एकदम प्रकट नहीं हो पाते और उनका शरीर रोग-अवरोधक शक्ति से रोगाणुओं के संघात का प्रतिकार करता और रचता रहता है। यह अवश्य है कि जो व्यक्ति उचित भोजन के नियमों का विधिवत् पालन करते हैं, और बहुत कड़ाई के साथ सन्तुलित भोजन के नियमों का सिद्धान्ततः व्यवहार करते हैं, फिर वे चाहे औसत रूपमें बहुत मामूली धूम्रपान भी करें, लेकिन कैंसर उन लोगों पर अपना दुष्कर प्रभाव नहीं डाल पाता।

उपचार : प्रातःकाल सोकर उठने के तुरन्त बाद सहज वस्तिक्रिया करनी चाहिए। साथ में तत्सम्बन्धी आसन व मुद्राएँ भी करें। संख्यक १ और २ के अनुसार स्नान किया जाए। इसके उपरान्त वारिसार धौति व प्राणायाम करें।

दोपहरमें संख्यक २ का स्नान २० मिनट, स्नान के समय सहज अग्निसार ३० वार। अग्निसार-धौति संख्यक १ को १० वार, संख्यक २ को ४ वार, सहज प्राणायाम संख्यक ३ और प्रत्येक का ३ मिनट तक अभ्यास करना चाहिए।

सायंकाल भ्रमण-प्राणायाम, संख्यक ३ का स्नान, सर्वाङ्गासन ४ मिनट, मत्स्यासन २ मिनट, पश्चिमोत्तान आसन ४ वार। सहज अग्निसार २५ बार। अग्निसार-धौति संख्यक १ को दस वार और संख्यक २ को चार बार। सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ३। शीर्षासन ३ मिनट। इसीके साथ व्यायाम व जल पीनेकी पद्धति का भी क्रम-विस्तार करना चाहिए।

नियम और आहार : विना उचित भूख लगे, कुछ भी न लेना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, नीबू का रस लेते हुए उपवास करना चाहिए, उस समय तक जब तक कि खुलकर भूख न लगने लगे। यदि रोग का आक्रमण फेफड़ों में अथवा गले में हो, जिस अवस्थामें भोजन ग्रहण करना कठिन हो जाय, तो भोजन में फलों का रस, दूध, नारियल का दूध अथवा मूंगफलीका रस और सब्जियोंके रस आदि ही ग्रहण करते रहें। यह अवस्था उस समय तक चलते रहना चाहिए, जब तक कि रोग पर पर्याप्त काबू न हो जाये। जिन रोगियों में कैंसर का आक्रमण शरीर के अन्य अंगों पर हुआ है, वे निम्न प्रकार से नियमों का पालन करें :

प्रातःकाल ११ बजे तक कुछ भी न खाना, प्यास लगने से पानी पीना चाहिए।

दोपहर : इस समय कुछ चावल या रोटी खूब अच्छी तरहसे उबाली दाल के साथ लें। रुचि के अनुसार उबाली सब्जी भी ले सकते हैं।

शाम : यदि भूख तेज लगी हो तो कच्चे डाभ का पानी लें या फलों का रस मात्र ग्रहण करें।

रात : रातमें केवल एक पाव या आधा सेर दूध लें और कुछ नहीं।

कैंसर सांघातिक रोग है। इसलिए भोजन में बहुत सतर्कता बरतनी चाहिए। यही सबसे महत्व की बात है। इस विषय में षष्ठ परिच्छेद का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना उचित है।

कोषवृद्धि रोग

(Hydrocele)

लक्षण : किसी भी एक या दोनों अण्डकोष के फूल जाने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। नसें उभर आती हैं एवं इनमें दर्द होने लगता है। कुछ दिन बाद वहाँ एक तरल पदार्थ एकत्रित होने लगता

है। धीरे-धीरे ये अण्डकोष कड़े हो जाते हैं। अण्डकोषों का आकार भी काफी वढ़ जाता है। कभी-कभी तो ये वहुत ही वड़े हो जाते हैं।

कारण : 'शुक्र'—रक्त से शोधन होते-होते वनता है। इसके प्रवाह का मार्ग रक्तवाहिनी नसों के साथ-साथ ही है। इसके प्रवाह से ग्रन्थि एवं शरीर के अन्य प्रमुख अवयवों को पोषण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त शरीर के ऐसे भी अंग है जहाँ शुक्र एकत्रित होता है। यहीं पर जीवन की प्रमुख वस्तु रक्तकणिकायें—श्वेत व रक्त दोनों उत्पन्न होती हैं। शुक्र अण्डकोषों में भी एकत्रित होता है। यहाँ जीवन की उत्पत्ति के लिये शुक्राणु पैदा होते हैं। इसे Spermatozoa कहते हैं। उत्तेजक विचार एवं विषय-भोग सम्वन्धी उत्तेजना से अण्डकोष क्रियाशील होकर शुक्राणु उत्पन्न करते हैं। वीर्य की आवश्यक मात्रा के साथ इन शुक्राणुओं को काम-व्यवहार से सम्वन्धित ग्रन्थियों में पहुँचाया जाता है। इस प्रकार से एकत्रित वीर्य अविवाहित पुरुषों में स्वप्नदोष द्वारा अथवा विवाहित पुरुषों में विषय-भोग द्वारा नहीं निकलता है और अगर उसमें किसी प्रकार की विकृत आ जाती है तो यह एक प्रकार के तरल पदार्थ के रूप में वदल जाता है जिसे पोते का जल (Hydrocele) कहते हैं। कालान्तर में यह अण्डकोष को ठोस रूप में फूला देता है।

चिकित्सा : प्रातः सहज वस्तिक्रिया अपने पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। मल त्यागते समय वांए हाथ से अंडकोष को हाथ से इस प्रकार दवावें कि दोनों अंडकोष थैली के अंतिम निचले भाग में आ जाय। यह क्रिया मल त्यागते समय प्रत्येक वार करना चाहिए। इस क्रिया से अण्डकोष वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में ३-४ दिनों में अरोग्य हो जाता है। पुराना होने पर एक सप्ताह या कुछ अधिक समय में निर्मूल आरोग्य होता है। लाभ को स्थायित्व देने के लिये अन्य अभ्यासों के साथ इस क्रिया को करते रहें। साथ ही स्नान के नियमों का भी पालन करें।

अण्डकोष में तरल पदार्थ अगर अधिक मात्रा में एकत्र हो गया हो

तो सुरक्षा की दृष्टि से किसी सर्जन की सहायता से इसे निकलवा देना चाहिये। यह तरल पदार्थ पुनः उत्पन्न हो जायेगा। यौगिक उपायों से क्रमशः जल कम एकत्र होगा। और शेष में सदा के लिये इससे छुटकारा मिल जायेगा। यौगिक उपाय से इस रोग की आश्चर्यजनक चिकित्सा होती है। जब कि चीड़-फाड़ (आपरेशन) करने से रक्त बहता, जीवन को भय है और इलाज भी अस्थायी है।

अण्डकोष वृद्धि अगर अन्त्र वृद्धि के रोग के कारण से होवें तब अन्त्रवृद्धि के प्रकरण में लिखे उपायों को करें।

नियम एवं पथ्य : उत्तेजनात्मक प्रसंगों एवं उत्तेजक विचारों से अलग रहें। कोष्ठवद्धता या अतिसार रोग का समुचित उपायों से इलाज करें। भोजन हल्का, पोषक एवं क्षारीय होना चाहिये। स्वास्थ्य के अन्य नियमों के पालन के साथ खुली हवा में टहलना चाहिये।

कोष्ठवद्धता

लक्षण : परतदार जिह्वा, दुर्गन्धयुक्त श्वास, अचानक सिर-दर्द, घबराहट होना, आलस्य, निद्रानाश, खुलाशा दस्त न होना, पेट का भारीपन, कई दिनों तक लगातार पाखाना न होना, कम या बदबूदार पाखाना होना आदि कोष्ठवद्धता के लक्षण हैं।

कारण : प्रायः सभी मतों के अनुसार कोष्ठवद्धता सभी बीमारियों का मूल कारण है। इस रोग में मल एकत्रित होकर जीवन के महत्वपूर्ण द्रव पदार्थ रक्त को दूषित करता है। जब रक्त इस प्रकार से विषाक्त हो जाता है तब पोषण के अभाव में शरीर के अन्य अवयव भी अपना काम करने में असफल हो जाते हैं। यानी सम्पूर्ण यन्त्र शिथिल हो जाते हैं। आँतों में एकत्रित दूषित मल में बेसिली (एक प्रकार के कीटाणु) उत्पन्न होते हैं। और वे क्रमशः बढ़ते हैं।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रियों ने कोष्ठबद्धता के कारणों की गणना निम्न प्रकार से की है :

(१) औषधि-अभ्यास : कम-वेशी सभी औषधियाँ विषयुक्त होती हैं ; औषधि खाने से आंशिक लाभ अवश्य होता है लेकिन कुछ समय बाद वे स्नायुकेन्द्रों में एकत्रित होने लगती हैं । मल-मूत्र के द्वारा उसका स्थूल भाग तो निकल जाता है लेकिन सूक्ष्म भाग वहीं रह जाता है, जिसके फलस्वरूप शरीर के उस भाग में ऐंठन होने लगती है । स्वस्थ अवस्था में क्रमाकुंचन क्रिया से अन्त्र द्वारा मल का निःसरण होता है । औषधियोंसे ज्ञानशून्य होकर वे क्रियाहीन हो जाती हैं एवं उनमें संचरण शक्ति का अभाव हो जाता है ।

(२) जुलाब : पेट खाली करने का तेज तरीका जुलाव है । आराम पानेके लिये डाक्टर एवं रोगी सभी इसका आश्रय लेते हैं । ऊपर लिखे कारणों से आँतें एवं सम्बन्धित अवयव इस प्रकार की तीक्ष्ण औषधियों एवं तरीकों से ज्ञानशून्य हो जाते हैं और इसका ही फल है—दीर्घकाल तक बनी रहनेवाली कोष्ठबद्धता ।

(३) निष्क्रिय अभ्यास : शरीर के अवयवों के साधारण कार्य-संचालन की स्थिति में ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये, जब कि मनुष्य आलसी हो और जो कभी कोई कसरत नहीं करता हो । इससे शरीर के अवयवों की क्रियाशीलता पर असर पड़ता है, जो अपने आप में कब्ज-कारी होते हैं ।

(४) नशीली वस्तओं का उपयोग : जब कि अधिक पोषक तत्त्व खा लेने पर भी एक स्वस्थ मनुष्य अस्वस्थ हो सकता है, तो फिर चाय, तम्बाकू, अफीम, जर्दा (तम्बाकू का गन्धयुक्त रूप) आदि विषैली वस्तुओं से एक औसत आदमी क्यों नहीं रोगी होगा । ये चीजें निश्चित रूप से पेट एवं आँतों की दीवाल को नुकसान पहुँचाती हैं एवं ग्रन्थियों एवं स्नायुओं को ज्ञान-शून्य कर रक्त-परिवहन में बाधा उपस्थित करती

हैं। मुख्य परिणाम है—कोष्ठवद्धता। इसके अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी हैं जो भयानक एवं असंख्य हैं।

(५) **असंतुलित आहार :** दुष्पाच्य भोजन एवं चर्वीयुक्त भोजन को पचाने के लिये यंत्रों का अत्यधिक क्रियाशील होना एवं फलस्वरूप निर्वल होना आवश्यक है। इस प्रकार विना पचे हुए भोजन अम्लविष उत्पन्न करते हैं जो सारी यंत्र-प्रणाली को शिथिल कर देते हैं। इसलिये तुलनात्मक रूप से इस अवस्था में कोष्ठवद्धता से कम हानि होती है। अनजान व्यक्ति स्वाद और लालच के वशीभूत होकर यह कष्ट सहते हैं।

(६) अपरिपक्व अवस्था में विषय-भोग या विवाहित जीवन में विषयी होना ; दोनों ही मस्तिष्क की सौषुम्निक प्रणाली को ही नहीं वल्कि सारे शरीर के ढाँचे को भयानक रूपसे अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इस प्रकार शारीरिक ढाँचे पर लाये गये एक सहगामी अवसाद के फलस्वरूप वायु, अग्नि और वरुण तीनों ग्रन्थिकेन्द्रों पर प्रभाव पड़ता है।

उपचार : प्रातः—सहज वस्तिक्रिया पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। पेट खाली करना एवं धोना, तदुपरान्त अर्ध या पूर्ण जलस्नान। इसके वाद सहज प्राणायाम संख्यक ४, ५ प्रत्येक २ मिनट के लिये और भ्रमण प्राणायाम।

सायं—८ वार योग-मुद्रायें, सहज अग्निसार ३० वार, अग्निसार धौति संख्यक १ दस वार ; उड्डीयान ४ वार ; सर्वाङ्गासन ३ मिनट तक ; मत्स्यासन २ मिनट तक ; उष्ट्रासन ३ वार ; सहज प्राणायाम संख्यक १, ३, ४ दो मिनट तक प्रत्येक ; शीर्षासन ४ मिनट तक ; भ्रमण प्राणायाम।

क्रम-वर्धमान व्यायाम, जल-स्नान संख्यक १ और २ एवं जल पीने की क्रियायें करनी चाहिये।

नियम एवं पथ्य : भूख के समय शरीर के लिए भोजन सबसे आवश्यक है, यह एक साधारण पथ्य है। खाने की क्रिया सिर्फ भूख के अनुसार है—इस आधारभूत सिद्धान्त को जगत में कोई भी नहीं काट

सकता है। आम तौर पर रात को भूख कम रहती है। दोपहर में खाये हुए भोजन को पचाने में करीब ८ से १० घण्टे समय लगता है। इस लिये यह स्पष्ट है कि भोजन अगर रात को खाना ही हो तो रात को ६ बजे से पूर्व समाप्त कर लें। यह खाना हल्का होना चाहिये, ताकि इसके पाचन के लिये पूरा समय मिल सके और सुबह पाखाना साफ हो। रात को जो लोग देर तक जागते हैं एवं भोजन देर से करते हैं, सुबह से पूर्व उसे पचा नहीं सकते और इसी कारणवश सुबह जल्दी नहीं उठ सकते। सुबह की आर्द्र हवा पाखाना जाने के लिये अच्छी है, पर रात को जागनेवाले इससे लाभ नहीं उठा सकते। आठ वर्ष से कम आयु के बच्चों को सूर्यास्त के बाद भोजन कराना अपराध है; उनका शेष भोजन सूर्य अस्त होने के पूर्व ही होना चाहिये। आयुर्वेद के मतानुसार १२ वर्ष की उम्र के पहले बच्चों को मछली, मांस, अण्डे, मक्खन आदि न दिये जायँ। यह सिर्फ इसलिये कि नन्हें-मृदु पाचन यन्त्र अधिक बोझ से बच सकें। क्योंकि इन्हीं से कोष्ठबद्धता एवं अन्य असुविधाएँ होती हैं। जिन लोगों को मांस-भक्षण का अभ्यास हो, वे मांस के वजन से कम से कम चार गुना साग-सब्जी खावें अन्यथा कोष्ठबद्धता होगी।

दुष्पाच्यभोजन की तरह चर्बी भी यकृत एवं अग्न्याशय (pancrease) पर अधिक बोझ डालती है। इसीलिये ये यन्त्र आँतों में जमे भोजन-पदार्थ का पाचन एवं मल-निःसारण जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप इस प्रकारके पाचनसे अम्लविष की उत्पत्ति अधिक होती है और कोष्ठबद्धता एवं अन्य परेशानियाँ भी पैदा हो जाती हैं। इसलिये 'स्वास्थ्य के लिए चर्बी का भोजन करें' यह कहना गलत है। बुद्धिमान मनुष्य घरोंसे इस प्रकारकी फैशनपरस्त खानेकी चीजें फेंक दें।

अत्यधिक कामानुरक्ति भयानक भूकम्प के समान है, जिस पर हमें विचार करना है। २-३ सन्तान के बाद सभी स्त्रियों में कामानुरक्ति बहुत हद तक कम हो जाती है, यह भी एक विचार करने की बात है। मनुष्य अपनी आसुरी प्रवृत्तियों को दबाने के उद्देश्य से अपने आपको

सामाजिक कार्य, राजनैतिक क्रियाओं एवं आध्यात्मिक विषयों में उलझाये रखता है, जहाँ मनुष्य की चेष्टाओं को लाभदायक काम मिले। ऐसी स्थिति में एक रुग्ण स्त्री से अनचाहे और रोगी बच्चे प्राप्त करने का क्या उपयोग है ?—जो अपने माता-पिता, अपने सम्बन्धियों एवं राष्ट्र पर सिर्फ एक बोझ बनते हैं। क्या हमारा घर, हमारा परिवार जानवरों की माँद है ? इसके अतिरिक्त हमें अपने प्रियजनों में बीमारी फैलाने का क्या अधिकार है और न ही हमें यह अधिकार है कि समाज को हम रोगी बच्चे दें।

खट्टी जातिके भी पके फल को पचाने में पाचक रसों की आवश्यकता नहीं होती। उनसे रक्त क्षारीय बनता है, रक्त के अम्लांश को खट्टे फल घटाते हैं एवं आँतों से मल निःसारण में काफी मदद मिलती है। भारतीय जनता का यह विश्वास है कि सुबह में खाये हुए हरे या पक्के या सूखे हुए बेल से बने शर्बत में गुड़ या चीनी मिला कर पीना शोधक एवं आरामदायक जुलाब है। इससे किसी प्रकार की ऐंठन कहीं नहीं होती। बल्कि यह यंत्र प्रणाली को स्वास्थ्यकर बनाता है। इसलिए यौगिक क्रियाओं से जब तक शरीर की प्रणाली स्वस्थ्य न हो जाय तब तक कोष्ठबद्धता में यह बहुत काम करता है। इसके बाद नारियल एवं कच्चा मूंगफली का महत्व है। जहाँ दूध कम हो या मूल्यवान हों वहाँ ये दूध के स्थान पर भी प्रयुक्त होते हैं।

खाँसी (Cough)

लक्षण : खाँसी के ३ भेद होते हैं। (१) साधारण खाँसी, (२) कुकुर खाँसी एवं (३) शुष्क खाँसी।

साधारण खाँसी : इस प्रकार की खाँसी में शारीरिक कष्ट नहीं होता है। शरीर से एक प्रकार का दोष—गाढ़ा-गाढ़ा कफ थूक के साथ सुख से निकलता है। इसका निकलना लाभदायक है। आयुर्वेद के

अनुसार सभी रोगों की उत्पत्ति त्रिदोष से ही मानी गई है। खाँसी भी अपनी उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं। ये भेद हैं—वातज, पित्तज एवं कफज। वातज खाँसी में सीने एवं पीठ में वेदना होती है। इसका असर काफी लम्वा होता है लेकिन कफ कम निकलता है। दूसरी प्रकार की साधारण खाँसी में ज्वर हो जाता है। रोगी को प्यास का अनुभव अधिक होता है एवं थूक का स्वाद भी कड़वा हो जाता है। तीसरे प्रकार की खाँसी में शरीर भारी रहता है। सिर में दर्द भी होता है। कफ भी काफी भारी होता है।

कुकुर खाँसी : इस प्रकार की खाँसी की अवस्था में रोगी का दम घुटने लगता है एवं इसके फलस्वरूप एक प्रकार का संकोचन महसूस होता है। इसका दौरा इतना तीव्र होता है कि फुस्फुस में स्थित रक्त-कोषों का विस्फोट हो जाता है। फलस्वरूप मुख एवं नाक के जरिये रक्त-प्रवाह होता है। आमतौर पर दस वर्ष तक की उम्र के वच्चे इसके शिकार अधिक होते हैं। खाँसी के दौरान में एक विशिष्ट प्रकार की आवाज होती है।

शुष्क खाँसी : तीनों प्रकार की खाँसी में सवसे अधिक कष्ट शुष्क खाँसी में होता है। यद्यपि वलगम नहीं निकलता है, इसकी सदैव एक अनुभूति-सी वनी रहती है। इस विचित्र-सी प्रतीति पर कोई वश भी नहीं चलता। इसे साधारण रोग नहीं समझना चाहिये। इसे श्वास, तपेदिक, प्लुरिसी, निमोनिया आदि भयानक रोगों का पूर्व रूप समझना चाहिये।

कारण : *'धूमोपाघाताद्रसतस्तथैव'*—धुआँ या धूल में श्वास लेने से खाँसी की शुरुआत होती है। अपचन, शीत या उष्णता के गलत अनुपात से भी खाँसी होती है। जिन वच्चों की नभोग्रन्थि एवं वायु की ग्रन्थियाँ कमजोर होती हैं उन्हें साधारण से शीत या खुली हवा में ले जाने से ही खाँसी हो जाती है। असावधानी या वार-वार खाँसी होने से कुकुर खाँसी हो जाती है।

हमारे फुस्फुस आक्रमणकारी कीटाणुओं के प्रतिरोध का प्रयत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप फुस्फुस को कुछ झटके देने पड़ते हैं, जिनसे वायु मुख के जरिये निकलना चाहती है। यही शुष्क खाँसी कहलाती है। शुष्क खाँसी भी दो प्रकार की होती है—क्षतज एवं क्षयज।

'प्राणो ह्यु दानानुगतः प्रदुष्टः'—जव प्राणवायु दूषित अपान वायु के वशीभूत हो जाती है तव सूखी खाँसी प्रारम्भ होना किसी रोग की पूर्व सूचना ही है। रोग की अवस्था में फुस्फुस (Lungs) कमजोर हो जाते हैं और श्वास-प्रश्वास की नियमित क्रिया ठीक प्रकार से नहीं हो पाती है। रोग की अवस्था में अपान वायु का शरीर की क्रियाओं पर प्रभुत्व रहता है। इसके कारण साँस छोटी, हल्की एवं शीघ्र चलने लगती है। दूषित वायु से शरीर में स्थित कफ एवं पित्त कुपित हो जाता है, इसका परिणाम होता है—त्रिदोष। इस अवस्थामें कीटाणुओंका आक्रमण पूर्वापेक्षा सघन होता है। वे फुस्फुस में छिद्र बना देते हैं एवं रक्त कफ-युक्त हो जाता है। इसीलिये इसे 'गुहावहुल खाँसी' कहते हैं। इस प्रकार के कीटाणुओं का आक्रमण जव सघनतम हो जाता है, तव फुस्फुस का एक भाग नष्ट हो जाता है। इसे 'क्षयोन्मुखी खाँसी' कहते हैं।

चिकित्सा : प्रातःकाल—सहज वस्तिक्रिया अपनी पूरक मुद्राओं एवं आसन सहित। मलशुद्धि एवं पेट की धुलाई करना। सहज प्राणायाम संख्यक २, ३, ७, ६ प्रत्येक २ मिनट तक करें एवं भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न—१०-२० मिनिट के लिये सूर्यस्नान। सहज प्राणायाम संख्यक २, ३, ७, ६।

सायंकाल—भ्रमण प्राणायाम, शयन पश्चिमोत्तान। अग्निसार धौति संख्यक १, २ ; शीर्षासन ; सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३, ७, ६ ; क्रमवर्धमान व्यायाम रीति का भी अवलम्वन करें।

नियम एवं पथ्य : धूआँ, धूल एवं शीत से जहाँ तक हो सके वचें। शरीर के तापमान को वनाये रखने के लिए पूरे कपड़े पहनें। सुवह स्वच्छ वायु में घुमें। हल्के किन्तु पौष्टिक भोजन का सेवन करें।

कब्ज न रहे इसका विशेष ध्यान रखें। सूखे वलगम को शीघ्र निकालने के लिए काफी पुरानी लेकिन अच्छी इमली आधा छटाँक, गुड़ आधा छटाँक पानी में घोल कर दिन में ३ वार पीवें। यह कफ-निःसारक एवं कब्ज-निवारक है। सूखी खाँसी के समय भूख लगती रहनी चाहिये। ऊपर लिखे तरीके काम में लाकर पाचन-क्रिया को सवल वनावें। भोजन में क्षार अंश अधिक रखें। रात्रि-भोजन हल्का ही रहना चाहिए। रात्रि-भोजन में रोटी, दूध के साथ किसमिस या मुनक्का खाना चाहिए। **जब तक पूर्णरूपेण स्वस्थ न हो जावें, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करें—यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।**

गलगण्ड

(Goitre)

लक्षण—जैसा कि इसके पूर्व वताया जा चुका है कि नभो ग्रन्थियों के समूह में इन्द्रग्रन्थि (Thyroid) प्रमुख है। इस ग्रन्थि के फूल उठने या आकार में वढ़ जाने को गलगण्ड कहते हैं। इस रोग में कोई विशेष तकलीफ नहीं होती है। लेकिन थाइरायड ग्रन्थि का आकार काफी वढ़ जाने पर श्वास की क्रिया में कुछ रुकावट आती है। ऐसा साधारण प्रकार के गलगण्ड में होता है। गम्भीर अवस्था में गलगण्ड से नेत्रों पर भी असर पड़ता है। थाइरायड ग्रन्थि की ही तरह आँखों की भी आकृति वदल जाती है एवं वे अपने स्थान से वाहर निकलती-सी नजर आने लगती हैं। यहाँ तक कि पलकें आँखों को ढक नहीं पातीं। इसके अतिरिक्त हृदय में स्पन्दन होने लगता और शरीर में काफी वेचैनी महसूस होने लगती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसे एक्जोथैलमिक ग्वाइटर (Exopthalmic Goitre) कहा जाता है।

कारण :—शरीर की साधारण स्वस्थ अवस्था के लिये आयोडिन की आवश्यकता रहती है या इन्द्रग्रन्थि का मुख्यतया पोषण इसी पदार्थ

से होता है। आयुर्वेद के अनुसार इसका नाम 'अरुणक' है। हमारे रक्त के आपेक्षिक परिणाम में यह सूक्ष्म मात्रा में विद्यमान रहता है। शाक-सब्जी और दूध से यह हमें उपलब्ध होता है। आयोडिन की कमी से इन्द्रग्रन्थि कमजोर हो जाती है। इसके फलस्वरूप इससे उत्पन्न होनेवाला अन्तर्मुखी रस आवश्यकता से कम पैदा होता है। अतएव इस रस की कमी के फलस्वरूप इस ग्रन्थिको समुचित पोषण नहीं प्राप्त हो पाता है और यह रोग प्रारम्भ हो जाता है।

युद्ध में अपने विपक्षी के अड्डों को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक समझा जाता है कि उसको खाद्य प्राप्त होनेके रास्तों को बन्द कर दिया जाय। थाइरायड ग्रन्थि भी एक प्रकार से ग्रन्थि समूह द्वारा रचित व्यूह है जिसके माध्यम से रोगों के आक्रमण से शरीर की रक्षा होती है। आयुर्वेद के मतानुसार थाइरायड ग्रन्थि को मन्या नामक स्नायुद्वय पोषक तत्व पहुँचाती हैं। ये ग्रन्थियाँ आमतौर पर रक्त या शुक्र से अपना पोषण प्राप्त करती हैं। यह पोषक तत्व उत्पन्न होकर रक्त से पृथक हो जाता है और स्नायु का भीतरी रास्ते के जरिये थाइरायड तक पहुँचता है। अगर स्नायु का भीतरी रास्ता लिम्फैटिक ग्लैण्ड (Lymphatic Gland) यानी मन्या नाड़ी पर रोग का आक्रमण होता है तो थाइरायड को पोषक तत्व पहुँचाने वाला मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और थाइरायड में कुछ दूषित द्रव्य एकत्रित होने के फलस्वरूप यह अति क्रियाशील हो जाता है एवं कालान्तर में दुर्बल होकर कुछ फूल उठता है तथा गलगण्ड का रूप ले लेता है।

कुछ प्रान्तों के जल और मिट्टी में आयोडिन की मात्रा कम रहने के फलस्वरूप वहाँ की घास, साग-सब्जियों एवं यहाँ तक कि दूध में भी आयोडिन कम मात्रा में पाया जाता है। यही कारण है कि वहाँ के निवासियों में गलगण्ड के रोगी अधिक पाये जाते हैं।

समुद्र के निकटवर्ती स्थानों की वायु में एवं समुद्र जल में पायी जानेवाली एक प्रकार की घास (Sea-weed) में आयोडिन काफी

मात्रा में पायी जाती है। जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य कुछ दिन समुद्र के किनारे रहने पर सुधर जाता है उसका तात्पर्य यह है कि समुद्र की जलवायु से प्राप्त होनेवाले आयोडिन से उसकी थाइरायड ग्रन्थि स्वस्थ हो गई। पर्वतीय अंचलों में रहने वाले लोगों में गलगण्ड रोग व्यापक रूप से होता है ; क्योंकि वहाँ की जलवायु में आयोडिन नहीं के बराबर होता ।

अन्यान्य रोगों की तरह रक्त में अधिक अम्लता से इस रोग को भी काफी मदद मिलती है। स्वास्थ्य एवं भोजन के नियमों को न समझने से मानवता की काफी क्षति हुई है। पूर्वी भारत में रहनेवाले कई परिवार मछली को विशेष पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब तक मछली का अभाव न हो जाये तब तक वे साग-सब्जी, दूध, फल को छूते ही नहीं हैं। ऐसे ही व्यक्ति अधिकतर गलगण्ड के शिकार होते हैं।

चिकित्सा : प्रातः सहज वस्तिक्रिया अपने पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ ; व्यक्ति विशेष की क्षमता के अनुसार पूर्ण या अर्ध स्नान, सहज प्राणायाम संख्यक १, ३, ७, मूलबन्ध, उड्डीयान, अग्निसार धौति संख्यक १ और २ ; वारिसार धौति ।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, अग्निसार धौति संख्यक १, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, उष्ट्रासन, शीर्षासन ; सहज प्राणायाम संख्यक १, ३ और ७ ।

जल पीने, जल-स्नान के सिद्धान्तों का पालन करें । व्यायाम को क्रमशः बढ़ावें ।

नियम एवं पथ्य : इस रोग के लक्षण ज्योंही नजर आवें समुद्रतट या समुद्र के निकटवर्ती स्थान में जाकर जलवायु-परिवर्त्तन करें, इससे काफी लाभ होगा। जलवायु परिवर्तन सम्भव न हो तो शरीर के आक्रान्त हिस्से पर दिन में २ बार टिंचर आयोडिन मलें। मिल से बने चावल एवं आटे की जगह देशी चावल एवं हाथ-पिसा आटा काम में लें। मांस-मछली का प्रयोग या तो वन्द कर दें। दूध, फल, हरी सब्जी

काफी मात्रा में खावें । ज्यादा तेल एवं घी से बने पदार्थ तथा मिठाइयाँ न खाएँ । पूर्ण स्वस्थ न होने तक स्त्री-सहवास न करें ।

स्त्रियों में ऋतु-काल, गर्भावस्था या पति-सहवास के समय यह ग्रन्थि अधिक क्रियाशील होने के फलस्वरूप फूल उठती है । यह अस्थायी होता है । अधिक विषय भोग करने से पुरुष में ऐसा होता देखा गया है । अगर ग्रन्थि का बढ़ जाना शीघ्र न मिट जावे या बढ़ना जारी रहे तो सावधान हो जाना चाहिये । यौगिक क्रियाओं के अभ्यास एवं पथ्य सिद्धान्तों के पालन से शीघ्र ही इस रोग से मुक्ति मिल जाती है—यह निःसन्देह जानें ।

गलग्रन्थि-प्रदाह
(Tonsilitis)

लक्षण—टॉन्सिल कहने से योग में तालुग्रन्थि समझा जाता है । तालुग्रन्थियाँ गले के ऊपरी भाग में दोनों किनारों पर अवस्थित हैं । इन ग्रन्थियों में किसी प्रकार का विकार हो जानेके फलस्वरूप ये उठती हैं । कुछ आन्तरिक परिवर्तन एवं अन्य मनोवैज्ञानिक लक्षणों से मनुष्य रोगी-सा नजर आने लगता है । आम तौर पर यह वीमारी वच्चों को अधिक होती है ।

कारण—योग के अनुसार टॉन्सिल व्योम-ग्रन्थि समूह की एक ग्रन्थि है, जब कि पाश्चात्य मतानुसार यह कफ की ग्रन्थि है । इन ग्रन्थियों का काफी महत्त्व है । मस्तिष्क शरीर का मुख्य केन्द्र है । तालु ग्रन्थियाँ मस्तिष्क के दरवाजे के दो पहरेदार हैं । इन ग्रन्थियों को सदैव सजग रहना पड़ता है ताकि हवा या रक्त के साथ कोई भी दूषित पदार्थ वहाँ न पहुँच सके । अगर यकृत, प्लीहा एवं वृक्क दोषी हैं तो रक्त समुचित रूप से शुद्ध नहीं हो पाता एवं फुसफुस के निर्वल होने पर वायु

की भी भली प्रकार शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार दूषित रक्त या वायु जब मस्तिष्क में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं तो ये दो छोटी ग्रन्थियाँ वहाँ से गुजरनेवाले वायु और रक्त का संशोधन कर मस्तिष्क तक पहुँचने देती हैं। इस प्रकार यकृत, प्लीहा, वृक्क एवं फुसफुस का अपूर्ण कार्य ये दो ग्रन्थियाँ करती हैं। कभी-कभी अशुद्ध पदार्थ इतने अधिक होते हैं कि इन ग्रन्थियों की क्षमता से अधिक हो जाते हैं। फिर भी ये अधिक श्रम कर रोकने का प्रयत्न करती हैं और खुद आकार में बढ़ जाती हैं एवं दूषित पदार्थों के वहाँ एकत्रित होने के फलस्वरूप अशक्त एवं रुग्ण हो जाती हैं। इसलिये निर्बल बच्चों के फुसफुस भी निर्बल होते हैं एवं जिन बच्चों में समुचित मात्रा में चर्बी का अभाव होता है, जिससे शरीर का नियमित तापमान स्थिर रह कर उनकी ये ग्रन्थियाँ भी रोगी हो जाती हैं।

उपचार : सुबह १-२ ग्लास गर्म जल पीवें। योगमुद्रा ८ बार करें। अर्धचक्रासन २ बार, भुजङ्गासन ४ बार, पादहस्तासन ४ बार, पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २, ३, ४ प्रत्येक २ मिनट करें व सहज प्राणायाम १, २, ३, ७, ६ करें।

मध्याह्न : जाड़े में १०-२० मिनट तक एवं गर्मी में ५-१० मिनट तक सूर्य-स्नान करें।

सायं : पश्चिमोत्तान आसन ४ वार, उष्ट्रासन ३ बार, मकरासन ४ वार, त्रिकोणासन १० वार ; पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २, ३ प्रत्येक २ मिनट, सहज प्राणायाम सं० ३ को २ मिनट तक करें व सहज प्राणायाम १, २, ३, ७, ६ करें।

आधुनिक चिकित्सा में इन ग्रन्थियों के फूल उठने पर ऑपरेशन किया जाता है। अगर मरीज को पुरानी सर्दी-जुकाम की बीमारी होती है तो उसे लाभ नहीं होता है। **ऑपरेशन करना पूर्णतया गलत एवं अनुचित है।** क्योंकि ऑपरेशन करने से कफ या सर्दी में कुछ भी

लाभ नहीं होता है। वास्तव में ये टॉन्सिल कफ या सर्दी उत्पन्न कर शरीर में प्रविष्ट दूषित पदार्थों को निकालते हैं। यह सही है कि ऑपरेशन के बाद कुछ दिनों तक यह बीमारी मिट जाती है। इन ग्रन्थियों का भार अन्य ग्रन्थियाँ तुरन्त नहीं सम्भाल पातीं। यह भार फुसफुस पर पड़ता है और कालान्तर में, ऑपरेशन के कुछ महीनों बाद कफ-खाँसी की बीमारी पुनः जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार ऑपरेशन का ध्येय सिद्ध नहीं हो पाता है। इस ऑपरेशन के फलस्वरूप उत्पन्न अतिरिक्त दायित्व को फुसफुस भली प्रकार नहीं निवाह पाते हैं और स्वास्थ्य खराब होने लगता है। शरीर रोग के प्रतिकार की शक्ति खो बैठता है। यह स्पष्ट है कि तालु-ग्रन्थियों के आपरेशन का सभी तरीकों से तब तक विरोध करना चाहिये जब तक कि वे जीवन के लिये खतरा न बन जायें। कोई भी दूसरी ग्रन्थि तालु-ग्रथिन्यों के स्थान पर उपयुक्त नहीं है। जिनका ऑपरेशन हो गया है उनका स्वास्थ्य नियमित नहीं रह पाता, उनके स्वर का मिठास नष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि उनके मस्तिष्क का संतुलन कुछ हद तक बिगड़ जाता है।

नियम एवं पथ्य—छोटे बच्चों को यह बीमारी होने से नाक बहना, सर्दी, जुकाम आदि हो जाते हैं। इस परिस्थिति में माता-पिताओं को सजग हो जाना चाहिये। बच्चों को पूरे कपड़े पहनावें ताकि उसे सर्दी न लग सके। शिशु को हवा में बाहर न निकालें। क्योंकि वातावरण की गर्द, धूल और हवा आदि के फलस्वरूप गल-ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

मछली, मांस, अण्डे, बिस्कुट, लाजेन्स, हारलिक्स, पाउडर दूध आदि तथाकथित पोषक पदार्थ रोगी को न दें। हारलिक्स, पाउडर दूध एवं उसी प्रकार के अन्य द्रव्यों से क्षुधा-नाश होता है, कोष्ठबद्धता होती और यकृत कमजोर हो जाता है। शरीर की रुग्णावस्था में एक आम सिद्धान्त के तौर पर रक्त के अम्ल भाग को कम कर क्षार भाग बढ़ाना चाहिये। इसलिये मछली-मांस, अंडे आदि ऐसे पदार्थों का सेवन न करें जिनसे रक्त की अम्लता बढ़ जाती हो। गल-ग्रन्थियों के फूल

जाने पर मरीज उन सभी भोजन पदार्थों का सेवन कर सकता है जिनका वर्जन न किया गया हो। (संतुलित भोजन एवं आदर्श भोजन का प्रकरण देखिए।)

ज्वर-रोग

वैदिक साहित्य में रूपक के रूप में भाव प्रकट करने का विशिष्ट प्रचलन है। पृथक-पृथक भावों को एक ही शब्द में प्रकट करना उस काल में अच्छे कवि और विद्वान की निशानी माना जाता था। वैदिक साहित्य के महत्वपूर्ण अंग जैसे—योग, ज्योतिष-विद्या और तन्त्र-मन्त्र आदि में इस प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। आयुर्वेद में इस प्रकार से भाव प्रकट करने के स्थल का अभाव ही है। लेकिन मनीषी-लेखक आयुर्वेद में भी अपना लोभ संवरण नहीं कर सके। यही कारण है कि आयुर्वेद के साहित्य में भी हमें कहीं-कहीं रूपकमय भाव प्राप्त होते हैं।

लक्षण : प्रसिद्ध विद्वान सुश्रुत ने ज्वर के कारणों का उल्लेख करते समय कहा है—"दक्षापमानसक्षुब्ध-रुद्रनिःश्वाससम्भवः—अर्थात् (अपने दम्भी ससुर) दक्ष द्वारा अपमानित, क्रुद्ध रुद्र (विनाश के देवता) का निःश्वास ही 'ज्वर' है।

इस भाव को इस प्रकार समझिये—संस्कृत में दक्ष शब्द का मूल धातु 'दश्' है। इस मूल शब्द से ऋग्वेद में हमें दशस्य शब्द मिलता है (जैसे मूल शब्द तप् से—तपस्या)। इस मूल धातु का अर्थ है—दक्ष होना, योग्य होना, सृजन करना। तदनुसार ऊपर लिखे वाक्य का अर्थ हुआ—ज्वर, कुपित प्राण (रुद्र) वायु है। शरीरस्थ सृजन शक्तियों का अपमान करने से प्राण वायु कुपित होता है। आधुनिक चिकित्सा सिद्धान्त भी इस मत को शिरोधार्य करते हैं। उनके अनुसार अपने आप में ज्वर कोई रोग नहीं है। शरीर के अन्यान्य अवयवों के दोषी होने का परिणाम ही ज्वर है।

सभी हिन्दू दक्ष एवं रुद्र की पौराणिक गाथा को जानते हैं। दक्ष शब्द का एक अर्थ पित्त भी होता है। यही पित्त शरीर को तापयुक्त बनाये रखता है एवं भोजन को पचाता है। शरीरस्थ ऊष्मा का आधार पित्त ही है। **'उष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्ति उष्मणाविना'** अर्थात् जब तक पित्त कुपित न हो जावे अतिरिक्त उष्मा और इसके परिणामस्वरूप होनेवाला ज्वर असम्भव है। ज्वर का आधारभूत कारण भी यही है। दूषित पित्त प्राणवायु को कुपित कर देता है। ये दोनों मिलकर रोग पैदा कर देते हैं। यहाँ तक कि शरीर का अन्त भी कर देते हैं। ब्रह्माण्ड के सर्वनाश का भी यही स्वीकृत सिद्धान्त है। सूर्य जब अत्यधिक ताप उत्पन्न करता है तब वायु उसे ठण्डा करने में असफल हो जाती है। और, इस प्रकार कुपित वायु एवं तप्त अग्नि से जलकर ब्रह्माण्ड का सर्वनाश होता है। क्रोधित रुद्र के निःश्वास का प्रतिनिधित्व प्रतप्त वायु करती है। **ज्वरोऽष्टधा पृथग द्वन्द्व-संघातागन्तुजः स्मृतः**—अर्थात् उत्पत्ति के अनुसार ज्वर के ८ भेद हैं। इनमें से पृथकज् अर्थात् वातज, पित्तज, कफज; किसी भी एक तत्व के दूषित होने से होता है। ऊपर लिखे तीन दोषों में से किसी भी दो तत्वों के कुपित होने पर द्वन्द्वज होता है। जैसे—वात-पित्तज, वात-श्लेष्मज, पित्त-श्लेष्मज। संघातज प्रकार का ज्वर तीनों दोषों के एक साथ कुपित होने पर होता है। इसे सन्निपातज भी कहते हैं। 'आगन्तुज' प्रकार का ज्वर किसी वाह्य आक्रमण के फलस्वरूप होता है।

कारण : मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा हि आमाशयाश्रयाः—आहार-विहार की अनियमितता के कारण मन्दाग्नि होती है। बिना पचा हुआ भोजन अम्ल-विष उत्पन्न करता है। कोष्ठबद्धता के कारण जब आँतों से प्रतिदिन मल बाहर नहीं निकल पाता, तब वह मल पचकर आँतों को विषाक्त कर देता है तथा आँतों में भी इसी प्रकार की स्थिति पैदा हो जाती है। इस दूषित रस के संस्पर्श से शरीर का रक्त भी दूषित हो जाता है। धीरे-धीरे बीमारी सारे शरीर में फैल जाती है।

जव यह रोग-विष ऊपर उठकर मस्तक पर आक्रमण करता है, तव सिर में पीड़ा होने लगती है तथा भारीपन महसूस होने लगता है। जव हाथ-पैर की पेशियों में आक्रमण करता है, तव हाथ-पैर में वेदना होने लगती है और एक प्रकार की जलन महसूस होने लगती है।

कारण : इस दोष का सामना करने के लिये शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्तियाँ क्रियाशील हो उठती हैं। जव पाँचों पाचक-अग्नि अत्यधिक क्रियाशील हो जाती है तव इस दोष को दूर करने के लिये यथेष्ट मात्रा में उत्ताप की उत्पत्ति होती है। रक्त से इस प्रकार के रोग के कीटाणुओं को दूर करने के लिये यकृत एवं प्लीहा भी अधिक श्वेत रक्त कणिकाओं की उत्पत्ति करते हैं ताकि रक्त में क्षारांश की कमी न हो पावे। ये सारी क्रियाएँ कुछ इस प्रकार चलती हैं जैसे देवासुर संग्राम हो रहा हो। इन्हीं यन्त्रों की मदद के लिये हृदय ; फुस्फुस आदि भी अधिक कार्य करना प्रारम्भ करते हैं। हृदय की गति तेज हो जाती है एवं फुस्फुस भी श्वास-प्रश्वास में गर्म वायु छोड़ता है। मरे हुये कीटाणु मल-मूत्र के मार्गों से तो निकलते ही हैं—इसके अलावा ये श्वास और पसीने के द्वारा भी निकलते रहते हैं। फलस्वरूप रोगी के मल-मूत्र, श्वास और पसीना सभी दुर्गन्धयुक्त रहते हैं। इस रोग के शमन के साथ ही शरीर का तापमान भी गिर जाता है। अगर रोग का आक्रमण पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता है तो अन्यान्य लक्षणों के साथ इसकी पुनः उत्पत्ति होती है।

उपचार : ज्वरावस्था में, जव तापक्रम की वृद्धि हो रही हो तव कोई भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, ताकि ज्वर की अपनी क्रिया में किसी प्रकार का व्यवधान न उपस्थित हो जावे। तापमान की अवस्था में किसी एक ही नासापुट में श्वास प्रवलता रहती है। ज्वर जब ह्रास की ओर हो जाय तव एक नासापुट को बन्दकर दूसरे से श्वास लेकर श्वास-क्रिया में परिवर्तन करें। अर्थात् जिस नासिकारन्ध्र से आप श्वास ले रहे हों उसको बदल कर दूसरे नासिकारन्ध्र से श्वास लेना

प्रारम्भ कर दें। इससे ज्वर जल्द आराम होगा। अगर इसका थोड़ा अभ्यास पहले से न हो तो ज्वर की अवस्था में ऐसा करना आसान नहीं है। बुखार उतरने के वाद पेट की सफाई करने के लिये **सहज वस्ति-क्रिया** करें। साधारण बुखार **सहज वस्तिक्रिया, श्वास** की क्रिया में परिवर्तन एवं उपवास से ही दूर हो जाता है। **वारिसार धौति** के अभ्यास से किसी भी प्रकार के ज्वर को दूर किया जा सकता है, इसे सदैव ध्यान में रखें।

नियम एवं पथ्य : 'तरुणं तु ज्वरं पूर्वं लंघनेन क्षयं नयेत्'—अर्थात् ज्वर की अवस्था में उपवास का ही उपचार करें। आयुर्वेद का मत है कि किसी भी प्रकार की औषधि-चिकित्सा न की जाय। युवक एवं अधेड़ अवस्था के रोगियों के लिये उपवास सर्वाधिक उपयुक्त है। वच्चे एवं वृद्ध साधारण पथ्य ग्रहण कर सकते हैं। **लंघनं लंघनीयस्तु कुर्याद् दोषानुरुपतः। त्रिरात्रम् एकरात्रम् वा अहोरात्रमथवा ज्वरे**—अर्थात् ज्वर की अवस्था को देखते हुये रोगी एक रात्रि या लगातार ३ रात्रि या २४ घण्टे के लिए उपवास अवश्य करे। **'ज्वरो लंघनेपि जलं पिवेत्, सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद्वारि वर्ज्येत्।'** अर्थात् इन सव अवस्थाओं में उपवास के समय पानी अधिक मात्रा में अवश्य पीवें। यह आयुर्वेद का विशिष्ट मत है। शीतऋतु में गर्म पानी का सेवन करना चाहिये। साधारण जलवायु में ठण्डे पानी का सेवन करें। आपके कोठे चाहे कितने कड़े क्यों न हों लगातार ३ दिन व्यापी उपवास और सहज वस्तिक्रिया इन दो से ही बुखार वश में हो जावेगा।

साधारण या तीव्र ज्वर, अपने आपमें कोई वीमारी न होते हुये भी चिन्तनीय वीमारियों की पूर्व सूचना देता है। शुरू से ही ज्वर की उत्पत्ति का मुख्य कारण है शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्तियों का दोष निवारण के लिये उत्तेजित होना। **बुखार की रोकथाम करने के लिये क्विनाइन का उपयोग किया जाता है। पर इससे शरीर की**

अपनी प्रतिरोध-शक्ति का क्षय होता है। इसलिये आयुर्वेद ज्वर की अवस्था में औषधि प्रयोग करने के पक्ष में नहीं है। हमारे शरीर की प्रतिरोध-शक्ति अगर ठीक है तो कोई भी रोग नहीं टिक सकता है। जिन व्यक्तियों को इस विषय की जानकारी नहीं है वे ही साधारण सी बीमारी में भी औषधि का उपयोग करते हैं। इसके फलस्वरूप शरीर की जीवनी शक्ति का ह्रास होता है एवं प्रतिरोध करने की शरीर का स्वाभाविक शक्ति का क्षय होता है। यही कारण है कि जो लोग सदैव औषधियों का सेवन करते हैं वे कभी भी स्वस्थ नहीं रहते। उन्हें एक के बाद दूसरी बीमारी घेरे ही रहती है। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद की स्पष्ट चेतावनी है कि 'वातिके सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिके। श्लैष्मिके द्वादशाहेन, ज्वरे युंजीत भेषजम्।'—अर्थात् वायु कुपित होने के फलस्वरूप होनेवाला ज्वर अगर ३ दिन के उपवास एवं उसके ३ दिन बाद तक पथ्य से रहने के फलस्वरूप शान्त न हो तो औषधि का प्रयोग करें। इसी प्रकार पित्तज ज्वर १०वें दिन और श्लेष्मज ज्वर में १२वें दिन औषधि का प्रयोग करें। उपवास एवं पथ्य की क्रिया से ज्वर का शमन न हो तो ऊपर लिखे दिनों के पश्चात् ही औषधि का सेवन प्रारम्भ करें। इसका मुख्य तात्पर्य है—शरीर की अपनी स्वाभाविक रोग-नाशिनी शक्ति को मौका देना। योग में किसी भी प्रकार की औषधि की व्यवस्था नहीं है।

अगर जाड़ा नहीं हो तो दोपहर में रोगी के सिर को प्रचुर जल से धोवें। इसके बाद रोगी को टब में १० मिनिट के लिये बैठावें। रोगी को कपड़े से ढक कर रखें। अगर रोगी के ज्वर का तापमान १०४° या अधिक हो तो उसके सिर पर गीला तौलिया रखें। अगर आवश्यक समझा जावे तो तौलिये पर और भी पानी डालें या बर्फ की थैली रखें।

नंगे शिर पर कभी भी वर्फ की थैली न रखें और न ही नंगे सिर पर अधिक समय तक पानी छोड़ें। १०३° या इससे कम तापमान की अवस्था में वर्फ की थैली का उपयोग न करें। शिर की धुलाई भी न करें। इस प्रकार करने से फुसफुस या टॉन्सिल आदि में किसी भी प्रकार की शिकायत न होगी।

साधारण भूख लगने पर सिर्फ पानी पीवें। भूख अगर तेज हो तो बार्ली या साबू का पानी दूध के साथ और फल का रस सेवन करें। बालक एवं वृद्ध को सिर्फ १ दिन उपवास करना चाहिए। अगर उपवास करने के फलस्वरूप भी भूख न वढ़े तो सन्तरे का रस, अनार का रस या मिश्री का पानी सेवन करें। इनसे पाचन क्रिया पर किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता है। ये स्वतः ही पचते हैं।

जरायु की स्थानच्युति

(Displacement of the Uterus)

लक्षण : स्त्रियों के अंगों में से गर्भाशय एक महत्वपूर्ण अंग है। यहीं पर गर्भ चान्द्र मासके अनुसार १० मास और सौर मास के गणना-क्रम से ९ मास १० दिन अर्थात् २८० दिन पर्यन्त स्थित रहनेके उपरान्त शिशु के रूप में जन्म लेता है। गर्भाशय उदर के तलप्रदेश में सरलांत्र (Rectum) एवं मूत्राशय (Bladder) के बीच की स्नायु आदि के सहारे अवस्थित है। आमतौर पर गर्भाशय की लम्बाई ३½ इञ्च, चौड़ाई २ इञ्च एवं १ इञ्च मोटा होता है। गर्भाशय का मुख योनि की तरफ क्रमशः कम चौड़ा होता गया है। इसके ऊपरी हिस्से में सन्तान वीज-वाहिनी २ नलियाँ (Fallopian Tubes) गर्भाशय के दोनों तरफ फैली हुई हैं। दोनों नलियों के दूसरे मुखों पर डिम्बाशय (Ovary) अवस्थित है। गर्भाशय को डिम्बाणु इन्हीं नलियों के माध्यम से प्राप्त होता है।

गर्भाशय में काफी लचीलापन होता है और यह स्वतन्त्र रूप से झूल सकता है। यही कारण है कि गर्भाशय साधारण कमजोरी, स्नायविक दुर्वलता, पार्श्वस्थ आँतों का दवाव पड़ने पर आमतौर पर स्थान-भ्रष्ट हो जाता है। शारीरिक दुर्वलता के कारण भी जरायु अपने स्थान से हट जाता है। पेड़ू के हिस्से का भारी रहना, पीठ में दर्द रहना, ऋतुकाल में श्वेत पदार्थ का अधिक वहना, कब्ज, भूख की कमी, खून की कमी, स्नायुदौर्बल्य एवं प्रदर इस रोग के साधारण कारण हैं।

कारण : स्त्रियों में दीर्घकालीन कब्ज का मुख्य कारण है—अत्यधिक सहवास। इसके फलस्वरूप मलाशय में एकत्रित मल गर्भाशय पर दवाव डालकर उसे स्थान-भ्रष्ट कर देता है। इसी कारणवश नितम्ब-प्रदेश की नसें कमजोर हो जाती हैं, जिससे गर्भाशय को स्थान-भ्रष्ट होने में सहयोग मिलता है। गर्भाशय के आस-पास अगर कोई फोड़ा हो जावे तो उसके परिणामस्वरूप भी गर्भाशय स्थान-भ्रष्ट हो जाता है। स्थानभ्रष्ट गर्भाशय से मलाशय एवं मूत्राशय दोनों पर काफी दवाव पड़ता है। अधिक सन्तान-उत्पत्ति या डाक्टर एवं नर्सों द्वारा प्रसव के समय पेड़ू के भाग पर दवाव डालने से भी वहाँ की नसें कमजोर होकर झूल जाती हैं। काफी समय तक मलेरिया रोगाक्रान्त रहने पर, या इसी प्रकार के किसी अन्य रोग से ग्रस्त रहने पर शरीर में खून की कमी हो जाती है, इस प्रकार की रक्ताल्पता के कारण भी गर्भाशय स्थानभ्रष्ट होता है।

उपचार : प्रातः सहज वस्तिक्रिया संख्यक १ (क) सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। मल-निःसारण, धोने एवं टब स्नान व अर्द्ध टब स्नान क्रियाएँ क्षमता के अनुसार करें। सहज प्राणायाम संख्यक १, ५, ६ प्रत्येक का २ से ३ मिनिट तक अभ्यास करें। टब में बैठकर मूलवन्ध व महावन्ध मुद्रा प्रत्येक १० वार; शक्तिचालनी मुद्रा ४ वार करें।

मध्याह्न : टब-स्नान या स्नान के समय अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करें। टब में बैठकर या जल में खड़ी होकर मूलबन्ध और महाबन्ध १०-१० बार करें।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, योगमुद्रा ८ बार ; महामुद्रा ४ बार ; पश्चिमोत्तान ४ बार ; शर्वाङ्गासन ३ मिनिट तक ; मत्स्यासन १ मिनिट, सहज शीर्षासन ; सहज प्राणायाम संख्यक १, ५, ६ ऊपर लिखे मुताबिक अभ्यास करें।

व्यायाम, स्नान एवं पानी पीने का अभ्यास क्रमशः बढ़ावें। मूलबन्ध एवं महाबन्ध की मुद्राएँ तालाब या नदी में करें। स्मरण रहे कि मूलबन्ध और महाबन्ध करते समय नाभि से ऊपर तक पानी रहना चाहिये या दिन में तीनों बार टब में बैठकर स्नान करें। ये तरीके निश्चित लाभदायक हैं। यदि रोगी को सर्दी सहन न होती हो, तो सायं स्नान न करे।

नियम एवं पथ्य : गर्भाशय का स्थानभ्रष्ट होना एक गम्भीर रोग है। इसी के साथ कब्ज, रक्ताल्पता, स्नायु-दुर्बलता, अपचन आदि बीमारियाँ भी रहती हैं। इन्हीं सब कारणों से अगर चिकित्सा में सावधानी न बरती जाय तो लाभ होना कठिन हो जाता है। रोग की स्थिति में कुछ भी उठाकर ले जाना उचित नहीं है और स्वामी-सहवास भी इस अवस्था में हानिकर है। कब्ज-निवारण का सदैव ध्यान रखें। ऋतुकाल के दौरान में गर्भाशय में काफी मात्रा में रक्त एकत्रित हो जाता है। अतएव इस अवधि में एक आरामदायक बिछौने पर शान्तिपूर्वक विश्राम करना चाहिये।

मध्यवित्त परिवारों की स्त्रियों को गृहस्थी के काम-धन्धों में काफी मात्रा में परिश्रम करना पड़ता है लेकिन भोजन के माध्यम से उनका आवश्यक पोषण नहीं हो पाता। इसके परिणाम-स्वरूप होनेवाली कमजोरी से उन्हें कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। अतएव इस प्रकार के परिवारों को चाहिये कि वे फैशन-परस्ती, बहुमूल्य कपड़ों की अपेक्षा

परिवार के भोजन को किस प्रकार अधिक पोषक वनाया जा सकता है इस पर विशेष ध्यान दें। कमजोर माँ सिर्फ परिवार के लिये ही हानि-प्रद नहीं हैं। व्यापक दृष्टिकोण से अगर देखा जाये तो वे एक रुग्ण राष्ट्र की रुग्ण माताएँ हैं। सभी दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि माताएँ एवं वहनों के स्वास्थ्य पर प्रत्येक परिवार-प्रमुख सहानुभूति-पूर्वक विचार करे।

आज-कल सर्जरी के जरिये भी इस प्रकार की वीमारियों का इलाज किया जाता है। गर्भाशय में फोड़ा होना, गर्भाशय के स्थान-भ्रष्ट होने पर या उसमें प्रदाह होने पर और डिम्बाशय के रुग्ण होने पर डिम्बाशय को निकालने आदि के लिये आमतौर पर ऑपरेशन किये जाते हैं। गर्भाशय एवं डिम्बाशय स्त्रियों के दो ऐसे अवयव हैं जिन पर उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य आधारित रहता है। अन्य किसी भी अवयव से इनकी स्थान-पूर्त्ति होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार की रुग्णाओं की मानसिक अवस्था असन्तुलित हो जाती है। कोई-कोई तो अपने जीवन को व्यर्थ समझ, मौत की प्रतीक्षा करने लगती है। यौगिक चिकित्सा इस प्रकार के इलाज की विरोधी है। इनके विचार से इस प्रकार के तरीकों से अन्य कई प्रकार की नई व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। हमारी राय में इन रोगों से निराश माताओं को ऊपर लिखे तरीकों का अगर नियमित अभ्यास कराया जाय तो उनमें आत्म-विश्वास पुनः जाग्रत होगा एवं सभी दृष्टि से स्वस्थ रहेंगी।

लटकते हुये गर्भाशय को यथास्थान पुनः स्थापन करने के लिये आज कल 'पेशरी' का भी उपयोग होता है। (पेशरी—एक रवर से वना यन्त्र है जो परिवार-नियोजन में आज-कल काम में लाया जाता लेकिन इस तरीके से गर्भाशय का पुनः स्थापन—जो सभी प्रकार की चिकित्साओं का एकमेव उद्देश्य होना चाहिये—नहीं हो पाता। सभी माताएँ, हमारी राय है कि पारिवारिक अस्पाल नहीं, वल्कि एक

स्वस्थ गृहस्थ, सुखी घरबार के दृष्टिकोण से सभी नशीली वस्तुएँ—जैसे अधिक पान-सुपारी खाना, अधिक चाय पीना या धूम्रपान आदि का त्याग करें। ताकि मानव सन्तति स्वस्थ एवं सबल पैदा हो (कोष्ठ-बद्धता एवं ऋतुदोष प्रकरण भी देखें)।

टाइफायड

(Typhoid)

आयुर्वेद के मतानुसार टाइफायड एक प्रकार का सन्निपात है। जिस ज्वर में अचेतनता या मृत्यु की सम्भावना घटित होने लगे, उसे ही सन्निपात कहा जाता है। लक्षणों की विभिन्नता के अनुसार आयुर्वेदज्ञों ने सन्निपात ज्वर के १३ प्रकार में बताये हैं; जैसे—शीतांग, अन्तक, प्रलापक, रक्तष्ठीक, अभिन्यास, चित्त विभ्रम आदि। सन्निपात ज्वर के नाम से इस ज्वर को अब भारत में भी कुछ ही लोग जानते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा करते-करते सन्निपात ज्वर भी टाइफायड के नाम से पुकारा जाने लगा है।

लक्षण : इस प्रकार के ज्वर की विधिवत् उत्पत्ति के १-२ हफ्ते पहले से भूख की कमी, कभी-कभी सिर में दर्द होना, हाथ-पैरों में वेदना होना, पेट में जलन होना, सुस्ती और सर्दी का प्रभाव होना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस रोग के प्रारम्भ में ही प्लीहा भी काफी बड़ी हो जाती है; अँतड़ियों की श्लैष्मिक झिल्ली (Mucous Membrane) में एक प्रकार की जलन होने लगती है। शुरू-शुरू में यकृत, मूत्र-ग्रन्थि और हृदय काफी क्रियाशील रहते हैं।

आधुनिक चिकित्साशास्त्री ज्वराक्रमण के ७ दिन तक यह बताने में असफल रहते हैं कि यह किस प्रकार का ज्वर है। ७ दिन के बाद रासायनिक परीक्षणों द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि यह टाइफा-यड है। ११ दिन के पूर्व तो पूर्ण ज्ञाता (Widal test) भी बिना

मूत्र परीक्षण किये यह निर्णय नहीं कर पाता कि यह ज्वर टाइफायड ही है। रोगी के जीवन और कष्ट को ध्यान में रखते हुये ११ दिन का यह समय अमूल्य है। इसके विपरीत आयुर्वेद के मतानुसार, बुखार की प्रकृति तुरन्त समझी जा सकती है। कितने दिन तक ज्वर रहेगा, इस ज्वर का परिणाम क्या होगा आदि नाड़ी विज्ञान के द्वारा रोगी की नाड़ी की गति देख कर प्रथम दिन ही कहा जा सकता है कि यह ज्वर टाइफायड में परिणत हो जायगा।

टाइफायड में नाड़ी काफी तेज होती है। जिस प्रकार समुद्र में एक ऊँची, एक नीची लहरें उठा करती हैं; उसी प्रकार इस ज्वर की अवस्था में नाड़ी की एक गति काफी तेज़ और दूसरी कुछ धीमी रहती है। बुखार घटने के समय नाड़ी की यह विषमता दूर हो जाती है। इस प्रकार नाड़ी की गति से आयुर्वेदज्ञ इस बुखार एवं इसके भविष्य के बारे में पूर्ण विवरण दे सकते हैं।

प्रथम सप्ताह : रोगी का ज्वर सुबह में कम रहता है एवं शाम को करीव २ डिग्री बढ़ जाता है। अधिकतम एवं निम्नतम तापमान में सदैव २ डिग्री का अन्तर रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः प्रतिदिन कुछ वृद्धि हुआ करती है।

टाइफायड को आयुर्वेद ने दो पृथक-पृथक भाग में बाँटा है।— पहला वातपित्तक और दूसरा पित्तश्लैष्मिक। वातपित्तक के लक्षण ये हैं—जी मिचलाना, उल्टी की इच्छा होना, नाक से रक्तस्राव होना, अँतड़ियों में घाव हो जाने के कारण गुदा से खून बहना, चेहरे का रंग पीला हो जाना आदि। पित्तश्लैष्मिक ज्वर में जुकाम हो जाता है। इस अवस्था में पथ्य या सेवा-सुश्रूषा में असावधानी होने के कारण निमोनिया का रूप धारण कर लेता है एवं रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार के ज्वर में ६ठे या ७वें दिन पेट एवं छाती पर एक प्रकार की छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं जो ४-५ दिन रहकर मिट जाती हैं।

द्वितीय सप्ताह : इस सप्ताह में सभी लक्षण और ज्वर का तापमान बढ़ते हैं। सायंकालीन ज्वर तो १०५ डिग्री या इससे भी कुछ अधिक हो जाया करता है। लेकिन अधिकतम एवं निम्नतम ज्वर का अन्तर सदैव २ डिग्री का ही रहता है। बुखार बढ़ने के समय प्रलाप या बेहोशी होना, पेट में अफरा आना और दस्त होना आदि शुरू हो जाता है। आमतौर पर मल फेनयुक्त तथा हरे रंग का होता है। जीभ लाल, सूखी एवं चमकदार होती है। किसी-किसी रोगी को इसी समय में नाक या गुदा से रक्तस्राव भी होता है। पित्तश्लैष्मिक प्रकार के टाइफायड में रोगी को जुकाम-खाँसी भी अधिक मात्रा में होती है।

तृतीय सप्ताह—अगर बुखार किसी सांघातिक रूप का नहीं है तो तीसरे सप्ताह के मध्य में या अन्त में बुखार का तापमान एवं लक्षण घटने लगते हैं। अन्यथा दूसरे सप्ताह की तरह ही बुखार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जैसा कि अधिक समयों में देखा जाता है कि—पथ्य ; सेवा की कमी एवं गलत चिकित्सा के फलस्वरूप रोग और भी भयानक हो जाता है और ६-७ सप्ताह तक रहने के बाद दूर होता है। अतिसार का मिटना, सुबह एवं शाम को होनेवाले बुखार में क्रमिक ह्रास होना, भूख का अनुभव होना, जीभ का साफ होना एवं शरीर में शक्ति क्रमशः आना शुभ लक्षण हैं। अगर बुखार होने से नवें दिन अतिसार शान्त हो जाये और सायंकालीन ज्वर का तापमान भी १०५° से अधिक न हो तो समझना चाहिये कि रोग की स्थिति खतरे से बाहर है। बशर्ते कि उसे सावधानी के साथ पथ्य एवं सम्हाल कर रखा जावे।

ज्वर के तापमान का १०५° से अधिक होना, कभी-कभी बेहोश होना, अतिसार या रक्तस्राव की मात्रा अधिक होना, बिस्तर पर रोगी की गैरजानकारी में मल-मूत्र होना, अशक्त हृदय, हाथ-पाँव में ऐंठन आदि लक्षण खतरे के सूचक हैं।

कारण : योग-सिद्धान्त के अनुसार शरीरस्थ वायु-ग्रन्थियों (जैसे हृदय, फुस्फुस) की कमजोरी इस रोग के आधारभूत कारण हैं। व्योम एवं अग्नि-ग्रन्थियों में विकार होना आदि इस रोग के गौण कारण हैं। आयुर्वेद के अनुसार दूषित पित्त एवं कफ के कारण टाइफायड होता है। पाश्चात्य चिकित्सकों के अनुसार टाइफायड वह ज्वर है जिसकी उत्पत्ति एक प्रकार के कीटाणु के कारण है जो शरीर में गंदे पानी, दूध या खाद्य-पदार्थ के माध्यम से प्रवेश करते हैं। कीटाणुओं के संक्रमण सम्बन्धी सिद्धान्त को योग-सिद्धान्त एवं आयुर्वेद-मत प्रधानता नहीं देते हैं। वे दावे के साथ यही कहते हैं कि मनुष्य के शरीर की 'प्रकृति' अगर सशक्त है तो किसी भी प्रकार के कीटाणु किसी तरह से कोई खतरा उपस्थित नहीं कर सकते।

इस विषय में पश्चिम में हुई नई खोज पर आधारित सिद्धान्तों ने आयुर्वेद एवं योग के मत का समर्थन किया है। आयुर्वेद एवं योग के अनुसार टाइफायड का प्रमुख कारण है—शरीर में एकत्रित दूषित मल, जो कीटाणुओं के पैदा होने और उनके बढ़ने में मदद करता है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि टाइफायड एवं यक्ष्मा के कीटाणु स्वस्थ शरीर में भी मौजूद रहते हैं। लेकिन शरीर की आन्तरिक गन्दगी जब तक उनको मदद नहीं करती तब तक वे निष्प्राण से रहते हैं।

उपचार : आज-कल कितने ही ऐसे दुरारोग्य रोग देखने में आते हैं, जो वास्तविक टाइफायड नहीं हैं, परन्तु उसमें टाइफायड के बहुत से लक्षण देखने को मिलते हैं। यह टाइफायड है या नहीं, यह सुचिकित्सकों के अनुसन्धान की बात है। इसकी निर्भर-योग्य चिकित्सा यौगिक चिकित्सकों की अनुपस्थिति में केवल ग्रन्थों की सहायता से करना उचित नहीं है। इन्हीं कारणों से इसके उपचार नहीं दिये गये हैं।

नियम एवं पथ्य : हम यह पुनः दोहराते हैं कि पथ्य के नियम को सख्ती से पालन न करने से बिमारी लम्बी हो जाती है और यहाँ तक कि कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। इसीलिये पथ्य के नियमों की ओर हम अधिक ध्यान देना उपयुक्त समझते हैं। इसीलिये ज्वरावस्था के प्रारम्भ में दो दिनों तक उपवास रखना चाहिये। उपवास के समय साधारण गर्म पानी में नीबू का रस डालकर पीना चाहिये। ऐसा करने से भूख लगेगी। अगर इस क्रिया से भूख लगना प्रारम्भ न हो जावे तो इसी क्रिया के साथ उपवास दो दिन के लिये और करें। भूख लगने पर सिर्फ पके हुए फलों का रस या नारियल का पानी सेवन करें। अगर भूख अधिक मालूम होने लगे तो दिन में ३ बार पथ्य लेवें। सूर्यास्त के बाद १ बार पथ्य लिया जा सकता है। ज्वर के प्रथम सप्ताह में सिर्फ यही पथ्य लें।

दूसरे सप्ताह में प्रथम सप्ताह के उपवास के फलस्वरूप रोग का शमन प्रारम्भ हो जाता है एवं रोग-लक्षण भी पहले से कमजोर हो जाते हैं। अग्निसार के फलस्वरूप अफरा एवं दस्त लगना मिट जाता है। भूख को भी सबल बनाता है। इस अवस्था में दिन के समय २ बार डेढ़ पाव पानी के साथ बराबर मात्रा में दूध मिलाकर थोड़ा-सा गर्म करके पिलाया जा सकता है। इस प्रकार करने से पेट की क्रियाओं में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी होने का भय नहीं रहता। अन्यथा फलों का रस नीबू का रस मिला साधारण गर्म पानी का सेवन चालू रखें।

तीसरे सप्ताह में बुखार के घटने की आशा रहती है। फिर भी पथ्य के मामले में काफी सावधानी बरतनी चाहिये। क्योंकि साधारण-सी असावधानी के फलस्वरूप चौथे सप्ताह में रोग की पुनरावृत्ति हो सकती है। इस विषय में हमारा कटु अनुभव है। इसलिए इस सप्ताह में रोगी को पानी मिला दूध एवं फलों का रस दें। यह भी ध्यानपूर्वक देखते रहें कि रोगी की जीभ पर मैली परत न रहे। जब तक जीभ साफ न हो जावे और नाड़ी की गति ठीक न हो जावे, पथ्य पर विशेष ध्यान

रखें। अगर किसी प्रकार का व्यतिक्रम नजर आवे तो पथ्य की मात्रा आधी कर दें। रोगी को आधा भूखा रखें।

अगर चौथे सप्ताह में रोगी की अवस्था क्रमशः सुधार पर ही रहे यानी पेट, मल एवं ज्वर की अवस्था वश में हो तो शेफालिका के पत्ते देकर शाक-सब्जी का रस, मसूर की दाल का पानी और पानी मिला दूध पथ्य में देना चाहिये। बुखार उतरने के दो सप्ताह बाद भात देना चाहिये।

टाइफायड के मामले में पथ्य एवं रोगी की सुश्रूषा ही मुख्य है। अगर ज्वर १०४° या १०५° तक हो जावे तो रोगी के सिर को ठंडे पानी से तबतक धोवें जबतक ज्वर की मात्रा कुछ कम हो जाय। बर्फ की थैली से यद्यपि लाभ तुरन्त होता है लेकिन इसका प्रयोग न करें। क्योंकि इसके कारण कभी-कभी निमोनिया की अवस्था हो जाती है। अगर रोगी की नाक से खून बहने लगे तो रोगी को बर्फ के टुकड़े चूसने को दे सकते हैं।

रोगी के लिए हमेशा दो बिछौने तैयार रखने चाहिये। एक बिछौना खराब होते ही उसे बदल देना चाहिये। दोपहर में रोगी के कमरे की खिड़कियाँ एवं दरवाजे बन्द कर दें और रोगी के सिर को ठंडे पानी से धोवें। २-२ घण्टे पर करवट बदलने के लिए कहें।

भारत में टाइफायड भयानक रूप से होता है। इसके सम्भावित कारण हैं गरीबी, रोग के विषय की गैरजानकारी, जलवायु एवं शरीर की निर्बल जीवनी शक्ति। रोग की तरह इसकी चिकित्सा पर खर्च की गई रकम भी काफी बड़ी होगी, क्योंकि असंख्य परिवार अपनी अन्ध-भक्ति के फलस्वरूप व्ययसाध्य आधुनिक चिकित्सा ही पसन्द करते हैं। यह बीमारी प्रतिवर्ष लाखों जानों की आहुति लेती है। हम दावे के साथ कहते हैं कि टाइफायड रोकने के लिए सहज प्राणायाम एवं भ्रमण प्राणायाम अव्यर्थ हैं। जिन्हें इन क्रियाओं पर विश्वास नहीं है वे भी आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। अगर इस देश के बच्चे एवं युवा इन

प्राणायामों का अभ्यास करें तो टाइफायड, नियोनिया, सर्दी, कफ एवं अन्य कई वीमारियों के सफल प्रतिरोध की शक्ति उनके शरीर में पैदा होगी। इस शक्ति के फलस्वरूप इस देश से इस वीमारी का नामो-निशान मिट जावेगा। अतएव परिवार के सभी संरक्षकों, सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं, सरकार एवं संस्थाओं के प्रमुख व्यक्तियों को इस विषय पर पूर्णरूप से विचार करना चाहिये।

दन्तरोग

(Tooth Troubles)

लक्षण : आयुर्वेद के मतानुसार दन्त रोग १६ प्रकार का होता है। यदा-कदा मसूढ़ों से रक्त-स्राव, काले दाँत और दाँतों में कृमि होने को शीताद दन्तरोग कहा जाता है। इस प्रकार के रोग में ठण्डा भोजन या पेय रोग को वढ़ाते हैं। मसूढ़ों के फूल जाने को दन्त-पुप्पुट रोग कहते हैं। पायरिया को आयुर्वेद ने दन्तवेष्ट रोग नाम दिया है।

दाँतों एवं शरीर के साधारण स्वास्थ्य में एक सम्वन्ध है। साफ एवं सुन्दर दाँत सुन्दर स्वास्थ्य के द्योतक हैं जब कि गन्दे एवं टेढ़े-मेढ़े दाँत रुग्ण स्वास्थ्य के लक्षण हैं। स्वास्थ्य क्षीण होने से दाँतों की चमक समाप्त हो जाती है। दाँतों का रङ्ग देखकर यह बताया जा सकता है कि शरीर की कौन-सी ग्रन्थि खराव है क्योंकि स्वास्थ्य के साथ दाँतों का घना सम्पर्क है। रुग्ण माता को प्रसव से प्राप्त शिशु दोषी दाँतों वाला होता है। जिस वच्चे का गर्भ में भली प्रकार पोषण नहीं हुआ होता है, युवावस्था में या उसके पहले उसके दाँत रुग्ण हो जाते हैं। दाँतों को पकड़कर रखनेवाली नसें आर्त्तनाद करने लगती हैं। उन्हें स्वस्थ रहने के लिये शुद्ध रक्त चाहिये। यह आर्त्तनाद "दाँत का दर्द" है। जीवन या भोजन की अनियमितता के फलस्वरूप यकृत रोगी हो जाता है एवं पित्त का समुचित मात्रा में उत्पादन नहीं कर पाता।

इस प्रकार पाचन क्रिया के खराव हो जाने के फलस्वरूप अपचन, अतिसार या कोष्ठबद्धता या यहाँ तक कि वातरोग भी हो जाता है। इन रोगों के फलस्वरूप रक्त दूषित हो जाता है एवं पायरिया जैसा विषैला रोग उत्पन्न हो जाता है। अत्यधिक सहवास-सम्भोग के फलस्वरूप रक्त निर्बल हो जाता है एवं इससे भी पायरिया हो जाती है। इस प्रकार खराब यकृत एवं दुर्बल रक्तके कारण पायरिया का ठीक होना अनिश्चित हो जाता है। काम-वासना की अधिकता का असर पुरुषों पर अधिक होता है। यही कारण है कि पायरिया स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पायी जाती है। (पायरिया का प्रकरण देखिये)।

उपचार : जब भी दाँत में दर्द हो शीर्षासन ४-५ मिनट तक करें। इससे दाँतों को भोजन यानी शुद्ध रक्त पहुँचेगा। साथ ही रोग प्रतिरोध करनेवाली रक्त की श्वेत कणिकाएँ भी वहाँ पहुँचेंगी और कीटाणुओं का नाश करेंगी। अगर शीर्षासन करने में तकलीफ हो तो सहज शीर्षासन करें। दाँत दर्द के समय शीर्षासन से अवश्य लाभ होता है। इसके वाद ठण्डे पानी से कुल्ला करें। अगर ठण्डे पानी से किसी प्रकार की क्रिया होने का भय हो तो पानी को कुछ देर तक जिह्वा पर रखिये, इससे पानी कुछ गर्म हो जायेगा, और दाँतों को सहन होगा। जब तक पूर्णतया आराम न हो जाये इसी क्रिया को दोहरावे।

यदि दाँत की वेदना तीव्र हो और सहज शीर्षासन भी नहीं किया जा सके तो कई वार कुल्ला करें, इससे भी लाभ होगा। अगर ठण्डा पानी एकदम सह्य न हो तो गर्म पानी मिलाकर कुल्ला करें। गर्म पानी से दर्द में लाभ नहीं होता है जब कि ठण्डे पानी से कुल्ला करने से लाभ होता है। दन्तरोग की एकमात्र चिकित्सा है—शीर्षासन।

नियम एवं पथ्य : आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र ने दाँत रोग का कारण कैल्सियम का अभाव वताया है। भली प्रकार के भोजन से कैल्सियम हमारी पाचन-प्रणाली में जन्म लेता है और रक्त के प्रवाह के

साथ शरीर के हर हिस्से में पहुँचता रहता है। अगर पाचन क्रिया ही दोषयुक्त है तो अम्ल की मात्रा अधिक उत्पन्न होगी जिससे रक्त दूषित हो जायेगा और इन सभी महत्वपूर्ण क्षार-पदार्थों को नष्ट कर देगा। अतएव ब्रह्मचर्य एवं स्वस्थ पाचन-प्रणाली सुदृढ़ एवं मजबूत दाँतों के लिये सर्वाधिक आवश्यक है।

दाँतों का प्रत्येक हिस्सा साफ-सुथरा रहना चाहिये। भोजन के बाद कुल्ला अवश्य करें। शीतप्रधान देशों के निवासियों को भी उष्ण प्रधान देशों के निवासियों की तरह ही भोजन के बाद कुल्ला करना चाहिये। वे ठण्डे पानी के स्थान पर गर्म जल का उपयोग कर सकते हैं। दाँतों के बीच में भोजन के समय रोटी आदि के अंश रह जाते हैं और दूषित होकर कीटाणुओं के उत्पन्न होने का स्थान बना लेते हैं। इस प्रकार अगर एक दाँत खराब हो जाता है तो आस-पास के अन्य दाँत भी खराब हो सकते हैं। जैसे कि टोकरी के कुछ सड़े हुए फल सभी फलों को सड़ा डालते हैं। धीरे-धीरे दाँत मसूढ़ों से अलग हो जाते हैं और वहाँ कीटाणु, मवाद आदि जम जाते हैं। जो रक्त के साथ-साथ टॉन्सिल थाइरायड एवं फुस्फुस तक पहुँच जाते हैं। जिन व्यक्तियों के दाँत रोगी हैं उनको इफ्लुएञ्जा और निमोनिया आदि रोग आसानी से घेर लेते हैं। दाँत एवं मसूढ़ों की पूरी सम्भाल एवं सफाई रखनी चाहिये। जरूरत हो तो तिनके से कुचरना चाहिये। रात को सोते समय एवं प्रातः दातुन करनी चाहिये।

१२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को शीर्षासन वर्जनीय है। उन्हें अगर दाँत का रोग हो जाये तो अधिक दूध पिलावें। कुल्ला करने का अभ्यास डालें। कुल्ला सुबह और शाम पानी या तैल से करावें। इससे तकलीफ में आराम होगा। सरल आसन एवं प्राणायाम का अभ्यास करावें। अपचन से सावधान रहें। अपचन दूर करने के लिये उपवास करें। मांस मछली आदि में केल्सियम की मात्रा कम है। दूध, शाक-सब्जी में कैल्सियम की मात्रा अधिक है। इसलिये भोजन का चुनाव

करते समय इस प्रकार के रोगियों को यह ध्यान रखना चाहिये। ऊपर लिखे नियमों का अगर भली प्रकार से पालन किया गया तो दाँत आजीवन स्वस्थ रहेंगे।

दन्तवेष्ट रोग

(Pyorrhœa)

लक्षण : भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र ने इसे दन्तवेष्ट नाम दिया है, क्योंकि यह रोग दाँतों की जड़ों को प्रभावित करता है।

स्रवन्ति पूय-रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयः दुष्ट-शोणित-सम्भवः॥

—मसूढ़ों में घाव हो जाते हैं, दाँत की जड़ नष्ट हो जाती है, दाँतों की जड़ का खून दूषित हो जाता है एवं वहाँ मवाद पैदा हो जाती है— इसे "दन्तवेष्ट" कहा जाता है। आधुनिक नाम इसका पायरिया है।

लक्षण : दाँतों का पोषण शुद्ध रक्त से होता है। दाँतों की स्नायु अशुद्ध रक्त से पोषण प्राप्त करने में असमर्थ है। इनका पोषण निर्मल रक्त एवं अम्ल-प्रधान रक्त से भी न होगा। इस प्रकार की अवस्था से कीटाणु विना वाधा के लाभ उठाते हैं और मसूढ़ों में जनमते-पनपते हैं। इन कीटाणुओं का रस एवं मसूढ़ों में जमे हुए भोजन के टुकड़े मिलकर एक प्रकार का पथरीला पदार्थ वन जाता है, जो दाँत को खड़ा रखनेवाली झिल्ली को मसूढ़ों में ढकेल देता है। इस प्रकार रोगी के मसूढ़े कीटाणुओं का अड्डा वन जाते हैं। रक्त की श्वेत-कणिकायें कीटाणुओं से नहीं लड़ पातीं एवं मृतप्राय होकर वहीं जमती जाती हैं। धीरे-धीरे यही मसूढ़ों से मवाद के रूप में वहकर वाहर निकल आते हैं और मवाद पेट में जाकर पाचन-क्रिया को अस्त-व्यस्त कर, रक्त को अशुद्ध बनाती है।

अनियमित भोजन के फलस्वरूप यकृत रुग्ण हो जाता है एवं पित्त की मात्रा में कमी-वेशी होने लगती है। इससे भूख कम लगने लगती है एवं अपचन की शिकायत हो जाती है। साथ ही साथ अम्लता, कोष्ठवद्धता, अतिसार आदि भी आ घेरते हैं। इन सबके फलस्वरूप रोगी की साधारण रचना दोषी हो जाती है एवं रक्त दूषित हो जाता है। इस प्रकार से दूषित रक्त पायरिया के पैदा होने एवं बढ़ने में काफी मदद करता है।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार कैल्सियम धातु की शरीर में कमी होना—पायरिया के कारणों में से एक है। यह स्मरण रखना चाहिये कि रक्तस्थ कैल्सियम की मात्रा तभी कम होगी जब अम्लांश अधिक होगा। अम्लांश की अधिकता का कारण है असंतुलित भोजन; जैसे—अत्यधिक मांस, मछली, अण्डे का सेवन या घी, मक्खन, छेना आदि चीजों का अधिक सेवन।

अत्यधिक कामासक्ति के कारण शरीर में शुक्र की कमी हो जाती है, यह भी कैल्सियम की ही कमी का कारण है। यही कारण है कि जो दम्पति अधिक काम-प्रसङ्ग करते हैं, वे ही कम उम्र में पायरिया से पीड़ित हो जाते हैं। चूँकि सहवास का परिणाम है—पुरुषों में शुक्र की कमी होना, इसके फलस्वरूप देखा गया कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक संख्या में पायरिया से पीड़ित रहते हैं।

युवक या युवतियाँ, जो भी अपरिपक्वावस्था में असंयमी हो जाते हैं, उनकी प्राकृतिक स्तम्भन-शक्ति का ह्रास हो जाता है। इन लड़के-लड़कियों में कैल्सियम की कमी होना स्वाभाविक है।

एशिया एवं अफ्रीका अर्थात् उष्ण-प्रधान देशों के निवासी ५०-५५ वर्ष की अवस्था के आसपास अपनी शक्ति खो बैठते हैं और उनके पायरिया होने की सम्भावना अधिक रहती है।

हमारा अनुभव है कि श्वेतकुष्ठ आदि के मरीजों में पायरिया के मरीज ५० से अधिक प्रतिशत थे। उनकी पायरिया का इलाज करने के

साथ-साथ श्वेतकुष्ठ आदि में लाभ हुआ। **हमारा यह स्पष्ट विश्वास है कि मनुष्य के शरीरमें पायरिया के कीटाणु अगर वर्षों तक रहे तो कुष्ठादिक रोगों के कीटाणु पैदा हो जाते हैं।** यद्यपि किसी भी चिकित्सा-शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं है।

उपचार : सुबह सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया करें। स्नानादि करें। ५ मिनिट तक टब-स्नान करें। सहज अग्निसार ३० वार, अग्निसार धौति सं० १ को १० वार, सं० २ को ५ वार; सहज प्राणायाम सं० २-३ प्रत्येक ३ मिनट तक। इसके वाद वमन धौति व वारिसार धौति करें। इस रोग के लिये यह वहुत महत्त्वपूर्ण है।

सायंकाल—सर्वाङ्गासन ४ मिनिट, मत्स्यासन १ मिनिट, जानु-शिरासन ४ वार, पश्चिमोत्तान ५ वार, सहज अग्निसार २५ वार, उड्डीयान ४ वार, हलासन ४ वार, शीर्षासन ३ मिनिट, सहज प्राणायाम (कोई भी चार) २ मिनिट प्रत्येक।

नियम एवं पथ्य : भोजन करने के वाद दाँतों के वीच रोटी का टुकड़ा न रहे, इसका विशेष ख्याल रखना चाहिए। त्रिफला के पानी से कुल्ला करें। त्रिफला के जल के स्थान पर डेटल आदि किसी कीटाणु-नाशक औषधि का प्रयोग करें। अगर १-२ दाँतों में पायरिया हो गया हो तो नीचे लिखी दवा लगावें—टिंचर आइडिन (रेक्टि-फाइड) १ औंस में १ औंस टिंचर एकोनाइट मिला लें। मसूढ़ों पर रूई से यह औषध लगावें। प्रत्येक घण्टे मसूढ़ों को अङ्गुली से घिसकर साफ करना चाहिए तथा कुछ खाने के पहले दाँतों को अच्छी तरह अङ्गुली से घिस कर तथा पानी से कुल्ला करके दाँतों को साफ कर लेना चाहिए।

यह विशेषरूपसे समझ लें कि मांसादिक भोजन पदार्थों में केल्सियम काफी कम मात्रा में रहता है। इनमें कीटाणु भी छिपे रहते हैं। पायरिया के रोगी को यह सब सेवन नहीं करना चाहिये। अगर ऐसा न

कर सकें तो सप्ताह में एक-दो बार छोटी जाति की मछली खावें। फल, सब्जी, दूध आदि में केल्सियम काफी मात्रा में रहता है। पायरिया के रोगी के लिये ये सर्वोत्तम भोज्य पदार्थ हैं। घी, मक्खन, छेना आदि का सेवन बन्द कर दें। एकादशी, पूर्णिमा को उपवास करें। उपवास के समय अधिक भूख लगे तो पिस्ता, बादाम आदि का सेवन करें। स्नान एवं जल पीने के नियमों का पालन करें (दन्त-रोग प्रकरण भी देखें)।

दुष्टव्रण

(कार्बङ्कल—Carbuncle)

लक्षण—विषाक्त और विपज्जनक फोड़ा को ही दुष्टव्रण या कार्बङ्कल कहा जाता है। इस दुष्टव्रण के चारों तरफ अधिक शख्त होता है और फूल उठता है; आक्रान्त स्थान वहुत गरम होता है और स्पर्श से वेदना का अनुभव होता है। यह व्रण जव पक जाता है तो इसके एकाधिक मुख हो जाते हैं और उन मुखों से मवाद (पूय) निकलने लगता है। यह दुष्टव्रण यदि ओंठ में, ललाट में, मुँह में अथवा कान के पश्चात भाग में प्रादुर्भूत होता है तव वह विपज्जनक होता है। रोगी के ज्वर की मात्रा में वृद्धि होती है और रोगी अत्यधिक प्रलाप करने लगता है।

कारण—प्रधान कारण शरीर में अप्रयोजनीय विषाक्त पदार्थ का सञ्चय होता है। दीर्घ दिन की कब्जियत से यह व्रण होता है। वहुमूत्र, मूत्रग्रन्थि की दुर्बलता आदि भी इस रोग के आनुषङ्गिक कारण हैं।

चिकित्सा—प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया संख्या १, वमन धौति, सहज अग्निसार ४० वार, अग्निसार धौति संख्या १-१० वार, सहज प्राणायाम संख्या ३, ३ मिनिट। सायंकाल भी प्रातः की तरह सहज अग्निसार, अग्निसार धौति एवं सहज प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

शरीर में दुष्टव्रण के उत्पन्न होने पर तीन दिन उपवास करना चाहिए। उपवास के समय फल, नीबू के रसमिश्रित जल या नारियल जल ग्रहण करना चाहिए, अन्य कोई खाद्य नहीं लेना चाहिए, उपवास से इस रोग का थोड़े समय में ही निदान किया जा सकता है। उपवास नहीं करने से यह रोग के विपज्जनक होने की आशंका रहती है।

नियम और पथ्यादि—व्रण में किसी प्रकार का घर्षण न लगे इसके लिए सावधान रहना चाहिए।

सेंकने से आराम प्रतीत हो तो बीच-बीच में सेंक लेना चाहिए। इस दुष्टव्रण का मवाद (पीप) निकालने की कोई चेष्टा नहीं करना चाहिये, उसको पकने का सुयोग देना चाहिए, तब अपने-आप पककर मवाद निकल आयगा और यन्त्रणा कम हो जायगी। इस क्षत स्थान पर मलहम लगाकर कपड़े आदि से बाँध देना चाहिये। थोड़ा गरम गोघृत का मलहम या रक्तचन्दन, गेंदा फूल के पत्ते और विशल्यकरणी के पत्ते का रस सम परिमाण में मिश्रित करके क्षत स्थान पर लगा देना चाहिये। दिन में ३ या ४ वार इस मलहम को क्षतस्थान पर लगाकर पट्टी (Bandage) करना होगा, यदि उल्लिखित मलहम को लगाना सम्भव नहीं हो तो मैगनेशिया सलफेट और ग्लिसरिन मिलाकर रूई या साफ फटे कपड़े के टुकड़े में लगाकर क्षतस्थान पर लगाकर बाँध देना चाहिए।

दृष्टिक्षीणता

लक्षण : यहाँ हम नेत्रों की ज्योति के क्षीण होने के कारणों एवं उसकी चिकित्सा आदि पर विचार कर रहे हैं। नेत्र-ज्योति का कम होना, आयुर्वेद के मतानुसार ७८ प्रकार के नेत्ररोगों में से एक यह है। इस प्रकरण में हम सिर्फ उन्हीं दो-एक नेत्र-रोगों पर प्रकाश डालेंगे जो इसके प्रसंगवश आ जायेंगे। सदोष नेत्र-ज्योति आमतौर से दो प्रकार की होती है। प्रथम दोष यह है कि नजदीक की वस्तुएँ स्पष्ट दिखलाई

पड़ती हैं लेकिन दूर की वस्तुएँ स्पष्ट या धुँधली नजर आती हैं। दूसरे प्रकार का दोष इसके ठीक विपरीत या दूर की वस्तुएँ तो स्पष्ट दिखती हैं पर नजदीक की वस्तुएँ ही कम दिखलाई पड़ती हैं। पाश्चात्य औषधि-विज्ञान के अनुसार प्रथम दोष को Myopia एवं द्वितीय प्रकार के दोष को Hyper-Metropia कहते हैं।

कारण : संसार की दर्शनीय एवं चित्ताकर्षक वस्तुओं का आनन्द हम सिर्फ अपनी आँखोंसे भोगते हैं। आँखको हम जितना ही सहज भाव से देखते हैं आँख की यान्त्रिक प्रणाली उतनी ही जटिल है। आँख के सम्बन्ध में जो पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें त्रिदेव अर्थात् वायु, अग्नि एवं वरुण जो हमारे शरीर एवं सृष्टि के निर्माता हैं, के द्वारा निर्मित आँख की यान्त्रिक कार्य-प्रणाली किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देती है। (इस सम्बन्धमें हम यौगिक मन्तव्य अन्य स्थानोंपर सभी लिख चुके हैं) अग्निदेव की क्रियाओं का शरीर में मुख्य केन्द्र सूर्यग्रन्थि (Pancrease) है। सूर्यग्रन्थि की दिवालोंसे एक प्रकार का अन्तर्मुखी रस सतत प्रवाहित होता रहता है, हमारे भोजन को पचाने में जिसका प्रमुख हाथ है। इसी रस की सहायता से यकृत (Liver) भी शर्करा एकत्रित कर रख पाता है। सूर्यग्रन्थि जहाँ एक ओर भोजन के पचाने एवं यकृत की क्रियाओं में मदद करती है, वहाँ आँखों में स्थित कनीनकिा (Cornea) एवं अक्षिपट (Retina) नामक भागों को देखे जानेवाले विषय की छाप (Impression), आकार-प्रकार ग्रहण करने एवं प्रतिबिम्बित करने की शक्ति प्रदान करता है। कनीनिका (Cornea) एवं अक्षिपट (Retina) के मध्य का भाग वरुण द्वारा नियन्त्रित ग्रन्थि से सतत प्रवाहित होनेवाले रसदार पदार्थ से भींगा एवं चमकदार बना रहता है। उदाहरण-स्वरूप हमारी आँख की अश्रु-ग्रन्थियाँ आँख को साफ एवं स्वच्छ रखने के लिये धोती रहती हैं। वायु के नियन्त्रण में आँख की सजीव स्नायु एवं अन्य भाग जैसे कनीनिका (Cornea), आँख की पुतली (Iris) एवं अक्षिपट (Retina) सदैव क्रियाशील रहते हैं।

आयुर्वेद के मतानुसार पुतली (Iris), कनीनिका (Cornea) एवं अक्षिपट (Retina) की भाचित्रीय (फोटो सम्बन्धी) शक्ति का पूर्ण दायित्व आलोचक पित्त को है। तर्पक श्लेष्मा सभी स्थानों को तरल रखता है। वात, पित्त एवं कफ के कुपित होने पर तर्पक श्लेष्मा दूषित हो जाता है। अन्यथा यह भी सम्भव है कि जब अग्नि, वायु एवं वरुण कुपित हो जाते हैं तब नेत्र-रोग होना आवश्यक है।

प्रकुपित वायु शुष्क होकर आँख में तर्पक श्लेष्मा नामक तरल पदार्थ को सुखा डालती है। बाहर की ओर आँखकी पहली सतह सूख जाने पर नेत्र की ज्योति पर साधारण प्रभाव पड़ता है। लेकिन दूसरी या तीसरी सतह भी अगर सूख जाती है तो देखने की शक्ति काफी कम हो जाती है। आँख के भीतरी सूक्ष्म भाग, अर्थात् चौथी सतह के शुष्क हो जाने पर आँख की शक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास हो जाता है एवं सभी वस्तुएँ धुंधली दिखाई पड़ने लगती हैं।

शरीर की साधारण बीमारियों के कारण यकृत की क्रिया सन्तोषप्रद नहीं रहती है। फलस्वरूप अग्नि एवं पित्त कुपित होकर आलोचक पित्त को दूषित कर देते हैं। यही अशुद्ध आलोचक पित्त नेत्र की स्नायुओं को रुग्ण बनाकर नेत्रों की भाचित्रीय शक्ति को कम करता है। परिणामस्वरूप नेत्रों में मुक्ताबिन्दु यानी मोतियाबिन्द हो जाता है। आँखों पर अग्नि का नियन्त्रण अधिक है। इसीलिये इसे अग्निस्थान भी कहा जाता है। यही कारण है कि वात या कफ के दोष के कारण जो नेत्रकी हानि होती है, इससे अग्नि या पित्त के दूषित होनेपर कई गुना हानि अधिक होती है। यकृत से उत्पन्न होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म रस से आलोचक पित्त के निर्माण में काफी मदद मिलती है। इसलिये अस्वस्थ यकृतवाले रोगी की आँखें भी रुग्ण होती हैं। **हम पृथ्वी पर एक भी ऐसी श्रेणी नहीं पा सकेंगे जिसका यकृत स्वस्थ रहने पर नेत्र-रोग से पीड़ित हो।** आँख में किसी अन्य वाह्य कारणवश अगर

कोई दोष है और यकृत स्वस्थ है तो आँखों के दोष का निवारण होना शीघ्र ही सुनिश्चित है।

शरीर में केवल श्लेष्मा का दोष रहने पर श्लेष्मा का प्रधान तर्पक श्लेष्मा प्रकुपित होकर रतौंधी या अन्यान्य अल्प कष्टदायक नेत्र-रोगों को उत्पन्न करता है।

अत्यधिक कामानुरक्ति के कारण काम-ग्रन्थियाँ अधिक उत्तेजित अवस्था में रहती हैं एवं शीघ्र ज्ञान-शून्य हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप स्नायुदौर्बल्य हो जाता है। स्नायुदौर्बल्य के कारण नेत्रों को उचित मात्रा में आलोचक पित्त एवं तर्पक श्लेष्मा की सहायता नहीं पहुँच पाती। काम-ग्रन्थियों की कमी को शिवसती ग्रन्थि (Pituitary) यथासाध्य पूरा करना चाहती है। यह क्रम अगर काफी समय तक चलता रहता है तो श्लेष्मा-ग्रन्थियों में दोष हो जाता है और ये किंचित् वड़ी हो जाती हैं। इन ग्रन्थियों के ठीक नीचे नेत्रों से सम्वन्धित स्नायुओं का केन्द्रस्थल है, जिसके माध्यम से हम आकार का प्रतिबिम्व ग्रहण करते हैं। श्लेष्मा-ग्रन्थियों की वृद्धि से इन स्नायुओं में थोड़ी सिकुड़न होती है और इन पर दवाव भी पड़ता है। इसके कारण प्रतिविम्व ग्रहण करने में वाधा पहुँचती है। इस प्रकार शुक्रक्षयजनित वीर्य का अपव्यय एवं वायु का कुपित होना—इन तीनों के फलस्वरूप कमजोरी भी नेत्र-ज्योति कम होने के कारणों में एक है। यकृत-दोष, जव नेत्रों की शक्ति में कमी होती है, तो अकसर चिकित्सा असफल होती है। उदाहरणस्वरूप आजकल होनेवाला ग्लाकोमा (Glaucoma) नामक रोग।

सम्भोग के दौरान में स्त्रियों के रज की मात्रा पुरुषों के वीर्य की मात्रा से काफी कम क्षय होती है। इसके अलावा वीर्य से रजःस्राव के कारण होनेवाली कमीकी पूर्ति काफी मात्रामें हो जाती है। यही कारण है कि स्त्रियोंमें आँख की वीमारियाँ कम होती हैं। उनमें भी विवाहित

अवस्थामें अधिक कामानुरक्ति या अविवाहितोंमें गुप्त व्यभिचार होना—नेत्र-शक्ति कम होने के अप्रत्यक्ष कारण हैं।

शरीर की दोषी प्रणाली या आहार-विहार की अनियमितता के कारण होनेवाले नेत्र-रोगों के विषय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त जैसे धुआँ या धूल का आँखों में घुसना, अधिक या कम प्रकाश में काफी समय तक छोटे अक्षरों का अध्ययन या बारीक काम करना, सिनेमा देखना आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे आँखों पर दबाव पड़ता है। अधेड़ अवस्था में अर्थात् चालीस वर्ष की अवस्था के आस-पास, हमारे आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन होने के कारण भी नेत्र-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

योगियों को—जो घण्टों ध्यानस्थ रहते हैं एवं जिनको मानस-चक्षुओं के माध्यमसे असीम प्रकाशयुक्त नैसर्गिक विभूतियों से साक्षात्कार होता है, जिससे उन्हें स्पष्ट दर्शन होते हैं, लेकिन उनकी आँखों की ज्योति कुछ कमजोर हो जाती है। आयुर्वेदज्ञों को भी, जो ऋषि भी थे—इस प्रकार का अनुभव हुआ। उन्होंने इसे "अनिमित्त कारण" की संज्ञा दी है—

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां सन्दर्शनेनापि च भास्करस्य
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिंगनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः।
तत्राक्षिविस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः
विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभिघातहता तु दृष्टिः॥

अकसर, दूर की वस्तुएँ अस्पष्ट दिखलाई पड़ना तथा पास की वस्तु स्पष्ट दिखलाई पड़ना अग्निग्रन्थि अर्थात् यकृत आदि ग्रन्थियों के दोष के कारण होता है। जब कि नजदीक की वस्तुएँ अस्पष्ट दिखने के का कारण है—अशक्त काम ग्रन्थियाँ। अर्थात् चश्मे के Minus Power होने से हमें यह समझना चाहिये कि हमारा यकृत दोषी है और

Plus Power होने से हमारी कामजनित ग्रन्थियों के कारण होनेवाली साधारण कमजोरी।

उपचार : वीर्य-क्षय के कारण होनेवाले स्थायी दृष्टि-दोष के लिये आंशिक नपुंसकत्व (Partial Impotency) के अन्तर्गत लिखी चिकित्सा का अनुसरण करें। रोगयुक्त यकृत आदि के कारण होनेवाले दोष की चिकित्सा के लिए कामला रोग या यकृत-प्लीहा रोग के अन्तर्गत वर्णित चिकित्सासे लाभ उठावें। जिनको स्नायुदौर्बल्य के कारण नेत्र-व्याधि है वे स्नायुदौर्बल्य के लिए वर्णित उपायों से नीरोगावस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनकी आँखों में जाला पड़ने का उपक्रम हो गया हो या जाला पड़ गया हो, वे एक सेर ठण्डे जल में अति अल्प मात्रा में नमक डालकर उस जल को छान दें। उस क्षारीय जल में आँख डुबाकर, आँख को वार-वार खोलें और बन्द करें। इस प्रकार ४-५ बार खोलने और बन्द करने का अभ्यास करें, इससे जाला-रोग दूर हो जायेगा।

नियम एवं पथ्य : सूक्ष्म कार्य या गहन अध्ययन के दौरान नीचे लिखे तरीके अगर अपनाये जावें तो आँखों को नुकसान नहीं होगा। आँखों को अपनी प्राकृतिक अवस्था में खोल कर रखिये। प्रत्येक ३-४ मिनट के उपरान्त २-४ सेकेण्ड के लिए झपकिये। इससे आँखों को काफी आराम मिलता है। गहन अध्ययन या सिनेमा देखते समय इस अभ्यास से काफी लाभ होता है। स्कूल या कालेज में बच्चों की आँखें यकृत के पूरी तरह कार्य न करने के कारण खराब हो जाती हैं। इसलिये ऐसी अवस्था में आँख एवं यकृत दोनों की ही सम्भाल रखनी चाहिये। ब्रह्मचर्य के पालनके लिए या कामोत्तेजन के लिए ऐसी औषधि का सेवन करें जिसका प्रभाव प्रारम्भ में उत्तेजक हो लेकिन अन्त में स्नायु एवं ग्रन्थियों में अशक्ति उत्पन्न करे। इस प्रकार की औषधियों के सेवन से स्नायु दुर्बलता होती है एवं ये नेत्रज्योति को नष्ट करती हैं।

नेत्र रोगियों को प्रातः तड़के उठना चाहिये। उगते हुए सूर्य को ४-५ मिनट तक देखिये। ८ या ६ वजे के आसपास ५-६ मिनट तक सूर्य की ओर न देख कर इस तरह देखें, जिससे आँख में धूप लग सके। इसके वाद आप छाया में चले जावें। वन्द आँखों पर हथेली रखें। इस प्रकार १-२ मिनट तक करने से आँखों को आराम पहुँचता है। अपने मुँह में थोड़ा ठण्डा पानी भर लें और आँखों पर जोर से ठण्डे पानी उछालें ताकि आँखें ठीक प्रकार से धुल सकें। इस क्रिया को १५-२० वार दोहराना आँखों के लिये उत्तम है। रात को सोने के समय इस क्रिया को अवश्य करें। यों भी जव आप हाथ-मुँह धोयें इस क्रिया को अवश्य दोहरावें।

कामानुरागी व्यक्ति काफी मात्रा में वीर्य नष्ट करते हैं। फलस्वरूप उनका साधारण स्वास्थ्य दुर्वल रहता है। नेत्रों पर वीर्य-नाश का विशेष प्रभाव होता है। जिन व्यक्तियों का यकृत स्वस्थ है वे वीर्य की कमी को खाते समय १-२ तोला घी या मक्खन खाकर पूरी कर सकते हैं। यकृत दोषयुक्त रहने पर घी या मक्खन का व्यवहार न करें। अन्यथा पानी में भली प्रकार भिगोकर किसी भी जाति का वादाम या मूंगफली खावें। इस अवस्था में दूध से भी काफी मदद मिलती है। दूध अगर न पचा सकें तो दही का सेवन करें। भोजन का दो तिहाई हिस्सा क्षारीय होना जरूरी है। साग-सब्जी, दूध, फल क्षारीय भोजन है। चावल, रोटी, मछली, अण्डे एवं मांस में अम्ल भाग अधिक रहता है।

चश्मे का प्रयोग एक व्यापक फैशन हो गया है। स्कूल एवं कालेज के किशोर एवं अन्य तरुणों में यह फैशन काफी प्रचलित है। हमारे जातीय स्वास्थ्य के ह्रास की यह गम्भीर चेतावनी है। स्वास्थ्य-अधिकारियों एवं इस प्रकार के वच्चों के माता-पिताओं के लिये यह एक विचारणीय प्रश्न है। **आयुर्वेद के मतानुसार पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चे को मछली न खाने दें। नौ वर्ष तक की उम्र के बच्चे को घी, मक्खन, अण्डे, मांस या मिठाई (छेने या घी से बनी)**

जसे दुष्पाच्य भोजन-पदार्थ सेवन न करावें। यकृत को स्वस्थ एवं कार्यक्षम बनाये रखने के लिये यह सर्वोत्तम उपाय है। अशक्त या दोषी यकृत के कारण ही नेत्र ज्योति में कमी या अन्य गम्भीर रोग उत्पन्न होते हैं।

धातुदौर्बल्य

लक्षण—इस रोग में पेशाव के प्रारम्भ में या शेष भाग में पतला शुक्र पेशाव के साथ निकलता है। यह रोग बढ़ने से सामान्य उत्तेजना से या बिना उत्तेजना से अथवा स्त्रियों के दर्शन से या स्त्रियों का चित्र दर्शन से भी पतला धातु कभी-कभी पेशाव मार्ग से क्षरित होता है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

स्त्रियों का प्रदररोग इस धातुदौर्बल्य रोग के ही अन्तर्गत आता है।

कारण :—धातु-दौर्बल्य रोग आंशिक अक्षमता रोग का ही प्रकार विशेष रूप है। आंशिक अक्षम रोगी का धातु-दौर्बल्य रोग नहीं भी हो सकता है, किन्तु धातु-दौर्बल्य रोगी को आंशिक अक्षमता रोग अवश्य होगा। दीर्घदिन तक अस्वाभाविक भाव से वीर्यपात अथवा अतिरिक्त मैथुन से धारणा शक्ति सम्पूर्ण नष्ट होकर इस धातुदौर्बल्य रोग की सृष्टि होती है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा एवं नियम पथ्य आंशिक अक्षमता रोग की तरह। (आंशिक अक्षमता रोग विवरण देखें।)

नाक से रक्तस्राव

(Epistaxis)

लक्षण : यकृत एवं वृक्क द्वारा संचालित क्रियाएँ ठीक प्रकार न होने से रक्त दूषित हो जाता है। इस दूषित रक्त को प्रकृति नाक के

रास्ते से बाहर निकालने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार का नाक से रक्तस्राव अच्छा है, बुरा नहीं। नाक से अधिक रक्त बहने का कारण यह भी है कि कभी-कभी रक्त-चाप इतना बढ़ जाता है कि नाक की नस फट जाती है एवं नाक से खून बहने लगता है। नाक से रक्तस्राव चोट लगने से या घाव के कारण तो होता ही है, इसके अलावा यक्ष्मा, धनुर्वात, डिप्थीरिया, चेचक आदि रोगों में भी पाया जाता है।

चिकित्सा : यकृत एवं वृक्क की अनियमित क्रिया के फलस्वरूप नाक से होने वाले रक्तस्राव की चिकित्सा पाण्डु, यकृत एवं प्लीहा के रोग प्रकरण में लिखे अनुसार करें। अगर अधिक रक्त-चाप के कारण नाक से खून बहता हो तो "रक्त-चाप" के अन्तर्गत लिखी चिकित्सा का अनुसरण करें। रोगी अगर अल्पवयस्क है तो उसे प्रातः सायं स्वास्थ्य के लिये बताये गये साधारण ४ आसनों का अभ्यास करावें। इसके साथ ३ सहज प्राणायाम करावें। प्रातः जो ४ आसन करावें, सन्ध्या समय उन्हें छोड़कर दूसरे ४ आसन करावें। सहज वस्तिक्रिया और वारिसार धौति इस रोगमें काफी लाभ पहुँचाती हैं।

नियम एवं पथ्य : इस रोग में पथ्य की व्यवस्था 'पाण्डु' या 'यकृत एवं प्लीहा के रोग' प्रकरण में लिखे अनुसार है। जल-स्नान एवं जल पीने के नियमों का पथ्य के साथ-साथ पालन करना चाहिये।

निमोनिया या वायुयन्त्र-प्रदाह

(Pneumonia)

लक्षण : रोगी के फुस्फुस में प्रदाह होने लगता है—आयुर्वेद के इस मतके अनुसार होनेवाले रोग को पूर्व-पश्चिम के चिकित्सक आज निमोनिया कहते हैं। निमोनिया डाक्टरी मत के अनुसार दो प्रकार का होता है—(१) Broncho Pneumonia और (२) Lobar Pneumonia। प्रथम प्रकार के निमोनिया में श्वास-प्रश्वास की नली—जो

फुस्फुस तक फैली रहती है—में प्रदाह होता है। परिणामस्वरूप उस नली के आसपास अवस्थित फुस्फुस के तन्तुओं में भी प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। जब कि दूसरे प्रकार के निमोनिया में कोई एक या दोनों फुस्फुस पूरी तरह प्रभावित रहते हैं। इसके साधारण लक्षण हैं—सर्दी लगकर तीव्र ज्वर (१०३° से १०५° तक) हो जाना, अगर फुस्फुस प्रभावित है तो सीने के एक भाग में वेदना, और अगर दोनों फुस्फुस प्रभावित हैं तो दोनों तरफ वेदना होना। दोनों फुस्फुस जब प्रभावित हो जाते हैं तो इसे डवल निमोनिया कहा जाता है। इस रोग के कारण थूक काफी भारी, लाल-लाल होता है। चेहरा एवं होठ नीले-नीले नजर आने लगते हैं। शरीर काफी शिथिल हो जाता है।

कारण : निमोनिया के कीटाणु स्वस्थ शरीर में भी पाये जाते हैं। जब फुस्फुस की शक्ति कमजोर होती है या उनमें कोई दूषित पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं तब निमोनिया के शरीरस्थ कीटाणु टाइफायड या इन्फ्लुएञ्जा के रूप में भी फुस्फुस पर आक्रमण कर देते हैं। शरीर में रक्त का शोधन ४ स्थानों पर होता है ; जैसे—यकृत, प्लीहा, वृक एवं फुस्फुस। रक्त-शोधन का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है ऑक्सीजन गैस। शरीर में जब अशुद्ध खून की मात्रा बढ़ जाती है तब फुस्फुसादिक शरीर के महत्वपूर्ण अंग-प्रत्यंग रोगी हो जाते हैं एवं शरीर की क्रियाओं को विधिवत् करते रहने में उन्हें अधिक परिश्रम करना पड़ता है। हृदय को समय पर शुद्ध खून फुस्फुस से नहीं प्राप्त हो पाता है। ऐसी अवस्था में शरीरस्थ कीटाणुओं को शरीर की यांत्रिक प्रणाली को रोगाक्रान्त करने का अवसर मिल जाता है।

उपचार : बुखार होता हो, तो सहनशक्ति के अनुसार अधिक से अधिक गर्म पानी पीवें। पानी की मात्रा १५-२० मिनिट के अन्तर से १०-१२ औंस होनी चाहिये। गर्म पानी तब तक पिलावें जब तक कि रोगी को शीत न लगने लगे। इससे रोगी को अत्यधिक पसीना आयेगा एवं इसके साथ ही शरीरस्थ कुछ विष बाहर निकल आयेगा और

इससे बुखार उतरने लगेगा। रोगी को वस्तिक्रिया सं० ४ का सुवह-शाम अभ्यास करावें, इससे अंग-समूह साफ होगा। अगर रोगी को पतले दस्त होते हों तो सुवह-शाम बुखार उतरने पर सहज अग्निसार १५-२० वार करावें। स्वस्थ होने पर रोगी को सहज प्राणायाम सं० ६ दिन में २ या ३ वार करावें।

ज्वर एवं वेदना के शान्त होने पर रोगी को स्वस्थ होने दें। धीरे-धीरे क्रम वर्धमान व्यायाम एवं सूर्य-स्नान का अभ्यास करावें।

नियम एवं पथ्य : रोगी के शरीर का तापमान जव भी १०३° से अधिक हो जावे, उसके सिर को या तो ठण्डे जल से धो दें या सिर पर एक भींगा तौलिया रखकर उस पर वर्फ की थैली रखें। इस क्रिया से तापमान घटेगा। रोगी के कमरे की खिड़कियाँ एवं दरवाजे खुले रखें ताकि शुद्ध हवा आती-जाती रहे। इसका ध्यान रखें कि रोगी को हवा का सीधा झोंका न लगे। शरीर के जिस अंग में वेदना हो उसे प्रत्येक घण्टे में ५-७ मिनट के लिये सेकें। सेकने के लिये फ्लानेल के १ टुकड़े को गर्म पानी में भिंगोकर निचोड़ कर वेदनावाले स्थान पर तब तक रखें जव तक कि वह गर्म रहे। कपड़ा ठण्डा हो जाने पर हटा लें। इससे कफ पिघलेगा एवं वेदना शान्त होगी। घूँट-घूँट गर्म पानी पीवें।

रोगी की प्रारम्भिक अवस्था में २ दिनों तक लगातार उपवास करें। उपवास-काल में सादा पानी (नींबू का रस मिला हुआ) काफी मात्रा में पीवें। इससे भी अगर भूख लगना प्रारम्भ न हो तो उपवास जारी रखें।। ज्योंही भूख लगने लगे ग्लूकोज का पानी, वार्लो का पानी (दूध मिलाकर), अनार का रस एवं अन्य हल्के पदार्थों का सेवन करें। लेकिन पोषक द्रव्यों का सेवन होना ही चाहिये। पथ्य में विशेष सावधानी रखें। अगर पथ्य का पाचन ठीक प्रकार से न होगा तो कठिनाई बढ़ सकती है। चिकित्सक इस अवस्था में लहसुन का रस, बासक (अड़ूसा) पत्ते का रस, आयडिन या क्विनायन आदि

का प्रयोग कर ज्वर रोकने का प्रयास करते हैं। शरीर में अगर वेदना अधिक हो तो स्ट्रीकनीन, मारफीन देने का भी रिवाज है। हृदय को बल देने के नाम पर शराब का भी प्रयोग किया जाता है। गर्म सेंक करने के स्थान पर Anti phlogistin का उपयोग किया जाता है एवं रोगी को Serum के इन्जेक्शन दिये जाते हैं। ऊपर लिखी औषधियों की कीमत चाहे कुछ भी हो, रोग पर उसका असर नगण्य है। **क्योंकि यह रोग औषधि-साध्य है ही नहीं।** पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि समुचित सेवा-सुश्रूषा एवं पथ्य के नियमों का पालन ही निमोनिया की एकमात्र चिकित्सा है।

रोगी के पैरों को हमेशा गर्म रखना चाहिये। इसके लिये रोगी के पाँवों के पास गर्म पानीकी बोतल या रबरकी थैली रखनी चाहिए। **निमोनिया की बीमारी में ८वाँ दिन निर्णायक होता है।** क्योंकि इसी दिन या तो कोई प्राण-घातक बीमारी या रोगी के शीघ्र ठीक होने के लक्षण प्रकाश में आ जाते हैं। लेकिन रोग की प्रारम्भिक अवस्था में रखा गया उपवास, सावधानी से रखा गया पथ्य, समुचित सेवा-सुश्रूषा से कोई भी चिन्तनीय अवस्था न आयेगी। ऊपर बताये गये यौगिक नियमों के साधन से स्वास्थ्य अवश्य ठीक होगा।

पक्षाघात रोग

(Paralysis)

पक्षका अर्थ है सहारा। इस बीमारीमें शरीर की स्थायी एवं भ्रमण-शील शक्तियाँ निर्बल हो जाती हैं। इसके कारण हैं—किसी प्रकार का आघात, उनमें संचरण-शक्ति का अभाव आदि। इस रोग से शरीर का एक हिस्सा भी प्रभावित हो सकता है, या अधिक हिस्से भी प्रभावित हो सकते हैं। कभी-कभी पूरा अर्धांग प्रभावित हो जाता है। प्रभावित अंग धीरे-धीरे चलने-फिरने की शक्ति खो देता है। यह एक स्नायु-दुर्बलता की बीमारी है। इस रोग में स्नायु दुर्बल हो जाती है।

शरीर का प्रमुख नियंत्रण केन्द्र है मस्तिष्क। यह चारों तरफ से खोपड़ी और हड्डियों से सुरक्षित रखा गया है। इस सुरक्षित स्थान में बुद्धि और मन दोनों हैं। ये ही शरीर की क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। शरीर के पंच महाभूत भी यहीं से नियंत्रित होते हैं।

भगवान ने हमें बहुत-से अंग-प्रत्यंग दो-दो इसलिये दिये हैं कि शरीर की क्रियाएँ अविराम चलती रहें। हमारे दो हाथ हैं, दो पैर हैं, दो आँखें हैं, दो कान हैं आदि। एक आँख, एक नाक, एक फुसफुस के अस्वस्थ होने पर दूसरे हमें मदद करते हैं।

हमारा मस्तिष्क भी दो हिस्सों में विभक्त है—बायाँ और दाहिना। अधिकतर कार्य हम दाहिने हाथ से करते हैं। जब कि मस्तिष्क का कार्यकारी केन्द्र मस्तिष्क की बायीं ओर स्थित अर्धाङ्ग में है। उसी प्रकार बायें हाथ का नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क की दाहिनी ओर अवस्थित है। अगर मस्तिष्क का बामार्ध की स्नायु अगर किसी कारणवश क्षति-ग्रस्त हो जाती है तो दाहिना हाथ अपनी चेतना एवं क्रियाशीलता—हाथ की स्नायु एवं अन्य तन्तु आदि के स्वस्थ रहने पर भी खो देगा। यही अवस्था बायें हाथ की भी है। यही प्रक्रिया आँख की भी है। मस्तिष्क सभी अंगों का संचालन करता है। हम बात करते हैं, देखते हैं, याद करते हैं और काम करते हैं यानी जैसा भी मस्तिष्क निर्देशन करता है उसी प्रकार अंग क्रिया करते हैं। मस्तिष्क की विभिन्न कोठ-रियों में यहाँ तक कि विभिन्न भाषाओंकी लिपि भी सुरक्षित रहती है। उदाहरण के रूप में—अगर अंग्रेजी के ज्ञान की कोठरी क्षतिग्रस्त हो गई है तो इसके फलस्वरूप अंग्रेजी पढ़ने-पढ़ाने की क्षमता नष्ट हो जायेगी, जबकि अन्य भाषाओं की ज्ञान-क्षमता ज्यों की त्यों बनी रहेगी। मस्तिष्क में स्थित कोष (कोठरी) वास्तव में नियंत्रण-केन्द्र हैं। जिनके माध्यम से शरीर की क्रियाएँ चालू रहती हैं। इनका रंग भूरा है। पाश्चात्य चिकित्सक इन्हें भूरे रंग युक्त पदार्थ के नाम से पुकारते हैं। यह मस्तिष्क के ऊपरी भाग में अवस्थित है। भीतरी हिस्से में अहंग्रन्थि

एवं बृहद् ग्रन्थियों के केन्द्र स्थित हैं। ये बुद्धि एवं मन की सूक्ष्मातीत शक्तियाँ हैं। इनके रुग्ण हो जाने से मनुष्य पागल हो जाता है, क्योंकि सम्बन्धित स्नायु, जो मन एवं बुद्धि का सम्पर्क बनाये रखती है, क्रियाहीन हो जाती है। यही कारण है कि पागल आदमी निरर्थक बकता है। मस्तिष्क से अंग-विशिष्ट तक निर्देशन पहुँचानेवाली स्नायु या अंग से मस्तिष्क तक निर्देशन पहुँचानेवाली स्नायु जिन्हें **Efferent** एवं **Afferent** स्नायु कहा जाता है, चेतनाहीन हो जाती हैं। जब उनका नियन्त्रण करनेवाले कोषोंकी क्षमता नष्ट हो जाती है, तब वे हिस्से चेतनाहीन हो जाते हैं। यही कारण है कि मस्तिष्कसे प्राप्त निर्देशन का भली प्रकार पालन नहीं हो पाता। संक्षेप में—शरीर के अंगों की क्रियाओं का तारतम्य समाप्त हो जाता है। यही पक्षाघात है।

कारण—वायु शरीरके स्नायुमण्डल का संचालन करती है। अतएव वायु कुपित होकर जब दूषित हो जाती है तब स्नायुमण्डल शिथिल और अस्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद के मतानुसार पक्षाघात एक वातव्याधि है। वायु तब तक इतने गम्भीर रूप से दूषित नहीं होती, जब तक कि कफ एवं पित्त भी दूषित न हो जावें। अतएव पक्षाघात सिर्फ वात-व्याधि ही नहीं है, बल्कि त्रिदोषज भी है।

जिस शरीर में अग्नि की ग्रन्थियाँ अधिक शक्तिशाली होती हैं उसमें पित्त प्रधान होता है। स्नायु भी अधिक कार्य कर पाती है। इस प्रकार के शरीर सभी प्रकार के उपभोग करने की क्षमतायुक्त होते हैं। इस जाति के व्यक्ति, जिनमें आत्मसंयम है, काफी फुर्तीले एवं अथक कार्यकर्त्ता होते हैं एवं जिनमें आत्मसंयम का अभाव है, वे काम-भोग का लोभ संवरण नहीं कर पाते; चूंकि काम और क्रोध साथ-साथ पाये जाते हैं। अतएव ऐसी प्रकृति के आदमी बहुत चिड़चिड़े होते हैं। उनके अत्यधिक कामासक्ति एवं क्रोध के कारण पेलविक प्रदेश की स्नायु एवं ग्रन्थियाँ अज्ञान हो जाती हैं। परिणामस्वरूप कोष्ठबद्धता, पित्त का दूषित होना आदि होकर 'अपान वायु' दूषित हो जाती है। पैरों का

पक्षाघात उन्हीं व्यक्तियों में पाया जाता है, जिनमें आत्मसंयम का अभाव है एवं जिनकी प्रकृति पित्त की है। अत्यधिक मछली, मांस, अण्डे, प्याज, शराव आदिके सेवन से उनके रक्तमें अम्ल की मात्रा अधिक हो जाती है। रक्त में अम्लांश वढ़ने से भी यह रोग आक्रमण करता है। अति पुरानी कोष्ठवद्धता, दोषयुक्त पित्त या शरीरस्थ अन्य किसी भी प्रकार के विषके कारण चेहरा, आँखों या हाथ-पैरों में पक्षाघात रोग आक्रमण करता है।

उपचार—प्रातः सहज वस्तिक्रिया के प्रकरण में लिखे अनुसार जल पीवें। उसके वाद सहज शीर्षासन, सहज विपरीतकरणी ४ मिनट, सहज प्राणायाम सं० २, ३, ४, ८ प्रत्येक को २ मिनट। अगर पैर चल-फिर सके तो अर्धशलभासन ४ वार, टव-स्नान १० मिनट तक। टव-स्नान के स्थान पर ५ मिनट के लिये अर्ध-स्नान करें।

मध्याह्न—अग्निसार धौति २०-२५ मिनट तक तथा टव-स्नान।

सायं—टव-स्नान ५ मिनट, सहज शीर्षासन ४ मिनट ; ४ प्रकार में से कोई भी सहज प्राणायाम २ मिनट के लिये। चलना-फिरना सम्भव हो तो सुवह एवं शाम भ्रमण-प्राणायाम का अभ्यास करें।

क्रम वर्धमान व्यायाम, जल-पान आदि के नियमों का पालन करें।

नियम एवं पथ्य—इस रोग का आक्रमण होते ही लगातार ३ दिनों तक उपवास रखें। उपवास के समय सिर्फ प्रचुर मात्रा में जल का सेवन करें। उपवास के प्रथम दिन उपयुक्त प्रकारकी वस्तिक्रिया से अंत्र-समूह को साफ कर लें। उपवास के समय अन्य किसी भी प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है। शरीर के रोग-ग्रस्त भाग को सूर्य-स्नान करावें, प्रति दिन सरसों के तेल या काडलिवर ऑयल से १५-२० मिनट तक मालिश करें। किसी भी तीव्र औषधिका प्रयोग न करें ; पक्षाघात में की जानेवाली मालिश प्रथमतः शरीर के निचले अंग पर होनी चाहिये, इसके वाद ऊपरी अंग की मालिश हो।

एक वात विशेषरूप से स्मरण रखने को है कि जव तक रक्त में अम्ल पदार्थ की औसत अत्यधिक नहीं होगी तब तक पक्षाघात न होगा। इसलिये इस प्रकार के रोगों के पथ्य से अम्लतावर्धक भोजन, जैसे—मांस, मछली, रोटी, चावल, घी, तेल आदि निकाल दें। रोगी के पथ्य में क्षारीय पदार्थों की मात्रा वढ़ावें। फल, शाक, सब्जी, दूध, छाछ आदि की मात्रा भोजन में वढ़ावें। रोगी धूम्रपान, नस्य और चाय का उपयोग कतई न करें।

पाकस्थली का घाव या अंत्रक्षत

(Duodenal Ulcer & Gastric Ulcer)

लक्षण : किसी कारणवश पाकस्थली की दिवालों पर जव घाव हो जाते हैं तो उन्हें पाकस्थली का व्रण कहा जाता है। कोष्ठबद्धता, अजीर्ण एवं क्षुधाहीनता इसके प्राथमिक लक्षण हैं। इसके वाद द्वितीय अवस्था में भोजनोपरान्त पेट-दर्द की शिकायत रहती है जो क्रमशः वढ़ती जाती है। किसी-किसी रोगी को पेट में दर्द के साथ वमन और वमन के साथ रक्त भी गिरता है। वमन होने से रोगी को आराम मिलता है।

हमारा भोजन आधा पचकर पेट की ऊपरी अँतरियों में चला जाता है। यहाँ पर पाकस्थली के पांचक रस, यकृत के पित्त रस एवं अग्न्याशय के अग्निरस सम्मिलित रूप से मिलकर अर्धजीर्ण खाद्य को पचाते हैं। कभी-कभी ये तीनों प्रकार के रस मिल कर भी इस भोजन को नहीं पचा पाते, ऐसी अवस्था में ये रस अनपचे भोजन के साथ मिलकर स्वयं भी दूषित होकर विषाक्त वन जाते हैं। इन विषाक्त रसों के स्पर्श से अँतड़ियों की दीवालों में ऐंठन पैदा हो जाती है, और फफोले उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, शेष में वहाँ घाव हो जाते हैं। इनको 'पाकस्थली का व्रण' कहते हैं। **भोजन के तुरन्त बाद होने**

वाली बेचैनी एवं पेट का दर्द पाकस्थलो के व्रण का लक्षण है। यही तकलीफ अगर भोजन के २-३ घण्टे बाद होती है तो अँतड़ियों में व्रण समझना चाहिये। इसके अलावा पाकस्थली के व्रण के रोगी की मुखाकृति शीर्ण हो उठती है। अन्त्र-व्रण के रोगी की मुखाकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल उदर के ऊपरी हिस्से में अन्त्रवेदना होती है।

कारण : आमिषजातीय भोजन पदार्थों को पचाने के लिए अमाशय की ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किया हुआ अम्ल पदार्थ काफी विषैला होता है। शरीर की अन्य ग्रन्थियाँ क्षारीय पदार्थ उत्पन्न करती हैं। इन अम्ल पदार्थ एवं क्षारीय पदार्थों का अनुपात समान रहना चाहिए। पुरानी कोष्ठवद्धता, अम्ल या अनपच के कारण क्षार पदार्थ की कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप अम्ल रस शरीर को क्षति पहुँचाने में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार के तेज अम्ल के एकत्रित होने के फलस्वरूप शरीर के अवयवों में व्रण हो जाते हैं। कारण ऊपर लिखे जा चुके हैं।

अधिक भोगी जीवन विताने के फलस्वरूप अति अम्लता को नष्ट करने में क्षारजातीय रक्त साधनहीन हो जाता है। यह भी इस प्रकार के रोगों का अप्रत्यक्ष कारण है। सुस्त एवं निष्क्रिय मनुष्यों को पौष्टिक भोजन की आवश्यकता नहीं रहती है। लेकिन जिह्वा लोलुपता के कारण अगर वे पथच्युत होते हैं, उपयुक्त भोजन के सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं तो वे आसानी से वीमारी का शिकार हो जाते हैं। पौष्टिक भोजन पचकर रक्त को अम्ल बना देता है और अगर नहीं पचता है तो स्वयं अम्ल-विष वनकर व्रण पैदा कर देता है।

आधुनिक चिकित्सकों का कहना है कि पथ्यविधि का उल्लंघन कर अतिरिक्त रूप से आमिष-भोजन या घी, मक्खन, छेना, सन्देश, रसगुल्ला प्रभृति खाने से शरीर में यूरिक एसिड संचित होकर यह रोग उत्पन्न होता है।

उपचार : प्रातः—सहज वस्तिक्रिया संख्यक १ (क) सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ ; प्रातःकृत्य के वाद टव स्नान ; वमन धौति व वारिसार धौति ; सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ७ ; भ्रमण प्राणायाम ।

मध्याह्न में—टव स्नान, टव में वैठ कर सहज अग्निसार ४० वार, सहज प्राणायाम नं० ३, ३ मिनट करना चाहिए ।

सायं—भ्रमण प्राणायाम ; शीर्षासन या सहज विपरीतकरणी, योगमुद्रा, उड्डीयान, पश्चिमोत्तान, अग्निसार धौति संख्यक १, २ और सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ७ ।

रोग के आक्रमण के ह्रास के अनुसार क्रमशः व्यायाम का अभ्यास वढ़ावें, पेट-प्रक्षालन करें । पानी पीवें, एवं जल-स्नान का अभ्यास करें । जल के साथ दिन में किसी दो चम्मच मधु का सेवन करें ।

नियम एवं पथ्य : सुपारी या पान खाना, चाय पीना, धूम्रपान या अन्य नशीली चीजों का सेवन त्याग दें । इस प्रकार के व्रणों से रक्त वहता रहता है, जिससे मल काला होने लगता है । जव तक पेट में दर्द रहे या मल का रङ्ग काला आता रहे तव तक तरल खाद्य जैसे—हल्का दूध, फलों का रस, शाक-सब्जियों का रस, नारियल का पानी आदि सेवन करें । कोई भी पदार्थ एक साथ अधिक मात्रा में ग्रहण न करें । दो-एक घण्टे के अन्तर से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में इन सव वस्तुएँ का सेवन करें । प्रत्याशित सुधार हो जाने पर जैसे—पेट में वेचैनी, दर्द या उल्टी होने का भाव प्रभृति वन्द हो जाने पर पुराने चावल का भात शाक-सब्जियों के रस के साथ सेवन करें । अगर पचा सकें तो शुद्ध घी या मक्खन का अल्प मात्रा का सेवन करें । इन चीनी जातीय भोजनों से व्रण को सूखने में लाभ मिलता है । तन्तुजन्य या ठोस भोजन पदार्थ का सेवन कत्तई न करें । इनके सेवन से व्रण को आराम होने में विलम्व होगा । यह भी हो सकता है कि ठीक हुए व्रण फिर से हरे हो जावें ।

इस बीमारी का आक्रमण पुनः न हो इसकी रोकथाम के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ होने से १ वर्ष पर्यन्त पथ्य के विषय में तब तक अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिये जब तक कि व्रण पूर्णरूप से न मिट जावें एवं शरीर की साधारण अवस्था में काफी सुधार न हो जावें। इस बीमारी के मुख्य कारण हैं शरीर में उत्पन्न अम्ल। इसलिये आमिष जातीय खाद्य, खट्टे, मीठे, मशालेदार खाद्य-पदार्थों का सेवन पूर्णतः वर्जनीय है। रोग की अवस्था अधिक खराब न होने पर पकी हुई दाल का पानी दिया जा सकता है।

यह बीमारी युवावस्था में खासतौर से पैदा होती है। लेकिन अधेड़ अवस्था में पूर्णरूप से प्रकट होती है। शीत ऋतु में यह रोग सुप्तावस्था में रहता है। ग्रीष्म ऋतु में रोगी के तलपेट में बेचैनी होती है एवं इस समय थोड़ा-सा कुछ खा लेने के बाद पेट का दर्द घटने लगता है। दूसरी अवस्था में दर्द अधिक होता है। रोगी आराम के लिये किसी-न-किसी रूप में सोडा का उपयोग करते हैं। लेकिन अन्तिम अवस्था में सोडा पीने से भी लाभ नहीं होता है। इस अवस्था में सारे शरीर पर दर्द का प्रभाव रहता है। इस अवस्था में रक्त की उल्टी भी हुआ करती है (इस अवस्था के उपयोगी उपाय रक्तपित्त या रक्त-वमन के प्रकरण में देखें)।

इस रोग के फलस्वरूप होनेवाला दर्द इतना कष्टदायक होता है कि रोगी निराश होकर तुरन्त सर्जन के चाकू के सामने आत्म-समर्पण कर देता है। ये ऑपरेशन काफी खतरनाक होते हैं। कभी-कभी ऑपरेशन से मौत भी हो जाती है। लेकिन यौगिक चिकित्सा में मौत का भय नहीं है। स्वास्थ्य लाभ भी सुनिश्चित है। बशर्ते कि रोगी योगाभ्यास एवं पथ्य के सिद्धान्तों को निष्ठा के साथ पालन करें। बुद्धिमान व्यक्तियों के विचार करने योग्य एक और भी तथ्य है। इस प्रकार का प्रमाण है कि पाकस्थली के क्षत को भ्रमवश अन्तड़ियों का व्रण समझ कर सर्जन ऑपरेशन कर देते हैं। इससे रोगी की मृत्यु समय से पहले ही हो जाती है।

पाण्डुरोग

(Jaundice)

लक्षण—द्रोणी यकृत का अर्थ है अपचन, पतले दस्त लगना, पीला पेशाब होना आदि। रोगी की आँखों में भी कुछ रंग-सा हो जाता है। यहाँ तक कि शरीर का समूचा भाग रंगीन हो जाता है। शरीर की इस अवस्था को आयुर्वेद के मतानुसार पाण्डुरोग कहा जाता है। इस रोग के आक्रमण के फलस्वरूप यकृत अधिक खराब हो जाता है, पित्त का अधिकांश भाग दूषित हो जाता है एवं शरीर की अंग-प्रणाली में एकत्रित होता रहता है। मनुष्य का चर्म एवं आँखें पीली-पीली नजर आने लगती हैं। यहाँ तक कि मूत्र या पसीना से भी कपड़े में पीले रंग के धब्बे पड़ने लगते हैं। जिह्वा का स्वाद अत्यधिक कडुआ हो जाता है, कोष्ठवद्धता स्थायी हो जाती है, अतिसार, कमजोरी और जी मिचलाने लगता है। इन सब लक्षणों से पाण्डुरोग की अवस्था जब आगे बढ़ती है तो उसे कामला कहा जाता है।

कारण—हमारे शरीर की सबसे बड़ी ग्रन्थि है—फुसफुस। आकार के अनुसार यकृत का द्वितीय स्थान है। व्यक्ति के अनुसार इसका वजन ३ से ४ पौण्ड तक होता है। यह कार्यों के अनुसार छोटे-छोटे घरों में विभाजित है। कोई घर ग्लाइकोजिन का निर्माण करता है, कोई घर पित्त एवं कोई घर रक्त का निर्माण करता है। पचा हुआ भोजन तरल पदार्थ के रूप में इन घरों में प्रवेश करता है जहाँ यकृत के सहयोग से रंजक पित्त मिलाकर रक्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यहीं पर इसके विजातीय द्रव्य भी पृथक किये जाते हैं। शर्करा या ग्लाइकोजिन इसी तरल पदार्थ के भाग हैं। ये यकृत एवं अग्न्याशय के आन्तरिक रस से उत्पन्न होते हैं। यह शर्करा खून की खोयी हुई शक्ति को पूरा करती है एवं शर्करा की अवशेष मात्रा यकृत के कोषों में सुरक्षित रहती है। इस प्रकार एकत्रित शर्करा, दौड़ते समय आवश्यक

अतिरिक्त शक्ति या उपवास के समय जरूरी शक्ति के लिए उपयोग में आया करती है। दोषी यकृत ये सब काम करने में असमर्थ रहता है।

शरीर के लिये चर्वी का तव तक कुछ भी उपयोग नहीं किया जा सकता है जव तक कि यह यकृतके द्वारा पचाकर पित्तके साथ न मिलाया जाय। चर्वी सिर्फ पित्त में ही घुलनशील होती है। आंशिक रूपसे पचा हुआ भोजन उदर में आता है यहाँ वह अग्न्याशय एवं यकृत से उत्पन्न रसों में मिलकर पचता है। भोजन का अवशेष भाग, जो यहाँ भी नहीं पचता, वह छोटी अँतड़ियों में चला जाता है। इस प्रकार पित्त अपना कार्य समाप्त कर स्वयं भी समाप्त हो जाता है।

यकृत कुछ पित्त Gall Bladder को भी भेजता है। जहाँ वहींसे उत्पन्न रसके साथ ग्रहणी नाड़ी या ऊपरी अन्त्रमें चला जाता है। अगर अन्त्र-समूह में विना पचा हुआ भोजन जमा रहता है तव पाचन कार्य के लिये पित्त को नहीं प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यकृत द्वारा निर्मित पित्त का उपयोग न होने के कारण वह रक्त में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। चूंकि पित्त एक प्रकार का तीव्र विष है—वह सारे शरीरको विषैला वना देता है। इस प्रकार यह अन्य अंगों एवं ग्रन्थियों को भी दोषी वनाकर उन्हें अपना कार्य नहीं करने देता है। फलस्वरूप अन्य कई प्रकार के दूषित पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं एवं इस अवशेष पित्त के साथ मिलकर इस प्रकार का विष पैदा करते हैं जो रक्त की रक्त-कणिका को नष्ट कर देते हैं। इन नष्ट हुई रक्त-कणिकाओं से यकृत पित्त का पुनः निर्माण करता है। इस प्रकार यह तीव्र विष शरीर में वढ़ता ही जाता है एवं रक्त-कणिकाएँ पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं। रोगी का चर्म एवं मल-मूत्र पीला हो जाता है एवं अस्वस्थ यकृत समुचित मात्रा में शर्करा का भी निर्माण नहीं कर पाता। इस प्रकार शरीर की शक्ति क्षीण होती जाती है। इस अवस्था को 'कामला' कहते हैं।

उपचार—प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया करें। निःसारण एवं धोवन करें। वमन धौति व वारिसार

धौति का अभ्यास करें। इससे रोगी को चमत्कारपूर्ण लाभ होगा। किसी भी नियम के अनुसार स्नान करें। अग्निसार धौति सं० १ को ८ वार करें, सं० २ को ५ वार करें। भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें।

मध्याह्न :—अवगाहन स्नान एवं टव स्नान के समय अग्निसार धौति सं० १ को १२ वार करें। सहज अग्निसार ३० वार।

सायं :—भ्रमण प्राणायाम, अग्निसार धौति सं० १ को १० वार। उड्डीयान ४ वार, शयन पश्चिमोत्तान, शीर्षासन, पवन मुक्तासन, सहज प्राणायाम सं० १, ३ और ६ का अभ्यास करें।

क्रम वर्धमान व्यायाम, जल-पीना आदि का अभ्यास करें। दोनों समय भोजन के उपरान्त दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास लें।

नियम एवं पथ्य : जब तक मूत्र का रंग पीला रहे, पथ्य के सम्बन्ध में अत्यधिक सावधानी वरतनी चाहिये। अगर पित्त के प्रभाव से यकृत के कोषों की क्षति हो जाती है तो उनके पुनर्निर्माण की आशा न करें। जब तक शरीर में ज्वर रहे तब तक भोजन में खट्टे फल जैसे— कमला नींबू, अनारस, पपीता (पका हुआ) खायें। ज्वर उतरने एवं कुछ शक्ति प्राप्त होने के बाद हल्का भोजन करें। भोजन में पोषक तत्व रहने चाहिये। मशालेदार और चर्बीयुक्त भोजन का त्याग करें। पपीता, हरा केला आदि की सब्जी का प्रयोग करें। छाछ, तक्र, अगर पच सके तो गाय का दूध और फल सबसे उपयोगी हैं। इलाज होनेके बाद चावल, रोटी, मछली (कम मात्रा में) सेवन करें। मक्खन या घी, मिठाई, अण्डे या मांस का त्याग करें। इनका कभी सेवन न करें। (संतुलित भोजन का प्रकरण देखिये)।

पित्त-पथरी
(Gall stone)

लक्षण : भोजन के तुरन्त बाद होनेवाली बेचैनी एवं पेट में दर्द महसूस होने लगता है। उल्टी होने के बाद ही कुछ आराम मिलता है।

वीमारी जव अधिक पुरानी हो जाती है तो खाने में अरुचि होने लगती है। पेट का दर्द भी वढ़ जाता है, सिर में चक्कर आने लगते हैं, उल्टी होती है एवं बुखार हो जाता है। **पहले पहल दर्द नाभि के दाहिने पार्श्व में पित्त की थैली के आसपास मालूम होता है।** लेकिन वीमारी ज्यों-ज्यों वढ़ने लगती है, पत्थर भी बड़ा हो जाता है और दर्द पेट के पूरे हिस्से में होने लगता है। यह दर्द कभी-कभी दाहिने कन्धे तक वढ़ जाता है।

टेढ़ी-मेढ़ी आकृति के पत्थर जव पित्त की थैली को छूते हैं, तव पित्त की थैली की झिल्ली में एक प्रकार की ऐंठन होने लगती है। शुरू-शुरू में भोजन के वाद जो वेचैनी हुआ करती है वह इसी ऐंठन की द्योतिका है।

जव भी भोजन पेट में प्रवेश करता है, स्वाभाविक रूपेण पित्त का प्रवाह होता है। जव इस प्रवाह के सँकरे रास्ते में पत्थर के कारण रुकावट आ जाती है, तव इस पत्थर को रास्ते से हटाने के लिये स्नायु एवं झिल्लियाँ पूरी कोशिश करती हैं। आमतौर पर यह प्रयास असफल ही होता है। रोगी की बेचैनी से इसका पता लगता है। लेकिन अगर यह पत्थर या तो रास्ते से हट जाय या पाकस्थली में चला जाय तो पित्त प्रवाह का रास्ता साफ हो जाता है और रोगी को आराम मिलता है।

रोग की शुरुआत में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े पित्त की थैली से निकल कर आँतों में आते रहते हैं। जहाँ से ये मल के रास्ते निकल जाते हैं। लेकिन जव रोग का आक्रमण अधिक जोर से होता है, और शरीर की सारी प्रणालियाँ ही दूषित हो जाती हैं, तव स्थानीय स्नायुओं एवं ग्रन्थियों को अधिक क्रियाशील होना पड़ता है और इसके फलस्वरूप इन पर अधिक बोझ पड़ता है। धीरे-धीरे पित्त की थैली से इन पत्थरों का निकलना वन्द हो जाता है तथा अन्य

दूषित पदार्थों के संयोग से इनकी आकृति बड़ी होने लगती है और ये अंत्र के रास्ते से बाहर नहीं निकल पाते। आयुर्वेदज्ञोंने चेतावनी दी है—

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः।
औषधे तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेद मर्हति॥

अर्थात् मूत्रनली या पित्त कोष की अश्मरी (पत्थर) एक भयंकर रोग है जो यम के समान है, शुरू-शुरू में औषधि से इसकी चिकित्सा हो सकती है लेकिन रोग पुराना होने पर इसकी शल्य-चिकित्सा करनी पड़ती है। आयुर्वेद के मनीषी प्राचीन कालमें आधुनिक सर्जनों की तरह ही इस रोग में आपरेशन वगैरह करते थे। पित्त-कोष का ऑपरेशन काफी खतरनाक होता है और अधिकांश रोगी तो ऑपरेशन के दौरान में मर भी जाते हैं। लेकिन 'योग' का यह निश्चित मत है कि प्रारम्भिक अवस्था में पित्त-पथरी रोग को निर्मूल किया जा सकता है।

कारण : यकृत में पित्त की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इसका विवरण पाण्डु-रोग के प्रकरण में बताया गया है। यकृत से सिर्फ पित्त की उत्पत्ति ही नहीं होती बल्कि रक्त भी बनता है और उसका शोधन भी होता है। रक्त में वर्तमान अशुद्ध वस्तुओं को यकृत ही पित्त-कोष में भेजता है ताकि पित्त के साथ ये भी आंत के जरिये शरीर से बाहर निकल जायँ। अगर रक्त में अशुद्ध पदार्थों की मात्रा अधिक होती है तो रोग के कीटाणु जन्म लेते हैं और बढ़ते हैं। ये कीटाणु ही पित्त के सम्पर्क में आकर अशुद्ध द्रव्यों के साथ पत्थर का रूप धारण करते हैं। ये पत्थर बालू के दानों की आकृति से क्रमशः बढ़कर अंडे के समान हो जाते हैं। इन्हें ही अंग्रेजी में Gall stone या Gravelii Hepatikii कहते हैं और आयुर्वेद में इन्हें अश्मरी कहा जाता है।

यह रोग भी अन्य रोगों की तरह स्थायी कोष्ठबद्धता, अम्लता, अपचन, अनियमित या असंतुलित भोजन एवं अधिक मात्रा में माँस-

भक्षण का परिणाम है। धनिकवर्ग की आलसी स्त्रियाँ एवं जो पुरुष श्रमशील नहीं हैं वे ही इसके शिकार होते हैं। संयमशील, श्रमजीवी स्त्री या पुरुष इस रोग के शिकार कभी नहीं होते। यही कारण है कि मजदूर एवं गरीव समुदाय में यह रोग कभी नहीं सुना गया। क्योंकि सारे दिन के कठोर परिश्रम के वाद उन्हें रात में पूरी नींद आती है और थके-मांदे जीवन में प्रकृति के साथ दुराचार करने का भी उन्हें कम ही मौका मिल पाता है।

उपचार :—प्रातः पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्ति-क्रिया, स्नान वारिसार धौति, सहज प्राणायाम संख्यक १, ७, ६ और भ्रमण प्राणायाम।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, शीर्षासन, सहज अभिसार, अग्निसार धौति संख्यक १, २, सर्वांगासन, उष्ट्रासन, सहज प्राणायाम संख्यक १, ७ और ६।

क्रमशः योगाभ्यास वढ़ावें। पानी पीने एवं जल स्नान के सिद्धान्तों का कड़ाई से पालन करें। दर्द महसूस होने पर श्वास को एक से दूसरे नासिका रन्ध्र में वदल लें। पेट की खाली अवस्था में अगर रोग का आक्रमण हो तो कोई भी वस्तिक्रिया करें इससे तुरन्त लाभ होगा।

नियम एवं पथ्य—रोग मालूम होते ही, मछली, माँस एवं अंडे खाना छोड़ दें। दर्द अगर अधिक मालूम हो तो नींबू के रस के साथ काफी पानी पीवें एवं उपवास करें। यह क्रम तव तक जारी रखें जव तक कि दर्द मिट न जायँ। दर्द मिटने के २-३ दिन वाद तक आधा उपवास करें। अर्ध उपवास में मक्खन निकाला हुआ दूध, छाछ, शाक-सब्जी का रस और फलों का रस सेवन करें। अगर उल्टी के कारण अधिक बैचेनी हो तो पेट पर भींगा गमछा रखें। इस पर ठण्डा पानी छिड़कते रहें या गमछे पर वर्फ का टुकड़ा भी रख सकते हैं।

यह स्मरणीय है कि **शरीरगत अम्ल-विष को नष्ट करने की क्षमता नींबू के रस में वर्तमान है।**

जिस दिन भोजन बनाने का काम घर में नहीं रहता उस दिन स्त्रियाँ घर को साफ करती हैं, उसी प्रकार उपवास के दिन शरीर के मुख्य अवयवों को रक्तादि शोधन करने का मौका मिल जाता है। यही कारण है कि चिकित्सा में उपवास का प्रमुख स्थान है। उपवास के वाद भी भोजन में सावधानी वरतें। सुबह अगर भूख अधिक हो तो रसदार फल, पकाये या पके बेल का शर्बत लेवें। साधारण भूख की अवस्था में सुबह नींबू के रस के साथ १ गिलास पानी या १-२ सन्तरे, अनारस, अंगूर, वेदाना, पके आम आदि में से रुचि के अनुसार कुछ भी ले सकते हैं। दोपहर के भोजन चावल, रोटी, सब्जी, छाछ, दाल का रस (पानी) लेवें।

भोजन में तेल, घी या मशालों का अत्यधिक उपयोग न करें। हल्का भोजन करें ताकि पेट में खाली जगह रहे। अगर दोपहर के बाद भूख महसूस हो तो नारियल का पानी, कुछ फल, मिश्री का शर्बत पीवें। रोग के समय नियमों का कड़ाई से पालन होना चाहिये।

प्रदर रोग

(Leucorrhœa)

लक्षण—विना किसी उत्तेजना के योनि से एक प्रकार का स्राव होना ही प्रदर रोग है। आयुर्वेद के मतानुसार अगर यह स्राव हल्के पीले, काले या लाल रंग का हो तो इसे पित्तज प्रदर कहते हैं। अगर यह स्राव फेनयुक्त हो तो वातज प्रदर है। अगर यह दूधिया रंग का हो तो इसे श्लैष्मिक प्रदर कहते हैं। आजकल श्लैष्मिक प्रदर को श्वेत-प्रदर भी कहते हैं, जब कि पित्तज एवं वातज प्रदर को रक्त-प्रदर कहा जाता है। इन दिनों श्वेतप्रदर ही अधिकतर होता पाया जाता है।

कारण—*गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च*—गर्भपात, गर्भस्राव या अधिक पुरुष-प्रसंग से पेलविक स्थानकी नसें एवं ग्रन्थियों जैसे—Bertholin's gland, Skene's glands, गर्भाशय आदि अर्थात् स्त्री के सभी प्रजनन-यन्त्र कमजोर हो जाते हैं। फलस्वरूप इन यन्त्रों की स्तम्भन-शक्ति क्षीण हो जाती है एवं एक प्रकार का स्राव-सा होने लगता है। इसके कारण शरीर में शक्ति का अभाव हो जाता है। स्राव के अनुपात से ही शरीर की शक्ति भी क्षीण होती है।

अविवाहित लड़कियों द्वारा अप्राकृतिक उपायों से काम-तुष्टि करने से या विवाहित लड़कियों द्वारा अत्यधिक पुरुष-प्रसंग करने से स्थायी प्रकार की कोष्ठबद्धता होती है। यही प्रदरजातीय रोगों की जड़ है। कोष्ठबद्धता की तरह ही यकृत के कारण भी प्रभाव पड़ता है और रोगिणी रक्ताल्पता का शिकार हो जाती है। आधुनिक चिकित्सक इसको स्त्री के शरीर में विटामिन की कमी बतलाते हैं। औषधियों का बराबर सेवन करने या अक्सर इन्जेक्शन लेने से ग्रन्थियाँ और भी कमजोर हो जाती हैं जिससे ग्रन्थियों से तीव्र स्खलन होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण भी प्रदररोग की उत्पत्ति होती है।

छोटी-छोटी लड़कियों में भी एक प्रकार का स्राव पाया जाता है, पर यह प्रदर नहीं है। अंग व्यवस्थित रूपसे साफ न रहने से या कीटाणु आदि के फलस्वरूप यह स्राव कफ की झिल्ली से हुआ करता है।

उपचार—अल्पवयस्क कन्याओंको कुछ आसन एवं सहज प्राणायाम का अभ्यास करवा कर उनका स्वास्थ्य सुधारें। पोषक खाद्य खाने के लिये दें, इसीसे लाभ होगा।

युवतियों की आंशिक क्लीवता की तरह चिकित्सा करें। रक्तप्रदर के साथ-साथ यकृत रोग भी होता है। ऐसी अवस्था में यकृत रोग का भी इलाज करें।

नियम एवं पथ्य—शरीर-विज्ञान के अनुसार स्त्रियों के काम-जनक अंग, पेलविक स्नायु एवं अन्य हिस्से २० वर्ष की आयु से पहले

पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाते हैं। पर ऐसा देखा गया है कि आजकल २० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते लड़कियाँ ३-४ बच्चों की माँ वन जाती हैं। परिणामस्वरूप स्नायु, ग्रन्थियाँ एवं सम्बन्धित अंगों के साथ यह ज्यादती होती है एवं माताओं पर रोग के रूप में उसकी प्रतिक्रिया होती है। आधुनिक एवं प्राचीन चिकित्सा-जगत् ने प्रदर के इस कारण को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। प्रत्येक पति को यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि प्रत्येक स्त्री देश की माँ है। अतएव माताओं को अपनी कामासक्ति का शिकार बनाते हुए उनको निर्वल वनाकर, वे सम्पूर्ण देश को निर्वल वनाने का अपराध कर रहे हैं।

सभी आभ्यंतरिक अंगों की साबुन एवं जल से सफाई करनी चाहिये। भीतर कहीं चोट न लगे—इसके लिये नाखून ठीक प्रकार से काट लें। अल्पवयस्क कन्याओं को होनेवाला स्राव शीघ्र ही इससे ठीक हो जायेगा।

ऊपर लिखी यौगिक क्रियाओं से रोगिणी को काफी लाभ होगा; वशर्ते कि चिकित्सा के दौरान में पुरुष-प्रसंग न किया जाये। यौगिक अभ्यास से पूर्ण रूपेण लाभ प्राप्त करने के लिये कामतुष्टि के अप्राकृतिक साधनों का त्याग करना आवश्यक है।

गर्म, मशालेदार या अन्य कोई भी इस प्रकार का भोजन, जिससे पाचन यन्त्रों पर भार पड़े, छोड़ देना चाहिये। दूध, छाछ, शाक-सब्जी, फल इस अवस्था में उत्तमोत्तम हैं।

प्रमेह

(Gonorrhœa)

सम्भवतया प्रमेह भी अन्यान्य रोगों की तरह एक संक्रामक रोग है। आयुर्वेद शास्त्र में इस रोग का विवरण विशेष रूप से नहीं प्राप्त होता है। उन्होंने कुछ समान लक्षण देखकर शायद इसे भी मेह-रोग में

ही सम्मिलित कर लिया है। इसका नाम 'प्रमेह' दिया गया है। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार इसको गोनोरिया (Gonorrhœa) नाम दिया गया है।

लक्षण : मूत्रमार्ग की जलन, मूत्र करने के समय दर्द होना, लिंग में खुजली एवं जलन होना, सफेद या पीली पीव या जल जैसा तरल पदार्थ का वहना ; अण्डकोष आदि का फूल उठना या उसमें दर्द होना, इस रोग के साधारण लक्षण हैं। जिन स्त्रियों को यह रोग हो जाता है उनके भी मूत्रमार्ग एवं योनि में जलन, योनि का लाल होना, दर्द होना आदि लक्षण पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पेशाव करते समय जलन और पेशाब अतिशय दुर्गन्धयुक्त भी होता है।

उपचार : पाश्चात्य औषधि-विज्ञान ने इस रोग का मूल कारण एक कीटाणु को खोज निकाला है। इसका नाम गोनोकोकस (Gonococous) है और इसी के आधार पर इस रोग का नाम भी उन लोगों ने गोनोरिया (Gonorrhœa) दिया है। सम्भवतया इस रोग के कीटाणु व्यभिचारी और गन्दी आदतवाले स्त्री-पुरुषों में उत्पन्न होते हैं। इस रोग के पैदा होने का मुख्य केन्द्र है—**वेश्यालय, जहाँ स्त्री और पुरुष स्वच्छता एवं संयम को त्यागकर विषय-भोग में लीन रहते हैं।** इस बीमारी से ग्रसित स्त्री या पुरुष के साथ विषय-भोग करने से दूसरे स्त्री-पुरुषों में भी इसका प्रसार होता है। यह बहुत ही घातक बीमारी है और जब तक शरीर की प्रतिरोध शक्ति काफी सबल न हो इससे बचना मुश्किल है।

प्रारम्भिक आक्रमण के समय अगर कुछ इलाज किया जाय तो यह एक बार मिट जाता है लेकिन फिर पैदा हो जाता है। अगर प्रारम्भिक अवस्था में पूर्ण रूप से उपचार न कर लिया जाता है तो इसकी चिकित्सा करना असम्भव हो जाता है। कई व्यक्ति इस रोग के आंशिक शान्त रहने की अवस्था में अपना विवाह कर भूल कर बैठते हैं। इसका

परिणाम यह होता है कि अपने साथी को भी इस रोग का शिकार बना लेते हैं।

उपचार : प्रातः—सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया, १५ मिनिट तक टब-स्नान, टब में बैठकर १५-२० बार अग्निसार धौति संख्यक १ ; ४ बार अग्निसार संख्यक २ ; सहज अग्निसार ३० वार, सहज प्राणायाम संख्यक २ एवं ३, प्रत्येक ३-३ मिनट, वारिसार धौति।

मध्याह्न : टब स्नान २० मिनिट तक, अग्निसार धौति आदि (टब में बैठे हुये) प्रातःकाल के समान।

सायं : भ्रमण प्राणायाम, ५ मिनिट तक टब-स्नान, टब में ही बैठकर प्रातःकाल के समान क्रिया करें। ३ मिनिट सर्वाङ्गासन, १ मिनिट मत्स्यासन, ४ बार उड्डीयान ; पश्चिमोत्तान ४ बार ; शीर्षासन ३ मिनिट, सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ३ प्रत्येक २ मिनिट तक।

नियम एवं पथ्य : प्रमेह के रोगी के मूत्र या अन्य किसी भी प्रकार के लिंग से वहने वाले स्राव से सावधान रहना चाहिये। अगर किसी प्रकार की असावधानीवश यह स्राव आँखों में लग जाय तो आँख की शक्ति २-३ दिन में ही समाप्त हो जाती है। माता का गर्भ मार्ग, अगर इस रोग से आक्रान्त हो तो इस मार्ग से पैदा होने वाले बच्चे भी अधिकतर जन्मजात अन्धे होते हैं।

चंचल एवं कामी जीवन के २ अभिशाप हैं—उपदंश एवं प्रमेह। इससे ग्रसित स्त्री या पुरुष को कभी भी शादी न करनी चाहिये, ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिये। वहुधा देखा गया है कि संयम से रहने पर यह रोग शान्त हो जाता है। अगर लिंग में असह्य वेदना या जलन की अनुभूति हो तो लिंग को कुछ मिनट तक सह्य होने लायक गर्म पानी में डुबो रखें या गीली मिट्टी उसके चारों ओर लेप कर कपड़ा से बाँध लें। यह प्लास्तर जब गर्म हो जावे तो इसे बदल लें। इस तरीके से वेदना को शान्त होने में काफी सहायता मिलेगी।

नींबू या संतरे का रस मिला हुआ पानी रोगी १०-१२ गिलास प्रति दिन पीवें। २-३ दिन तक लगातार उपवास करें। उपवास-काल में पानी या खूब पतला दूध पीवें। रोगी को माँस, मछली, अण्डे आदि मांसाहार एकदम त्याग देना चाहिये। साथ ही नशीले द्रव्य एवं खट्टे फल भी न खावें। इन दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों के लिये विशुद्ध ब्रह्मचर्य युक्त जीवन ही एक उपाय है। जब तक शरीर में इस रोग के कीटाणु विद्यमान रहते हैं, विषय-भोग करते ही यह रोग पुनः पूर्ववत् हो जाता है। इसलिये **इस रोग से आक्रान्त व्यक्तियों के लिये ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।** रोग की शान्त अवस्था में लिंग को साबुन एवं पानी से स्वच्छ रखना चाहिये। प्रतिदिन सूर्य-स्नान आवश्यक है। अगर सम्भव हो तो एकान्त में १५-२० मिनट तक नग्न होकर सूर्य-स्नान करें ताकि गुप्तांग पर पूरा धूप लग सके। स्नान के सिद्धान्तों का पालन करें।

इस रोग की चिकित्सा के दौरान में सफेद-चन्दन का बुरादा पानी या दूध में मिला कर खाली पेट में प्रतिदिन सेवन करें। इससे चिकित्सा में काफी सहायता प्राप्त होगी।

प्लीहा एवं यकृत के रोग

(Liver & Spleen Disease)

योग-शास्त्र के अनुसार यकृत एवं प्लीहा अग्नि-ग्रन्थियाँ हैं, किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार ये रंजकाग्नि अर्थात् रंजक पित्त के केन्द्र हैं। पचे हुए भोजन का तरल रूप वायु के द्वारा यकृत एवं प्लीहा में पहुँचा दिया जाता है, जहाँ यह शुद्धीकरण होकर रक्त में रूपान्तर होता है। इस रूपान्तर में रंजक पित्त सहयोग देता है। हृदय के सुपीरियर, इनफीसियर, भेनाकेमा एवं एरोटा नामक नसें यकृत एवं प्लीहा से जुड़ी रहती हैं। इन्हीं नसों के जरिये यकृत एवं प्लीहा हृदय को रक्त पहुँचाते हैं।

जहाँ से सम्पूर्ण शरीर में रक्त फैलता है। रक्त पहुँचाने का काम हृदय एरोटा के जरिये करता है।

प्लीहा हृदयके निचले हिस्से से सटकर सीने की वायीं तरफ लटकती रहती है। यह ४-५ इञ्च लम्बी होती है। ग्रन्थियों में फुसफुस सबसे बड़ा होता है। यकृत की संख्या दूसरी है। यकृत साधारणतया ३ से ४ पौण्ड तक होता है। यकृत, प्लीहा एवं वृक्क के स्वास्थ्य का आपस में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इनके काम भी एक दूसरेके पूरक हैं। बीमारी का प्रतिरोध करने में ये ग्रन्थियाँ एक दूसरे की सहायता करती हैं। अधिक काम करने के कारण एक ग्रन्थि अगर रुग्ण हो जाती है तो इस अधिक कार्य करने के फलस्वरूप दूसरी ग्रन्थि भी रुग्न हो जाती है। बीमारियों के निदान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

कारण—यकृत एवं प्लीहा के दो मुख्य कार्य हैं—(१) रक्त का निर्माण एवं (२) उसका शुद्धीकरण। भोजन की असावधानी एवं अपचन के कारण रक्त में अम्लता बढ़ जाया करती है। इसकी पूर्त्ति के लिए इन दोनों ग्रन्थियों को अधिक कार्य करना पड़ता है। किसी-किसी क्षेत्र में जब इनके प्रयास कार्यकारी नहीं हो पाते, तब ये स्वयं शिथिल हो जाती हैं। शरीर की समूची यंत्रप्रणाली के खराब होने से ऐसा ही पता चलता है। कृमि भीतर-भीतर उत्पन्न हो जाती है एवं शरीर को बीमार बना देती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आयुर्वेद के मतानुसार उन्हें कृमि कहते हैं। जो कृमि भीतर पैदा होती है उन्हें आभ्यन्तर कृमि कहते हैं और जो बाहर से आते हैं उन्हें बाह्य कृमि कहा जाता है। यकृत एवं प्लीहा अपने द्वारा निर्मित रक्त की असंख्य रक्त एवं श्वेत-कणिकाओं के माध्यम से कृमि से युद्ध करते रहते हैं। इस युद्ध में हताहत रक्तकणिकाएँ प्लीहा में एकत्रित हो जाती हैं एवं वहाँ से ये यकृत में पहुँच जाती हैं। यकृत इन्हीं मृत रक्त-कणिकाओं से पित्त का निर्माण करता है। प्लीहा की दीवार मलेरिया के कीटाणुओं की तरह बहुत से कीटाणुओं को अपने में समा लेती है। इन सब का

यही अर्थ होता है—ग्रन्थियों का अधिक कार्य करना एवं फलस्वरूप कमजोर होकर रोग के रूप में बढ़ जाना।

शराब, तम्बाकू एवं चाय जैसी नशीली चीजें शरीर में विष छोड़ती हैं। इसके कारण इन दो ग्रन्थियों को बहुत अधिक कार्य करना पड़ता है और यहाँ तक कि स्वयं नष्ट भी हो जाती हैं। उसी प्रकार अधिक चर्वी, मशाला एवं प्रोटीन के सेवन से ये दोनों ग्रन्थियाँ खराव हो जाती हैं। फलस्वरूप रक्त की शुद्धि नहीं हो पाती एवं शरीर पर नानाविध रोगों का आक्रमण होने लगता है।

उपचार—सुवह : सहज वस्तिक्रिया पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। निःसारणा एवं धोना, वारिसार धौति, सहज प्राणयाम सं० १, ३, ४ या भ्रमण प्राणायाम ; अर्धकूर्मासन, उड्डीयान अग्निसार धौति सं० १।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, अग्निसार सं० २, शयनपश्चिमोत्तान, हलासन, पवनमुक्तासन, शीर्षासन, सहज प्राणायाम सं० १, ३, ४ ; सहज अग्निसार ३० वार।

क्रम वर्धमान व्यायाम, जल-पान एवं जल-स्नान के नियमों का पालन करें।

प्लीहा अगर अधिक वढ़ी हुई हो तो किसी भी आसन का अभ्यास न करें। सबसे पहले सहज प्राणायाम, अग्निसार एवं अन्य मुद्राओं—विपरीतकरणी, सर्वाङ्गासन से इसका आकार छोटा करना चाहिये।

नियम एवं पथ्य—अगर रोगी का मल काले रंग का होता है तो यह समझना चाहिये कि यकृत कमजोर है। यह पित्त का निर्माण न कर पाने के कारण चर्वी का पाचन नहीं कर पाता है। अंत्रसमूह में एकत्रित बिना पचा भोजन दूषित होकर Ptomain में परिवर्तित हो जाता है। अतएव यकृत रोग से पीड़ित व्यक्ति को चर्वीयुक्त भोजन न दें। नशीली वस्तुओं से यकृत एवं प्लीहा दोनों ही कमजोर हो जाते हैं। **उष्णप्रधान देशों के लोग, शीतऋतु के अलावा अंडे का सेवन न करें।** क्योंकि इसके पाचन के लिये भी ग्रन्थियों को अधिक

कार्य करना पड़ता है। शीतप्रधान देश के लोगों को भी नित्य अण्डे का सेवन नहीं करना चाहिये। इसलिये रोगी एवं स्वस्थ व्यक्ति दोनों को ही अपने यकृत एवं प्लीहा के कार्य में इन त्याज्य भोजन सामग्री एवं तथाकथित औषधियों से बाधा नहीं पहुँचानी चाहिये। दूध, छाछ, पके हुए या खट्टे मीठे फल औषधि से उत्पन्न होनेवाले विष को दूर कर देते हैं। फल अपने आप विना पाचक रस के सहयोग के पच जाते हैं। इनमें यह गुण सूर्य की किरणों से प्राप्त होता है। इसीलिये सभी प्रकार की बीमारियों में फल सबसे उत्तम पथ्य माने जाते हैं। फल, शाक-सब्जी, दूध, छाछ, आदि से युक्त क्षारीय भोजन सामग्री इस प्रकार के या अन्य किसी भी प्रकार के रोगों में उपयोगी है।

व्यक्तिविशेष की क्षमता के अनुसार शारीरिक श्रम नियमित रूपसे करना चाहिये। अम्लता एवं अपचन के प्रकरण में बताये गये नियमादि का स्वस्थ न होने तक पालन करें।

प्लुरिसी

(Pleurisy)

लक्षण : जैसा कि नाम से ही पता लगता है प्लुरिसी एक आधुनिक रोग है। आयुर्वेद-शास्त्र में इसका पृथक् नामकरण नहीं किया गया है। उनके मतानुसार यह राजयक्ष्मा की ही प्रारम्भिक अवस्था है। सम्पूर्ण विश्व में यह रोग इसी नाम से प्रचलित है। ज्यों-ज्यों हमारे जीवन में शहरी जीवन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है उसी प्रकार यह रोग भी बढ़ रहा है।

हमारे शरीरस्थ फुस्फुस-द्वार पर एक प्रकार की झिल्ली का आवरण है। इसे पाश्चात्य चिकित्सकों ने प्लुरा कहा है। यह बीमारी चूँकि इसी आवरण से सम्बन्धित है इसीलिये इसका नाम प्लुरिसी है। प्लुरिसी २ प्रकार की होती है—(१) गीली एवं (२) सूखी। सूखी प्लुरिसी में सूखी

खाँसी के साथ रोगी को ज्वर भी रहता है। इससे सीने में काफी वेदना होती है। प्लुरा के नीचे एक प्रकार का तरल पदार्थ एकत्र होता रहता है, जिससे सूखी किस्म की प्लुरिसी गीली प्लुरिसी में वदल जाती है। यह तरल पदार्थ ८ औंस से ७-८ पौण्ड तक की मात्रा में पाया जाता है। इस तरल पदार्थ एकत्र होने के फलस्वरूप फुस्फुसों के विस्फारण एवं संकोचन में वाधा उपस्थित हो जाती है और रोगी को श्वास-प्रश्वास में अत्यधिक कष्ट होने लगता है। यह रोग अगर निर्मूल न हो तो कालान्तर में राजयक्ष्मा का रूप ले लेता है।

कारण : शरीरस्थ अन्य कई प्रकार के कफ के आवरणों से फुस्फुसों का आवरण मोटा होता है। इस आवरण में वहुत-सी इस प्रकार की असंख्य ग्रन्थियाँ होती हैं जिनसे लार-जातीय एक प्रकार का रस उत्पन्न होता है। यह रस श्वास-प्रश्वास के समय फुस्फुस एवं सीने की दिवाल के साथ होनेवाले घर्षण से फुस्फुस को बचाता है। इस आवरण की ग्रन्थियाँ यदि किसी प्रकार के कीटाणु से आक्रान्त होकर अगर सूख जाती हैं तो श्वास-प्रश्वास के समय फुस्फुस एवं सीने की भीतरी दिवाल में घर्षण होने लगता है। परिणामस्वरूप रोगी को सीने में तीव्र वेदना अनुभव होने लगती है। आक्रान्त ग्रन्थियों एवं स्नायुओं को रक्त की आवश्यकता के लिये हृदय को पुकार करनी पड़ती है एवं साथ ही इन आक्रामक कीटाणुओं से अपनी रक्षा हेतु श्वेत रक्त-कणिकाओं के लिये यकृत एवं प्लीहा पर दवाव डालना पड़ता है। इस क्रिया के फलस्वरूप सीने में तीव्र वेदना होने लगती है। सर्वप्रथम थोड़ा-सा शीत का अनुभव होता है इसके वाद सीने के एक तरफ दर्द होने लगता है जो धीरे-धीरे बढ़ जाता है, सूखो खाँसी आने लगती है, श्वास लेने में तकलीफ आदि असह्य यन्त्रणा होती है।

रक्त शुद्ध करने के लिये दो फुस्फुस सवसे महत्वपूर्ण अंग हैं। इसकी सम्पूरक ग्रन्थियाँ अगर रुग्ण होकर निर्वल हो जावें तो रक्तस्थ अशुद्ध पदार्थों का सफलतापूर्वक निःसारण नहीं हो पाता है और वे प्लुरा

नामक झिल्ली के नीचे एकत्र होते जाते हैं। परिणामस्वरूप गीली जाति की प्लुरिसी उत्पन्न हो जाती है। इस रोग के कारण सीने में वेदना अधिक नहीं होती, लेकिन एक प्रकार के भारीपन का अनुभव होने लगता है।

प्लुरा के नीचे एकत्रित दूषित पदार्थ राजयक्ष्मा या निमोनिया के कीटाणुओं के लिये स्वर्ग है। ये कीटाणु वहाँ उत्पन्न होने लगते हैं, संख्या में बढ़ते हैं एवं प्लुरा का भेदन कर फुस्फुस पर आक्रमण करते हैं। प्लुरिसी अपने-आपमें प्राण-घातक रोग नहीं है। लेकिन इसके ६० प्रतिशत रोगी, स्वस्थ होने के बाद निमोनिया या यक्ष्मा के शिकार होकर मर जाते हैं। इसी प्रकार अन्य बीमारियों की तरह यह रोग भी शरीर में विषाक्त पदार्थों के एकत्र होने से उत्पन्न होता है। सर्दी-जुकाम लगने के फलस्वरूप यह बीमारी उत्पन्न होती है।

उपचार : प्रातः बिना सम्पूरक आसन एवं मुद्रा के सहज वस्ति-क्रिया करें, अगर सीने में दर्द न हो तो पवन-मुक्तासन ५-६ बार। अगर सीने में दर्द हो तो परामर्शानुसार जल पीकर, पीठ के बल लेट जावें। १५-२० मिनिट में मल-त्याग की शंका हो सकती है। अगर ज्वर एवं सीने में वेदना न हो तो सहज प्राणायाम सं० ७ का अभ्यास करें। प्राणायाम के समय श्वास धीरे-धीरे लें एवं उसी प्रकार छोड़ें। यह अभ्यास एक बार ३-४ मिनिट से अधिक नहीं करना चाहिये। एक बार यह अभ्यास करने के बाद लम्बा विश्राम लें। इस प्रकार दिन में यह क्रिया ४-५ बार करें। इस क्रिया से कार्बोनिक गैस बाहर निकलेगी एवं शरीर में ऑक्सीजन अधिक मात्रा में प्रविष्ट होगी। इससे शरीर की प्रतिबोध-शक्ति में काफी वृद्धि होगी। वेदना कम होने पर रोगी को बैठकर सहज प्राणायाम सं० ३ एवं ६ का अभ्यास करना चाहिए। रोगी जब चलने फिरने लायक हो जाये तो भ्रमण-प्राणायाम का अभ्यास करावें। सूर्य-स्नान करावें। क्रम वर्धमान व्यायाम में से चुने हुए व्यायाम करावें। इस प्रकार की अवस्था में वारिसार धौति अतीव

उपयोगी है। लेकिन पूर्वाभ्यास के बिना रोगावस्था में इसके अभ्यास में कठिनाई होगी।

राजयक्ष्मा या निमोनिया की तरह आधुनिक या प्राचीन चिकित्सा-शास्त्र में प्लुरिसी की भी कोई औषधि नहीं है। डाक्टरगण रोगी को आयोडिन का इन्जेक्शन देते हैं, खाने के लिये केलोमल, आस्प्रीन या थोड़ी-सी अफीम देते हैं, जिससे रोगी की स्नायु शिथिल हो जाती है। एवं रोगी दर्द का अनुभव थोड़े समय के लिये नहीं कर पाता है। इन जहरों से अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं एवं प्राकृतिक उपायों में भी बाधा आ जाती है।

बीमारी काफी पुरानी हो जाने पर एकत्रित दूषित पदार्थों के प्रभाव से प्लुरा सड़ जाती है एवं वहाँ मवाद आदि तरल पदार्थ काफी मात्रा में एकत्रित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में सर्जन के सहयोग से प्लुरा के सड़े टुकड़ों एवं दूषित पदार्थों को निकलवा देना चाहिये। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

नियम एवं पथ्य : ज्योंही इस रोग के लक्षण दिखाई पड़ें ३ दिन तक लगातार उपवास करें। उपवास के समय हल्का गर्म पानी नीबू का रस मिलाकर पीवें, इससे अवश्य लाभ होगा। दो भाग तीसी के तेल में एक भाग तारपीन का तेल मिलाकर रुग्ण स्थान पर मालिश करें, इससे वेदना शान्त होगी। यह मालिश फुस्फुस प्रदाह को दूर करने में सहायक होती है। गर्म पानी में तौलिया भिंगोकर गर्म पानी की थैली के चारों ओर लपेट लें, इससे वेदनायुक्त स्थान पर रखकर सेकें। ३-४ मिनिट के बाद ७-८ फुट लम्बा कपड़ा ठण्डे पानी में भिंगो लें। इस कपड़े को वेदना के स्थान पर ½ मि० से १ मिनिट तक रखें। इसके बाद गर्म तौलिया ऊपर लिखे अनुसार फिर रखें। ये क्रियायें निरन्तर करें, इससे अगर लाभ हो तो आधा घण्टा तक करें।

प्लुरिसी के रोगी का कमरा सीड़-रहित, हवादार एवं मनमोहक होना चाहिये। रोगी के सिर को प्रत्येक दिन दो बार धोवें। सिर

धोते समय तौलिया गर्म पानी में भिंगोकर रोगी के शरीर को रगड़ कर साफ करें। यह क्रिया करते समय कमरे की खिड़कियाँ एवं दरवाजे बन्द रखें।

ज्वर की अवस्था में प्लुरिसी के रोगी का पथ्य—साबूदाना का पानी (दूध के साथ), डाब (नारियल) का पानी, अनार का रस आदि होना चाहिये। रोगी को अगर भूख न हो तो पानी में नींबू का रस डालकर पीवें। ज्वर उतरने के बाद भूख का अनुभव होने पर, तरकारी का रस, मसूर की पकी दाल का पानी, हल्का दूध, फलों का रस आदि तीन दिनों तक तरल पदार्थ लेना चाहिये। मशाला-रहित भोजन, दूध, फल आदि बुखार उतरने के ४ दिन बाद देने चाहिये। ज्यों-ज्यों भूख बढ़ती जाये पथ्य में हल्का पोषक खाद्य पदार्थ क्रमशः शामिल करते जावें।

सूखी प्लुरिसी से गीली प्लुरिसी ज्यादा घातक होती है। गीली प्लुरिसी कालान्तर में प्राण-घातक भी हो जाती है। इसलिये गीली प्लुरिसी की अवस्था में रोगी का पथ्य, सेवा-सुश्रूषा एवं अन्य सभी नियमों का कड़ाई से पालन होना चाहिए। तब तक उपवास रखें जब तक कि भूख पूरी-पूरी न लगने लगे। पीठ के बल लेट कर रहिये। मल-मूत्र लेटे-लेटे करें। बेड पेन का उपयोग करें। इस प्रकार की सुव्यवस्थित सेवा एवं सँभाल से रोगी के प्लुरा के नीचे एकत्रित दूषित पदार्थ शरीर के अन्य मार्गों से ५ से ७ दिन में शरीर के बाहर निकल जाते हैं। यह दूषित तरल पदार्थ अगर १० दिन में शरीर से बाहर न निकले तो सर्जन की सहायता से इसे नली द्वारा निकलवा देना चाहिये। अन्यथा यह तरल पदार्थ प्लुरा झिल्ली को १०-१५ दिन में सड़ा देगा। प्रारम्भिक अवस्था से ही अगर यौगिक उपायों का अवलम्बन किया जाय तो रोग नियंत्रित हो जाता है एवं कालान्तर में राजयक्ष्मा या नियोनिया होने का भय नहीं रहता है।

बन्ध्यात्व

(Sterility)

लक्षण : अपने पति के साथ सम्भोग करने के फलस्वरूप स्त्री अगर १८ वर्ष से ३५ वर्ष की उम्र तक गर्भ धारण न करे तो उसे वन्ध्या कहा जाता है। अगर एक सन्तान होने के वाद गर्भ धारण न करे तो उसे काक वन्ध्या—आयुर्वेद के मत से कहा जाता है।

कारण : रक्त के परिष्कृत होने पर जीवन में वीजाणु की उत्पत्ति पुरुष के अण्डकोष एवं स्त्रियों के डिम्ब में होती है। जिस प्रकार पुरुष का अण्डकोष एक थैली में है, उसी प्रकार स्त्रियों के डिम्ब नहीं हैं। ये पृथक्-पृथक् जंघा के जोड़ पर दोनों तरफ अवस्थित हैं। अगर डिम्व पूर्णरूप से विकसित न हों या वे रोगी हों तो स्वस्थ डिम्वाणुओं की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। फैलोपियन ट्यूब के मार्ग से डिम्वाणु गर्भाशय में पहुँचते हैं और पुरुष के शुक्राणु संभोग के फलस्वरूप गर्भाशय में सम्मिलित होते हैं। इन दोनों के संगम से गर्भ धारण होता है। अगर फैलोपियन नली में ऐसे कीटाणु हैं जो डिम्व खाकर ही जीते हैं तो वे डिम्व का नाश कर देते अधिकतर संख्या में वन्ध्या इसी रोग से पीड़ित होती है।

इसके अतिरिक्त जिन स्त्रियों का स्वभाव चिड़चिड़ा या तीक्ष्ण होता है उनके पित्त एवं वायु दूषित हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप रक्त में इस प्रकार का एक अम्ल-विष हो जाता है जो गर्भाशय-स्थित शुक्राणु को नष्ट कर देता है। गर्भाधान में यह भी एक वड़ी वाधा है।

अगर गर्भाशय का आकार छोटा हो तो भी गर्भाधान सम्भव नहीं हो पाता। गर्भाशय में अवस्थित विषैले कीटाणु गर्भाधान की सम्भावना ही समाप्त कर देते हैं। क्योंकि ये कीटाणु अपने विष में पुरुष के शुक्राणु एवं स्त्री के डिम्वाणु को नष्ट कर देते हैं। साधारण तौर पर प्रदर से गर्भ धारण में व्यवधान नहीं उपस्थित होता, लेकिन स्राव अगर विषैला हुआ तो क्षति हो सकती है। स्त्रियों के शरीर में अत्यधिक

चर्बी बढ़ जाने से डिम्ब एवं अन्य ग्रन्थियाँ ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाती हैं। इसके फलस्वरूप बन्ध्यात्व हो जाता है। सम्भोग के समय अगर स्त्री को वेदना का अनुभव हो तो इससे यह ज्ञात होता है कि स्त्री के अंगों में कुछ दोष हैं। इनके परिणाम स्वरूप शुक्राणु एवं डिम्बाणु आपस में नहीं मिल पाते। पाश्चात्य औषधि-विज्ञान के मतानुसार गर्भाशय का स्थान भ्रष्ट होना भी इसका एक कारण है। लेकिन हम इसे इतना महत्वपूर्ण नहीं समझते हैं। क्योंकि उष्ण-प्रधान देशों की स्त्रियों में इस प्रकार का दोष प्रायः पाया गया है जो बन्ध्या नहीं हैं। पुरुष की नपुंसकता भी बन्ध्यात्व का कारण हो सकता है क्योंकि स्त्री-पुरुष दोनों ही इस कार्य में समान रूप से उत्तरदायी हैं। अपने अत्यधिक कामी पति की वासनाओं के कारण स्त्री की पेलविक प्रदेश की ग्रन्थियाँ एवं स्नायु अत्यधिक कमजोर हो जाती हैं और इस प्रकार की रोगी अवस्था में डिम्ब्र उत्पन्न नहीं हो पाते। वेश्या के बन्ध्या होने का यही कारण होता है। पति का पित्त अगर अत्यधिक विकृत हो गया हो तो शुक्राणु दोषी हो जाते हैं एवं वे स्त्रियों के डिम्ब्राणुओं को समाप्त कर देते हैं। पिता बनने के पहले इस रोग की सावधानी से चिकित्सा करावें। अपरिपक्व अवस्था के पहले यानी २५ वर्ष की अवस्था के पूर्व वीर्य नष्ट करने के अप्राकृतिक तरीकों के उपयोग करने से पेल्विक-प्रदेश की स्नायु एवं नसें स्वस्थ वीजाणु उत्पन्न नहीं कर पाती हैं, जिससे स्त्री में गर्भाधान नहीं हो पाता। अगर गर्भ धारण हुआ भी तो वह सुरक्षित नहीं रहता। या तो गर्भ स्राव होगा अन्यथा शिशु रोगी या कम उम्र का होगा। माता या पिता अगर कोई भी उपदंश या सुजाक का शिकार है तो उनको बच्चा नहीं होगा।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार शरीर में विटामिन 'E' का अभाव भी इसका एक कारण है। लेकिन जो लोग दूध, केले एवं अन्य खाद्य-पदार्थ खाते हैं उनमें इस विटामिन का अभाव नहीं हो पाता है। अतएव यह सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है। यह सम्भव है

कि शरीर की अन्यान्य खराबियों के कारण खाई हुई विटामिन 'E' शरीर में पच न पाती हो।

उपचार : ऐसी वहुत कम स्त्रियाँ होती हैं जिनके डिम्ब एवं गर्भाशय जन्म से ही रोगी हों या अर्ध-विकसित हों। इन दोषोंवाली स्त्रियाँ जन्मजात वन्ध्या हैं। इनकी चिकित्सा यौगिक उपायोंसे भी नहीं हो पाती। वन्ध्यात्व के कारण ऊपर बताये गये हैं। वन्ध्या होने के इसमें से कौन-कौनसे कारण हैं, चिकित्सा स्थिर करने के लिये यह निश्चय कर लें, ताकि उसीके अनुसार चिकित्सा की जा सके। अगर निदान करने में किसी प्रकार की असुविधा हो तो "स्नायु-दौर्बल्य" के प्रकरण में लिखे उपायों का अवलम्बन करे। वन्ध्या स्त्रियों की पिट्यूटरी ग्रन्थि, डिम्ब एवं थाईरायड ग्रन्थि आम तौर पर रोगी पायी गई हैं। यौगिक साधनों से इन ग्रन्थियों का इलाज कर वन्ध्यात्व दूर किया जा सकता है। योगाभ्यास से काक-वन्ध्या की चिकित्सा हो सकती है।

क्रम वर्धमान व्यायामों का अभ्यास करें। सूर्य-स्नान, जल स्नान एवं जल पीने के नियमों का पालन करें।

नियम एवं पथ्य : स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करें। जिन उपायों से वन्ध्यात्व की चिकित्सा हो सकती है उनका विशेष ध्यान रखें। स्त्री और पुरुष दोनों को नशीले पदार्थों का सेवन त्याग देना चाहिये। क्योंकि नशीले द्रव्यों के सेवन से शरीर की मुख्य ग्रन्थियाँ शिथिल हो जाती हैं। इनका प्रजनन पर सीधा सम्पर्क है। पथ्य हल्का लेकिन अपने आप में सभी दृष्टि से पूर्ण होना चाहिये।

बहरापन

लक्षण : ऐसे आध्यात्मवादी योगियों को, जिन्होंने नैसर्गिक संगीत सुनने के लिए ध्यान लगाया था, उन्हें नाद-साधक भी कहा जाता है। प्रारम्भ में उन्हें जो ध्वनिकी प्रतीति ढोल, मृदंग या बाँसुरी की आवाज

से हुई, इसीसे मिलती-जुलती रहस्यमय आवाजों की अनुभूति वधिर लोग किया करते हैं।

कारण : वहरापन के वहुत-से कारण हैं, जिनमें से कुछ यहाँ लिखे जा रहे हैं : कान के जरिये, वाह्य-ध्वनि या स्पन्दन मस्तिष्क पर अंकित होने के लिये वायु के माध्यम से जाते हैं। कभी-कभी शुष्क श्लेष्मा कान में जमकर इस ध्वनि-तरंगवाहक वायु का मार्ग अवरोध कर देता है। फलस्वरूप आंशिक वहरापन प्रकट हो जाता है। कभी-कभी दोषी कफ और कुपित वायु साथ मिलकर, कान की सूक्ष्म नसों की संवाहिका शक्ति (conductivity) का नाश कर देते हैं। वहरापन का यह भी एक कारण है। कुपित कफ के कारण सर्दी की वीमारी किसी-किसी को काफी दिन तक सताती है। इसके कारण कान में स्थित कर्णपटह (Ear-drum) क्षतिग्रस्त हो जाता है। कान में कर्णपटह पर ध्वनि अंकित होती है। इसके नष्ट होने के कारण भी वहरापन हो जाता है। कान का मध्य भाग गले के साथ एक नली के जरिये जुड़ा हुआ है। नाक या गला स्थायी रूप से ठण्ड से पीड़ित रहने पर यह नली अवरुद्ध हो जाती है। परिणामस्वरूप वाह्य ध्वनि कान के मध्य भाग से जब आगे नहीं जा सकती, तव वहरापन का अनुभव होने लगता है। कभी-कभी जोर से नाक साफ करने पर कुछ कीटाणु एवं सख्त कफ कान की एक विशिष्ट नली (Eustachian Tube) को अवरुद्ध कर अस्थायी वहरापन उत्पन्न कर देते हैं। अधिक क्विनाइन, तम्बाकू या चाय के सेवन से कान की अन्तर्मुखी स्नायु ज्ञानशून्य हो जाती है। इसके कारण भी आदमी अस्थायी रूप से वहरे हो जाते हैं। इस प्रकार की आदतों को छोड़ने एवं साधारण स्वास्थ्य में सुधार होने पर सुनने में होनेवाली इस प्रकार की असुविधाएँ दूर हो जाती हैं। उपदंश एवं कई प्रकारके कर्ण-रोगों से भी सुननेमें असुविधा होने लगती है। वृद्धावस्था में पोषक खाद्य का अभाव या वृद्धावस्था के कारण भी कम सुनना या वहरापन होता है। 'शुक्र' यानी वीर्य्य के अपव्यय से

आम तौर पर शरीर का ढाँचा कमजोर हो जाता है। कान का यन्त्र भी चूंकि इस ढाँचे का ही एक हिस्सा है, इस कुटेव के कारण प्रभावित होता है। अतएव कान की वीमारी का इलाज प्रारम्भ करने के पूर्व व्रह्मचर्य व्रत लेना चाहिये। नशीली वस्तुओं का व्यवहार कतई वन्द कर दें। अन्यथा इस प्रकार के वहरेपन की चिकित्सा वहुत कठिन होगी।

चिकित्सा : सर्वप्रथम वहरापन का कारण जानिये। उसके अनुसार व्यायाम करें। अगर यह सर्दी के कारण है, तो सर्दी का इलाज करें। इसी प्रकार अन्य कारण समझकर उनकी चिकित्सा करें। इसके साथ प्रतिदिन या कभी-कभी वारिसार धौति का अभ्यास करें। आँतें साफ रखें। कब्ज-निवारण का विशेष ख्याल रखें।

नियम एवं पथ्य : यह सर्वाधिक आवश्यक है कि सभी दुर्व्यसन छोड़ दिये जायें। एक क्रम से संयमित जीवन का अभ्यास करें। जिनका यकृत स्वस्थ है, वे १-२ चम्मच घी या मक्खन खा सकते हैं। ताजी साग-सब्जी, दुध एवं अन्य पोषक खाद्य पदार्थ पाचन-शक्ति के अनुसार सेवन करें।

बहुमूत्र रोग
(Diabetes)

लक्षण : बहुमूत्र दो प्रकार का होता है। पाश्चात्य मत के अनुसार इनके नाम हैं : (१) शर्करायुक्त बहुमूत्र या मधुमेह (Diabetes Mellitus), (२) शर्कराविहीन बहुमूत्र (Diabetes insipidus)। आयुर्वेद के अनुसार शर्करायुक्त बहुमूत्र रोग का प्राचीन नाम है—सोमरोग एवं शर्कराविहीन बहुमूत्र का नाम जलमेह या मूत्रातिसार।

'मूत्रस्था मक्षिकाद्या:' : अर्थात् जिस मूत्र में चीनी रहती है उस पर मक्षिकाएँ आती और वैठती हैं। यह एक मुख्य लक्षण है। वरावर प्यास लगना, वार-वार मूत्र की शंका होना, अधिक मात्रा में मूत्र होना, जिह्वा का स्वाद मीठा होना और कभी-कभी सारे शरीर में खुजलाहट

होना—मेह के अन्यान्य लक्षण हैं। मेह-रोगी को थोड़ा सा भी जलने या कटने से घाव हो जाता है और वह शीघ्र मिटता नहीं है। सिर में दर्द रहना, चक्कर आना, वजन में अत्यधिक कमी होना, अशक्ति, वृक्क-प्रदाह, आदि मधुमेह की गम्भीर अवस्था के लक्षण हैं। मधुमेह के कारण बेहोशी होकर मृत्यु भी हो जाती है। मेह के रोगी को—हृदयरोग, पक्षाघात, राजयक्ष्मा आदि घातक रोग शीघ्र घेर लेते हैं। मोतियाबिन्द के रोगी आम तौर पर मेह रोगी होते हैं। प्रायः इन रोगियों को उदरामय या कब्ज रहता है। शरीर की चमड़ी खुश्क रहती है, दाँत गन्दे एवं पीले रहते हैं। मेह के रोगी की सूक्ष्म परीक्षा की जाये तो हमें यह पता चलेगा कि रोगी को अपचन की चिर-स्थायी बीमारी है।

कारण : योग के अनुसार इस रोग का मुख्य कारण है—अग्निग्रन्थि का अशक्त होना। अग्निग्रन्थियों के समुदाय में—यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय (जिसे सूर्यग्रन्थि भी कहते हैं) मुख्य हैं। इनके कमजोर होने पर मधुमेह का रोग होता है—यही आधुनिक मत भी है। अग्न्याशय के आन्तरिक रस से, जिसे Insulin कहा जाता है—पाचन-क्रिया में मदद मिलती है। इसी रस से Dextrose, Glycogen से बनती है। यकृत यही Dextrose स्टार्च, चर्बी, एल्ब्यूमेन (Albumen) एवं कार्बोहाइड्रेट (Carbo Hydrate) का निर्माण करता है। यकृत में शक्तिरूप में यह शर्करा ही संचित रहती है। शरीर की क्षमता के अनुसार इस शर्करा का पाचन होता रहता है। इस पाचन ही के फलस्वरूप शरीर का तापमान अपने स्तर पर बना रहता है और शरीर की स्नायु आदि कार्यशील रहते हैं।

अशक्त अग्निग्रन्थियाँ अपनी आवश्यक क्रियाएँ नहीं कर पातीं। कमजोर यकृत अपने आपमें शरीर की आवश्यकता के अनुसार Glycogen की मात्रा संचित नहीं रख सकता और उसी प्रकार निर्बल अग्न्याशय शरीर को क्रियाशील रखने के लिये अतीव आवश्यक द्रव्य Dextrose अर्थात् शर्करा का भरपूर निर्माण नहीं कर पाता है। फल-

स्वरूप शर्करा रक्त के प्रवाह में मिश्रित होकर रक्त के क्षारांश को कम कर देती है । इसी कारण शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास होता है । रक्त में शर्करा के मिश्रण के फलस्वरूप वृक्क (Kidneys) को अधिक कार्य करना पड़ता है । क्योंकि वृक्क के माध्यम से ही रक्त में मिश्रित शर्करा को पृथक **Filter** किया जाता है । इस क्रिया में अनावश्यक शर्करा के आलोड़न के लिये प्रचुर मात्रा में जल की आवश्यकता होती है । परिणामस्वरूप रोगी को अत्यधिक प्यास बनी रहती है और पानी पीने से बार-बार मूत्र शंका होती है ।

इन्सुलिन (Insulin) जानवरों के अग्न्याशयों से एकत्र कर रोगी को इन्जेक्शन के माध्यम से दी जाती है । इसके फलस्वरूप रक्त में अस्थायी तौर पर शर्करा का अंश कम अवश्य हो जाता है लेकिन रोग के कारण का मूलोच्छेद कभी नहीं होता । इस प्रकार रोगी अनवरत कई वर्षों तक इस रोग से पीड़ित रहता है । काफी दिनों पहले मधुमेह के रोगियों के बचने की कोई उम्मीद नहीं रहती थी, लेकिन इन्सुलिन के आविष्कार से इस रोग की रोक-थाम में कुछ हद तक सफलता अवश्य मिली है ।

मूत्र में चीनी की मात्रा तभी पायी जाती है जब कि रोगी के वृक्क में कोई दोष हो । अन्यथा कार्बोहाइड्रेट, स्टार्च या चर्बीयुक्त अधिक भोजन या मिठाई खाने से भी मूत्र में चीनी पायी जाती है । कभी-कभी वृक्क-दोष के कारण मधुमेह की चिकित्सा में कुछ गलतफहमी हो जाती है । इन अवस्थाओं में डाक्टर द्वारा इन्जेक्शन से दी गई इन्सुलिन प्राणघातक हो जाती है ।

इन्सुलिन की अधिक मात्रा देने से या गलत निदान के आधार पर इन्सुलिन के इन्जेक्शन देने पर हृदय में स्फुरण होने लगता है, चेहरे पर पसीना आने लगता है एवं अवस्था चिन्ताजनक हो जाती है । ऐसी अवस्थाओं में कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है । इस प्रकार की दशा

में चिकित्सक के आने के पहले ही रोगी को थोड़ा ग्लूकोज या चीनी दें, इससे अवस्था में सुधार होगा।

अधिक स्त्री-सहवास, अधिक मनन या मानसिक चिन्ता, भोजन में अधिक कार्बोहाइड्रेट, स्टार्च या मिठाई खाने से या स्ट्रिकनीन, क्लोरोफार्म जैसी तेज दवाओं के सेवन से रक्त में क्षीणता आ जाती है। फलस्वरूप मधुमेह की बीमारी हुआ करती है।

उपचार : प्रातः सहज वस्तिक्रिया संख्यक १ (क) पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ करें। अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार मल-निःसारण, धोने एवं स्नान की क्रियाएँ करें। अग्निसार धौति, संख्यक १ बीस वार करें, संख्यक २ को ६ वार करें। सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३ एवं ८ प्रत्येक २-२ मिनिट तक करें तथा भ्रमण प्राणायाम एवं वमन-धौति या वारिसार-धौति का अभ्यास करें।

मध्याह्न में—दोपहर के स्नान के समय सहज अग्निसार २५ वार एवं अग्निसार धौति संख्यक १ एवं २ का अभ्यास करें।

सायंकाल—भ्रमण प्राणायाम, जानु-शीरासन ४ वार; योगमुद्रा ६ वार; सर्वाङ्गासन ३ मिनिट तक; मत्स्यासन १ मिनिट तक; सहज अग्निसार २० वार; अग्निसार धौति संख्यक १ को १० वार, संख्यक २ को ४ वार; सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३, ४ प्रत्येक २-२ मिनिट तक करें।

साधारण तौर पर पूर्ण लाभ के लिये उपयुक्त क्रियाओं का अभ्यास क्रमशः वढ़ाना चाहिये।

नियम एवं पथ्य : जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं वहुमूत्र का मूल कारण है—अजीर्ण या अपचन। इस रोग में मनुष्य का यकृत स्वस्थ नहीं रहता। फलस्वरूप चर्वी का पाचन पूर्ण रूप से न होने के कारण शरीर में इकट्ठी होकर मेद-वृद्धि करती है। वहुमूत्र-रोग होने की सूचना मिल जाने पर २-३ दिन का उपवास करने से रक्त में १४ प्रतिशत तक चीनी कम होती है। उपवास से पेशाब के माध्यम से चीनी निकल जाती

है। भोजन में किसी प्रकार की अनियमितता न करें। भोजन चीनी-रहित होना चाहिये। पथ्य-पूर्वक रहकर आप अपनी बीमारी का पूर्ण दायित्व निश्चिन्ततापूर्वक योग पर छोड़ दें। लाभ सुनिश्चित है।

इस बीमारी में दवा-दारू करना एक आर्थिक एवं मानसिक सन्तोष मात्र है। लाभ की दृष्टि से यह व्यर्थ है। भारत में मधुमेह प्रायः ४० वर्ष की उम्र के बाद होता है। सभी पुरानी, दीर्घकालीन बीमारियों का नियन्त्रण करने में सदैव कुछ समय लगता है। रोगी अगर एकादशी एवं पूर्णिमा आदि के दिनों में उपवास करे तो सन्तोषजनक परिणाम मिलेगा। चावल एवं गेहूँ के आटे के स्थान पर उबाले हुए हरे केले या सिझे हुए ओल का सेवन करें। रोगी भोजन में सभी प्रकार के स्टार्च जैसे साबू, बार्ली आदि कार्बोहाइड्रेट एवं चर्वीयुक्त पदार्थ का त्याग करें। चावल, आटा, साबू, बार्ली प्रभृति श्वेतसारजातीय भोजन से शरीर में चीनी उत्पन्न होती है तथा आमिष-जातीय भोजन से बहुमूत्र रोगी के यकृत प्रभृति और दोषयुक्त हो जाते हैं। कुछ खट्टे फल—जैसे काली बेरी, आम एवं नारियल रोगी के लिये लाभदायक हैं। अण्डे, मछली एवं मांस के स्थान पर दही, छाछ, मूंगफली (भिगोकर) सेवन करावें। पाश्चात्य नुस्खों के अनुसार मधुमेह के रोगी के लिये मांस, अण्डे एवं मक्खन वर्जित नहीं हैं। यद्यपि ये नुश्खे शीत-प्रधान देश के लिये हैं, लेकिन इस प्रकार का पथ्य-निर्देशन चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन है। हमारी दृष्टि में अशक्त यकृत, अस्वस्थ प्लीहा एवं क्रन्दन करते हुए अग्न्याशय के साथ इस प्रकार का भोजन करना एक प्रकार का व्यभिचार है। हमारी राय में बहुमूत्र के रोगी हरी सब्जी का अधिकाधिक सेवन करें। इनके पाचन के लिये यकृत को कम परिश्रम करना पड़ता है। रोग की अवस्था में सभी नशीली वस्तुओं का सेवन एकान्त वर्जनीय है।

बेरी-बेरी

लक्षण : यह रोग जलोदर-रोग के समान काफी शोथ पैदा किया करता है। हमारे देश में इस रोग का आगमन एक नई व्याधि के रूप में हुआ है। अभी भी इस रोग के सम्बन्ध में जो भी तथ्य या प्रमाण हाथ लगे हैं, उनके बल पर यह कहना कठिन है कि आयुर्वेद के ऋषि-महर्षियों ने इस रोग को कभी एक स्वतन्त्र रोग के रूप में ग्रहण किया होगा। जहाँ तक हमारा अनुमान है, आयुर्वेद-प्रणेताओं ने इस रोग को स्नायु-दौर्बल्य के अन्तर्गत ही माना होगा। वास्तव में यह जलोदर के निकट है और विशेष रूप से इसमें स्नायु-अवरोध की विषमता रहती है।

प्रारम्भ में रोगी के पैरों की नसें फूलने लगती हैं और उनमें शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह प्रायः कुछ उसी तरह से हुआ करता है, जैसे जलोदर में देखने में आता है। इसका कारण यह है कि रक्त-संचार के अन्तर्गत एक अवरोध उत्पन्न हो जाता है और उसके प्रकोप से ऐसा हुआ करता है। शोथ का मूल कारण यह होता है कि रक्त में जो एक तरल पदार्थ होता है वह कहीं पर रुककर सड़न उत्पन्न कर दिया करता है और जब समय रहते इस अवरोध की शुद्धि नहीं की जाती तो यह सड़ा हुआ तरल पदार्थ समस्त शरीर में अपने विष की प्रक्रिया व्याप्त करने लगता है। जो स्नायु और धमनियाँ होती हैं उनमें शोथ काफी अधिक व्याप्त हो जाता है। रक्तकोष दुर्बल हो जाते हैं। इसके साथ ही रक्तसंचार में भी एक स्वाभाविक शिथिलता आ जाती है। परिणाम यह होता है कि हृदय को अपनी शक्ति से अधिक क्रियाशील होने के लिए बाध्य होना पड़ता है और उसका परिणाम यह होता है कि वह भी क्रमशः दुर्बल हो जाता है। ऐसे रोगियों को जहाँ एक ओर हृदयरोग होने लगता है, वहींपर उसके श्वासमें एक कष्टसाध्य चिन्तनीय स्थिति आ जाती है। वह श्वास-अवरोध से पीड़ित रहने लगता है, अर्थात् श्वास लेने में उसे कठिनाई होती है।

इधर वेरी-बेरी रोग का एक और प्रकार सामने आया है जिसे शुष्क श्रेणी का रोग कहा जाता है। इसमें पैरों में किसी प्रकार का शोथ उत्पन्न नहीं होता। केवल स्नायुओं में ही आंशिक पक्षाघात, जिसे कि हम आंशिक घात कहते हैं, हो जाता है। यह प्रायः शरीर के अवयवों में अन्तिम छोरों पर हुआ करता है और शरीर के कुछ अंगों में आंशिक रूप में होने लगता है। जब कि अन्य अंगों में कुछ तेज जलन हो जाती है तब विशेष रूप से यह जलन शरीर के छोरों में अधिक अनुभूत हुआ करती है।

कारण ; आधुनिक मेडिकल साइन्स के अनुसार जब हमारे शरीर में विटामिन बी-१ का बहुत अधिक ह्रास हो जाता है तो हमारे शरीर में वेरी-वेरी रोग की सम्भावना प्रबल हो जाती है। धान के छिलके के नीचे चावल के ऊपर जो हल्की-सी ललाई रहती है उसीमें यह विटामिन बी-१ काफी पायी जाती है। कुछ अन्य खाद्य पदार्थों में भी यह विटामिन मिलती है। मिलों में जो चावल तैयार होता है उस समय यह ललाई उच्छेदित कर दी जाती है इसलिए विटामिन बी-१ किसी भी रूप में इन चावलों में शेष नहीं रह जाती। जिन लोगों का मुख्य भोजन चावल है उनको चाहिए कि वे किसी अन्य रूप में यह विटामिन ग्रहण किया करें। अन्यथा बेरी-बेरी जैसे रोगों की आशंका उनपर बराबर हावी रहेगी। आधुनिक विशेषज्ञों के आदेश के अतिरिक्त यह मान्यता भी बराबर दुहराई गयी है कि जिस सरसों के तेल से हम भोजन पकाते हैं, उसमें किसी प्रकार की हानिकर वस्तु मिश्रित कर दी जाय तो यह रोग प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। आज अधिकांश लोग अपना भोजन इसी तेल से तैयार करते हैं। मिश्रित रूप में लोग सफेद तिल्ली का तेल मिला देते हैं और परिणाम यह होता है कि हमारी भोजन-प्रणाली में अनेक रूप से विष एकत्र हो जाता है और इस रोग की वृद्धि में सहायक सिद्ध होता रहता है।

पर वास्तव में हमें इन तथ्यों को ही इस रोग का आधारभूत कारण

नहीं मान लेना चाहिए। यह रोग के प्रस्फुटित होने में सहायक कारण अवश्य हो सकता है। जिन सम्पन्न परिवारों के लोग दूध, पनीर, डबल रोटी और फल आदि काफी खाते हैं, और जिनमें विटामिन—बी-१ भी नहीं रहता उन लोगों में भी यह रोग संक्रमित होते देखा गया है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि अधिकांश ऐसे लोगों में जो काफी अधिक संपोषक आहार ग्रहण करने में समर्थ हैं उनमें ही यह रोग ज्यादा देखने को मिलता है, बनिस्वत उन लोगों के जो इतने भाग्यशाली नहीं हैं कि प्रतिक्षण विटामिन, प्रोटीन, कैलोरी आदि के प्रश्न पर विचार करने की सुविधा पा सकें और उनके अनुरूप भोजन प्राप्ति का सौभाग्य भी बटोरते रहें।

हम पहले इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि हमारे शरीर के अन्दर एक ऐसी प्रकृत शक्ति है जो शरीर से आये हुए विषाक्त प्रवाहों का न केवल अतिक्रमण कर सकती है किन्तु उनका समाहार करने में भी समर्थ रहती है। वायु, अग्नि और वरुण-ग्रन्थियाँ ऐसे ही कार्य में संलग्न रहती हुई शरीर की प्रणालियों का संशोधन करती हैं, उन्हें संपोषण देती हैं और सारे शरीर की प्रणालियों का संरक्षण भी समवायभाव से एक दूसरे की सहायक बनी हुई किया करती हैं। जब तक इन ग्रन्थियों के कार्य में किसी प्रकार का व्याघात अथवा विघ्न उपस्थित नहीं होता, साधारणतया लोग स्वस्थ और प्रसन्न रहते हैं तथा कोई रोग उत्पन्न नहीं होने पाता। लेकिन सम्भावित कारणों के अभिशाप से रुग्ण फेफड़े जब दुर्बल हो जाते हैं और श्वास-प्रश्वास संक्षिप्त अथवा शीघ्र-शीघ्र होने लगता है तब न तो शरीर में पूरी मात्रा में ऑक्सीजन ही प्रवाहित हो पाती है, न ही शरीर के अन्दर की विषाक्त गन्दी हवा बाहर पूरी मात्रा में निकल पाती है। इस तरह वायु में ऐसे दोषों के आ जाने से कोष्ठ-बद्धता आदि रोग बढ़ने लगते हैं और शरीर में अन्दरूनी विषों का संग्रह अधिक से अधिक होता रहता है। जब यकृत बहुत दुर्बल हो जाता है, तो भूख भी कम लगती है और पाचन-क्रिया भी क्षीण हो जाती है।

इसी तरह प्लीहा, गुर्दे आदि जो ग्रन्थियाँ एक दूसरे के काम में पूरक क्रिया किया करती हैं, वे भी अपने काम में अक्षम होने लगती हैं। फलतः ये भी मूत्र, पुरीष आदि मलों को वाहर निकालने का अपना काम पूरा नहीं कर पाती। इसलिए ये मल भी अपने अन्य स्थानों में और अँतड़ी के अन्तिम छोरों में रुके रहकर सड़ने लगते हैं।

हमने दूषित दृष्टि प्रकरण में वताया है कि किस तरह आलोचक पित्त विकृत होने पर, दृष्टि-शक्ति को ह्रास की ओर ले जाने लगता है। इससे मालूम हो जाता है कि केवल विटामिन वी-१ की कमी से ही यह सव नहीं होता—वल्कि, शरीर की प्रधान ग्रन्थियाँ—यकृत, फेफड़े, गुर्दे आदि जव अपने कार्यों में अशक्त होने लगते हैं, तब उनसे इस तरह का प्रकोप होने लगता है। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस तरह जलोदर (Dropsy), गठिया (Rheumatism), अपचन (Indigestion) और अम्लरोग (Acidity) जिन कारणों से प्रकट होते हैं, कुछ उसी तरह वेरी-वेरी भी पैदा हुआ करता है। ये विजातीय पदार्थ ही हैं, जो कि जीवन-प्रणाली में बुरी तरह अवरुद्ध व संचित हो जाते हैं, और अपना वाहरी मार्ग ढूंढने के लिए एक विस्फोटक मार्ग ढूंढते हैं, जिसका कि दूसरा नाम रोग है।

छोटे वालकों में भी बेरी-बेरी हुआ करता है। वहुत से इस रोग के होते ही तत्काल मर जाया करते हैं। इसका कारण यदि हम खोजें तो पता चलेगा कि जिन माताओं के शरीर में विजातीय विष संचित रहा करते हैं, उसके प्रभावसे ही ऐसे जन्मजात बच्चों को इस प्रकार के अनिष्टकर रोग होते हैं। (इस संदर्भ में कृपया अम्लता व जलोदर का प्रकरण भी देखें।)

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया के साथ-साथ सम्बन्धित आसन व मुद्राएँ की जाँय। इस रोग-विशेष में वस्तिक्रिया करते समय जलमें नमक न डाला जाए। मलत्याग के वाद योगमुद्रा, जानु-शिरासन और सहज प्राणायाम संख्यक १, २ और ८ किये जायें। इसके

बाद वमनधौति सप्ताह में दो दिन, भ्रमण प्राणायाम किया जाए जो कि भ्रमण के साथ किया जानेवाला श्वास-व्यायाम भर है।

सायंकाल भ्रमण प्राणायाम और अग्निसार धौति संख्यक १ व २ करें। सहज अग्निसार ४० बार, सहज विपरीतकरणी, पवन-मुक्तासन और सहज प्राणायाम संख्यक १, २ व ७ दुहरायें।

रोग का प्रशमन होने के साथ-साथ अन्य व्यायाम बढ़ा दिये जायँ। इनके अतिरिक्त पानी पीने की मात्रा में वृद्धि कीजिए। स्वास्थ्य के अनुरूप जलस्नान भी किया जा सकता है।

नियम और भोजन : इस रोग में औषध कोई लाभ नहीं करता। यह तो एक तरह से विषाक्त विभिन्न प्रणालियों को और विष-पूरित करने में सहायक बनता है तथा उस रोग को नये सिरे से प्रबल व विषम बनाते हुए उसके उपचार में विलम्ब पैदा करने में एक कारण बनता है। काफी अधिक जटिल रोग हो जाने पर, इसकी वजह से हृद्-गति भी रुक जाने का भय रहता है, जिसका परिणाम तत्काल मृत्यु हुआ करती है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को, जो बहुत औषध-प्रिय हैं, कम से कम इस रोग में तो उन्हें विशेष सावधानी अपनानी चाहिये।

रोग की गम्भीर अवस्था में यदि ३, ४ यहाँ तक कि ६ या ७ दिनों के लिए अर्द्धदिवसीय उपवास रखा जाये तो रोग-शमन की दिशा में काफी लाभ होगा। ऐसे प्रयोग करते समय भोजन में केवल पके रसीले फल या उनके रस, सब्जियों का रस, थोड़ा एक बार का उबाला हुआ दूध और कुछ मात्रा में छेने का पानी या पनीर-जल अथवा तक्र लेना चाहिए। प्रतिदिन केवल २ चम्मच शहद पानीय जल के साथ ग्रहण करें। हरेक बार अधिक मात्रा में जल न पीयें, इसका एक अन्दाज इस तरह रखा जा सकता है कि सर्दियों में ५ गिलास जल और गर्मियों में ७ गिलास जल पीना यथेष्ट रहेगा।

जब रोग की गम्भीर अवस्था में आशातीत सुधार हो जाय तो कोष्ठबद्धता व जलोदर रोग में बताई गई हिदायतों का पालन किया

जाय। विटामिन वी-१ के लिए मिलों के पालिश किये हुए चावल को त्याज्य करते हुए, केवल ऊखल या ढेकी में कुटा हुआ चावल ही ग्रहण करें, जिस पर लालिमा का अंश विद्यमान हो, यह दिन के भोजन में लिया जाय। रात में भूसी-युक्त गेहूँ के आटे से वनी हुई रोटी ली जा सकती है। दाल खाने के वनिस्वत दालों का रस उस समय तक लेते रहना चाहिए, जव तक कि यकृत और वृक्क पूर्वावस्था में काम न करने लगें और भूख पर्याप्त मात्रा में खुलने की स्थिति में न आ जाये। इस रोग के लिए उत्तम पथ्य फल और सब्जियाँ ही हो सकती हैं; टमाटर, भिण्डी, कच्चे केले, शलगम, आरूमकी जड़, दूध, मठा, खट्टे व मीठे रसीले फल। जव तक पूरी तरह से रोगी निरोगावस्था में न पहुँच जाय, मछली या मांस का पूर्ण वहिष्कार किया जाय। जो भी भोजन पकाया जाय, उसमें चर्वी अथवा तेल घी वहुत अधिक न डाला जाय। निरोग होने के बाद सरसों का तेल जहाँ तक हो सके, काफी हद तक परहेज की वस्तु मानी जाए और नमक अथवा घी अतिरिक्त रूप में भोजन के समय विलकुल न लिया जाय।

वेरी-वेरी रोग उष्णप्रदेशीय सीमाओं में अपना रङ्ग दिखाया करता है। गर्मियों में सूर्य के ताप से उत्पन्न तापमान इतना अधिक होता है कि उससे शरीर को अपना तापमान प्रकृतावस्था में रखने के लिए गरिष्ठ भोजन ग्रहण करने की बात से मुक्ति मिल जाती है। इतना जान लेने के वाद यह ध्यान रखा जाए कि गर्मियों में हल्का, सुपाच्य भोजन ही अपना आदर्श आहार रखा जाए। इस ऋतु में यह विशेष वात याद रहनी चाहिये कि चर्वी के आधिक्यवाले भोजन और ऐसे आहार, जिनमें यवक्षारीय तत्व (nitrogenous) सर्वाधिक हो, इनका प्रयोग न किया जाए। इस आदेश का अनिवार्य रूप से पालन किया जाए, क्योंकि ऐसे भक्ष्य पदार्थों को ग्रहण करने से शरीर के अन्दर अतिरिक्त ताप उत्पन्न होने लगता है और वह भोजन-प्रणाली को आघात पहुँचाते

हुए उसे दुर्बल कर देता है। उसके बाद वह इस तरह के रोग का विस्फोट करने में प्रमुख कारण बन जाता है।

रक्त में क्षारीय अंश है, वह वास्तव में किसी भी रोग की प्रतिरोध-शक्ति हुआ करता है। यवक्षारीय भोजन शरीर की क्षति-पूर्ति करते हैं और शारीरिक तापमान को नियमित बनाने में अपना भरपूर सहयोग देते हैं। इस दृष्टि से इनका शरीर में एक उपयोगी स्थान है। लेकिन जब ऐसे भोजन कुछ अधिक ले लिया जाता है, तो विपरीत क्रिया उत्पन्न होने लगती है और रक्त में अम्लीय अंश बढ़ने लगता है, और जब यह अवस्था रक्त में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने लगती हैं, तो उसके बाद शरीर अनेक रोगों का शिकार हो सकता है। केवल रोगोंका निमन्त्रण ही शेष रह जाता है। स्वास्थ्य के लिए इस आधारभूत उपयोगी सिद्धान्त को सदा सामने रखा जाए। उत्तम स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है। जब बेरी-बेरी रोग से पराभूत होने की नौबत हो जाय, तो उस समय भोजन में ८० प्रतिशत भोजन क्षारीय रहे और केवल २० प्रतिशत अम्लोत्पादक, जो कि चीनी, प्रांगोदीय (कार्बोहाइड्रेट्स), चरबी और यवक्षारीय (नाइट्रोजीनस) भोजन हुआ करते हैं।

भगन्दर

लक्षण :—गुदाप्रदेश के नाली घाव को ही भगन्दर कहते हैं। प्रारम्भ में गुदाप्रदेश में एक विषाक्त फोड़ा उत्पन्न होता है। यह फोड़ा फटकर नाली-घाव की सृष्टि होती है। इस नाली-घाव से सर्वदा पीप और दूषित रक्तादि निर्गत होता है। रोगी बैठने में असुविधा बोध करता है और कष्ट अनुभव करता है। मलत्यागने के समय जलन की वृद्धि अधिक होती है।

कारण—इस रोग का प्रादुर्भाव अधिक आयुवाले व्यक्तियों के अन्दर ही अधिक देखा जाता है, जो सब लोग अधिक भोजन-विलासी ५०/५५

साल के वाद भी जो व्यक्ति आमिष खाद्य और निरामिष-संहृत खाद्य लेने का अभ्यास वन्द करने में या ह्रास करने में असमर्थ होते हैं वे प्रायः इस रोग से पीड़ित होते हैं। जो सव ग्रन्थि क्रिया से शरीर में सञ्चित दूषित पदार्थ मलमूत्र के साथ शरीर से वाहर निकल जाता है, वे ग्रन्थियाँ ही प्रौढ़ और वृद्ध अवस्था में स्वभावतः दुर्वल होती हैं। एवं वे देहसञ्चित सव दूषित पदार्थ को वाहर नहीं निकाल सकती हैं इस कारण से ही यह रोग होता है। हम पुनः पुनः कहे हैं कि अस्त्रोपचार से रोग का मूल कारण दूर नहीं होता है, वह शीघ्र मृत्यु या सामयिक रोगयन्त्रणा से रक्षा करता है। प्रायः ही देखा जाता है, यह रोग अस्त्रोपचार के वाद देह के अन्यान्य स्थान पर भी नाली-घाव की सृष्टि होती है अथवा गले में वा फुस्फुस् में दुरारोग्य व्याधि की सृष्टि होती है।

चिकित्सा—सवेरे सहज वस्ति क्रिया संख्या—३ ; प्रातः कृत्यादि, टव-स्नान, टव में बैठकर अश्विनी मुद्रा २० वार, मूल वन्ध मुद्रा १० वार, सहज अग्निसार ५०, अग्निसार धौति सं० १—१० वार, सं० २—३ वार, वमन धौति या वारिसार धौति सप्ताह में २ दिन।

मध्याह्न—टव में वैठकर अश्विनी मुद्रा २० वार, मूलबन्ध मुद्रा १० वार, सहज अग्निसार ५० वार, अग्निसार धौति संख्या १—१० वार, और संख्या २—३ वार, सहज प्राणायाम संख्या ३—२ मिनिट।

अपराह्न—टव स्नान २-३ मिनिट। टव में बैठकर अश्विनी मुद्रा २० वार, सहज प्राणायाम संख्या २ और ३ प्रत्येक २ मिनिट। भ्रमण प्राणायाम।

सायं—विपरीतकरणी मुद्रा—३ मिनिट, मत्स्यासन १ मिनिट, सहज अग्निसार—५० वार, अग्निसार धौति संख्या १—१० वार, २ संख्या ३ वार ; सहज प्राणायाम संख्या—१, २, ७, शशाङ्गासन २ मिनिट।

नियम और पथ्य विधि—सवेरे जलपान वन्द रखना होगा। मध्याह्न में हल्का भोजन करना चाहिए।

अपराह्न में फल का रस अथवा रसीले फल से जलयोग करना होगा। रात में लघु पथ्य लेना चाहिए। महीना में दो दिन उपवास करना जरूरी है। आमिष खाद्य और निरामिष संहत खाद्य सम्पूर्ण परित्याग करना चाहिए।

मलेरिया
(Malaria)

आयुर्वेद-मतानुसार मलेरिया सम्भवतया एक प्रकार का वातज ज्वर है, जो शरीर में वायु के कुपित होने पर हो जाता है। हैजा एवं चेचक की तरह यह ग्रीष्म प्रधान देशों में पाया जाने वाला रोग है। प्रायः १०० वर्ष पूर्व मलेरिया हिन्दुस्तान में इतने व्यापक रूप से नहीं हुआ करता था। इसके नाम की उत्पत्ति यों है—(Mal aria) अर्थात् दूषित वायु। यह वीमारी गन्दी हवा के सेवन के कारण पनपती है। इस बीमारी के कारण होने वाले भयानक परिणाम के कारण ही पाश्चात्य चिकित्सकों का ध्यान इसकी तरफ सतत लगा हुआ है। अब विश्व में मलेरिया का नाम प्रायः सभी जान गये हैं। साथ ही मलेरिया भी विश्व के सभी देशों में पाया जाने लगा है। इस वीमारी का मुख्य लक्षण है—पारी या बिना पारी से ज्वर आने के पूर्व लगने वाला जाड़ा। मलेरिया से आक्रान्त रोगी को बुखार का प्रकोप होने के पूर्व काफी मात्रा में शीत का अनुभव होता है।

कारण : मलेरिया ज्वर के कीटाणु स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में भी पाये जाते हैं। लेकिन रक्त के दूषित न हो जाने तक ये शरीर की व्यवस्था में कुछ भी हेर-फेर नहीं कर पाते। जव रक्त की अपनी शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है तव रक्ताणुओं में मलेरिया के इन कीटाणुओं का प्रवेश हो जाता है। (श्वेत एवं रक्त अणुओं की क्रिया के लिये रक्ताल्पता का प्रकरण देखें)। इस प्रकार ये कीटाणु रक्त में प्रवेश पाकर अपनी संख्या वढ़ा लेते हैं। कालान्तर में इन्हीं कीटाणुओं के सेल

(cell) भंग होकर रक्त-प्रवाह में परिवर्द्धित होते रहते हैं। रक्त की श्वेत-कणिकाएँ रक्तकणिका की रक्षा करती है। शरीरस्थ सभी ग्रन्थियाँ जो श्वेत कणिका उत्पन्न करती हैं, कीटाणुओं के इस आक्रमण का सामना करने के लिये श्वेत कणिका अधिक से अधिक उत्पन्न करती है ताकि रक्त की रक्तकणिका की रक्षा की जा सके। प्लीहा यन्त्र अपने कोष में कुछ कीटाणुओं को ग्रहण कर नष्ट कर देता है। इस अधिक श्रम के कारण शरीर की सभी ग्रन्थियों को अधिक कार्य करना पड़ता है और इसके परिणाम स्वरूप वे क्षीण हो जाती हैं। यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि होना इस संघर्ष का ही परिणाम होता है।

पाश्चात्य चिकित्सकों के मतानुसार एनोफिल्स नामक एक विशिष्ट जाति के मच्छर से मलेरिया का संक्रमण होता है। हमारी समझ में यह पूर्ण सत्य नहीं, वल्कि आंशिक सत्य है। मलेरिया की उत्पत्ति मनुष्य के शरीर पर होती है न कि मच्छर के शरीर पर। मच्छर तो मलेरिया के कीटाणु आदमियों के शरीर से प्राप्त कर फैलाता है। एनोफिल्स जाति की मादा मच्छर की लार (Saliva) से इन कीटाणुओं की उत्पत्ति होती है। जो इसके डंक के द्वारा मनुष्यों के शरीर में प्रवेश पा जाते हैं।

गन्दा और वँधा हुआ जल ही मच्छरों की उत्पत्ति का सर्वोत्तम स्थान है। वर्षा के मौसम में भींगी हुई जमीन से एक प्रकार की गन्दी गैस उत्पन्न होती है, जिसके श्वास द्वारा ग्रहण करने से मनुष्यों की जीवनी शक्ति का ह्रास होता है एवं भूख भी कम हो जाती है। इस प्रकार वर्षा-काल एवं इसके वाद के दो-एक महीनों को मलेरिया का मौसम कहा जाता है।

जव पूर्ण विकसित मलेरिया कीटाणु रक्त में प्रवेश पाकर रक्त में विशाल संख्या में फैल जाते हैं, तव इस युद्ध में मदद देने के चमड़े में स्थित रक्त भी इस में भाग लेने के लिए अन्दर चले जाते हैं। इस प्रकार के आन्तरिक युद्ध के परिणाम स्वरूप शरीर में अतिरिक्त गर्मी पैदा होती है

यही गर्मी बुखार के तापमान की वृद्धि का कारण है। जब इन कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये उपयुक्त गर्मी शरीर में इकट्ठी हो जाती है तब ये रक्त अपने आप चर्म में लौट जाते हैं। मलेरिया ज्वर के आक्रमण के समय शीत-अनुभव का कारण है—चर्म में रक्त की अनुपस्थिति।

शीत लगने के बाद भी तापमान बढ़ता ही जाता है जब तक कि उदरस्थ बिना पचा हुआ भोजन गर्मी के कारण वमन होकर बाहर नहीं निकल जाता। सिर का दर्द और बेचैनी बढ़ती है और तब तक बनी रहती है, जब तक कि कीटाणुओं की शक्ति कम नहीं हो जाती या वे हार नहीं जाते। ये रोग कीटाणु लाला रस (Toxin) नामक एक पदार्थ अपने अस्त्र के रूप में पैदा कर व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर रक्त-कणिकाएँ रोग विषघ्न रस (Anti-toxin) उत्पन्न कर रोग कीटाणुओं का नाश करती हैं। कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न रोग-विष (Toxin) रक्त में मिश्रित हो जाता है जो पसीने के रूप में अपने आप शरीर से बाहर निकल जाता है। पसीना निकलने के बाद रोगी को आराम मिलता है, बुखार और सिर दर्द कम हो जाते हैं। लेकिन कीटाणु २४ घन्टों के बाद पुनः एकत्रित होकर आक्रमण करते हैं। और उन्हीं क्रियाओं की पुनरावृत्ति होती है।

दो आक्रमणों के बीच की अवधि अगर निश्चित है तो समझना चाहिये कि लड़ाई में दोनों पक्ष समान हैं। और, अगर अगले आक्रमण की अवधि पिछले आक्रमण की अवधि से कम हो गया है तो समझना चाहिये कि रोग प्रतिरोध की शक्ति से रोग कीटाणुओं की शक्ति प्रबल है। अगर पहली अवधि से दूसरी अवधि का समय अधिक है तो समझना चाहिये कि रोग कीटाणुओं की शक्ति कम है और शीघ्र लाभ होने के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं।

अगर मलेरिया के रोग-कीटाणु रक्त-कोषों को अत्यधिक मात्रा में नष्ट कर देते हैं और शरीर में इनके अभाव की पूर्ति भी नहीं हो पाती तो इसके परिणाम स्वरूप शरीर का रक्त विवर्ण और निस्तेज होकर

रक्तालपता हो जाती है। यह कष्ट साध्य अवस्था है जो आम तौर पर देखने में आतो है। अन्य असंख्य वीमारियों की तरह मलेरिया का भी एक आधारभूत कारण है। यह कारण है—शरीर में अत्यधिक गन्दे पदार्थ का इकट्ठा होना और रक्त का अशक्त होना। इस प्रकार कोष्ठ-वद्धता, गन्दी हवा का सेवन, पोषण का अभाव आदि मलेरिया के प्रमुख कारण हैं। मच्छर काटने के कारण मलेरिया होना एक निमित्त मात्र है।

उपचार : ज्वर की अवस्था में ज्वर के प्रकरण में लिखी गयी चिकित्सा-प्रणाली का अवलम्बन करें। बुखार उतरने के उपरान्त—

सुबह : सहज वस्तिक्रिया अपने पूरक आसन एवं मुद्रा सहित। अग्निसार धौति संख्यक १ और २ ; उड्डीयान, सहज प्राणायाम संख्यक १ और ३ एवं भ्रमण प्राणायाम।

जिन व्यक्तियों को यदा कदा मलेरिया का आक्रमण होता है, उन पर भ्रमण प्राणायाम परीक्षित हैं। अतएव भ्रमण प्राणायाम मलेरिया के प्रतिरोध में अचूक है—रोग नाशक भी है।

सायं : भ्रमण प्राणायाम, शयन पश्चिमोत्तान, योग मुद्रा, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, सहज अग्निसार, शशाङ्गासन, सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ५।

जहाँ तक सम्भव व्यायाम क्रमशः वढ़ावें।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान ने क्विनाइन को मलेरिया के लिये रामवाण समझ रखा है। मलेरिया के कीटाणुओं पर यह शीघ्र असर दिखलाता है पर साथ ही रक्त की श्वेत-कणिकाओं को भी नष्ट कर देता है, जो संकट के समय वचाव का एक मात्र साधन है। क्विनाइन के प्रयोग से शरीर की रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम आधुनिक चिकित्सा के अनजान प्रेमियों एवं अन्धानुकरण करने वालों की हाँ में हाँ नहीं मिलाते हैं।

इस भयानक औषधि का आँख मूँद कर लगातार काफी परिमाण में प्रयोग करना शरीर के लिये हानिकर है। शरीर की प्रकृति सिर्फ ५ से ७ ग्रेन तक क्विनाईन मल-मूत्र के जरिये प्रतिदिन निकाल सकती है। इस औषधि रूपी विष का कुछ भाग रक्त के जरिये यकृत एवं प्लीहा को अपने में समा लेना पड़ता है। लेकिन शराब या अफीम आदि की तरह ही क्विनाइन की मात्राएँ जो ऐलोपैथिक डाक्टरों द्वारा रोगियों के नुस्खों में दी जाती हैं, वे यकृत एवं प्लीहा को नष्ट कर इनकी वृद्धि में सहायक होती हैं। इनका परिणाम होता है—रोगी की मृत्यु। **ऊपर लिखे अनुसार डाक्टर एवं जनता से हम यह पुकार-पुकार कर कहेंगे कि लाखों असहाय जीवन की रक्षा के लिये क्विनाइन का प्रयोग बन्द किया जाय।**

मलेरिया कई प्रकार का होता है—जैसे १ या २ दिन के बाद आने वाले बुखार को 'पारी का ज्वर' कहते हैं। ज्वर पूर्ण रूप से न उतर कर उत्ताप कुछ कम होने पर पुनः आरम्भ हो जाने को स्वल्प विराम ज्वर (Remittent Fever) कहते हैं। यह स्वल्प विराम ज्वर कुछ दिन बाद एक घातक जाति के मलेरिया का रूप ग्रहण कर लेता है जिसे सांघातिक मलेरिया (Malignant malaria or Pernicious malaria) कहा जाता है। सावधानी के साथ अगर भोजन, उपवास आदि मलेरिया सम्बन्धी नियमों का पालन किया जाय तो मलेरिया की पुनरावृत्ति को निश्चित रोका जा सकता है।

नियम एवं पथ्य : ज्वरावस्था में पथ्य उसी प्रकार हल्का होना चाहिये जैसा कि साधारण ज्वर के प्रकरण में बताया गया है। ज्वर शांत हो जाने के बाद रोगी का पथ्य है—भात, हरी तरकारी, अच्छी तरह पकी हुई दाल का रस, हल्का दूध। ज्वर की पुनरावृति की सम्भावना अगर न हो तो हल्का, पोषक भोजन करें। एवं १-२ सेर दूध का भी सेवन कर सकते हैं। दूध के सेवन से मलेरिया के पुनः आक्रमण की सम्भावना कम होती जावेगी। भारत में मलेरिया के फैलने के कारण

हैं—दूध की कमी, दूध पीने में अरुचि दिखाना एवं स्वास्थ्य सम्बन्धित साधारण नियमों की अवहेलना । क्विनाइन के उत्पादन के लिये सिनकोना की अधिक उपज करना एवं मच्छर मारना—इन साधनों से भारत से मलेरिया उन्मूलन की योजना नासमझी एवं अदूरदर्शितापूर्ण है ।

पहाड़ या जंगल के निवासी, अर्ध सभ्य या असभ्य लोग मसहरी का प्रयोग न करने के बावजूद भी मलेरिया के शिकार नहीं होते, चाहे हजारों मच्छर इन्हें काटें । लेकिन अगर वे भी हमारी तरह सभ्य हो जावें एवं सभ्य जगत् की रहन-सहन के तौर-तरीके अपना लें तो यह निश्चित है कि वे भी मलेरिया के शिकार होने लगें एवं उनकी भी असामयिक मृत्यु होने लगे ।

मदन ग्रन्थि की विवृद्धि

(प्रॉस्टेट एनलार्जमेण्ट—Prostate enlargement)

इस ग्रन्थि के कार्यानुसार हम इसको मदन ग्रन्थि कहते हैं । हमारे पुराण में मदन या कामदेव के बारे में वढ़िया उपाख्यान है । ये प्रेम के देवता हैं, इनकी पत्नी का नाम रति (आसक्ति) है । पुष्पधनु या कामवाण इनका चिरसङ्गी है । इस पुष्पधनु से पुष्पवाण का निक्षेप करके ये तरुण और तरुणियों के हृदय को विचलित करते हैं ; उनके अन्दर आसक्ति की मत्तता जगाते हैं, इसलिये प्रकृति देवी का सृष्टिपरिवर्तन में ये प्रधान सहायक हैं । साधारण नर-नारियां इनके कामवाण को सह्य नहीं कर पाती हैं, इस अपराजित मदन देवता को पराजित करने की क्षमता महातपस्वी और महायोगी महेश्वर की है । इस महेश्वर शिव का ललाटस्थ तृतीय नेत्र से प्रकटित अग्नि में ये मदन देवता भस्मीभूत हुआ अर्थात् इस मर्त्यलोक में जिन लोगों का ज्ञाननेत्र या तृतीय नेत्र विकशित होता है, केवल वे लोग ही अपराजेय दुधर्ष मदन देवता को पराभूत और भस्मीभूत करके आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा लाभ कर सकते हैं । इस निम्नतम

सृष्टि को अतिक्रम करके अर्द्धसृष्टि के आनन्द धाम में विचरण करते हैं। जब तक मन मदन के वश में रहता है तब तक मन को एकाग्र करना कठिन है, मन को तब तक शान्त करना, ध्यान-तन्मय करना, कष्टसाध्य है। अतएव मोक्ष कामी मानव को सांसारिक आसक्ति को परित्याग करना चाहिए। ज्ञानाग्नि से मदन को भस्मीभूत करना चाहिए यही दिव्य-जीवन लाभ करने का उपाय है, जीवन्मुक्ति लाभ का उपाय है।

लक्षण :—यह प्रष्टेट या मदन ग्रन्थि कामग्रन्थि (sexgland) का सहायकारी, इस ग्रन्थि का आकार प्रायः एक वादाम के बराबर है। इसकी अवस्थिति पेशाव की थैली के पास में है, कामभाव या काम-चिन्ता के प्रारम्भ में यह ग्रन्थि सक्रिय होती है, इस ग्रन्थि का रसस्राव मूत्रनाली को गीला करता है और पुंवीज को इसके मध्य से स्वच्छन्द रूप से वाहर ले जाता है। नर और नारियों का दैहिक मिलन के समय इस ग्रन्थि के प्रभाव से ही मूत्राशय से पेशाव का निकलना बन्द रहता है और शुक्रनिर्गमन का मार्ग खुल जाता है। किन्तु इस ग्रन्थि की विवृद्धि होने से मूत्राशय के ऊपर हमेशा भार पड़ता है और मूत्र त्याग में वाधा होती है। इस प्रकार से अवरुद्ध पेशाव से रोगी अत्यन्त वेदना अनुभव करता है। चिकित्सक उस समय कैथिटर की सहायता से पेशाव को निकाल कर रोगी की पीड़ा को सामयिक प्रशमित करने की व्यवस्था करता है। किन्तु सब समय कैथिटर का व्यवहार करना सम्भवपर नहीं होता है। इसलिये अवरुद्ध पेशाव सड़कर शोथ और विषक्रिया की सृष्टि करता है। इस विषक्रिया से प्रष्टेट ग्रन्थि और मूत्राशय क्रमशः अधिकतर दुर्वल और रोगाक्रान्त होता है।

कारण—आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान अभी तक इस रोग की उत्पत्ति का कारण निर्णय नहीं कर सका है। किन्तु हम जानते हैं कि देह में दूषित वस्तु अधिक परिमाण में सञ्चित नहीं होने से देह में कोई भी कठिन व्याधि नहीं हो सकता है। अतएव देह में दूषित वस्तु सञ्चित होने से वह कोई भी कठिन रोग के रूप में प्रकटित होगा ही। अतएव इस रोग

का भी मुख्य कारण देह में दूषित पदार्थ का सञ्चित होना है। गौण कारण आलस्य जीवन व्यतीत करना अथवा अधिक यौन सम्भोग करना है।

चिकित्सा—प्रातःकाल में सहज वस्तिक्रिया और तदनुसङ्गी आसन मुद्रादि। उसके बाद प्रातः कृत्यादि। प्रातः कृत्यादि के बाद टब-स्नान या अर्ध टब-स्नान। टब में बैठ कर अर्ध टब-स्नान, टब में बैठ कर सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति १ संख्यक १० बार, सहज प्राणायाम संख्यक २, ३, ७ प्रत्येक को २ मिनिट तक। वमन धौति, वारिसार धौति सप्ताह में २ दिन। भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न :—टब-स्नान ५/१० मिनिट तक, टब में बैठकर सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्यक १—१० बार, सहज प्राणायाम संख्यक ३, ७ प्रत्येक को ३ मि० तक।

अपराह्न :—भ्रमण प्राणायाम और टब-स्नान २।१ मिनिट तक करें।

सायं :—विपरीतकरणी या सहज विपरीतकरणी २ मिनिट, पवन-मुक्तासन ३ बार, जानुशिरासन ३ बार, सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्यक १ को १० बार, सहज प्राणायाम संख्यक १,२,३,७ प्रत्येक को २ मिनिट तक। शशाङ्कासन १ मिनिट। जलपान विधि और उपवास विधि साध्यानुसार पालन करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में तृतीय अध्याय की जलपान विधि और उपवास विधि द्रष्टव्य।

नियम और पथ्य विधि :—चाय, कॉफी, बीड़ी, सिगरेट, पान, नस्य प्रभृति समस्त मादक द्रव्यका सेवन वर्जन करना चाहिए। आमिष खाद्य और निरामिष संहत खाद्य भी सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए। सप्ताह में एक दिन उपवास करना आवश्यक है।

इस ग्रन्थि की वृद्धि को रोकने के लिए और संकुचित करने के लिए चिकित्सक औषध का प्रयोग करता है; किन्तु औषध लाभकारी नहीं होने पर अस्त्रोपचार की व्यवस्था की जाती है। इस रोग में अस्त्रोपचार बहुत ही खतरनाक होता है। अस्त्रोपचार के बाद भी जो

रोगी जीवित रहते हैं वे अतिकष्ट में जीवन यापन करते हैं। इस प्रकार मृत-जीवन की अवस्था मनुष्यों के लिए वाञ्छनीय नहीं है। अस्त्रोपचार कभी भी रोग के मूल कारण को दूर नहीं कर सकता। एकमात्र योगपन्था ही इस रोग के मूल कारण को दूर करके रोगी को अच्छी तरह से रोगमुक्त कर सकती है।

मवाद-युक्त व्रण और फोड़े-फुंसी

(Abscess-Boils)

विद्रधि

लक्षण : साधारणतया हमारे शरीर पर जो फुन्सी उत्पन्न हुआ करती है, वह एक प्रकार से लाल होती है, उस विशेष स्थान पर उष्मा उत्पन्न हो जाती है, उसमें विभिन्न प्रकार के दर्द और मवाद (पूय) भरकर टीस मारा करती हैं। शरीर में जो सपूय व्रण हुआ करते हैं, आयुर्वेद में उनका एक नाम विद्रधि है। शरीर के ऊपर ही नहीं, आन्तरिक प्रणाली में भी, जो हमारे वहुत ही अधिक मर्मशील अवयव हुआ करते हैं, जैसे यकृत, वृक्क (गुर्दे), फेफड़े आदि, उन पर भी भयंकर परिणाम-संवाहक फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में जब ये फुन्सियाँ अपना प्राथमिक स्वरूप ग्रहण किया करती हैं, रक्त का जमाव होने लगता है, उस अवरोध से वेदना का स्पंदन वढ़ता है, तीव्र दर्द का उभार स्फुट हो जाता है। उसके वाद जो लसिका-प्रदेश हैं, उनमें मवाद एकत्र होने लगती है। अन्त में वह पक जाती है और उसका मुँह बन्द अवस्था में ऊपर उठता हुआ चबके मारता रहता है।

व्रणों का गठन उनके उद्भव, दर्द और मवाद के विभिन्न रूपों में अनेक प्रकार का हुआ करता है और इसीलिए उनका वर्गीकरण किया जाता है। कुछ व्रणों से हरित वर्ण की पूय निःसृत होती है, कुछ पूय-

रक्त पदार्थ वहाया करते हैं, किन्हीं में व्रणद्रव सदृश पूय प्रकट होता है। ये विभिन्न प्रकार के पूय अनेक तरह के सांघातिक व्रणों का स्वरूप प्रमाणित करने में चिकित्सकों को सहायक रहा करते हैं। कभी-कभी ये व्रण प्राणनाश के कारण भी हो जाया करते हैं।

कारण : जब शरीर-प्रणाली में विजातीय द्रव्य उत्पन्न हो जाया करते हैं, तो हमारे शरीर की आन्तरिक प्रकृति अपने धर्म का प्रतिपालन करती हुई इन व्रणों को जन्म दिया करती है ताकि वे शरीर में संचित विजातीय द्रव्यों को वाहर निकालने में सहायक वन सकें—'विस्फोटा रक्तपित्तजाः'। जो वहुत अधिक सांघातिक व्रण होते हैं, वे प्रायः रक्त व पित्त के सम्मिश्रित प्रकोपसे उत्पन्न हुआ करते हैं। शनैः शनैः वे शरीर की ओजस्वी जीवनीशक्ति का ह्रास करते हैं। जब आन्तरिक व्रणों की प्रारम्भिक अवस्था रहती है, उस समय मूल स्थिति यह होती है कि दुर्वल शरीर-प्रणाली चर्म के रोमकूपों द्वारा गलित और अवांछनीय पदार्थों को वाहर नहीं निकाल पाती। उस समय उसमें या तो पूय की मात्रा विल्कुल नहीं रहती अथवा वहुत ही न्यून रहती है। हाँ, कभी-कभी कुछ जल-सदृश तरल अथवा रक्त का समावेश रहता है। परिणाम इस अवस्था में यह होता है कि ये विषपूर्ण पदार्थ शरीर-प्रणाली में पुनः घुल-मिल जाते हैं और अन्ततः किसी आन्तरिक जीवनी शक्ति-प्रधान अवयव पर व्रण के रूप में पुनः अवसर पाकर प्रकट हो जाया करते हैं। आयुर्वेद में यह आदेश दिया गया है कि ऐसे सपूय व्रणों को तत्काल ही शल्य-चिकित्सक से चिरवा कर पूय-शुद्धि करवा लेनी चाहिए, क्योंकि उसके विना और उपाय शेष नहीं रह जाता। योग द्वारा ऐसे मामलों में चिकित्सा केवल प्राथमिक अवस्था में रोग के रहने पर ही सम्भव है।

उपचार : प्रातःकाल—सहज वस्तिक्रिया संख्या १ अथवा २ और सम्वन्धित आसन व मुद्राएँ। इसके उपरान्त सहज अग्निसार धौति

३० बार और अग्निसार धौति संख्या १ दस बार, सहज प्राणायाम संख्या १, २ और ३—प्रत्येक दो से तीन मिनट।

सायंकाल—भ्रमण प्राणायाम ६ मिनट तक। सहज अग्निसार २५ बार। अग्निसार धौति संख्या १ दस बार। जानु-शिरासन ४ बार। सहज प्राणायाम संख्या २ और ८ प्रत्येक २ बार। सर्वाङ्गासन ३ मिनट। मत्स्यासन २ मिनट। जल-ग्रहण की क्रिया जल-स्नान संख्या १ अथवा २ लाभ के अनुरूप स्वीकार करें। जहाँ पर व्रण हो वहाँ पर रक्तचन्दन लगाकर सूर्य की धूपका सेंक देना चाहिए।

यहाँ पर यह विशेष रूपसे द्रष्टव्य है कि सांघातिक व्रणों में, चाहे वे शरीर के ऊपर हों या अन्दर, जैसे कि फेफड़ों का व्रण और अन्य विशिष्ट व्रणों में योग के अन्तर्गत इन रोगों का शमन करने के लिए वारिसार धौति का निर्देश दिया गया है। ऊपर दिये हुए निर्देश तो प्रयोग में आयेंगे ही। ऐसे मामलों में इस प्रकार जो सफलता देखने में आई है, वह रोगग्रस्त मानवता के लिए बड़ा वरदान सिद्ध हुई है।

नियम एवं आहार : साधारण फोड़ों में दो दिन तक रात का भोजन बन्द रखें। भूख न हो तो केवल जल के सिवाय और कुछ न खावें। भूख लगने पर एक या डेढ़ पाव पतला दूध और केला छोड़कर कोई फल खावें। फोड़े में मवाद बनना शुरू होने पर गरम अलसी का पुलटिस लगावें (अलसी के बीजों को जरा भूंजकर फोड़ लें और उन्हें गरम करके पुलटिस दें) इससे फोड़ा जल्दी फूट जाता है।

बड़े या विषैले फोड़े उत्पन्न होने पर पूरे तीन दिन तक उपवास करें। उपवास के पहले और दूसरे दिन सिर्फ निम्बू-रस-मिश्रित जल पीवें। तीसरे दिन पतला दूध, पक्के रसदार फल या दूध-साबू का पथ्य लें। बड़ा या विषैला फोड़ा उत्पन्न होने के प्रारम्भ में ही इस प्रकार उपवास करने से वह फोड़ा भयंकर या ज्यादा कष्टकर नहीं हो पाता। धूप-स्नान के समय इस प्रकार के फोड़े के ऊपर भी कुछेक मिनिट धूप लगानी चाहिए।

भीतरी अंगों में फोड़ा होने पर रोगी के शरीर में ज्वर के लक्षण प्रकट होते हैं। ज्वर साधारणतः १०१° या १०३° डिग्री तक जाता है। यह ज्वर शाम को होता और सुबह नहीं रहता। उस समय शरीर का ताप ६७° डिग्री तक नीचे उतर आता है। भीतरी फोड़े के उत्पन्न होने के कारण इस प्रकार का ज्वर होने से काफी सावधानी बरतनी चाहिए और ज्वर होते ही उसके शमन या बन्द न होने तक उपवास करें। उपवास के पहले तीन दिनों में निम्बू रस के साथ काफी मात्रा में जल पीवें और जब तक पूरी तरह से ज्वर आना बन्द न हो जावे तब तक अन्न भोजन करना बन्द रक्खें और लघु पथ्य लेते रहें। इस प्रकार उपवास, वस्तिक्रिया और वमन-धौति या वारिसार धौति आदि यौगिक क्रियाएँ करते रहने से, उठा हुआ फोड़ा बैठ जाता या पककर फूट जाता है, वह और बढ़कर हानि नहीं पहुँचा पाता।

ज्वर दूर हो जाने पर भी १-२ महीने तक खाने-पीने में बहुत सावधान रहें। घी, मक्खन, तेल आदि चिकनाइयाँ तथा मांस-मछली अण्डा आदि आमिष खाद्य यथासाध्य बन्द रक्खें और दूध, फल एवं शाक-सब्जी आदि क्षारधर्मी खाद्य जरूरत माफिक काम में लावें।

मुँहासा अथवा यौवन-पीड़िका

(Acme)

कारण व लक्षण : जब बाल्यावस्था को पार कर बालक और बालिकाएँ तरुणाई ग्रहण करने लगते हैं तो उस अवस्था में उठती हुई जवानी के कुछ लक्षण प्रस्फुटित होने लगते हैं। पिट्यूटरी और थायराईड ग्रन्थियाँ विशेष रूप से सक्रिय हो जाती हैं, जिनके प्रभाव से अण्डकोष की ग्रन्थियाँ और प्रॉस्ट्रेट ग्रन्थियाँ या यौन सम्बन्धी अन्य अवयव विकसित होने लगते हैं। कन्याओं में डिम्बाशय तथा अन्य सम्बन्धित अवयव अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण करने की स्थिति में आ

जाते हैं। इन्हीं के सहयोग से वे आगे चलकर कन्याओं को माता बनने में सहायक होते हैं। इस अवधि में वस्ति-प्रदेश में और नितम्ब-प्रदेश में रक्त का संचार काफी अधिक होने लगता है और यही कारण है कि कभी-कभी बालकों व कन्याओं में यौन विषयक उत्तेजनाओं के अभाव में, इस अवधि में मुँहासे अनायास प्रगट होने की स्थिति में रहते हैं। कभी-कभी बाह्य प्रभाव से उत्तेजित होकर अथवा बिना किसी सीधे प्रभाव के भी इस रक्त-संचार की अधिकता से अण्ड-कोष की ग्रन्थि स्वतः ही बड़ी होने लगती है और उनसे स्वस्थ रक्त के आधिक्य के कारण वीर्य प्रचुर मात्रा में बनने लगता है। जो अतिरिक्त ओज बनता है वह पुनः रक्त में ही सम्मिश्रित हो जाता है और इससे बचा हुआ ओज पदार्थ वीर्य की सूक्ष्म केशिकाओं में एकत्र हो जाता है। जब प्रारम्भिक अवस्था में स्वप्नदोष होने लगता है तो यही वह अतिरिक्त ओज-रस है जो अनायास स्खलित हो जाया करता है। कन्याओं के यौन-अवयवों से जिस रस का स्राव होता है वह रस पुरुष के ओज-रस के समान अधिक गाढ़ा नहीं होता। उसका स्वरूप थूक की तरह काफी पतला रहता है। यौन-सम्पर्क के क्षणों में जब आनन्दवर्धक अवस्था उत्तेजित रहती है तब मातृ-ग्रन्थियों से ओज-रूप रज का क्षरण होता है। इसका कुछ अंश तो पुनः रक्त में मिल जाता है, किन्तु उसका थोड़ा-सा अंश मातृ-ग्रन्थियों के कोषों में संचित हो जाता है। यही वह अतिरिक्त ओज पदार्थ है, जो कन्याओं में मासिक-धर्म के समय प्रवाहित हुआ करता है।

जिन कन्याओं में मातृ-ग्रन्थियाँ और बालकों में अण्ड-कोष की ग्रन्थियाँ अधिक स्वस्थ रहती हैं, जिनके आचार-विचार बहुत शीलवान् होते हैं, जो कभी भी वासना-उत्तेजक विचारों से अपना सम्पर्क नहीं रखते और न ही मानसिक वासना से रुग्ण भावनाओं से अथवा हस्तमैथुन से पीड़ित रहते हैं उनमें स्वप्नदोष आदि अथवा मासिक स्राव के समय मिश्रित होकर निकलने वाले ओज के लक्षण प्रकट नहीं हो पाते। लेकिन यदि ऐसे व्यक्तियों में भोजन का अपचन अथवा पित्त की प्रधानता अधिक

होती है तो उनमें यह क्षरित ओज-रस दूषित होने लगता है और उस विकृत अवस्था में यह जब रक्त के अन्दर मिश्रित हो जाता है तो अन्य अवयव इस विष से आक्रान्त हो जाते हैं। उस अवस्था में जब वे अवयव इस विष को बाहर निकालने का प्रयास प्रारम्भ करते हैं, तब परिणाम-स्वरूप चेहरे पर मुंहासे प्रगट होने शुरू हो जाते हैं।

उपचार : सुबह सहज वस्तिक्रिया के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित आसन और मुद्राएँ। मल त्याग और दन्त-धावन के बाद अपनी रुचि और अपने स्वभाव के अनुसार या तो पूरा स्नान करें अथवा केवल हाथ-मुँह धो लें। अब २० बार मूलबन्ध और २० बार महाबंध कर संख्यक १, २, ३, ४ सहज प्राणायाम, इनमें से हरेक को २ मिनट के लिए करना चाहिए। संख्यक १ अग्निसार धौति को १० बार करना चाहिए और संख्यक २ को चार बार।

दोपहर में १०-१५ मिनट के लिए टब-बाथ लेना चाहिये और इसी अवधिमें मूलबन्ध और महाबन्ध को २०-२० बार दुहराएँ। शक्तिचालनी मुद्रा को चार बार करना चाहिए और सहज अग्निसार को ३० बार।

सायंकाल शयन-पश्चिमोत्तान आसन करें। योगमुद्रा ८ बार, हलासन ४ बार, सर्वाङ्गासन ३ मिनट के लिए, उत्तरासन ३ बार और शीर्षासन ४ मिनट के लिए कर लेना पर्याप्त रहेगा।

नियम एवं आहार : इस रोग से पीड़ित वयस्क बालकों और कन्याओं में प्रायः देखा जाता है कि उनमें यौन विषयक उत्तेजना काफी अधिक होती है। इसलिए दृढ़ मन होकर ऐसी भावनाओं को अपने मन से निकाल कर रहना चाहिए और बार-बार सतर्क रहकर ऐसी भावनाओं से परहेज रखना चाहिए। उठी हुई जवानी के बालकों और कन्याओं को भूलकर भी अपने से विपरीत लिंगभेद के, अर्थात् तरुणी तरुण की ओर तथा तरुण को तरुणी के चेहरे की ओर नहीं देखना चाहिए। विशेषरूप से यह नियम तो उस समय और भी ध्यान में रखना होगा जब कि मिलने वाले तरुण-तरुणी सगे-सम्बन्धी न होकर अपरिचित अथवा मित्र-भाव के

व्यक्ति हों। कहीं आपस में मिलन-भेंट की आवश्यकता आ जाय तो वहाँ काफी संयम रखना चाहिए। ऐसे सिनेमा, ड्रामा, उपन्यास आदि से अपनी रक्षा करनी चाहिए जिनमें बहुत अधिक उत्तेजक यौनभाव का समावेश हो। फिर भी यदि यौन-स्नायु किसी कारणवश उत्तेजित हो ही जायँ तो बहुत ही दृढ़ निश्चय के साथ उन पर नियंत्रण करते हुए अपने मन-मानस को मर्यादा में रखना चाहिये। इससे लाभ यह होगा कि मनःशान्ति ही नहीं रहेगी, हृदय और मानस में भी तुष्टि और शील का सौम्य भाव बना रहेगा।

विशेष रूप से यह रोग अविवाहितों में ही पाया जाता है। कुछ अपवाद भी होते हैं कि जब विवाहितों में भी यह देखने को मिलता है, लेकिन मूलरूप से ऐसे रोगियों में या तो भोजन के अपचन की अवस्था रहती है अथवा किसी कारणवश यौनकी अतृप्ति का उद्वेग उनके अन्तराल में उन्हें कचोटता रहता है।

इस रोग में यवक्षारी भोजन और स्टार्च आदि का परिवर्त्तन करते हुए अधिक से अधिक जहाँ तक हो सके शाक-सब्जी, फल-मूल अत्यधिक लेना चाहिए। आदर्श भोजन इस सीमा तक स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस रोग से त्राण पाने में सहायक हो सके। इस विषय में आगे के पृष्ठों में भोजन-प्रकरण पर जो विशेष प्रकाश डाला गया है, उसका ध्यान रखना सहायक रहेगा।

इनके अतिरिक्त काफी जल पीना, पानी से तृप्ति-योग्य स्नान करना और टब-बाथ आदि लेना भी बहुत लाभकर रहता है।

मूर्च्छा

(Hysteria & Fainting)

आयुर्वेद के मत के अनुसार मूर्च्छा तीन प्रकार की होती है। जैसे—साधारण मूर्च्छा, अपस्मार मूर्च्छा और सन्निपातिक मूर्च्छा।

साधारण प्रकार की मूर्च्छा में रोगी की नेत्र-ज्योति घट जाती है, माथे पर पसीना आने लगता है, सर चक्कर खाने लगता है और वह अज्ञान होकर गिर पड़ता है। लेकिन इस प्रकार के आक्रमण से शीघ्र ही छुटकारा मिल जाता है। अपस्मार मूर्च्छा ठीक होने में थोड़ा समय लगता है। हिस्टीरिया भी अपस्मार मूर्च्छा का ही १ भेद है। सन्निपात मूर्च्छा के विषय में मृगी व संन्यास के प्रकरण में पृथक से लिखा गया है।

कारण : मूर्च्छा का आम कारण है स्नायु-दौर्बल्य। बैठे-बैठे अचानक खड़े हो जाने से शिर चक्कर खाने लगता है एवं किसी-किसी आदमी में बेहोशी भी हो जाती है। यह उन आदमियों में अधिक होता है जिनकी स्नायु एवं रक्तवाहिनी नसें मस्तिष्क एवं शरीर की अन्य प्रणालियों को शरीर की बदलती हुई परिस्थितियों में प्रचुर मात्रा में रक्त नहीं पहुँचा पाती है।

जिन मनुष्यों का दिमाग कमजोर और हृदय कोमल और सहानुभूति से पूर्ण होता है, मृत्यु या रक्तपात के दृश्य नहीं देख सकते हैं। वे दुर्घटना या सर्जिकल आपरेशन भी नहीं देख पाते। इस प्रकार के आदमी ऐसी अवस्था में अक्सर बेहोश हो जाते हैं।

सहिष्णुता की सीमा व्यक्ति-विशेष पर निर्भर करती है। जब आकस्मिक मानसिक चोट, वेदना, शरीर पर विषाक्त प्रभाव, सुदीर्घकालीन रोग से कष्ट, मानसिक व्यथा आदि इस सीमा को पार कर जाते हैं तो मूर्च्छा इस प्रकार के कष्टों को कम करने के लिये प्रकृति की एक देन के रूप में आती है। इससे कष्ट का प्रभाव घट जाता है। जिस प्रकृति के ही अन्य नियम निद्रा से सभी प्रकार के अड़चनों से, चिन्ताओं से छुटकारा मिलता है उसी प्रकार मूर्च्छा से असह्य कष्टों से मनुष्य का एक बार पिण्ड छुट जाता है। सभी प्रकार की मूर्च्छा का मूल कारण है— मस्तिष्क में समय पर रक्त का अल्प प्रवाह। रक्त-वहन एवं स्नायुमण्डल की कमजोर प्रणाली, असह्य कष्टों के प्रभाव से चेतनाहीन हो जाती है एवं अस्थाई तौर पर मस्तिष्क को समुचित मात्रा में रक्त नहीं पहुँचा

पाती हैं। कभी-कभी जव मनुष्य गिर पड़ता है या बैठ जाता है तव यह कमी कुछ पूरी हो जाती है क्योंकि बैठ जाने पर या गिर पड़ने पर रक्त-प्रवाह की प्रणाली पर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव समाप्त हो जाता है। मस्तिष्क को तब रक्त मिलने से वह कार्यकारी हो जाता है और शीघ्र ही रोगी को ज्ञान-लाभ हो जाता है।

हिस्टोरिया : यह एक मानसिक रोग है जो प्रायः १४ से ३५ वर्ष तक की स्त्रियों को हुआ करता है। अविवाहित पुरुषों में भी कहीं कहीं इसका असर देखा गया है। स्त्रियों का मस्तिष्क भावनाओं पर पूरा-पूरा नियन्त्रण नहीं रख पाता है; हृदय की वेदना या छिपी हुई इच्छाओं को वह दवा नहीं सकता है। काफी दूर तक शारीरिक कमजोरी भी इसकी जिम्मेवार है। जिस प्रकार एक लता किसी सहारे के विना इधर से उधर भटकती है उसी प्रकार एक स्त्री, एक विश्वस्त आदमी के प्यार या स्नेह के अभाव में आत्म-नियन्त्रण खो बैठती है एवं विचित्र प्रकार के हावभाव करती है। इस प्रकार भावनात्मक वेदना के फलस्वरूप वह मूर्च्छित हो जाती है।

स्त्रियों की वेहोशी में एक विचित्रता है। जब वे अकेली रहती हैं—वे कभी वेहोश नहीं होती हैं। जिनके प्यार की तृष्णा उनके मन में मंडराती रहती है उनके सहवास से उनकी भावनायें प्रवल हो उठती हैं और वे ज्ञान खो वैठती हैं। इतने पर भी उनमें एक प्रकार का आन्तरिक ज्ञान विद्यमान रहता है जो उनको आपद-विपद से वचाता है। Epilepsy या Apoplexy और हिस्टीरिया के रोगियों में यही अन्तर है। Epilepsy या Apoplexy की मरीज अज्ञान की अवस्था में पानी, आग या किसी विपदजनक स्थान पर गिर कर मर सकते हैं।

जगत प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषक के मतानुसार विषय-भोग की अतृप्त या दवी तृष्णा हिस्टीरिया के दौरे का प्रमुख कारण है। जिसे हम स्वीकार नहीं करते पर इसके मरीजों में काफी इसी श्रेणी के अन्त-

र्गत आते हैं। वास्तव में वहुसंख्यकों की वीमारी का मूल कारण है, निकटतम सम्पर्क से प्रेम, स्नेह या सहानुभूति का अभाव।

जिस प्रकार एक कुत्ता अपने मालिक का पालतू है, उसी प्रकार अपने पति का विशुद्ध पवित्र प्रेम प्राप्त कर अपने विषय-भोग की भावना को नियन्त्रित करने में सक्षम है। तृप्त कामवासना वाली विवाहिता स्त्रियाँ भी हिस्टीरिया की मरीज हैं। जाँच करने पर यह पता चला कि उनका मस्तिष्क अतृप्त है। और ये ही उनकी बीमारी की जड़ है। अतएव हम भी आयुर्वेद के इस मत का कि शरीर की दोषी-कार्य प्रणाली, भावनात्मक भार एवं चिन्तायुक्त मस्तिष्क इस रोग के प्रमुख कारण हैं—समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि हिस्टीरिया के मरीज निर्बलता, मासिक धर्म की गड़बड़ी, कोष्ठ-वद्धता एवं अन्य पेट की बीमारियों के शिकार रहते हैं।

चिकित्सा : प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ वस्ति-क्रिया। निःसारण स्नान नं० १ या २ ; सहज प्राणायाम नं० १, २, ३ या भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न : स्नान क्रिया नं० १ या २।

सायं : भ्रमण प्राणायाम ; स्नान-क्रिया नं० ३, सर्वाङ्गासन ३ मि० तक, मत्स्यासन—१ मिनिट तक, अग्निसार धौति नं० १-१० मिनिट, पश्चिमोत्तानासन—४ वार ; सहज प्राणायाम नं० ३, ४ ; शिर्षासन ३ मिनिट तक।

नियम एवं पथ्य : जिस कमरे में रोगी मूर्च्छितावस्था में हो उसके दरवाजे एवं खिड़कियाँ काफी चौड़ी होनी चाहिए। रोगी अगर ऐंठन महसूस करता हो तो उसके हाथ-पैर पकड़ लें। हवा करें। उसके माथे पर ठण्डा पानी डालें। कानों के पीछे एवं आँखों पर जल से भिगा कपड़े का टुकड़ा रगड़ें। साधारण दौरे को शान्त करने के लिये यह काफी है। अगर रोग का दौरा लम्बा होता दिखाई दे तो रोगी को

पलंग पर सुलाकर पाँव की तरफ से पलंग को १२ से १८ इंच तक भली प्रकार ऊँचा कर दें। इससे रक्त मस्तिष्क की तरफ प्रवाहित होने लगेगा और रोगी की चेतना लौट आवेगी। अन्य निर्देश 'रक्त अल्पता' के प्रकरण में पढ़ें और उनका अनुसरण करें।

मूत्र-अश्मरी (पथरी)

(Renal Calculi)

हमारे शरीर में पीठ की तरफ रीढ़ की हड्डी के दोनों तरफ दो वृक्क हैं जिसका डाक्टरी मत के अनुसार नाम है Kidney। यह यकृत एवं प्लीहा के नीचे है। इसकी आकृति आमकी गुठली जैसी है। इसकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २ इंच एवं मोटाई १ इंच है। यकृत चूँकि अन्य शारीरिक क्रियाओं में व्यस्त रहता है, फिर भी ये वृक्क रक्त-शोधन यकृत की सहायता से ही करते हैं।

जिस प्रकार धुँआ एवं राख आदि से हमारी रसोई गन्दी हो जाती है उसी प्रकार पाचक अग्नि के बराबर जलते रहने से हमारा शरीर भी मैला होता रहता है। हमारे शरीर में ऑक्सीजन स्वतः जलकर कार्बन-डाइ-आक्साइड बनता रहता है। यही कार्बन-डाइ-ऑक्साइड श्वास-प्रश्वास के समय फुसफुस बाहर निकालते रहते हैं। नाना प्रकार की ग्रन्थियाँ अशुद्ध पदार्थों को पृथक् करती रहती हैं। रक्त में विजातीय द्रव्य का समावेश न हो जाये, यह कार्य मुख्य रूप से वृक्क करते हैं।

हृद्यंत्र का यथोचित चाप वर्तमान रहने से वृक्क-द्वय को सीधा रक्त मिलता रहता है। यह रक्त वृक्क के सूक्ष्म-सूक्ष्म कोषों—जो वृक्क की दिवाल में अवस्थित रहते हैं—में शुद्ध होता है। वृक्क में छोटी-छोटी नलियाँ अवस्थित हैं जहाँ रक्त के तरल अशुद्ध पदार्थ होते हैं। यह तरल अशुद्ध पदार्थ छोटी-छोटी बारीक नलियों से मूत्र की थैली में चला जाता है और मूत्र-मार्ग से शरीर के बाहर निकल जाता है। रक्त को शुद्ध

करने की यह एक प्राकृतिक प्रणाली हमारे शरीर में है। अगर रक्त में अशुद्ध पदार्थ अत्यधिक मात्रा में मौजूद रहता है तव हृदय भली प्रकार अपना कार्य नहीं कर पाता है। फलस्वरूप वृक्क के नियमित कार्य में वाधा उपस्थित हो जाती है और शरीर में विजातीय दूषित द्रव्य एकत्रित हो जाते हैं। यही कारण है—वृक्क के दोषी होने का। गठिया-वात, शोथ आदि रोग वृक्क खराव होने के परिणाम-स्वरूप ही आक्रमण कर देते हैं। अपचन, अम्लता और स्थायी कोष्ठवद्धता के फलस्वरूप ही रक्त दूषित होता है। ये वीमारियाँ—आलसी, अतिभोजी, अत्यधिक मांसादिक भक्षण करनेवाले एवं सुरापान करनेवालों को हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त अधिक कामासक्ति के फलस्वरूप रक्तका क्षारीय अंश कम हो जाता है और रक्त निर्वल हो जाता है। वृक्क में तरल अशुद्धियों के एकत्र होने के फलस्वरूप वृक्क की दिवाल मोटी हो जाती है एवं वहाँ पर दाने के समान पदार्थ जमने लगता है। यही पदार्थ यूरिया एवं यूरिक एसिड के संयोग से कालान्तर में आकार में बढ़कर पत्थर का रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी इनका आकार अण्डे के बरावर भी हो जाता है।

मूत्र की थैली या वृक्क में पथरी का कारण है—यह धीरे-धीरे जमनेवाला पदार्थ। गाल-ब्लेडर में पथरी होने के कारण रोगी को जिस प्रकार की तकलीफ होती है उसी प्रकार इस रोग में होता है। जव कभी पथरी मूत्र-मार्ग से वाहर निकलने का प्रयास करती है, तव मूत्र-मार्ग वन्द हो जाता है, मूत्र त्यागते समय अगर थोड़ा दवाव दिया जाये तो रक्त आने लगता है। जव इस पत्थर को हटा दिया जाता है तभी मूत्र हो पाता है।

पित्त-अश्मरी रोग के समय किये गये ऑपरेशन से मूत्र-अश्मरी का ऑपरेशन कम खतरनाक है, लेकिन रोगी अपनी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थि खोकर कभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो पाता। क्योंकि बची हुई एक ग्रन्थि पूरी मात्रा में कार्य-भार वहन नहीं कर पाती है। यौगिक

आसन एवं मुद्राओं के नियमित अभ्यास से इस प्रकार के भयावह ऑपरेशन से बचा जा सकता है। **चिकित्सा** और **नियम एवं पथ्य** सम्बन्धी निर्देश के लिये पित्त-अश्मरी का प्रकरण देखें।

मेदरोग

(Obesity)

शरीर के लिये 'मेद' (चर्बी) आवश्यक है। मेद से शरीर का तापमान स्थायी रहता है। अगर हमारे पाँवों के नीचे मेद की गद्दी न होती तो चलना काफी मुश्किल काम हो जाता। वैसे ही अगर हमारे शरीर के जोड़ों पर, कूल्हों पर चर्बी न होती तो जीवन की साधारण क्रियाएँ करने में काफी असुविधा होती।

लक्षण—दुर्भाग्यवश भूखे रहने पर, स्वेच्छया उपवास आदि के समय भोजन की आवश्यकता को मेद पूरा करता है—अपने आपको जलाकर। इसलिये शरीर की प्रकृति अनवरत मेद-निर्माण करती रहती है। लेकिन आवश्यकता से अधिक मेद का शरीर में एकत्र होना या उसका निर्माण होना भी एक रोग है।

पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में सौन्दर्य एवं लावण्य की अधिकता पायी जाती है। इसका कारण है पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मेद की मात्रा का अधिक होना। इसके अतिरिक्त, उन्हें गर्भावस्था में या प्रजनन के समय भी मेद की आवश्यकता होती है। मेद के अभाव में उत्पन्न शिशु रोगी होंगे। जन्म के बाद भी उनकी शारीरिक उन्नति ठीक प्रकार न हो सकेगी, क्योंकि गर्भावस्था में ही उनका निर्माण भली प्रकार नहीं हो पाया।

शरीर की यन्त्र-प्रणाली में, अधिक मात्रा में एकत्रित मेद (चर्बी) बाधा उपस्थित कर देता है। अत्यधिक मेद के कारण, शरीर की मसल, हृदय एवं फुसफुस के तन्तु (Ligaments) भली प्रकार काम नहीं कर

पाते एवम् इसके फलस्वरूप हृद्रोग, रक्त-चाप एवं उसीके सदृश वहुत-सी वीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। यहाँ तक कि श्वास-प्रश्वास एवं रक्त-परिवहन में भी वाधा उपस्थित होने लगती है और परिणाम भी दुःखद ही होता है।

कारण—आयुर्वेद के मतानुसार, शारीरिक श्रम का अभाव, दिन में सोना, मांसाहार का अधिक सेवन, अधिक दूध, कार्बो हाइड्रेट, मक्खन, घी, मिठाई आदि के सेवन से मेद अधिक मात्रा में वढ़ता है एवं नसों, स्नायु आदि में एकत्रित होकर उनके प्राकृतिक कार्य में वाधा उपस्थित हो जाती है, जिसके कारण शरीर में होनेवाली रासायनिक क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं एवं पाचन आदि क्रियाएँ आवश्यकतानुसार नहीं हो पातीं। मेद के इस प्रकार एकत्रीकरण के फलस्वरूप व्यक्ति आलसी, मोटा एवं वहुत-से कार्यों के लिये अयोग्य हो जाता है। पेट में भली प्रकार न घूम-फिर सकने के कारण वायु कुपित हो जाती है और भूख अधिक मात्रा में लगने लगती है। मेद-रोगी भारी भोजन चाव से करते हैं एवं वे भली प्रकार पचा भी लेते हैं। पर यह जीवन के पूर्वार्ध में ही कर पाते हैं। जब मेद क्रम से बढ़ता जाता है तब पाचन-प्रणाली के अधिक कार्य करनेके फलस्वरूप शरीरकी सूक्ष्म-सूक्ष्म ग्रन्थियों पर काफी प्रभाव पड़ता है एवं वे संतुलित रूप से अपना कार्य करना वन्द कर देती हैं।

मोटापा कहीं-कहीं माँ-बाप की देन होता है और कहीं-कहीं व्यक्ति विशेष स्वयं ही मोटे होते हैं। ४० प्रतिशत मोटे व्यक्तियों को मोटापा विरासत में मिलता है एवं बाकी ६० प्रतिशत मोटे व्यक्ति अपनी आदतों के शिकार रहते हैं। वे स्वास्थ्य एवं पथ्य के नियमों की कुछ भी परवाह नहीं करते।

जो व्यक्ति शारीरिक श्रम करते हैं उनकी अपेक्षा बुद्धिजीवियों को कम भोजन की आवश्यकता रहती है। लेकिन वे खर्च वहन कर सकते हैं। वे नित्यप्रति काफी मात्रा में मांस, मछली, घी, दूध, मक्खन और

मिठाई आदि खाते हैं, पर वे शारीरिक श्रम नहीं करते। इसके फल-स्वरूप उनकी अर्धावस्था में मेद एकत्रित होने लगता है।

पिच्यूटरी एवं थाइरायड ग्रन्थियों से होनेवाला आभ्यन्तरिक स्राव, यकृत, प्लीहा आदि को नियमित रूप के कार्यकारी रखता है। नियमित रूप से भूख लगना भी इन्हीं ग्रन्थियों का काम है। यकृत या प्लीहा अगर अपने नियमित कार्य न करें तो सम्बन्धित अन्य ग्रन्थियाँ अधिक क्रियाशील हो जाती हैं एवं कालान्तर में वे कमजोर हो जाती हैं। निर्बल ग्रन्थियों के कारण शरीर की रोग-प्रतिरोध शक्ति घट जाती है एवं शरीर पर रोग के आक्रमण का भय बना रहता है। यही कारण है कि मोटे आदमी दीर्घायु नहीं होते और अपने जीवन में वे स्वस्थ भी नहीं रह पाते। पाश्चात्य चिकित्सा ने मोटापेकी कड़ी आलोचना करते हुए कहा है, **"शरीर के अधिक वजन का १-१ पौण्ड मनुष्य की आयु को १-१ महीना कम कर सकता है।"**

उपचार—प्रातः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया करें। निःसारण और स्नान करें। अग्निसार धौति सं० १ को १० बार, नं० २ को ४ वार। भ्रमण प्राणायामका अभ्यास करें।

सायं—मकरासन ४ बार, योगमुद्रा ८ बार, जानुशिरासन और मत्स्यासन एक मिनट तक, शीर्षासन ३ मिनट तक, सहज प्राणायाम सं० १, २, ४, ८। क्रम वर्धमान व्यायाम का अभ्यास करें।

नियम एवं पथ्य :—मेद रोग से पीड़ित व्यक्ति को पथ्य के नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिये। प्रातः अगर तीव्र भूख महसूस होवे तो पके फलों का सेवन करें। इसके पूर्व एक गिलास पानी में १-२ चम्मच मधु मिलाकर पीवें। अगर सुबह फल प्राप्त न होवे तो बिना चीनी मिला केवल १ कप दूध पीवें। सुबह के लिये इतना ही काफी है। चाय पीने की आदत छोड़ दें। अगर अधिक आवश्यकता समझी जाये तो सिर्फ १ कप चाय सुबह पीवें।

दोपहर के भोजन में—थोड़े से चावल, दाल (पकी हुई), काफी मात्रा में सब्जी और थोड़ी-सी मछली—खायें। रोगी की आयु **"अगर पचास वर्ष से अधिक हो तो उसे मांस-मछली छोड़ देने चाहिये।"** अतिरिक्त मात्रा में घी या मक्खन का सेवन न करें। रोगी का भोजन अधिक तेल, घी या मसालेदार न हो, इसका ध्यान रखें। दोपहर के भोजन में छाछ का सेवन करें। मध्याह्न में कुछ भी न खायें। अगर भूख तीव्र हो तो सिर्फ फल खावें। रात्रिकालीन भोजन काफी हल्का होना चाहिये, जैसे—सब्जी के साथ १-२ रोटियाँ, एक कप दूध, और कुछ सूखे मेवे। सूखे मेवे सेवन करने के पहले १-२ घण्टा जल में भिगो लें।

मेद रोग अपचन का ही एक रूप है। अतएव अपचन के प्रकरण में लिखे गये नियमों का पालन करना आवश्यक है। एकादशी का व्रत रखें। प्रत्येक पूर्णिमा एवं प्रतिपत् को रात के समय का भोजन न करें। इससे वहुत लाभ होगा।

रक्तचाप-वृद्धि रोग (ब्लडप्रेशर)

लक्षण—रक्त की धमनियाँ अथवा केशिकाएँ (अति सूक्ष्म रक्त-प्रवाहिनी केशवत् नाड़ियाँ) दुर्बल हो जाने से रोगग्रस्त हो जायें, तो इनके मार्ग से रक्त का स्वाभाविक संचरण पूरी तरह नहीं हो पाता। उस अवस्था में हृदय को और अधिक शक्ति लगाकर रक्त को सशक्त करने के लिए विवश हो जाना पड़ता है ताकि इन अशक्त धमनियों से रक्त का संचार नियमित होता रहे। यह जो अतिरिक्त रक्त का दवाव हृदय की धमनियों पर हावी होता है, वास्तव में यही रक्तचाप है।

इस रोग के होने पर रात में बीच-बीच में नींद टूट जाती है, रात्रि के समय अनेक बार पेशाब के लिए उठना पड़ता है और बाईं करवट सोने में कुछ तकलीफ-सी महसूस होती है। कानों में प्रायः **स्वतः गुंजन**

के स्वर भर जाते हैं। पुनः पुनः सिर चक्कर खाने लगता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, श्वासावरोध भी होने लगता है। रोग के प्रारम्भ में ये लक्षण सामने आते हैं।

पाश्चात्य मेडिकल साइन्स ने यह निर्धारित किया है कि यदि रक्त-चाप १५५ मि० मि० से ऊपर बढ़ जाए तो वह हाइ ब्लडप्रेशर है और जमाने में एक नया यन्त्र स्फिगमोमीनोमीटर (sphygmomeno-meter) निकला है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का रक्तचाप नापा जा सकता है। साधारण रूप में यदि हम एक व्यक्ति की आयु का पाँचवाँ हिस्सा १२० मि० मि० में जोड़ दें तो एक स्वस्थ व्यक्ति का रक्तचाप मालूम हो जाता है। कुछ लोगों ने यह सिद्धान्त लागू किया है कि यदि व्यक्ति की आयु का अर्द्धांश १०० मि० मि० में जोड़ दिया जाए, तो एक स्वस्थ व्यक्ति का रक्तचाप सहज में हाथ लग जाता है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति यदि ६० वर्ष का है, तो १२०+$\frac{६०}{५}$=१३२ मि० मि० होगा, लेकिन दूसरे गणित से यह १००+ $\frac{६०}{२}$= १३० हो जायगा।

कारण : आहार में जो प्रोटीन हुआ करता है, वह शरीर की अनेक कमियों को पूरी करने में अपनी पूरक क्रिया किया करता है। जो लोग कठिन शारीरिक श्रम नहीं करते उन्हें इस प्रोटीन भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। जब कार्यमुक्त निठल्ले आलसी आदमी और महिलायें प्रायः प्रतिदिन प्रोटीनयुक्त आहार ग्रहण करती हैं, चाहे यह काम वे शारीरिक स्वस्थवृत्ति की गैर-जानकारी में करते हों अथवा ऐसे भोजनों में अत्यधिक अनुरक्ति भरे लालच के कारण, परिणाम यह होता है कि उनकी भोजन-प्रणाली में अतिरिक्त प्रोटीन आवश्यक रूप से संचित हो जाता है। और, स्थिति यह रहती है कि शरीर को इस अतिरिक्त जमाजोड़ किये हुए प्रोटीन की किसी भी रूप में आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि शरीर में इस तरह की व्यवस्था नहीं है कि वह संचित किये हुए प्रोटीन को सँभाल कर रक्षा करे, उस अवस्था में उसे

वाहर निकालने के लिए यकृत और पाचक प्रणाली की ग्रन्थियों को वहुत अधिक श्रम करना पड़ता है। इसे इस तरह समझें कि जिस तरह जोर की वारिश होने पर साधारण नालियाँ अतिरिक्त वर्षाजल को वहा ले जाने में असमर्थ हो उठती हैं और उस अवस्था में सड़कों पर भरे हुए पानी को दूर वहा ले जाने के लिए अतिरिक्त पम्प व मोटर वैठाने पड़ते हैं। लेकिन जव इन ग्रन्थियों की अतिरिक्त मेहनत भी इन संचित प्रोटीनों को शरीर से वाहर ले जाने में पूरी नहीं पड़ती, तो वह बचा-खुचा प्रोटीन शरीर के अन्दर सड़ने लगता है और शरीर में विष उत्पन्न करता रहता है। रक्त भी इस विष से दूषित होना प्रारम्भ हो जाता है। फल यह होता है कि सारा शरीर आमाशयिक रोगों का (gastric troubles) भण्डार वनने लगता है। गुर्दे और उसके साथ ही समस्त रक्तशोधक अवयवों के साथ फेफड़े भी इन विषों से प्रभावित होकर दुर्वल पड़ जाते हैं। परिणामस्वरूप रक्त की शुद्धि पूरी मात्रा में नहीं हो पाती। रक्त में इन विषों के मिश्रित हो जाने से धमनियों में जो लचक विद्यमान रहती है और जिसकी वजह से वे रक्त को संचारित करते समय फैलती व सिकुड़ती हैं, उसके स्थान पर उनमें एक काठिन्य आ जाता है। वस, धमनियों में रक्त प्रकृत-अवस्था में संचारित नहीं हो पाता, क्योंकि लचक के अभाव में वे जकड़ी रह जाती हैं। अब स्थिति यह हो जाती है कि रक्त को धमनियों में संचारित करने के लिए हृदय को विशेष जोर लगाना पड़ता है और इसीलिए अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करने के लिए वह वाध्य हो जाता है। इस अतिरिक्त दबाव को उत्पन्न करने के लिए उसे आवश्यकता से अधिक धड़कना पड़ता है। रक्तचाप नामक रोग अन्त में हृदय के इस अतिरिक्त श्रम व धड़कन उत्पन्न करने के उपरान्त अपना चिन्तनीय रूप ग्रहण कर लेता है।

एक स्थिति पर हमें और भी ध्यान देना चाहिए। जो व्यक्ति काफी मात्रा में चिकनाई अथवा स्नेहयुक्त भोजन तो करते हैं, लेकिन

समुचित रूप से कोई परिश्रम या व्यायाम नहीं करते, उनके शरीर में अधिकाधिक चिकनाई पहुँच कर पूरी तरह पाक को प्राप्त नहीं कर पाती। फलतः उनके शरीर में वह गरिष्ठ पदार्थ संचित होने लगता है और इस संग्रह से वसा मोटी अथवा स्थूल होने लगती है। यह मात्रा और भी वढ़ती है तो वह वसा उनकी धमनियों में ही नहीं पैठने लगती है, बल्कि उनके उत्तम और निम्न स्तरीय नसों में भी जा पैठती है। वहाँ रक्त के आवागमन में यह एक प्रतिरोध उत्पन्न करती है। धीरे-धीरे इन वाहिनियों में रक्त का मार्ग वहुत संकुचित हो जाता है। एक स्थिति यह आ जाती है कि रक्त इन अवरुद्ध मार्गों से पूरी मात्रा में भ्रमण नहों कर पाता, अवश रह जाता है। उस अवस्था में भी हृदय को अधिक श्रम करना पड़ता है, ताकि इन संकुचित अवरुद्ध मार्गों से वह रक्त को आगे वढ़ने के लिए अधिक दवाव दे सके। इस वर्णन से पाठक समझ जायेंगे कि रक्तचाप-वृद्धि रोग में तैलीय या स्नेह पदार्थों की वजह से वसा-वृद्धि भी एक मुख्य कारण है।

शरीर में अतिरिक्त वसा उस समय तक उत्पन्न नहीं हो पाती, जव तक शरीर में रक्त अधिक मात्रा में उत्पन्न नहीं होता है। अतिरिक्त रक्त की वृद्धि के कारण हमारे मन-मानस में निम्न भावनाओं का उदय होने लगता है, वासना या स्पृहा आदि अवांछनीय भाव भी घर करने लगते हैं। और यह विशेष रूप से उनमें अधिक हो जाता है, जो आत्म-नियन्त्रण रखने में असमर्थ होते हैं। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अतिरिक्त रक्त और वसाका संचय शरीर के स्वास्थ्य को ही हानि नहीं पहुँचाता, अपितु वह मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी हानिकर सिद्ध होता है।

रक्त का उत्पादनकर्त्ता यकृत, उसे शुद्ध करनेवाले अवयव गुर्दे, प्लीहा और फेफड़े आदि जव दुर्बल हो जाते हैं तव शरीर शुद्ध रक्त के अभाव में स्वभावतः दुर्बल होने लगता है। इस कारण, अल्प रक्तचाप (Low Blood-pressure) अपना दुष्प्रभाव दिखाने लगता है। निरन्तर

थकान का अनुभव, अनिद्रा, जी मिचलाना, सिरका चक्कर खाना, भारी रहना, दुर्बलता—ये लक्षण इस अवस्थामें शरीर को ग्रस्त करते रहते हैं।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया के साथ विपरीतकरणी मुद्रा या सहज विपरीतकरणी मुद्रा ३ मिनटों के लिए की जाये। पवन-मुक्तासन ४ वार, सहज प्राणायाम संख्यक १ को २ मिनट, शौचादि से निपट कर टब-स्नान ५ से लेकर १० मिनट तक किया जाए। टब में स्नान करते समय अग्निसार धौति संख्यक १ को ८ बार दुहराया जाए, संख्यक २ को ३ वार। भ्रमण प्राणायाम भी किया जाए।

दुपहर में टब-स्नान ३० मिनट किया जाए। टब-स्नान के समय प्रातःकाल की तरह ही अग्निसार-धौति संख्यक १ को ८ बार दुहरायें, सहज प्राणायाम संख्यक २, ३ और ४ प्रत्येक को २ मिनट तक किया जाय। सहज अग्निसार ३० बार करें।

सायंकाल भी टब-स्नान ३ से ५ मिनट तक किया जाए। भ्रमण प्राणायाम किया जाए। विपरीतकरणी या सहज विपरीतकरणी को २ या ३ मिनट तक किया जाए।

अल्प रक्तचाप रोग होने पर कोष्ठवद्धता और अम्लरोग में बताये गये उपचारों का अनुसरण हितकर रहता है। यदि रक्तका दवाव २२० एम. एम. से अधिक रहता है, तो समस्त प्रकार के आसन और मुद्राओं को त्याग देना चाहिए। केवल सहज प्राणायाम, भ्रमण प्राणायाम, सहज अग्निसार और अग्निसार-धौति ही की जायें।

नियम और आहार : वहुत अधिक उत्तेजित होनेपर दिमाग की धमनी के फट जाने से रोगी की तात्कालिक मृत्यु तक हो सकती है। इसलिए इस रोग में रोगी को वासना अथवा उग्र क्रोध आदि पर कठोर नियन्त्रण रखना होगा। पानी पीने का जो तरीका है, उसका साव-धानी से पालन किया जाए। **सामिष भोजन, पौष्टिकता की दृष्टि से चुनिंदा भोजन जैसे कि अण्डे, मांस, पनीर, मक्खन, घी, मिठाई आदि को निरोग होने तक सर्वथा बहिष्कार कर रखें।**

भात और रोटी भो अल्प मात्रा में ले सकते हैं। इस रोग में तो सबसे उत्तम भोजन क्षारीय ही है। शाक-सब्जी, दूध, फल—ये क्षारीय भोजन हैं। खट्टे या मीठे फल, चाहे वे सूखे हों या ताजे, दोनों ही इस रोग में आहार और औषध का काम करते हैं। यदि शरीर में अत्यधिक चर्बी है, तो समग्र तत्वों से युक्त दूध के स्थान पर मठा लेना चाहिए। भोजन में भूलकर भी अतिरिक्त नमक न लें, चीनी का खाना तो एकदम त्याग दिया जाए।

यह स्वाभाविक है कि रक्तचाप रोग में यदि उपवास रखा जाये, तो रोग में काफी कमी आती है और इसका कुछ निरोध तक हो सकता है। यदि उच्च रक्तचाप का रोग है तो सप्ताह में एक दिन का उपवास हितकर सिद्ध होता है। यदि प्रति सप्ताह उपवास न रख सकें, तो शुक्लपक्ष की एकादशी को अवश्य रखा जाए। शरीर में मात्रा से अधिक मांस या वसा होने पर किसी प्रकार का भी भोजन त्याग दिया जाए और केवल नींबू का पानी और सादा पानी आवश्यकता के अनुसार लेते रहें; किन्तु यह उपयोग उपवास में बताये गये नियमों के अनुसार ही वरता जाये। जब रक्तचाप का दबाव न्यून रहे तो हल्का भोजन करें। हृदयरोग में उल्लिखित आदेशों को ध्यान में रखते हुए किया जाय, जैसे कि दूध और फल आदि।

यदि दवाव १७० एम-एम से ऊपर रहता है तो दिन में स्नान तीन बार अवश्य किया जाए। यदि यह स्नान और भ्रमण प्राणायाम प्रयोग में लाया जाए तो रक्तचाप नीचे उतर आयेगा।

रक्तपित्त एवं रक्त वमन

कारण : यकृत से प्राप्त पित्त, भोजन से पाचन होने के वाद बने रस पदार्थ को रक्त में परिवर्तित करता है। लगातार काफी समय तक तेज मशाला आदि का भोजन में उपयोग करने के फलस्वरूप पित्त की

साधारण क्रिया में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। दूषित पित्त से रक्त भो दूषित हो जाता है। यह दूषित रक्त विना शुद्ध हुये ही पेट में आ जाता है और पेट की उपरी छिद्र जैसे मुँह या नाक और निचले हिस्से जैसे मल-मूत्र मार्ग से बाहर वहने लगता है। अशुद्ध रक्त दूषित कफ के सम्पर्क से उर्ध्वगामी होकर मुँह या नाक से वहने लगता है या दूषित वायु के सम्पर्क से अधोगामी होकर मल-मूत्र से वहने लगता है। इस रोग की गम्भीर अवस्था में अशुद्ध रक्त दूषित वायु एवं कफ के एक साथ सम्पर्क में आने के फलस्वरूप सभी मार्गों से एक साथ वाहर प्रवाहित होने लगता है।

एक मार्ग वलवतो नाति वेगं नवोत्थितम्—अर्थात् अगर उपरी मार्गों से वहने वाला रक्तपित्त है, रोगी सवल है, रोग साधारण प्रकार का है और प्रारम्भिक अवस्था में हो तो यह रोग साध्य है। जिन व्यक्तियों को अन्य प्रकार की भी विमारियाँ हों, वृद्ध हों, अजीर्ण से ग्रसित हों, और इस बिमारी का सघन आक्रमण हो तो, इन अवस्थाओं में यह रोग असाध्य हो जाता है। यह आयुर्वेद का मत है। लेकिन यौगिक क्रियाओं को नियम एवं पथ्यपूर्वक पालन किया जावे तो कठिन से कठिन अवस्था में भी इस रोग को निर्मूल किया जा सकता है।

रक्त की उल्टी होने का एक मात्र कारण दूषित पित्त ही नहीं है। पेट या आँतों में घाव होने पर या राजयक्ष्मा के कारण भी रक्तयुक्त वमन हुआ करती है। कभी-कभी सर्दी या खाँसी के कारण जव पेट की कोई नस फट जाती है तब पूरी तरह ठीक न होने तक रक्त वमन हुआ करता है। राजयक्ष्मा के कारण फुस्फुस से या पेट की नस फट जाने के कारण वमन में जो रक्त आया करता है उसका रंग सुर्ख लाल होता है। इस प्रकार के खून में कुछ झाग (फेना) या कफ भी रहता है। लेकिन पेट या आँतों के घाव के कारण या दूषित पित्त के कारण, उल्टी में जो खून आता है थोड़ी कालिमा लिये हुये लाल रंग का होता है।

रक्त-वमन के रोग में पेट या आँत में घाव हो जाने पर भी ऐसा होता है। इन रोगों के मूल कारण हैं—स्थायी अपचन, अम्लता एवं कोष्ठ बद्धता।

चिकित्सा : सुबह—सहज वस्ति क्रिया सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। पेट खाली करना एवं धोना। स्नान नियम नं० १ और वारिसार धौति, भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न : स्नान नियम नं० २

शायं : भ्रमण प्राणायाम, ३ मिनट तक सर्वाङ्गासन, ३ मिनट तक शीर्षासन, ८ मिनट तक योग मुद्रा, ४ बार जानुशिरासन सहज प्राणायाम नं० १, २, ८। योगिक क्रियाएँ क्रमशः बढ़ावें।

नियम एवं पथ्य : उल्टी चाहे पेट के घावों के कारण हो या दूषित पित्त के कारण हो, उल्टी होते ही रोगी को विछौने पर पीठ के बल लेटावें। रोगी के पेट पर एक भींगा हुआ तौलिया रख दें। समय समय पर इस पर पानी छिड़कते रहें ताकि यह गीला रहे। अगर बर्फ उपलब्ध हो तो पेट पर वर्फ की थैली रखें। पेट में दर्द की अवस्था में—जव तक पेट का दर्द शान्त न हो जाय, शवासन की तरह अपने स्नायु-मण्डल को ढीलाढाला कर रोगी को पीठ के बल ही लेटाये रहें। रोगी को अगर प्यास लगे तव वर्फ या पानी या ठण्डा पानी पीने के लिये दें। कभी-कभी रोगी के सिर को ठण्डे जल से धोवें।

रक्त की वमन होने के वाद रोगी को २४ घण्टे तक खाने के लिये कुछ न दें। इसके वाद भूख लगने पर एक चम्मच मधु के साथ एक कप दूध दें। साक-सब्जियों का उवाला हुआ रस या फलों का रस भी दिया जा सकता है। इन सब तरल पदार्थों के अतिरिक्त रोगी को खाने के लिये कुछ भी न दें। जव तक सीने में दर्द, पेट में या यकृत में

दर्द हो तब तक रोगी को ठोस भोजन न दें। साग-सब्जियों का रस (सूप) उबालने के बाद साग रोगी को न दें। १ कप सिर्फ एक बार उबाला हुआ दूध, एक चम्मच मधु के साथ दिन में २ बार दें। खून की उल्टियाँ एवं दर्द बन्द होने के २-३ दिन बाद तक भी इसी प्रकार तरल भोजन ही रोगी को देना चाहिये।

रोगी को चलने-फिरने या पथ्य के मामले में काफी सावधानी बरतनी चाहिये। जब तक भूख तेज न हो तब तक भोजन नहीं करना चाहिये। रोगी का कोठा (पेट) साफ रहे इसके लिये भरपूर चेष्टा करें। अगर रोगी कोष्ठबद्धता या अम्लता को दूर नहीं करेगा तो रक्त पित्त का आक्रमण पुनः हो सकता है। रोग की अवस्था में या चिकित्सा होने के १ वर्ष तक रोगी को अदरख या हल्दी को छोड़ कर कोई भी मशाला खाने के लिये न दें। घी या तेल में तला हुआ कोई भी खाद्य पदार्थ न देवें। जब तक पूरा-पूरा आराम न हो जावे मछली, मांस या अण्डे का त्याग करें। दाल के स्थान पर दाल का उबाला हुआ पानी व्यवहार करें। ओलिभ आयल की १-२ चम्मच खायें। जब तक रक्त में अम्ल की मात्रा अधिक न होगी यह बीमारी नहीं होगी। अतएव, अम्लता उत्पन्न करनेवाले सभी खाद्य-पदार्थों को त्याग दें। सब्जि, फल, दूध और छाछ सबसे अधिक उपयुक्त पदार्थ हैं। इस रोग की चिकित्सा में उपवास से भी काभी सहायता मिलती है। इसलिये जो व्यक्ति अधिक दुर्बल न हो उन्हें सप्ताह में एक दिन का उपवास करना चाहिये। (उपवास के नियम अन्यत्र देखिये)। दुर्बल व्यक्तियों को एकादशी का उपवास रखना चाहिये। पूर्णिमा को सिर्फ एक वक्त यानी रात को उपवास करना चाहिये। चाय, काफी, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू और अफीम आदि जैसी नशीली चीजों को कत्तई त्याग देना चाहिये। सन्देश, रसगुल्ला या चीनी आदि से पेट की पाचनक्रिया पर काफी भार पड़ता है। इनका उपयोग न करें। **यह बीमारी अनियमित भोजन का ही परिणाम है—इसे सदैव याद रखें।**

रक्तहीनता

अभी तक आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान यह निश्चित सीमा निर्धारित नहीं कर पाया है कि हमारे शरीर में कितने परिमाण में वास्तविक रक्त पदार्थ रहना चाहिए। इस विषय के कुछ अधिकारियों का कहना यह है कि हमारे शरीर का जितना कुल भार होता है उसका तेरहवाँ हिस्सा हमारे शरीर में रक्त रूप में रहता है। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति यह कहते हैं कि यह केवल दसवाँ हिस्सा ही है। इस परिमाण का यदि हम इस स्थल पर विचार करना छोड़ दें तो रक्तहीनता का जो मूल कारण है, समझ में यह आता है कि जब हमारे शरीर में आवश्यक मात्रा में रहनेवाले रक्त में कमी हो जाती है तो रक्तहीनता का रोग शरीर के अंदर अपने लक्षण, सौम्य या प्रवल रूप में प्रकट करने लगता है।

आयुर्वेदशास्त्र के ऋषियों ने इस रोग को कहीं भी स्वतन्त्र रोग के रूप में निर्धारित नहीं किया है। उनका विचार यही है कि यह रोग अन्य रोगों का अनुवर्ती बनकर प्रकट होता है अथवा यकृत और प्लीहा की सक्रियता में जब दोष हो जाता है तो यह रोग उग्र हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में इस रोग का उल्लेख नहीं मिलता। आजकल इस रोग ने इसलिए अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है, क्योंकि सहज में यह व्यापक रूप में अपनी जड़ें पकड़ रहा है। बाह्य रूप से रक्तहीनता के लक्षण इस प्रकार हैं—शारीरिक कमजोरी, भोजन का अपचन, भूख की कमी, कभी-कभी कै होना और शरीर के स्वाभाविक रंग के साथ-साथ मुखमण्डल का पांडुवर्ण हो जाना। आँखों की पलकों के चारों ओर पीलापन छा जाता है। कहीं-कहीं मूर्च्छा की सी स्थिति रहती है और कहीं-कहीं नसों की फूली हुई स्थिति के अनुसार एकांगी जलोदर भी देखने में आता है। जिह्वा केवल पीली ही दिखाई नहीं देती, उसके ऊपर सफेदी बहुत अधिक जम जाती है और जब जीभ को मुँह से बाहर निकालने के लिए कहा जाता है तो वह लड़खड़ाने लगती है।

कारण : यकृत और प्लीहा पचे हुए भोजन के जलीय पदार्थ से रक्त का निर्माण करने में सक्रिय रहते हैं। यदि इन दोनों की क्रिया में किसी प्रकार का दूषण आ जाता है उस समय शरीर में निर्धारित मात्रा में रक्त की कमी होने से पीलिया नामक रोग स्फुट होने लगता है और समय पाकर प्रबल बन जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि पुरुषों से अधिक स्त्रियों में ही यह रोग ज्यादा रहता है। उनमें प्रायः मल-अवरोध तो रहता ही है, मासिक धर्म की अनियमितता भी होने लगती है। इन दोनों बातों के परिणाम से शरीर के अन्दर विषाक्त पदार्थ का संचय होने लगता है और वह रक्त को प्रभावित करते हुए इस रोग को प्रकट करने में सहायक हो जाता है। जिन स्त्रियों को निर्धारित समय से पहले ही पुनः गर्भधारण की शारीरिक पीड़ाओं को सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, वे बेचारी भी इस रोग से आक्रान्त रहा करती हैं। मलेरिया, पुरानी संग्रहणी, आँखों का पीलापन, पाचन के समय पेट में अम्लीय स्थिति का आधिक्य जब शरीर के अन्दर रक्त-निर्माण के कार्य में विघ्न अथवा विघटन पैदा करने लगता है तो इस रोग के सभी संपुष्ट लक्षण दिख जाते हैं। इन बातों को देखने से यह बात साफ हो जाती है कि जब हमारे शरीर में विषाक्त विजातीय पदार्थ मात्रा से अधिक संचित हो जाता है तो इस रोग को प्रकट करने में प्रबल कारण बनता है। अतः यह बात हमें समझ लेनी चाहिए कि इस प्रकार संचित अवांछनीय पदार्थ यकृत और प्लीहा को काफी मात्रा में क्षतिग्रस्त कर दिया करते हैं।

वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान ने रक्त के अन्तर्गत दो प्रकार के जीवाणु ढूँढ़ निकाले हैं—जो कि हमारे शरीर की रक्षा करने में विशेष कार्य करते हैं। इनमें से एक तो श्वेत रक्तकण हैं और दूसरे लाल रक्तकण हैं। इनमें से दोनों की ही कार्य-पद्धति है और इनकी सक्रियता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। यह पहले समझ लेना चाहिए कि हमारा शरीर यदि एक राज्यके समान है तो ये रक्तकण इस राज्य के विश्वसनीय सैन्य

दल के रूप में शरीर के अन्दर विद्यमान रहते हैं। वे सदैव अपनी उपस्थिति से शरीर की रक्षा किया करते हैं। और, किसी भी रूप में रोग आदि का आक्रमण न हो पाए, इसके लिए तत्पर रहना ही इनका मूल कार्य है। जब किसी भी रोग के कीटाणु या तो शरीर के अन्दर प्रकट हो जाते हैं या उनका संक्रमण बाहर से होने लगता है तो ये श्वेतकण तत्काल आगे बढ़कर इन रोग-कीटाणुओं का संहार करने में जुट जाते हैं। उस समय ऐसी स्थिति हो जाती है कि यह श्वेत रक्तकण की सेना रोग-कीटाणुओं से खुला युद्ध करती रहती है। दूसरी ओर लाल रक्तकण फेफड़ों द्वारा ग्रहण की हुई वायु से ओषजन का संचय करने के और उसे रक्त-प्रवाह में पहुँचाने के रूप में रक्त को सशक्त, शुद्ध और सम्पोषक तत्व के रूप में तैयार करने का कार्य किया करते हैं। शरीर के प्रायः सभी ग्रन्थि, मांसपेशी, स्नायु आदि अवयव इसी ताजी ओषजन से लब्ध रक्त से अपना सम्पोषण प्राप्त करते रहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान ने प्रमाणित किया है कि एक क्यूबिक मिलिमीटर रक्ताणु में, जो कि एक प्रकार से एक आलपीन के सिर के तुल्य का स्थान हुआ करता है, लगभग ५० लाख लाल-रक्ताणु और १० हजार श्वेत-रक्ताणु हुआ करते हैं। छोटी रक्त-धमनियों में बहुत सूक्ष्म-रक्त-ग्रन्थियाँ स्थित रहती हैं, जिनसे निकलनेवाले रक्तस्राव से ही ये श्वेत रक्ताणु उत्पन्न होते रहते हैं। इनके अतिरिक्त आकाश-तत्त्व की ग्रन्थियाँ अर्थात् नभः ग्रन्थियाँ भी उन्हें उत्पन्न करने में सहायक रहती हैं। उदाहरण के लिए हमारा जो टॉन्सिल है उसमें भी श्वेत रक्ताणु तैरा करते हैं। इसके विपरित लाल रक्ताणु हड्डियों और मज्जाओं में उत्पन्न होते हैं। लेकिन मुख्य रूप से श्वेत और लाल-रक्ताणुओं का उत्पादनकर्त्ता तो प्लीहा ही है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनके उत्पन्न करने के अतिरिक्त प्लीहा के कुछ अन्य कार्य भी हैं। यह रक्त-शोधन करता है और उस शोधित रक्तकी रसद को सारे शरीर में भेजता रहता है। जब रक्त के अन्तर्गत रोग के कीटाणु आदि उत्पन्न हो जाते

हैं तो उन्हें अपनी परिधि में आने के बाद प्लीहा रक्त को उनसे अलग कर देता है और अपने अन्दर उन्हें जमा करते हुए उनसे रक्त को शोधित कर देता है। प्लीहा का एक कार्य यह भी है कि वह रक्त-प्रवाह के अन्दर अस्वस्थ, दुर्बल या मृत लाल रक्ताणुओं को रक्त से अलग करते हुए अपने अन्दर रोक लेता है और फिर उन्हें वापस यकृत में भेज देता है। वहाँ पर ये आन्तरिक स्राव में घुल-मिलकर पुनः पित्त के रूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं। आयुर्वेद का स्पष्ट कथन है कि अकेला यकृत ही रक्त-उत्पादन का यन्त्र नहीं है। प्लीहा के अन्दर भी इस कार्य की व्यवस्था बनी हुई है। यही कारण है कि यकृत और प्लीहा के बीच में एक घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है। यदि यकृत अस्वस्थ हो जाता है तो स्वाभाविक है कि प्लीहा भी अवश्य अस्वस्थ हो जायगा और इसी प्रकार प्लीहा के अस्वस्थ होनेपर यकृत की भी गति रुग्ण हो जती है। इससे पता चलता है कि ये दोनों अवयव केवल एक दूसरे के पूरक ही नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के दोषों के समाहारकर्त्ता भी हैं। इन्हें छोड़कर शरीर में कोई भी दूसरा अवयव ऐसा नहीं है जो इनकी कार्य-पद्धति में उत्पन्न होनेवाले दोषों की क्षतिपूर्ति कर सके। जब प्लीहा के अन्दर सन्तोषजनक मात्रा में श्वेत-रक्ताणुओं के उत्पादन की क्षमता पूरी तरह विद्यमान नहीं रह जाती, तो उस अवस्था में शरीर के अन्दर रहनेवाले रोग-कीटाणु अपने इच्छित रोग-प्रसार कार्य को पूरा करने का सुअवसर पा जाते हैं और वे शरीर को रोग-कीटाणुओं से आक्रान्त करने लगते हैं। एक दूसरी दुष्कर स्थिति यह भी उत्पन्न हो जाती है कि जब श्वेत-रक्ताणुओं में अपनी आन्तरिक क्षमता का ह्रास हो जाता है, उस अवस्था में रोग-कीटाणु लाल रक्ताणुओं का भक्षण करने के लिए भी खुली छुट्टी पा जाते हैं; क्योंकि ये लाल-रक्ताणु अकेली अवस्था में न तो अपनी सुरक्षा कर पाते हैं और न कोई अवरोधक शक्ति खड़ी करने में समर्थ रहते हैं। जब लाल-रक्ताणुओं की संख्या में काफी कमी आ जाती है तो वे रक्त को पूरी तरह स्वस्थ और सबल रखने में अवश

हो जाते हैं। इस प्रकार और इन परिस्थितियों में दुर्बलावस्था से पीड़ित यकृत और प्लीहा उचित मात्रा में न तो नया रक्त उत्पन्न कर पाते हैं और न ही थोड़ी-बहुत मात्रा में उत्पादित रक्त को शोधित करने की स्थिति में रह जाते हैं। इसी अवस्था का यह दुखद परिणाम होता है कि शरीर के अन्य अवयव न तो नये शुद्ध रक्त की नई रसद प्राप्त कर पाते हैं और न ही वे अपने को स्वस्थ, सुरक्षित रखने में समर्थ रह जाते हैं। इन सब वातों का निपट परिणाम ही रक्तहीनता बनकर सारे शरीर को पीतवर्ण बना देता है।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया और सम्बन्धित आसन अथवा मुद्राओं के साथ शरीर के रक्त-संचालन में एवं रोग-निवारण में सहायक क्रियाओं का करना उत्तम रहता है। मल-त्याग के बाद टब-बाथ २-३ मिनट ; संख्यक ३, ८ और ९ सहज प्राणायाम करना चाहिये। सहज अग्निसार ३० बार तथा अग्निसार धौति को १० बार दुहराना चाहिए।

मध्याह्न में—टब-बाथ ५-१० मिनट। टब में वैठकर सहज प्राणायाम ३ मिनट।

सायंकाल पश्चिमोत्तान, अग्निसार और सुप्तवज्रासन कीजिए। सहज विपरीतकरणी, संख्यक ६, ८, ९ सहज प्राणायाम और भ्रमण प्राणायाम करना चाहिए।

इसके वाद शरीर की अवस्था के अनुसार धीरे-धीरे व्यायाम की मात्रा में वृद्धि कीजिए। सूर्य-स्नान, सन्तोषजनक मात्रा में जलपान और निर्धारित नियमों के अनुसार स्नान आदि उत्तम रहते हैं। उदाहरण के लिए मलत्याग के उपरान्त प्रातःकाल १० मिनट के लिए और दुपहर में भी टब-बाथ लेना काफी सहायक रहता है।

नियम एवं आहार : जब तक शरीर पूरी तरह से स्वस्थ न हो जाय, थकान पैदा करनेवाला कोई काम न किया जाय। केवल हल्के काम ही करें। विश्राम में जितनी अधिक वृद्धि कर सकें करना चाहिए।

प्रतिदिन मध्याह्न कालीन स्नान से पूर्व सरसों-तेल की काफी रगड़ के साथ मालिश करना बहुत उत्तम रहता है। जहाँ तक सम्भव हो दिन भर खुली हवा में अपने आपको बनाये रखना चाहिए। ऐसे लोग जो सर्दी और खुश्की आदि से इसलिए परेशान हो जाते हैं कि उन्हें ठण्डी और शीतल हवा सह्य न हो पाती तो ऐसे रोगियों को ऐसे बन्द स्थान में विश्राम करना चाहिए जहाँ पर हवा का उनसे सीधा संस्पर्श न होने पाए—यद्यपि उनके इर्द-गिर्द ताजी हवा प्रचुर मात्रा में प्रवाहित होती रहे। रात्रि में इसी लाभ की प्राप्ति के लिए दरवाजों और खिड़कियों को खोलकर रखना चाहिए। उन्हें उसी अवस्था में बन्द किया जाय, जब कि रोगी उन्हें सहन न कर पाये।

रक्त के मुख्य तत्वों में लौह और अन्य क्षार (नमक) मुख्य रूप से हुआ करते हैं। हरी शाक-सब्जियों से काफी मात्रा में लौह और खनिज क्षार इस रूप में प्राप्त किए जा सकते हैं कि वे शरीर के अन्दर जाकर सहजरूप से घुल-मिल जायँ। इसलिए, अपनी पाचन-क्रिया को व्यवस्थित रखने के लिए जितना सहन हो सके, उतनी मात्रा में प्रतिदिन हरी शाक-सब्जी भोजन के समय ग्रहण करना चाहिए। आहार के अन्तर्गत सभी प्रकार के फल और दूध काफी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पकी हुई दालों के स्थान पर केवल उनका रसा ही लेना चाहिए। पूर्णतया तली हुई सभी प्रकार की चीजें, तेल-घी आदि से भरपूर बने हुए गरिष्ठ पदार्थ, मिर्च-मसालों से बनी हुई चपपटी चीजें और अण्डा, मांस, मक्खन आदि से तैयार सभी प्रकार के अम्लीय भोजन भी त्याज्य कर देने चाहिए। जो व्यक्ति आमिषभोजी हैं वे रुचि और स्वाद के अनुसार कभी-कभी बकरे और भेड़ का यकृत ले सकते हैं। जिनलोगों का यकृत दोषपूर्ण हो चुका है उनकी आन्तरिक शक्ति में जानवरों का यकृत खाने से नई शक्ति पुनः मिलने में काफी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में पीलिया, यकृत, प्लीहा और जलोदर आदि रोगियों के परिच्छेदों का अध्ययन करना चाहिए। जो ऐलोपैथिक डाक्टर हैं वे इस बात पर

जोर दिया करते हैं कि जिन लोगों को पीलिया रोग हो गया है, वे अपने आहार में अण्डा काफी लिया करें। उनका कहना है कि अण्डों में काफी मात्रा में लौह-खनिज के क्षार हुआ करते हैं और लौह ही हमारे रक्त का मुख्य तत्त्व है। इस सम्बन्ध में हमारा यह अभिमत है कि यदि चिकित्सकों को ग्रन्थियों के आन्तरिक स्राव के सम्बन्ध में जानकारी रहती तो वे कभी भी अपने पीलिया रोगियों को अण्डे खाने का न तो आदेश देते और न ही इस विषयमें अपनी आग्रहभरी राय जाहिर करते। यकृत से हम अपने आन्तरिक स्राव इस रूप में प्रवाहित कर पाते हैं कि वे न केवल भोजन में समाविष्ट चर्वी का ही पचन करें, वल्कि प्रोटीनका भी पचन करने में सहायक हो सकें। रोग-विषम स्थितियों में यह बात साफ हो जाती है कि जब यकृत काफी अस्वस्थ हो जाता है तो इस प्रकार के कठिन कार्यों का निभाव वलपूर्वक अपने ऊपर तो ले लेता है और फलस्वरूप उस समय यह और भी दुर्बल होता जाता है। अन्त में परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि वह पूर्णतया अशक्त हो जाता है। इस अवस्था में रोगी की चिकित्सा के समय यदि हम अण्डे खिलाकर रोगी के यकृत पर और अधिक कार्य करने का भार सौंप देंगे तो वह रोगी वजाय इसके कि नया जीवन पाए अथवा उसके रोग में कोई नया सुधार हो—इसकी अपेक्षा उसकी हालत में और खराबी होती चली जायगी। यही कारण है कि योग-शास्त्र पीलिया के रोगियों को अण्डा, मांस, मक्खन, और घी आदि खाने से निषेध करता है। इनके स्थान पर उसे दूध, ताजा फल और ताजी शाक-सब्जी लेनी चाहिए, ताकि लौह-तत्त्वों से पूर्ण क्षार की कमी इनके द्वारा सन्तोषप्रद रीति से पूरी की जा सके। रोगी को यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि वह वहुत अधिक थकान महसूस करता हो तो काफी मात्रा में विश्राम लेता चाहिए।

राजयक्ष्मा

(Tuberculosis)

लक्षण : गले की साधारण खरांस या थोड़ी-सी सूखी खाँसी होना राजयक्ष्मा के प्रारम्भिक लक्षण हैं। खाँसी के उपरान्त काफी मात्रा में बलगम निकलना हानिप्रद नहीं, लाभदायक है। सूखी खाँसी कालान्तर में होनेवाले खतरे की सूचना देती है। यही इस बात का लक्षण है कि शरीर के अन्दर कीटाणु उत्पन्न हो रहे हैं। वे कीटाणु जब फुस्फुस पर आक्रमण करते हैं जब झटकों या धक्कों के द्वारा वह अपनी रक्षा करता है ताकि कीटाणु को अपने अन्दर रहने न दे। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार हमलोग अपने पैरों पर चढ़े हुए क़ीड़ों को झाड़ कर फेंक देते हैं। खाँसी इन धक्कों की द्योतक है।

एक अन्य प्रारम्भिक लक्षण है—अस्वाभाविक एवं बिना किसी कारण के हाथ-पैरों में, माथे पर या सारे शरीर में अत्यधिक पसीना आना। यह भी खतरे की पूर्व-सूचना है। बिना अधिक परिश्रम किये अकारण अधिक पसीना आने का कारण यह है कि शरीर के लिए हानिप्रद कार्बोनिक गैस को शरीर की प्रकृति स्वयं निकाल बाहर करने का प्रयास करती है। क्योंकि फुस्फुस कमजोर हो जाने के फलस्वरूप यह अधिक मात्रा में इकत्रित होने लगती है। इसके साथ ही यक्ष्मा के कीटाणुओं का मल भी इकत्रित रहता है।

ज्योंही फुस्फुस की प्राकृतिक प्रतिरोध की शक्ति समाप्त हो जाती है, कीटाणुओं के फुस्फुस पर घातक हमले प्रारम्भ हो जाते हैं। थूक के साथ थोड़ी-थोड़ी सूखी खाँसी प्रारम्भ हो जाती है। रोग के बढ़ने पर थूक के साथ थोड़ा-थोड़ा रक्त भी आने लगता है। थूक के साथ रक्त आना यह प्रगट करता है कि फुस्फुस के एक भाग को कीटाणुओं ने क्षतिग्रस्त कर अपना किला बना लिया है। अर्थात्—कीटाणुओं ने अपने रहने के लिए फुस्फुस में गड्ढे बना लिए हैं। इस अवस्था में रोगी के सीने में

वेदना होती है (इसके सम्बन्ध में प्लुरिसी का प्रकरण भी देखिये)। ज्योंही इन कीटाणुओं का विष रक्त में घुल जाता है रोगी को थोड़ा बुखार होने लगता है। ज्वर का तापमान ९८°, ९९° या कभी-कभी १००° तक पहुँच जाता है। क्रमशः रोगी का वजन कम होने लगता है एवं लगातार शक्ति क्षीण होती जाती है। रोग बढ़ने की इस अवस्था में खाँसी, रक्त-वमन, ज्वर, मूर्च्छा आदि होने लगती है और बीमारी बढ़ जाती है। रोगी बार-बार वमन करने लगता है। ठीक इसी समय रोगी को निमोनिया, अतिसार, यकृत-रोग घेर लेते हैं और शरीर क्रमशः क्षीण हो जाता है। शेष में शरीर सिर्फ ढाँचा मात्र रह जाता है। यह बीमारी जब फुस्फुस में होनेवाले रक्त-संचार की व्यवस्था में हस्तक्षेप करती है तब रोगी की जिह्वा का रंग बैगनी हो जाता है।

राजयक्ष्मा के कीटाणु सिर्फ फुस्फुस पर ही आक्रमण नहीं करते, बल्कि पेट, अन्त्र-समूह, हृदय, यकृत एवं प्लीहा या अन्य शरीर के भाग को भी ये नष्ट कर देते हैं। नितम्बों के जोड़ पर जब इनका आक्रमण होता है तब रोगी को चलने-फिरने में कष्ट होता है एवं चलते समय घुटनों में तनाव महसूस होने लगता है। अतएव वह झुक जाता है और थोड़े से परिश्रम से ही अत्यधिक थक जाता है। राजयक्ष्मा के कीटाणुओं का अगर रीढ़ की हड्डी पर आक्रमण होता है तो रोगीके सीने में वेदना होने लगती है। प्रभावित हड्डियों में फूटन होने लगती है एवं घातक रूप धारण कर लेती हैं। शेषमें गांठ जैसी बनकर भीतर ही भीतर हड्डियाँ टूटने लगती हैं। राजयक्ष्मा के कीटाणु ज्यों-ज्यों हड्डियों को नष्ट करते जाते हैं उसी अनुपात में रोगी कूबड़ा होता जाता है। नाभि-प्रदेश के चारों ओर वेदना, कम मात्रा में गन्दा दस्त होना, अनियमित एवं बार-बार पतले दस्त होना, दस्त आँव-मिला एवं पेट में यन्त्रणा होना अन्त्र-समूह के यक्ष्मा के लक्षण है।

कारण : वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्। त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥—अवरोध, क्षय, अत्यधिक साहस या

दोषी भोजन राजयक्ष्मा के मुख्य कारण हैं। इन कारणों से त्रिदोष होता है जो कालान्तर में शरीर में यक्ष्मा पैदा कर देता है।

वेगरोधात् : जब कभी भी शरीरस्थ तरल पदार्थ के वेग का अवरोध किया जाता है—यानी शरीर के, पाँच प्रकार के कफ, पाँच प्रकार के पित्त एवं उसी प्रकार पाँच प्रकार की वायु का अवरोध होने पर शरीर में यक्ष्मा रोग उत्पन्न होने योग्य अवस्था बन जाती है। अवरुद्ध वायु अपनी एकत्रित गर्मी से शरीर के तरल पदार्थ को सुखा डालती है। यही कारण है कि रोगी का मांस सूख जाता है।

क्षयाच्चैव : रक्त का सार पदार्थ है—शुक्र। इसके अत्यधिक नष्ट करने के फलस्वरूप शरीर क्षीण हो जाता है और शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास हो जाता है। यही कारण है—चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति जो अपनी काम क्षुधा पर नियन्त्रण नहीं रख सकते हैं, इस रोग के कीटाणुओं के सर्वाधिक आसानी से शिकार होते हैं।

साहसात् : अगर कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक या मानसिक क्षमता की सीमाओं को लाँघकर परिश्रम करता है तो उसका स्वास्थ्य क्षीण होना स्वाभाविक है। शरीर की निर्बल अवस्था में राजयक्ष्मा के कीटाणुओं का आक्रमण आसानी से होता है। अगर कोई व्यक्ति असावधानीवशात्, निर्धन होने के कारण, शरीर से खर्च होनेवाली शक्ति की भोजन से अपूर्त्ति नहीं कर पाते हैं, उनको भी ये कीटाणु आकर घेर लेते हैं।

विषमाशनात् : असन्तुलित आहार या विना मेल का आहार करना जैसे—मांस-मछली खाने के उपरान्त दूध पीना, आवश्यक अनुपात में विभिन्न प्रकार के भोजन न करना, गर्म या अधिक पुष्टिकर भोजन करना, आवश्यकता से कम या अधिक भोजन करना, राजयक्ष्मा के आक्रमण के लिए शरीर में अनुकूल वातावरण तैयार करना है।

अगर पुष्टिकर भोजन खाते हों तो दूध या अन्य चर्बीयुक्त भोजन करें। भोजन अगर आवश्यक रूप से पोषक न हो या भूख न लगती

हो या अधिक खाने के कारण अतिसार की शिकायत हो तो स्वास्थ्य क्रमशः क्षीण होकर रोग का आक्रमण होने योग्य हो जाता है।

स्त्री या पुरुष—जो जीवन से निराश हों, जीवन का आनन्द खो चुके हों, परिवार की सुख-शान्ति नष्ट कर चुके हों, सारा जीवन दुःख में काटते हों इस प्रकार के चिन्ताग्रस्त व्यक्ति की भी शक्ति कम होती है और आमतौर पर वे भी इस रोग के शिकार होते हैं। इसके अलावा किसी गम्भीर व्रण के कारण अगर शरीर क्षीण हो गया हो तब भी यक्ष्मा घेर लेता है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हवा भी हमारा भोजन है। हम लोग बराबर वायु रूपी समुद्र की गहराई में बसते हैं। हम एक क्षण भी हवा लिए बिना जिन्दा नहीं रह सकते या हवा ही अगर धूल या धुआँ से विषाक्त हो या अन्य गन्दी चीजों के सम्पर्क से दूषित एवं नम हो और उसी का हम सेवन करें तो हमारे फुस्फुस क्षीण हो जाते हैं एवं जीवनी शक्ति क्षीण होकर हम राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो सकते हैं।

आयुर्वेद के मतानुसार, त्रिदोष—अर्थात् वात, पित्त और कफ का दूषित हो जाना इस रोग का आधारभूत कारण है। त्रिदोष के अभाव में कोई भी प्राणघातक बीमारी का हम पर आक्रमण नहीं हो सकता है। वायु के कुपित हो जाने पर आवाज में भारीपन आ जाता है, शरीरस्थ तरल पदार्थ शुष्क हो जाते हैं एवं फुस्फुस में तीव्र वेदना होने लगती है। पित्त के कुपित हो जाने पर ज्वर, जलन, अतिसार एवं रक्तवमन की शिकायत होने लगती है। कफ के कुपित हो जाने पर माथा सदैव भारी रहता है भोजन में अरुचि और खाँसी आदि लक्षण मालूम होने लगते हैं।

मलायत्तं बलं पुंसाम्ः अगर मल त्याग नियमितरूप से हो, अर्थात अतिसार या कोष्ठबद्धता न हो तो शरीर में रोग-प्रतिरोध की प्रचुर शक्ति मौजूद रहती है।

शुक्रायत्तं हि जीवितम्ः जो व्यक्ति अपने शरीर में रक्त के सार पदार्थ—शुक्र को सम्हाल कर रखते हैं उन पर प्राणघातक बीमारियों का

कभी आक्रमण नहीं होता। जंगली पशु, प्राकृतिक पक्षी एवं पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले आदिवासियों में, भेड़-बकरियों में कुत्ते-बिल्लियों में इस रोग के शिकार नहीं पाये जाते हैं। लेकिन घरेलू जान-वर जैसे गाय, घोड़ा, कबूतर, सुअर आदि में राजयक्ष्मा पाया जाता है। मनुष्यों में इस रोग से ग्रसित जानवर का मांस खाने पर या बच्चों के उस रोग से ग्रसित गाय का दूध पीने पर इस रोग का प्रभाव हो जाता है। यक्ष्मा-ग्रसित गाय का दूध पीनेवाले बच्चों को यह बीमारी घेर लेगी, यह बात नहीं है। जिन बच्चों के शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है या जिनकी पाचनशक्ति कमजोर है, कोष्ठबद्धता या अतिसार के शिकार हैं, जन्म से ही कमजोर हैं या रोगी हैं उन्हें ही यह रोग हो जाता है। जब कि अन्य इस रोग के शिकार न होंगे क्योंकि वे अपनी शरीर की शक्ति से इस रोग का प्रतिरोध करते हैं।

यही बात वयस्कों के लिये भी है। जिन व्यक्तियों की शरीरिक शक्ति मजबूत है, त्रिदोष नहीं है, उन्हें यक्ष्मा के आक्रमण का भय नहीं रहता। पाश्चात्य चिकित्सकों का मत है कि ७५ प्रतिशत ऐसे व्यक्तियों को यह रोग क्षति नहीं पहुँचाता है जिनके शरीर में इस रोग के कीटाणु मौजूद हैं।

यह सोचना गलत है कि रोग हमें अचानक आ घेरते हैं। वास्तव में इसकी शुरुआत २-४ वर्षों से होने लगी है। योगशास्त्र के मतानुसार, रोग की उत्पत्ति का मूल कारण है मनुष्य के शरीर की वायु, अग्नि एवं वरुण ग्रन्थियों का भली प्रकार से काम न करना। अगर हमारी पाचन-क्रिया ठीक है तो वायु की ग्रन्थियाँ जैसे फुस्फुस, हृदय आदि कभी निर्बल न होंगे। अगर फुस्फुस सबल है तो हमारी श्वासक्रिया नियमित एवं शक्तिशाली रहेगी। ऐसी अवस्था में राजयक्ष्मा के कीटाणुओं का आक्रमण नहीं हो सकता। अग्नि की ग्रन्थियाँ कमजोर होने के कारण वायु की ग्रन्थियाँ कमजोर होंगी। इन तीन प्रकार की ग्रन्थियोंका आपस में ऐसा सम्बन्ध है कि अगर एक में किसी प्रकार की खराबी है

तो इससे दूसरे प्रकार की ग्रन्थि अवश्य कमजोर होगी या अगर एक सबल हो तो वह दूसरी को भी सबल बनायेगी। इसलिये इन "तीन देवताओं" के क्षीण कार्यकारी होने पर शरीर में राजयक्ष्मा के कीटाणु अवश्य उत्पन्न होंगे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शरीर के बाहरी प्रभाव ही इस रोग का एक मात्र कारण नहीं है। क्योंकि शरीर की ध्वस्त आन्तरिक अवस्था के कारण भी कीटाणु जन्म ले सकते हैं। निर्बल वृक्क भी इन कीटाणुओं के उत्पन्न होने के लिये अच्छा स्थान है।

उपचार : प्रातः सहज वस्तिक्रिया सं० २ अर्थात् २-३ पौण्ड गर्म पानी पीवें। उसमें नींबू का रस एवं नमक मिला कर पीवें। उसके तुरन्त बाद विपरीतकरणी मुद्रा या सहज विपरीतकरणी ३ मिनट तक करें। योगमुद्रा ६ बार, पवन मुक्तासन ३ बार, पाद-हस्तासन ४ बार। अगर कमजोरी अधिक हो तो पाद-हस्तासन न करें। इसके बाद मल त्याग करें एवं धोवें।

धोने के उपरान्त सहज अग्निसार २० बार, अग्निसार-धौति १० बार, भ्रमण प्राणायाम ६ मिनट तक करें।

मध्याह्न : ५ से १५ मिनट तक क्षमता के अनुसार सूर्यस्नान करें। सूर्यस्नान के समय सहज प्राणायाम सं० ३ को २ मिनट के लिये करें। सं० ४ को २ मिनट तक करें।

सायंकालीन ज्वर एवं रात्रि में पसीना आने पर नियंत्रण होने के बाद नीचे लिखे सायंकालीन व्यायाम अवश्य प्रारम्भ करें।

सायंकाल : ६ मिनट के लिये भ्रमण प्राणायाम करें। सर्वाङ्गासन २ मिनट, योगमुद्रा ६ बार, पश्चिमोत्तान ३ बार, अग्निसार धौति सं० १ को १० बार, अग्निसार धौति सं० २ को ४ बार, क्रम वर्धमान व्यायाम एवं नियम के अनुसार जल पीवें। यह कार्य अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार करें। अगर दोनों फुस्फुस न प्रभावित हुए हों तो भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास बढ़ावें।

यौगिक पद्धति के अलावा अन्य किसी भी पद्धति में राजयक्ष्मा की चिकित्सा का उपाय नहीं है। लेकिन जब तक कोई चिकित्सा न की जाती है, रोगी एवं रोगी के अभिभावकों को सन्तोष नहीं होता है। ऐलोपैथिक या आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में इलाज नाममात्र का ही है। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार शक्ति बढ़ाने के लिये कैल्सियम या सोने के इन्जेक्शन दिये जाते हैं। इन चिकित्साओं से कुछ भी लाभ नहीं होता, क्योंकि इन द्रव्यों के पाचन की क्षमता रोगी के पाचन यंत्रों में न रहने के कारण रोगी के मल-मूत्र के साथ निकल जाते हैं।

कुछ चिकित्सक राजयक्ष्मा के रोगी की चिकित्सा स्ट्रेप्टोमाइसिन से करते हैं। यह विष टी० बी० के कीटाणुओं के साथ हमारे रक्त की श्वेत एवं लाल कणिकाओं को भी अधिक मात्रा में नष्ट कर देते हैं, हमारे शरीर की रक्षा के लिये जिनकी अत्यधिक आवश्यकता रहती है। फलस्वरूप बहुत से मरीजों की रक्ताल्पता के कारण अकाल में ही मृत्यु हो जाती है और कुछ रोगियों का मस्तिष्क विकृत हो जाता है। वे रोगी जो इस प्रकार की औषधि से अपनी शारीरिक क्षमता के कारण बच जाते हैं उनमें से कुछ का स्वास्थ्य लौटने में वर्षों लग जाते हैं एवं कुछ तो कभी भी ठीक नहीं हो पाते।

जहाँ ऑपरेशन करना सम्भव होता है वहाँ ऑपरेशन कर यक्ष्मा सें-ग्रसित अंग को निकाल दिया जाता है। राजयक्ष्मा एक ऐसी बीमारी है जो सारे शरीर में फैली रहती है। अगर इसके कीटाणु एक स्थान से हटा दिये जाते हैं तो वे अन्य स्थान पर आक्रमण कर देते हैं। इसके प्रतिरोध का एकमात्र उपाय यही है कि शरीर की जीवनी शक्ति की वृद्धि की जावे। लेकिन यह औषधि से सम्भव नहीं है। बल्कि औषधियों से शरीर की शक्ति को बढ़ावें। यौगिक उपायों से शक्ति शीघ्र बढ़ती है। अतएव हम समझते हैं कि यौगिक उपाय यक्ष्मा की चिकित्सा के लिये उत्तम है। राजयक्ष्मा रोग भी अन्य बीमारियों की तरह यौगिक पद्धति से शीघ्र दूर होता है।

नियम एवं पथ्य : लक्षण देखते ही भयभीत न हों। अगर यौगिक चिकित्सा, नियम एवं पथ्य के सिद्धान्तों का शुरू से ही पालन किया जाये तो आराम होना सहज हो जाता है। रोगी का कमरा सीड़युक्त न हो, साफ एवं शुष्क हो। रोगी के लिये ऐसे कमरे का चुनाव करना चाहिये ताकि उसके चारों ओर काफी मात्रा में सूर्य की रश्मियाँ पड़ती हों। कमरे के दरवाजे इस प्रकार के होने चाहिये ताकि काफी मात्रा में हवा एवं रोशनी आ जा सके। रोगी का बिछौना इस प्रकार रखा जाये कि उसे हवा का झोंका न लगे। कमरे में थूक न फेंकने दें। एक बर्तन में ढकने सहित रखें। इसी बर्तन में सभी थूक इकट्ठा करें। इस बर्त्तनमें कार्बोलिक ऐसिड मिला पानी रखें। इस बर्तन की प्रतिदिन सुबह-शाम सफाई होनी चाहिये। अगर रक्त का वमन हो तो भी हृदय में यह विश्वास रखें कि मुझे लाभ अवश्य होगा। मस्तिष्क हमेशा स्वस्थ रखें। कभी भी गन्दे विचार मनमें न लावें। मुँह से कभी साँस न लें। नाक से ही श्वास लें। अगर अधिक रक्त-वमन हो, तो सिर पर पानी डालें एवं सीने पर भींगा हुआ नेपकीन या कपड़ा रखें। अगर सुबह या दोपहर में ज्वर न हो तो बताये गये तरीकों के अनुसार स्नान करें। शीत ऋतु में सूर्य की किरणों से गर्म किये हुए जल से स्नान करें। जब तक ज्वर रहे शारीरिक या मस्तिष्कजन्य श्रम न करें। पूर्णरूप से बिछौने पर विश्राम करें। ज्वर उतरने के बाद भी मानसिक श्रम न करें।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पाचन-क्रिया कमजोर न होने तक रोग का आक्रमण नहीं होता, अतएव हल्का एवं पोषक द्रव्य का सेवन करें। शुरू-शुरू में बहुत ही हल्का भोजन, पाचन-शक्ति के अनुसार करें। पके फल एवं फलों का रस, भेजीटेबुल सूप, बकरी का दूध (पानी मिलाकर) चावल का चूर्ण कम मात्रा में सेवन करें। कोई भी पदार्थ एक साथ अधिक मात्रा में सेवन न करें। थोड़ा-थोड़ा, कई बार में खावें। अगर ज्वर होता हो तो रात में भोजन न करें। अगर रोगी को इस पर भी भूख मालूम हो तो फलों का रस, हल्का दूध रात

में सिर्फ एक बार सेवन करें। ज्यों-ज्यों पाचनशक्ति बढ़े त्यों-त्यों भोजन की मात्रा बढ़ावें। ज्यों ही ज्वर पर नियंत्रण हो जाये, रोगी को हल्का एवं पोषक भोजन दें। दिन के भोजन में पालक के चावल या अन्य शाक के पत्ते, आलू, पपीता, भिण्डी, कुम्हड़ा, पेठा, टमाटर आदि सब्जियों का सेवन करें। हल्के रूप में बनी मूंग एवं मसूर की दाल का सेवन करें। मांसाहारी रोगी को ताजी, छोटी मछली का सूप दे सकते हैं। रात्रिकालीन भोजन में रोटी, शाक, फल एवं दूध शामिल करें। फल जैसे—नारंगी, पपीता, अनार, सेव, बादाम, अखरोट आदि रोगी के लिए उपयोगी हैं। सूखे मेवों को पानी में ३ घण्टे तक भिगोकर खावें। मांस, अंडे और घी जैसे कब्ज करनेवाले पदार्थों का तीव्र भूख न लगने तक सेवन न करें। घी के स्थान पर थोड़ी मात्रा में ओलिव ऑयल का सेवन करें। हल्के रूप से पकाई हुई दाल और दूध मिलकर अंडे एवं मांस के समान होते हैं। एक बार उबाला हुआ दूध रोगी को दिन में ३-४ बार दिया जा सकता है। दिन में एक बार दूध के साथ २ चम्मच मधु का सेवन करावें। इस बात का विशेष ध्यान रखें कि बिना भूखके रोगी कुछ भी सेवन न करे। ज्योंही रोगीकी क्षुधामें वृद्धि होगी, यह रोग दूर होगा और रोगी के शरीर में मांस एवं रक्त बढ़ेगा। हो सकता है रोगी थोड़ा मोटा दिखाई पड़ने लगे।

यह खास तौर से ध्यान रखें कि इस रोग की चिकित्सा औषधि से सम्भव नहीं है। औषधियों से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। इलाज में औषधियों से विलम्ब एवं अड़चन दोनों होते हैं। जिन रोगियों ने हमारे परामर्श पर अमल किया ६ से १२ महीनों में उन्हें लाभ हुआ। इन मरीजों को ऐलौपैथिक औषधियाँ २ वर्ष में भी निरोग न कर सकी थी।

आज-कल यक्ष्मा के प्रतिरोध के लिए बी० सी० जी० के टीकों का उपयोग किया जाता है। यहाँ तक कि स्कूल के बच्चों के लिए भी सरकारी आदेश से यह अनिवार्य बना दिया गया है। ऐसे उदाहरणों

की कमी नहीं कि बी० सी० जी० के टीके लेने के उपरान्त भी जहाँ यक्ष्मा का आक्रमण हुआ है। अतएव यह दिखावा मात्र है कि टी० बी० के आक्रमण को नहीं रोक सकी। इसके अतिरिक्त इस औषधि में एक दोष यह है कि यह शरीर की जीवनी शक्ति का ह्रास करती है। **राजयक्ष्मा को रोकने का सबसे उपयुक्त तरीका है—भ्रमण प्राणायाम।** कई बार परीक्षा कर देखा जा चुका है कि जो व्यक्ति भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करते हैं उन्हें यक्ष्मा नहीं होता है। सभी निरोग या रोगी व्यक्तियों की जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है, **अतएव केन्द्र एवं राज्यों के मन्त्री गण से हमारा यह अनुरोध है कि वे स्कूल एवं कालेजों में बी० सी० जी० के स्थान पर भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास कराने का आदेश दें।** यह सिर्फ यक्ष्मा को ही नहीं रोक सकता है बल्कि, कफ, खाँसी, श्वास, टाइफाइड, निमोनिया आदि बीमारियों की भी रोक-थाम करता है।

वसन्त रोग

(Small Pox & Chicken Pox)

Small Pox आयुर्वेद में मसूरिका के नाम से प्रसिद्ध है। चूँकि इस रोग का आक्रमण वसन्तकाल (फरवरी-अप्रैल) में अधिक होता है इसलिए वसन्त रोग भी कहते हैं। इस रोग का आक्रमण वर्षा होते ही समाप्त हो जाता है।

लक्षण : प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को १०५°-१०६° तक बुखार होता है। इसके साथ नाभि के चारों ओर लाल रंग के दाने जैसे उभर आते हैं, सारे शरीर में खुजली होती है। किसी-किसी को उल्टी भी होती है। कमजोरी अत्यधिक होती है। तीसरे या चौथे दिन बुखार घट जाता है एवं दाने भी गायब हो जाते हैं। इस चेचक की फुन्सियाँ सबसे पहले चेहरे पर उभरती हैं और फिर सारे शरीर पर फैल जाती

हैं। पांचवें दिन इन फुन्सियों में पानी भर जाता है एवं वे आकार में बड़ी हो जाती हैं। अगर ऐसी अवस्था में रोगी के चेहरे पर शोथ हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये।

आशाजनक अवस्था आभास १०वें दिन होता है। फुन्सियों का पानी सूखने लगता है। जिन रोगियों को ११वें दिन ज्वर के साथ शोथ हो जाता है उनका बचना असम्भव है। इनकी जीभ भी सूज उठती है—बड़ी-बड़ी फुन्सियाँ उभर आती हैं। रोगी को भयंकर वेदना होती है और वह बेहोश हो जाता है।

पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार इसकी उत्पत्ति के कारण हैं कीटाणु। भारत में हम कीटाणु उत्पन्न होना बाद की स्थिति मानते हैं। हमारे मत के अनुसार तीन दोषों में से दो दोष कम से कम कुपित होने ही चाहिये, ताकि कीटाणु उत्पन्न होने योग्य स्थिति बन जाये। प्रथम अवस्था का बसन्त रोग प्राणघातक नहीं होता है, जब कि दूसरी अवस्था में बचने की आशा ही नहीं रहती।

इसका मुख्य कारण है दीर्घस्थायी कोष्ठबद्धता। इस रोग की अवस्था में रोगी के अंत्र-समूह पर दूषित मल की ६ मास पुरानी सतह मिलती है। यहीं ये प्राणघातक कीटाणु जन्म लेते हैं। जिनका भोजन कभी भी संयमित नहीं रहता वे इस रोग के अधिक शिकार होते हैं। इसलिए काफी मात्रा में शाक-सब्जी, फल, दूध का सेवन करें। गन्दगी से दूर साफ-स्वच्छ हवा में रहें।

हमारे शरीर में एकत्र होनेवाले दूषित पदार्थ को बाहर निकालने के लिए चेचक की फुन्सियाँ पैदा होती हैं। अगर रोगी दुर्बल और अशक्त रहे तो ये फुन्सियाँ भी पूरी मात्रा में नहीं निकल पाती हैं और रोगी के जीवन को खतरा उपस्थित हो जाता है।

उपचार : लेखक ने स्वेच्छा से चेचक के कीटाणुओं का अपने आपको सिर्फ इसलिए शिकार बनाया कि इस रोग की यौगिक चिकित्सा खोजी जा सके। बचपन में इनको टीका भी लगाया गया

था। प्रथम ३ दिन तक १०५° से १०६° तक ज्वर में अचेत रहे जिसमें सभी कठिनाइयाँ आयीं। नींबू के रस या संतरे के रस के साथ प्रचुर मात्रा में जल पीते रहे। प्रथम ३ दिन तक सहज वस्तिक्रिया, वारिसार धौति और सहज अग्निसार का अभ्यास दिन में २ बार किये गये। फुन्सियों का जल शीघ्र ही सूख गया और सातवें दिन पूर्ण आराम हो गया। इसके बाद से यह उपाय कई बार आजमाया जा चुका है। रोग के पहले से ही अगर वारिसार धौति का अभ्यास न रहे तो रुग्णावस्था में सफल एवं निरापद रूप से उसके अभ्यास करने में कठिनाई है। हमारा यह दावा है कि सहज अग्निसार, भ्रमण प्राणायाम जो व्यक्ति इस पुस्तक में लिखे अनुसार करते हैं, इस प्रकार के प्राणघातक रोगी से उनकी सुरक्षा निश्चित है।

नियम एवं पथ्य : ज्वर होने के प्रथम ३ दिनों तक सिर्फ गर्म जल का सेवन करें। अगले सात दिनों में नींबू या संतरे का रस पानी के साथ पीवें। डाब का पानी पीवें। पथ्य १२ दिन से पहले न देवें। नीम के पानी से रोगी का शरीर धोवें। आँखों की सुरक्षा के लिए इन्हें बोरिक एसिड के पानी से धोवें। यह प्राणघातक ही नहीं बल्कि संक्रामक एवं कष्टसाध्य रोग है। उष्ण-प्रधान देश के निवासियों को इससे सावधान रहना चाहिए। हिन्दू-शास्त्रों में शिव-चतुर्दशी के दिन बच्चों, स्त्री और सभी पुरुषों के लिये उपवास का विधान है। चूंकि उपवास से कीटाणुओं का नाश होता है इसलिये इस विशेष अवसर पर किया गया उपवास हमारा चेचक से रक्षा करता है। हिन्दू शास्त्र के नियम साधारण स्वास्थ्य के नियमों से काफी घना सम्पर्क रखते हैं। आम तौर पर यह रोग उन लोगों को नहीं होता जिनका भोजन संयमित है, स्वच्छ हवा में रहते हैं और जिनकी आदतें सफाई की हैं।

एक साधारण प्रकार का चेचक भी है। इसमें सिर-दर्द, उल्टी होना, ऐंठन, बकवास करना आदि लक्षण नहीं पाये जाते। इसमें फुन्सियाँ बड़ी होती हैं, इनमें पानी भरा रहता है। ये सिर्फ ३ दिन में ही

शान्त हो जाती हैं। इसकी चिकित्सा, पथ्य आदि के नियम चेचक के समान ही है। कारबोलिक या बोरिक लोशन के उपयोग की आवश्यकता नहीं है।

वातरोग

(Rheumatism)

लक्षण : हमारे शरीर में जब वात (वायु) कुपित होता है तब वातरोग का आक्रमण होता है। मनीषियों ने कहा है—'वायुर्धाता शरीरिणाम्' अर्थात् शरीर-जगत् का वायु भगवान है। हम जो भी खाते हैं उसको तरल बनाकर यही वायु पूरे शरीर में प्रवाहित करती हैं और साथ ही दूषित पदार्थ को पृथक्-पृथक् भाग से बाहर निकालती है। अगर शरीर के किसी भाग में विषाक्त द्रव्य अधिक मात्रा में एकत्र हो जाता है तब वायु भी विषाक्त होकर अपना काम पूर्ण रूप से नहीं कर पाती है। विषाक्त वायु जब शरीर की प्रणालियों में से गुजरते समय, शरीर में मौजूद विषैले पदार्थों के सम्पर्क में आकर, शरीर की किसी मांस-पेशी, नस या किसी जोड़ में रुक जाती है, तब इसके फलस्वरूप आक्रान्त अंग फूल जाता है या वहाँ वेदना होने लगती है। इसीको वात-रोग कहा जाता है। यह बहुत ही दुःखदायी रोग है।

अगर आक्रान्त भाग मांसपेशी है तो मांसपेशी का वात कहा जाता है। अगर जोड़ प्रभावित है तो उसे गठिया-वात कहा जाता है। हमारे शरीर का यह स्वाभाविक गुण है कि वह शरीर में एकत्रित वात दोष को अग्नि पैदाकर शान्त करना चाहता है। वातज्वर का यही कारण है। वातरोग से आक्रान्त अंगों के नाम के अनुसार ही वातरोग के भी अनेक नाम हैं। जैसे—कटि प्रदेश पर आक्रमण करने से **कटिवात**, कन्धे को आक्रान्त करने से **स्कन्धवात**, शरीर के पार्श्व भाग पर आक्रमण होने से **पार्श्ववात**, पैर पर आक्रमण करने से

पादहर्ष, हाथ पर आक्रमण करने से **विश्वची**, पृष्ठ, उरु जांघ प्रभृति स्थानों पर आक्रमण करने से **गृध्रसी** । आजकल ये नाम प्रचलित नहीं हैं ।

समुद्र के जल की तरह हमारा रक्त क्षारीय है तथा रक्त का एक तिहारी भाग अम्ल है । भोजन की असावधानी के कारण अगर रक्त का अम्लांश बढ़ जाता है तो रक्त की क्षारीय औसत न्यून हो जाने के कारण रक्त निर्बल हो जाता है । परिणाम-स्वरूप ग्रन्थियों एवं स्नायुओं का भरपूर पोषण नहीं हो पाता है । इसके अलावा रक्त में अम्लांस की अधिकता के कारण सूक्ष्म स्नायुओं एवं ग्रन्थि आदि की चेतना नष्ट हो जाती है । यकृत एवं अन्य यन्त्रों के सहयोग से इस प्रकार के दूषित रक्त को निकालने का कार्य वृक्क करता है । वायु शरीर में एकत्रित दूषित पदार्थों को मल, मूत्र या पसीने के रूप में शरीर से बाहर निकालती है । यह कार्य निर्बल वृक्क-द्वय, दूषित वायु से पूर्णरूपेण नहीं कर पाता है, क्योंकि दूषित पदार्थ अधिक मात्रा में एकत्रित होने के कारण उनकी क्षमता से बाहर हो जाता है । परिणाम-स्वरूप अम्ल-विष शरीर के विभिन्न भागों में रक्त के प्रवाह के साथ फैलकर स्थान-विशिष्ट रुककर ऐंठन एवं सूजन आदि पैदा कर देता है । यह विष अंग समूह में पहुँच कर पुनः रक्त के प्रवाह में सम्मिलित हो जाता है । इस प्रकार क्रमशः रक्त अधिकाधिक दूषित होता जाता है । इस प्रकार अशक्त रक्त, अपनी कीटाणुनाशक क्षमता खो देता है । शरीर के प्रमुख अवयव पूर्णरूप से पोषित नहीं हो पाते हैं, पाचन क्रिया कमजोर हो जाती है, वृक्क-द्वय एवं यकृत कुपित होकर पूरा कार्य नहीं कर पाते और कोष्ठबद्धता हो जाती है । साथ ही अपचन एवं पित्त आदि रोग भी शरीर को घेर लेते हैं । इस प्रकार की अवस्था में दूषित वायु शरीर के बाहर भी नहीं जा पाती और इन सबका सम्मिलित परिणाम होता है—किसी भी जाति का वातरोग (सन्तुलित भोजन एवं आदर्श भोजन का प्रकरण भी देखें ।

भारत के मनीषियों, पूर्वात्य ब्राह्मणों ने हमेशा सन्तुलित भोजन का गुणगान किया। आदर्श भोजन—शाकाहार का वे पूर्ण समर्थन करते रहे। पाश्चात्य सभ्यता में भी—मैक्समूलर रोमियां रोलां, बर्नाडशा एवं अन्य विचारकों ने भी इसके महत्व को समझकर स्वीकार किया एवं आदर्श भोजन एवं आदर्श अभ्यास के सिद्धान्तों को अपनाया। भोजन विज्ञान के इस आधारभूत सिद्धान्त के पाश्चात्य चिकित्सक सहमत न हो सके। फलतः हमारे देश या अन्य देशों में इसीका अन्धानुसरण हो रहा है। विभिन्न प्रकार की जलवायु आदि प्रभावों को अपनाया जा रहा है। स्वस्थ व्यक्ति के भोजन में या रोगी के पथ्य में क्षार पदार्थों का अत्यधिक महत्व है। मछली, मांस, अण्डे, रोटी, चावल, घी, मक्खन आदि की आवश्यकता सीमित है। जब कि शाक-सब्जी, दूध, फल एवं छाछ (मट्ठा) आदि की आवश्यकता हमारे शरीर को अत्यधिक है। इनसे ही रक्तके क्षारांश को स्थायी रखने के लिए क्षार-लवण शरीर को प्राप्त होता है। फलस्वरूप शरीर को प्राप्त होती है—रोगोंके प्रतिरोध की प्रबल-शक्ति, जिससे विद्यमान रोग शान्त होता है एवं भविष्य में रोगके आक्रमण का भय भी नहीं रह जाता। नशीले पदार्थों की कुटेव, शराब पीना, अत्यधिक कामी होना रक्त को निर्बल बनाते हैं। अम्ल-प्रधान भोजन शरीर में यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ाते हैं एवं शरीर के प्रमुख अंग प्रभावित होते हैं। यकृत, प्लीहा, वृक्क एवं फुस्फुस रुग्ण हो जाने के कारण भी वातरोग या अन्य प्राणघातक बीमारियाँ शरीर को घेर लेती हैं। वात-रोग का प्रभाव हृदय पर भी होता है और अन्ततोगत्वा हृदय भी हार जाता है एवं एक जीवन का अन्त हो जाता है।

उपचार—सुबहः सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया करें। निःसारण, स्नान, अर्ध-स्नान का अभ्यास करें। अग्निसार धौति सं० १ को १० बार और सं० २ को ४ बार; किसी भी ३ प्रकार के सहज प्राणायाम या भ्रमण प्राणायाम, वारिसार धौति।

सायं—भ्रमण प्राणायाम, सर्वाङ्गासन, उष्ट्रासन, मकरासन, उड्डीयान, हलासन, सहज प्राणायाम सं० १, ६, ६, १० और शिरासन २ मिनिट।

अगर वृद्ध या अपाहिज रोगी ये आसन न कर सकें तो उन्हें अपनी क्षमता के अनुसार अधिकाधिक सहज और भ्रमण प्राणयाम का अभ्यास एवं जल पीने, जल-स्नान के नियमों का पालन करना चाहिये। यह तब तक चालू रखें जब तक कि रोग शान्त न हो जाये।

नियम एवं पथ्य—वात-रोग के तीव्र आक्रमण के समय उपवास का प्रभाव लाभदायक होता है। एकादशी, पूर्णिमा और अमावस्या को व्रत रखें। उपवास के समय जल प्रचुर मात्रा में पीवें। अगर जल के साथ उपवास करने से कुछ हानि प्रतीत हो तो फल एवं दूध का एक बार मध्याह्न में सेवन करें। टहलें एवं कुछ इस प्रकार का कार्य करें जिससे पसीना काफी हो। ठण्डे एवं सीड़युक्त स्थान या कमरों में न रहें। तीव्र वेदना की अवस्था में प्रभावित भाग को गर्म पानी में नमक डालकर सेकें।

वात-रोग के पथ्य में ४।५वाँ भाग क्षारीय होना चाहिये।

वाधक वेदना

लक्षण :—ऋतु प्रकाश से कुछ दिन पूर्व से ही अथवा कुछ घण्टे पूर्व से उदर के नीचे भाग में असह्य दर्द का अनुभव होता है। बार-बार उल्टी होने लगती है। ऋतु के प्रथम या द्वितीय दिन का स्राव जब तक शेष नहीं होता तब तक यह वेदना अल्पाधिक परिमाण में रहता है बाद में वह कम हो जाती है। किसी-किसी का ऋतु के पूर्व में यह वेदना पेट के नीचे भाग से पदद्वय पर्यन्त फैल जाती है, उसके बाद प्रचुर परिमाण से धातुस्राव प्रारम्भ होता है और वेदना रुक जाती है। धातु स्राव की गति

वाधा प्राप्त होकर इस वेदनाकी सृष्टि होती है, इसलिए इसका नाम वाधक वेदना।

कारण—जरायु या डिम्बकोष वा डिम्बवहानाली अथवा जरायु की झिल्ली यदि रुग्न होती है तो जरायु संचित रक्त का चाप वे धारण नहीं कर सकती है। इस कारण से ही डिम्बकोष एवं जरायु प्रदेश में तव प्रदाह को सृष्टि होती है; रोगिनी असह्य यन्त्रणा भोगा करती है।

यह रोग निम्न श्रेणी की स्त्रियों के बीच में या गरीब घर की स्त्रियों के मध्य में प्रायः नहीं देखा जाता है। शारीरिक परिश्रम से विरत मध्यवित्त घर की अशान्त-अतृप्तचित्त शिक्षिता स्त्रियों के बीच में एवं धनीगृह के आराम प्रिय अलसप्रकृति स्त्रियों के बीच में ही इस रोग का आधिक्य देखा जाता है। उपर्युक्त शारीरिक परिश्रम के अभाव, मुक्त प्रकाश और वायु से वंचित गृहवन्दी जीवन, चित्त की अतृप्ति और अशान्ति, आहार में और विहार में त्रुटि प्रभृति इस रोग के प्रधान कारण। इन सब कारण से ही उदर और वस्तिप्रदेश की स्नायु और ग्रन्थियाँ दुर्बल होकर कोष्ठवद्धता, शिरव्यथा प्रभृति रोग उत्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप मातृग्रन्थि और जरायु प्रभृति जननयन्त्र के कार्य में शिश्रृङ्खला की सृष्टि होने से यह रोग उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—ऋतु-रोग के अनुरूप। (ऋतु-रोग चिकित्सा प्रणाली द्रष्टव्य)

नियम और पथ्य:—वेदना अत्यधिक होने पर एक अंगोछा या तौलिया गरम जल में भिगों कर पानी निचोड़ देना चाहिए उस तौलिया को पेट के नीचले भाग में रखें। पेट के नीचले भाग में स्थित तौलिये के ऊपर गरम जल की थैली या गरम जल की वोतल रखें। पेट खाली रहने पर इस समय नींबू के रस और नमक सहयोग से दो ग्लास इषदुष्ण जलपान करना चाहिए। इस प्रकार गरम जल पान द्रुत ऋतुस्राव में और कोष्ठपरिष्कार में सहायता करता है। वेदना यदि दीर्घस्थायी हो और वेदना उपसम नहीं होने परभी खूब क्षुधा का उद्रेग हो तो

केवल माग पतला दूध अथवा दूध के साथ फलादि (केला को छोड़कर) ग्रहण करें। अन्य कोई खाद्य नहीं लेना चाहिए।

वृहदन्त्रप्रदाह

(**कोलाइटिस**—Colitis)

वृहदन्त्र का पाश्चात्य नाम कोलन है, इस कोलन की वृद्धि और प्रदाह का नाम ही कोलाइटिस है। भुक्त वस्तु जीर्ण होने के बाद में वृहदन्त्र में जो अप्रयोजनीय पदार्थ (मल) सञ्चित होता है, उस को निकालना ही कोलन वा वृहदन्त्रका कार्य है। वृहदन्त्र जब सुष्ठु रूप से इस दायित्व का पालन करने में असमर्थ होता है तब कोष्ठवद्धता रोग की सृष्टि होती है। दीर्घस्थायी कोष्ठवद्धता के फलस्वरूप सञ्चित मल सड़कर विषाक्त हो जाता है। इस विषाक्त मल के सस्पर्शसे वृहदन्त्र की वृद्धि (स्फीति) होती है और वृहदन्त्र में व्यथा, प्रदाह की सृष्टि होती है। रोगी तब कमर में और पीठ में यन्त्रणा का अनुभव करता है।

आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र इस वृहदन्त्र प्रदाह रोग को तीन श्रेणी में विभक्त किया है मिउकास कोलाइटिस् (Mucus Colitis) कटारल कोलाइटिस् (Catarrhal Colitis) और आलसारेटिभ कोलाइटिस् (Ulcerative Colitis) मिउकास कोलाइटिस् ग्रन्थियों के रसक्षरण के सदृश वृहदन्त्र का भी रसक्षरण की शक्ति है वृहदन्त्र से निसृत इस रस का नाम मिउकास् (Mucus) है। जलस्रोत जिस प्रकार दूषित पदार्थ (आवर्जना) को बहा कर ले जाता है उसी प्रकार मिउकास भी वृहदन्त्रों में स्थित मल को पतला करके देह से निकाल देता है। आयुर्वेद की भाषा में इस पतला मल को उदरामय या अतिसार कहते हैं। इस प्रकार वृहदन्त्र सञ्चित मल से मुक्त होने के वाद वृहदन्त्र की पीड़ा और दर्द दूर होते हैं। रोगी तब आराम अनुभव करता है।

कटारलकलाइटिस्—मलविष से वृहदन्त्र की झिल्ली भी विषाक्त होती है। इस विषाक्त झिल्ली का अत्यधिक प्रदाह से देह ज्वराक्रान्त होता है। पेट में तथा पेट का अधः भाग में शूल वेदना के सदृश एक भयानक वेदना की सृष्टि होती है।

शरीर के नाना स्थान पर छोटी-छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं। असह्य रोग की पीड़ा से रोगी कभी-कभी चैतन्य रहित हो जाता है। रोगी अकस्मात मूर्च्छा को प्राप्त होता है।

आलसारेटिभ कोलाइटिस्—विषाक्तमल, जरहिले मिउकास और विषाक्त आन्त्रिक एसिड के संस्पर्श से वृहदन्त्र की झिल्ली में क्षत उत्पन्न होता है। तब मल के साथ क्षत से निसृत रक्त, पीव और मिउकास प्रभृति निर्गत होता है। इस रोगी के विषाक्त मल में एक प्रकार जीवाणु की शृष्टि होती है। इसलिये इस रोग को वसिलरी डिसेन्ट्री नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस कटारल या आल-सारेटिभ कलाइटिस दर्घस्थायी होनेपर वह उदर में कैंनसार रोग की शृष्टि करके रोगी को यम के पास भेजता है।

कैटारेल कलाइटिस दवा से आरोग्य नहीं होता है। वृहदन्त्र कैंसार होने पर आधुनिक चिकित्सक अस्त्रोपचार की सहायता से उस अंश को काटकर फेंक देता है किन्तु इस प्रकार अस्त्रोपचार से सामयिक उपशम होता है किन्तु मूलोच्छेद नहीं होने के नाते पुनराक्रमण प्रायः ही होता है और रोंगी की अकाल मृत्यु होती है। किन्तु यह आनन्द का विषय है कि यौगिक उपाय से यह रोग सम्पूर्ण रूप से आरोग्य होता है।

चिकित्सा—प्रातःकाल में सहजवस्तिक्रिया संख्यक १ और आनुसङ्गिक आसन-मुद्रादि और प्रातः कृत्यादि। टव-स्नान या अर्ध टव-स्नान। टव में बैठकर सहज अग्निसार ६० बार। अग्निसार धौति संख्यक १—१० बार। सहज प्राणायाम संख्यक २, संख्यक १—प्रत्येक को २ मिनिट। वमन धौति या वारिसार धौति सप्ताह में २ दिन।

मध्याह्न—टबस्नान, टब में बैठकर सहज अग्निसार ६० बार, अग्निसार धौति संख्यक १—१० बार सहज प्राणायाम् संख्यक ३-२ मिनिट, सायं—विपरीतकरणीमुद्रा या सर्वाङ्गासन ३ मिनिट मत्स्यासन १ मिनिट, जानुशिरासन ३ बार, सहज अग्निसार ६० बार, अग्निसार धौति संख्यक १—१० बार। सहजप्राणायाम संख्यक १, ३, ७ प्रत्येक को २ मिनिट शशाङ्गासन २ मिनिट।

दात्रि में नैश भोजन से पहले—सहज अग्निसार ६० बार, अग्निसार धौति संख्यक १—१० बार।

नियम और पथ्यविधि—चाय, काफी, धूम्रपान, और नस्यादि सम्पूर्ण त्याग देना चाहिए। मद्यपान का अभ्यास हो तो उस को भी सम्पूर्ण रूप से त्याग देना जरूरी है, तीव्रक्षुधा की अनुभूति नहीं होने पर आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये। सप्ताह में १ दिन मास में २ दिन सम्पूर्ण उपवास देना चाहिए। पूर्णरूप से आरोग्य नहीं होने तक संहत खाद्य त्याग करना अवश्य कर्तव्य है। इस रोग में आदर्श पथ्य की विधि को अवश्य अनुसरणीय। (इस प्रसङ्ग में हमारी खाद्य-नीति और शिशु-पालन विधि, ग्रन्थ द्रष्टव्य।)

श्वास-रोग

लक्षण :

> "यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
> विष्वग् व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥"

यदि इस रोग में श्वास के साथ काफी बलगम निकले तो साधारण अवस्था में श्वास-प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित होने की आशंका रहती है और जब निकलनेवाली अवरुद्ध साँस बलगम के साथ मिश्रित हो जाती है तो वह अपना बाह्य मार्ग बनाने के लिए बल का प्रयोग करती है।

और, उस अवस्था में जब कि उसे बाहर निकालने में सफलता नहीं मिल पाती तो वह श्वास-रोग को प्रकट कराती है या दुःश्वसन (श्वासावरोध) की बीमारी को उभाड़ देती है। जिस वायु को हम अन्दर ग्रहण करते हैं वह गले से होकर जाती है। उसके बाद वह संकीर्ण फुस्फुस कोष्टों में से होती हुई फेफड़ों में प्रवेश करती है। यह संकीर्ण फुस्फुस कोष्ठ ही वास्तव में रोग के मूल कारण हैं। जब इनमें कफ का संक्रमण होने लगता है तो श्वास सहज नहीं रह जाती, श्वास-प्रश्वास में एक तकलीफ मालूम होने लगती है और छाती में धौंकिनीवत् धड़कन अथवा ऐंठन बढ़ जाती है। यद्यपि इस रोग से सांघातिक अवस्था की आशंका नहीं होती, फिर भी यह बहुत ही कष्टदायक रोग है। प्रायः इस रोग का आक्रमण रात्रि के दूसरे अथवा तीसरे प्रहर में होता है। और जब रोगी जाग जाता है तो यह उसे अधिक से अधिक कष्ट देने लगता है।

कारण : शरीरमें जितने भी अवयव हैं वे सभी स्नायुओंकी सहायता से अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। जब फेफड़ों को संचालित करनेवाली स्नायुएँ दुर्बल पड़ जाती हैं तो फुस्फुस कोष्ठ की संकीर्ण नलिकाएँ आवश्यकता के अनुरूप विस्फारित नहीं हो पातीं और संकीर्ण अवस्था में रहने लगती हैं। फल यह होता है कि रोगी को श्वास लेने में इस सिकुड़ी हुई नली से काफी बाधा महसूस होती है। अतः यह बात सहज भाव में समझ जाएँ कि यदि रोगी में मानसिक दुर्बलता का भाव व्याप्त हो रहा है तो इस रोग के उभड़ने में वह प्रायः सहायक हो जाता है। पर इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि जब तक फेफड़े पूरी तरह से अशक्त नहीं हो जाते अथवा उनका संचालन करनेवाली स्नायुएँ अस्वस्थ नहीं होतीं, तब तक फुस्फुस कोष्ठ की नलिका सिकुड़न जैसी अस्वस्थता ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं रहती। योगशास्त्र के अनुसार श्वासरोग वायु-ग्रन्थियों की दुर्बलता से उत्पन्न होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि वायु-ग्रन्थियों का अधिष्ठान फेफड़े आदि हैं। नमः और अग्नि-ग्रन्थियों की दुर्बलता भी इस रोग

को प्रकट करने में सहायक हुआ करती है। फल यह होता है कि हमारा श्वास-प्रश्वास जल्दी-जल्दी होने लगता है और उस अवस्था में यह शीघ्र आने-जानेवाली श्वास फेफड़ों से कार्बन डाई ऑक्साइड जैसी अशुद्ध वायु का पूरी तरह से वहिंगमन करने में असफल होने लगती है। इस रूप में फेफड़ों के अन्दर विषाक्त गेसों का संचय प्रारम्भ हो जाता है और वे रोग-कीटाणुओं को केवल जन्म ही नहीं देतीं, उनका पोषण भी करने लग जाती हैं। अग्नि-ग्रन्थियों के कमजोर पड़ जाने से कोष्ट-बद्धता और भोजन का अपचन शुरू हो जाता है। फलतः शरीर के अन्दर विजातीय द्रव्य भ्रष्ट होते हुए रक्त को विषाक्त करने में लग जाते हैं। किस प्रकार यह विषाक्त रक्त स्नायु आदि के कार्य-संचालन में एक असंतुलन पैदा कर देता है, इसकी चर्चा हम कोष्ठ-बद्धता, मल-रोग, पीलिया-रोग, पेट-दर्द आदि में विस्तार से कर चुके हैं। ऐसी अवस्था में अग्नि-ग्रन्थियों की दुर्बलता इसको प्रकट करने में कहाँ तक सहायता होती है यह हम सहज ही समझ सकते हैं। इनकी दुर्बलता से भूख भी कम हो जाती है और हमारी पाचन-शक्ति में काफी दोष आ जाते हैं।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया के साथ सम्बन्धित आसन और मुद्राएँ करनी चाहिए। सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३ और ४ करें, अग्निसार धौति संख्यक १ और २ करें। वमन-धौति सप्ताह में दो दिन अथवा वारिसार धौति के अतिरिक्त भ्रमण प्राणायाम भी करना चाहिए।

मध्याह्न में सहज प्राणायाम संख्यक २, ३ और ७ प्रत्येक ३ मिनट।

सायंकाल सर्वाङ्गासन और विपरीतकरणी क्रिया के अतिरिक्त सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३ और ४ करना चाहिये। आसनोंमें पश्चिमोत्तान, उड्डीयान योगमुद्रा, भ्रमण-प्राणायाम उत्तम रहते हैं।

रोगी की अवस्था के अनुसार, जब कुछ सुधार होने लगे तो कुछ व्यायाम अधिक बढ़ाना चाहिये। इस रोग में सूर्यस्नान, जल-स्नान

और काफी मात्रा में जल पीनेका अभ्यास डालने से उत्तम परिणाम सामने आता है ।

नियम एवं आहार : जिस दिन रोग का आक्रमण हो उस दिन दिन भर निराहार रहना चाहिए । गुनगुने पानी में हल्का नींबू रस लिया जा सकता है । ठण्डे पानी से परहेज रखना चाहिए । यदि एक दिन के निराहार रहने से इस रोग की ऐंठन अथवा कष्टप्रद अवस्था पर कोई नियन्त्रण न होने पाए तो दूसरे दिन भी निराहार रखा जाय । निश्चय ही इससे रोगी को काफी आराम पहुँचेगा और छाती की धौंकनी में एक राहत आयेगी । किन्तु जब रोग में पूरी तरह से सुधार देखने में न आये तो तीसरे दिन आधे दिनके लिए निराहार रहने का नियम बनाना चाहिए और इस अवस्था में निराहार रहने के नियमों का सतर्कतापूर्वक पालन करना चाहिए । जिस दिन आधा दिन निराहार रहा जाय, उस दिन चावल और रोटी के स्थान पर शाक-सब्जी का रस लिया जाय, एक बार का गरम किया हुआ बकरी का दूध हितकर रहता है । पर यदि यह न सुलभ हो तो गाय का दूध लिया जा सकता है अथवा कच्चे नारियल को चीथकर निकाला हुआ दूध भी बहुत हितकर रहता है । अनन्नास, पपीता, चकोतरा, नींबू, नारंगी, किसमिस, बादाम आदि आहार के अन्तर्गत शामिल रखना चाहिए । यह ध्यान रखें कि जो सूखे मेवे हैं उन्हें पानी में भिगोकर रखना चाहिए । रात्रि के समय केवल आधा सेर बकरी का दूध लिया जाय अथवा यह सुलभ न हो तो कच्चे नारियल का दूध या गाय का दूध लिया जा सकता है। यह विश्वास रखना चाहिए कि निराहार रहनेसे और आवश्यकता पड़ने पर आधा दिन का व्रत रखने से रोग-शमन में काफी प्रगति नजर आयगी । जब रोग पर कुछ विजय प्राप्त कर लें तो उसके बाद भी एकदम भोजन-संयम का त्याग नहीं कर देना चाहिए । उसके बाद जो कुछ भोजन किया जाय उसके ऊपर काफी नियंत्रण रखा जाय । यह तो हो सकता है कि थोड़ा-थोड़ा कर दिनमें कई बार भोजन करें, लेकिन एक ही बारे में

काफी मात्रा में भोजन करना उचित नहीं है। सुवह का नाश्ता ८ बजे के वाद किसी हालत में न किया जाय। इसके साथ ही नाश्ता इतना ही लिया जाय कि दोपहर के भोजन के समय खुलकर भूख लगे। इसको हम ऊपर ही वता चुके हैं कि जव भूख में कमी आ जाती है अथवा कोष्ठ-वद्धता रहने लगती है और शरीर में शारीरिक शक्ति का ह्रास होता रहता है तो यह स्वाभाविक है कि दमा जैसा रोग इनके वल पर उभड़ सकता है। अतः यह हमारा धर्म है कि रोग के ऊपर एक वार नियंत्रण पा लेने के उपरान्त भोजन इसी मात्रा में और इसी रूप में किया जाय कि अपचन, कोष्ठबद्धता अथवा भूख की कमी का दुवारा प्रत्यावर्तन न होने लगे। इसलिए यह वहुत ही उत्तम रहेगा कि यह सतर्कता वरतें कि रोगी के भोजन में तीन चौथाई तत्व अम्लीय न होकर क्षारीय हों। सभी प्रकार की सब्जियाँ, दूध, छाछ, हरे और सूखे मेवे प्रायः क्षारीय भोजन हुआ करते हैं। चावल, मछली, मांस, अण्डा आदि अम्लीय भोजन हुआ करते हैं। इस वात का भी वहुत ध्यान रखा जाय कि दमे के रोगी के भोजन में घी, तेल और चटपटे मसालेदार भोजन पूर्ण रूप से त्यक्त रखे जायँ। थोड़ी मात्रा में अदरख, कच्ची हल्दी, कालीमिर्च, तेल और घी वहुत थोड़े अंशोंमें भोजन में लिए दिये जा सकते हैं। जिन्हें एकदम मछली और मांस छोड़ने में वहुत ही कष्ट होता है ऐसे रोगी समय-समय पर इन वस्तुओं का रस ले सकते हैं, किन्तु इन रसों में शाक-सब्जियों का मिश्रण भी रहना चाहिए। मांस, अण्डा और साथ ही मरी हुई सूखी मछलियों का पूर्ण वहिष्कार रखा जाय। रात को सोते समय रोगी को कम से कम आधा सेर दूध अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए।

किन्तु श्वासरोग में पूरी तरहसे तम्बाकू, वीड़ी, सिगरेट, नश्य और अत्यधिक मात्रा में पान आदि खाने जैसे मादक अथवा उत्तेजक पदार्थ पूरी तरह त्यक्त रखना चाहिए। इनके परहेज से ही उनके स्थायी लाभ की कुछ आशा हो सकती है। जो दिन में ३ पाव या एक सेर

दूध पी सकते हैं, वे यदि चाहें तो प्रातःकाल एक कप चाय भी पी सकते हैं। यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग दूध नहीं पी सकते हैं, अथवा नियमित रूप से दूध का सेवन नहीं करते, उन लोगों के लिए चाय विष के समान सिद्ध हुआ करती है। इसलिये इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए चाय की लत से अपना छुटकारा करने में लग जाना चाहिये। घी में तले हुए पदार्थ जैसे लूची, कचौड़ी, निमकी, सन्देश रसगुल्ला, लड्डू आदि का पूर्ण वहिष्कार करना चाहिए। ये वस्तुएँ स्वस्थ मनुष्य को भी अनिष्टकर प्रभाव पहुँचा सकती हैं। इस अवस्था में दमा जैसे चिन्तनीय रोग-पीड़ित व्यक्ति को कहाँ तक स्वास्थ्य-लाभ में सहायक हो सकती है यह सहज में ही विचारा जा सकता है।

श्वासरोग के उपचार में भ्रमण प्राणायाम और सूर्यस्नान आदि लाभकर साधन माने गये हैं। ऐसी अवस्था में सुचारु रूप से वस्त्र पहनकर खुली हवा में काफी लम्बी भ्रमण-यात्रा करनी चाहिए। यह टहलना सुबह और शाम दोनों ही समय हितकर है। घूमने के पूर्व सिर के ऊपर एक टोपी अवश्य पहननी चाहिये और कानों को भी भली प्रकार ढक लिया जाय, इसकी सतर्कता रखी जाय। घूमने का स्थान धूलभरी सड़क अथवा धुएँ-भरे वातावरण से भिन्न कोई ऐसा निरापद स्थान होना चाहिए, जहाँ पर भ्रमण करने से वास्तविक रूप में श्वास-रोगी को स्वस्थ, स्वच्छ, शीतल और स्वास्थ्यकर वायु मिल सके।

योगियों का यह बराबर ही आग्रह रहता है कि श्वास के रोगियों को अपने सारे कष्ट की चिन्ता न करते हुए वस्त्र-धौति, वमनधौति और स्थल-वस्ति आदि कठिन प्रयोग भी उत्तम परिणाम पाने की दृष्टि से अवश्य करने चाहिए। क्योंकि श्वासरोग का मूल कारण है—वायु-ग्रन्थियों की दुर्बलता। इसलिये वस्त्र-धौती आदि कष्टसाध्य प्रयोगों से आमाशय आदि न केवल मलरहित होते हैं, अपितु उनमें उत्तम स्वास्थ्य का संचारण भी होने लगता है। इस आन्तरिक शुद्धि से रोग के उपचार में पूरा पथ प्रशस्त हो जाता है।

सभी अनूभूत प्रयोगों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जिन श्वासरोगियों ने हमारे निर्देशानुसार उक्त रीति से बताए आहार, पथ्य एवं व्यायाम आदि का पालन नियमित रूप से किया है वे पूर्ण लाभ को प्राप्त हुए हैं। हमें विश्वास है कि इस पद्धति से अन्य रोगी भी अवश्य लाभान्वित होंगे। योग का वरदान इस रोग के रोगियों को न केवल नया जीवन देना है बल्कि उन्हें दीर्घ जीवन के लिए भी आश्वस्त कर देना है।

श्वासनाली प्रदाह

(Bronchitis)

इस रोग में श्वासनाली का प्रदाह और स्फीति होती है। श्वासनाली का अंग्रेजी नाम ब्रङ्काइटिस है। इस रोग का विस्तार पृथिवी के सर्वत्र है, इसलिए इस रोग का ब्रङ्काइटिस नाम भी आन्तर्जातिक नाम में परिणत हुआ।

लक्षण :—पहले सामान्य सर्दी और खाँसी के साथ थोड़ा बुखार होता है। रोगी कोई खाद्य को निगलने में और बातचीत में भी गले में वेदना का अनुभव करता है। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास में भी थोड़ा असुविधा बोध करता है। छाती में थोड़ा अस्वाभाविक चाप की सृष्टि होती है। अल्प आयु के लड़के और लड़कियों के बीच में इस रोग का प्राधान्य अधिक देखने में आता है। इस रोग की वृद्धि से यह टायफाइड या निमोनिया रोग में परिणत होता है। अतः यह रोग भी बालक, बालिका, वृद्ध और वृद्धाओं के लिए विपज्जनक व्याधि है। रोगी यदि अत्यधिक अस्वस्ति का अनुभव करता है, बुखार यदि १०३° वा उससे भी अधिक हो तो समझना चाहिए कि ब्रङ्काइटिस रोग ब्रङ्कोनिमोनिया रोग में परिणत हो रहा है।

कारण :—दुर्बल फुस्फुस, दुर्बल तालुग्रन्थि (टानसिल) इस रोग का प्रधान या प्रत्यक्ष कारण है। ठण्डी हवा में घुमने से, श्वास के साथ धूम, धूल और कुहर प्रभृति का फुस्फुस में प्रवेश होना इस रोग की उत्पत्ति का गौण वा परोक्ष कारण है।

चिकित्सा—रोगी बुखार में शय्याशायी होनेपर केवल मात्र उपवास ही इस रोग की प्राथमिक चिकित्सा है। जब तक जिह्वा सम्पूर्ण परिष्कार नहीं होती हैं, जब तक जिह्वा में सफेदी रहेगी, तब तक रोगी को कोई खाद्य पदार्थ नहीं देना चाहिए। रोगी की पिपासा के अनुसार रोगी को गरम पानी देना चाहिए या लेमनेड देना चाहिए। रोगी की जिह्वा साफ होने पर और रोगी को अधिक क्षुधा बोध होने पर रोगी को फल का रस और आधा जल मिश्रित दूध पथ्य रूप में दे सकते हैं। रोगी की जिह्वा साफ और क्षुधा का बोध जबतक नहीं होता तबतक रोगी को यदि दूध, फल का रस या फल खाने के लिए दिया जाय तो भी इस ब्रङ्काइटिस् टाइफायड रोग वा निमोनिया रोग में परिणत होने की आशङ्का होगी। रोगी शय्याशायी नहीं हो तो निम्नलिखित चिकित्सा विधि का अनुसरण करना चाहिए।

शिशुओं को—पाश्चात्य प्राणायाम संख्यक १, २, ३, ४, प्रातः काल में, मध्याह्न में शाम को सन्ध्या समय में और रात्रि भोजन के पूर्व में इस प्रकार पाँच बार प्रत्यह अभ्यास करना चाहिए, प्रत्येक का अभ्यास समय २ मिनिट। प्रत्येक प्राणायाम के अभ्यास के २।४ मिनिट के बाद में अन्य प्राणायाम का प्रारम्भ करना चाहिये। वयस्क व्यक्तियों के लिए सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३, ७, ६ ऐसी ही प्रक्रिया से ५ बार २।३ मिनिट बाद में अभ्यास करना चाहिए। भ्रमण प्राणायाम प्रातः काल में तथा शाम को अभ्यास करें।

नियम और पथ्य विधि—आंशिक उपवास, सूर्यस्नान, लघुपथ्य, वमनधौति, शीघ्रातिशीघ्र रोगारोग्य में सहायता होती है।

शिरोरोग

(Headache)

कारण : शिरोरोग के बहुत से कारण हैं ; आयुर्वेद के मत के अनुसार कुछ कारणों का उल्लेख किया जा रहा है—

(१) वातज शिरोरोग : कोष्ठबद्धता के फलस्वरूप पेट के भाग में न तो वायु स्वतंत्र रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकती है और न ही अंत्र समूह में एकत्रित मल का भली प्रकार निःसारण ही हो पाता है। एकत्रित दूषित मल से गन्दी गैस उत्पन्न होती रहती है। इस गैस से अपान वायु विकृत हो जाती है और मस्तिष्क में पहुँच कर स्नायुओं को निर्बल वना देती है। ये स्नायु-समूह शुद्ध हवा के लिये लालायित रहते हैं। इसी का नाम आयुर्वेद के मत से वातज शिरोरोग है। रात का ठंडा वातावरण शरीर की कार्य-प्रणाली में अवस्थित वायु को और भी उत्तेजित करता है। इस प्रकार शिर का दर्द रात को बढ़ता है।

(२) पित्तज शिरोरोग : रक्त संचार के साथ-साथ दूषित पित्त का प्रभाव जब मस्तिष्क के स्नायु-समूह पर होता है। इस स्थिति में माथा, आँख, नाक आदि जलने लगते हैं। रात्रि की ठण्ड के कारण पित्त शान्त होने से यह व्याधि रात्रि को शान्त होती है।

(३) कफज शिरोरोग : शिर का भारीपन, नासिका-मूल में कफ एकत्र हो जाने के फलस्वरूप होने वाली हल्की सी खुजलाहट, चेहरे, नाक या आँख की नजला के कारण जलन इस प्रकार के शिरोरोग के लक्षण हैं।

(४) क्षयज शिरोरोग : जिन व्यक्तियों को धातुदौर्बल्य, प्रदर आदि 'शुक्र' जन्य रोग होते हैं या जो अपनो गन्दी आदतों से 'शुक्र' को नष्ट करते हैं उनके मस्तिष्क का समुचित पोषण नहीं हो पाता है। यही अभाव कभी-कभी शिरोरोग के रूप में दिखलाई पड़ने लगता है। रोगी

हमेशा क्षीण रहता है। चूंकि उसके मस्तिष्क को शुक्र बराबर समुचित मात्रा में नहीं मिलता इसलिये बहुधा बेहोश हो जाता है।

(५) रक्तज शिरोरोग : रक्तज शिरोरोग के रोगियों में—शुद्ध रक्त मस्तिष्क तक समुचित मात्रा में जब किसी कारणवश नहीं पहुँच पाता है तो इस अभाव के कारण शिरोरोग हो जाता है। पेट में एकत्रित दूषित मल के फलस्वरूप उत्पन्न गैस से पेट के यंत्र जैसे अंत्र-समूह की स्नायु, ग्रन्थियाँ आदि क्रिया हीन हो जाती हैं। रक्त इस प्रकार शरीर के अधोभाग में ही व्यस्त रहता है और मस्तिष्क को समुचित मात्रा में यथोचित समय पर प्राप्त नहीं होता। रक्त की इसी कमी के कारण शिरोरोग हो जाता है।

सूर्यावर्त्त शिरोरोग : इस प्रकार का शिर दर्द सूर्योदय के साथ प्रारम्भ होता है, सूर्य के साथ बढ़ता है एवं सूर्यास्त के साथ घट जाता है।

रक्त के अधिक चाप के कारण अगर कोई स्नायु फट जाती है तब शिर के बगल का भाग एवं आँखों में, नाक में भयंकर वेदना होती है। इसे अंग्रेजी में Hemicrania और हिन्दी में अर्धावभेदक कहते हैं। शरीर में अधिक मात्रा में कृमि उत्पन्न होने से क्रिमिज शिरोरोग होता है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के शिर दर्द होते हैं जैसे—अनंत-वात, संखवात और त्रिदोषज शिरोरोग आदि। दांत दर्द, अधिक भूख, प्रदर आदि के कारण शिर में अस्थाई वेदना होती है। लेकिन मूल-कारण है—थाइरायड ग्रन्थि का कमजोर होना, रक्त की कमी, रक्त में विषाक्त पदार्थ का मौजूद होना या खून का ही विषाक्त हो जाना। मस्तिष्क की सूक्ष्म स्नायु पर विषाक्त रक्त का काफी अधिक चाप पड़ता है।

चिकित्सा : प्रातः सहज वस्ति क्रिया अपने सभी पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। निःसारण एवं धोने आदि की क्रिया करने के

उपरान्त नियमानुसार अर्ध-स्नान करें। सहज प्राणयाम नं० १, ४, ७; भ्रमण प्राणायाम।

ऊपर लिखे तरीकों से अस्थाई लाभ होता है। शिरोरोग को समूल नष्ट करने के लिये इसके मूल कारण को उपयुक्त तरीकों से निर्मूल करना चाहिये। जैसे—क्षयज शिरोरोग को दूर करने के लिये 'आंशिक नपुंसकता' में लिखे उपायों से रोग दूर करना चाहिये। उसी प्रकार पित्तज शिरोरोग को दूर करने के लिये अम्लता या अनपच में लिखे उपायों को काम में लेना चाहिये। रोग के मूल का निदान होना जरूरी है। भ्रमण प्राणायाम या नासापान का अभ्यास अगर प्रति दिन प्रातः किया जाय तो सभी शिरोरोग दूर हो सकते हैं।

नियम एवं पथ्य : क्षयज शिरोरोग को छोड़ कर अन्य सभी प्रकार के शिरोरोग में उपवास से लाभ होता है। सम्पूर्ण यन्त्र प्रणाली की सफाई के लिये पानी पीने के नियमों का अभ्यास करें। प्रायः वस या रेल के यात्रियों को यह शिकायत रहती है कि स्टेशन पर एक भी चाय की दुकान नहीं रहने के कारण वे चाय न पी सके। फलस्वरूप समय पर चाय न मिलने के कारण उनके शिर में दर्द हो गया। यह इस बात का इशारा है कि यात्री महोदय का यकृत खराब है और साथ ही अम्लशूल, पित्तजशूल और इसी प्रकार की अन्य भयानक तकलीफें आनेवाली हैं। इसलिये चाय-पान की आदत अपनी भलाई के लिये छोड़ देनी चाहिये। जो काफी मात्रा में दूध का सेवन करते हों वे अगर १-२ कप चाय का सेवन करें तो कोई विशेष क्षति न होगी। अतएव जो व्यक्ति दूध का सेवन नहीं कर सकते हैं उनके लिये चाय विष समान है।

अत्यधिक मात्रा में चूने या सुपारी के साथ पान खाने से पेट में Ptomain जातीय एक पदार्थ उत्पन्न हो जाता है एवं इसको नष्ट करने के लिये यकृत को अधिक कार्य करना पड़ता है। फिर भी सफल नहीं

हो पाता है। यह जहरीला पदार्थ रक्त में मिल जाता है और मस्तिष्क में पहुँचकर भारीपन पैदा कर देता है।

इस रोग में स्नान एवं पान के नियमों का सावधानी से पालन करना चाहिये।

श्लीपद रोग
(Elephantiasis)

लक्षण : इस रोग का असर खासतौर पर पाँवों पर ही देखा जाता है। हाथों पर इसका प्रभाव कम देखा गया है। आक्रान्त अंग का चर्म हाथी के चमड़े की तरह कड़ा एवं मोटा हो जाता है। इस रोग के फलस्वरूप पांव क्रमशः मोटे होते जाते हैं एवं हाथी के पाँव के समान आकृति धारण कर लेते हैं। इसीलिये इस रोग का नाम श्लीपद है। इसे हाथी-पगा या फीलपाव भी कहते हैं। ग्रीष्म प्रधान देशों में यह रोग अधिकांश पाया जाता है। शीत प्रधान प्रदेशों में यह रोग प्रायः नहीं पाया जाता है। अंग्रेजी में इसे एलिफैण्टिएसिस (Elephantiasis) कहा जाता है।

कारण : रक्तवाही धमनियों के साथ-साथ चलनेवाली और भी एक श्रेणी की धमनी है, जिसे आयुर्वेद में शुक्रवाही शिरा कहा गया है। जिनके माध्यम से शरीर के सभी अवयवों को पोषण प्राप्त होता रहता है। इसी रस या शुक्र से शरीर में प्राणकोष निर्मित होता है। किसी-किसी शरीर में दूषित रक्त के साथ एक प्रकार का कीटाणु भी पैदा हो जाता है। रक्त के प्रवाह के साथ यह कीटाणु एक ऐसे सुविधा-जनक स्थान पर इकट्ठा हो जाता है जहाँ से यह उस हिस्से के रस के प्रवाह को रोक देता है। इसी रूकावट के कारण पैरों में इस प्रकार की वृद्धि होती है।

उपचार : सुबह—सहज वस्तिक्रिया (भारी पाँवों के कारण हो सकता है कि विपरीतकरणी न की जा सके ; इसलिए सहारे के साथ सहज विपरीतकरणी का अभ्यास करें) पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ ; निःसारण, स्नान एवं धोना ; सहज प्राणायाम संख्यक २, ४, ५ एवं १०, उड्डीयान ४ बार, भ्रमण प्राणायाम ; अगर सम्भव न हो तो वारिसार धौति या वमन धौति का अभ्यास करें ।

सायं—सहज विपरीत-करणी, मकरासन शयन, पश्चिमोत्तान, अग्निसार धौतिक संख्यक १ और २ ; जानुशिरासन, सहज प्राणायाम संख्यक १, ७ और ६ ; शशाङ्कासन ; भ्रमण प्राणायाम ।

रोगाक्रान्त हिस्से को प्रतिदिन सूर्य-स्नान करावें और कभी-कभी पूरे शरीर को सूर्य-स्नान करावें । क्षमता के अनुसार क्रमशः बढ़नेवाले व्यायामों का अभ्यास करें । जल स्नान के तरीके संख्यक १ तथा पानी पीने के नियमों का पालन करें ।

नियम एवं पथ्य : इस रोग का आक्रमण होते ही पाँव पर पुलिस की तरह ऊनी पट्टियों का प्रयोग करें । शरीर में संचित सभी दूषित पदार्थों को निकालने के लिये अजीर्ण, कोष्ठवद्धता, अम्ल आदि प्रकरण में लिखे गये उपायों का पालन करें । भूने हुये चावल, चाय, धूम्रपान एवं शराव का पूर्ण रूपेण त्याग करें ।

शूल-व्याधि

शरीर में जव विषाक्त रक्त का आधिक्य हो जाता है तो रक्त-वाहिनियों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है और वे कमजोर हो जाती हैं । फलस्वरूप पेट के स्नायुकेन्द्रों को रक्त की आवश्यक मात्रा प्राप्त नहीं होती । इस अभाव एवं दूषित रक्त के सम्पर्क से स्नायु-कणों में एक प्रकार की वेचैनी या संकोचन या मरोड़ होता है । इससे यह पता

लगता है कि शुद्ध रक्त उनके लिए सर्वाधिक आवश्यक है। इस ऐंठन या मरोड़ को शूल-व्याधि कहते हैं।

आयुर्वेदिक निदान-सिद्धान्त के अनुसार शूल-व्याधि वात, पित्त या कफ के भेद से उत्पत्ति के अनुसार ८ विभिन्न प्रकार की होती है। आधुनिक युग का स्नायुशूल—आयुर्वेद के मतानुसार वातज शूलव्याधि है। जहाँ स्नायुकेन्द्र पर, पित्त का दोष होता है—उसे पित्तज शूल-व्याधि कहते हैं। जो शूलव्याधि दूषित पाचक रस से उत्पन्न होती है उसे अम्लशूल कहते हैं। आंतों के स्नायुकेन्द्र की ऐंठन को Gastro Enteritis और हृदय के स्नायुकेन्द्र की ऐंठन को हृद्-शूल कहते हैं।

कारण—अपचन, अग्निमान्द्य या कब्ज आदि के कारण शरीर का वातरस दूषित होकर उत्तेजित हो उठता है। इस प्रकार के विषाक्त बात के सम्पर्क में आकर रक्तवाही धमनियाँ कमजोर हो जाती हैं। रक्तवाही धमनियाँ स्नायुकेन्द्रों को आवश्यक रक्त नहीं पहुँचा पातीं और स्नायु-केन्द्रों में ऐंठन प्रारम्भ हो जाती है, मानो वे रक्त के लिये आर्तनाद कर रहे हों। स्नायुकेन्द्रों के इस आर्तनाद का ही नाम स्नायुशूल है।

आम तौर से घी, मक्खन या तेल आदि जैसे चर्बी जातीय खाद्य के पाचन का दायित्व पित्त पर ही है। जब पित्त की पाचन-क्षमता से अधिक चर्बी अगर पेट में जमा हो जाती है तो यकृत को अधिक क्रिया-शील होकर अधिक पित्त उत्पन्न करना पड़ता है। अगर यकृत को इसी प्रकार बार-बार अधिक क्रियाशील होना पड़ेगा तो यकृत कमजोर होकर आवश्यक पित्त नहीं उत्पन्न कर सकेगा। अतिरिक्त चर्बी के पाचन के लिए कमजोर पड़नेवाला पित्त इस दौरान में विकृत होकर अम्ल के रूप में बदल जाता है। इसी दूषित पित्त से उत्पन्न अम्ल स्नायु-केन्द्रों में ऐंठन पैदा करता है। इस प्रकार के आक्रमण का, चूंकि पित्त ही मुख्य कारण है, इसे पितज शूल-व्याधि कहते हैं।

पेट के धमूनी-समूह के पास, जिह्वा के नीचे लालाग्रन्थि की तरह अनेक छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं। इन्हें आमाशय-ग्रन्थि कहते हैं। जैसे

ही मछली, मांस, अंडे या दाल जैसे चर्बीयुक्त पदार्थ पेट में पहुँचते हैं वैसे ही लालारस के समान एक पाचन-रस का, जो स्वाद में खट्टा होता है, निःसरण प्रारम्भ हो जाता है। मांसजातीय प्रोटीन-युक्त पदार्थों को पचाना इसी रस का काम है।

हमारे रक्त में क्षाररस की मात्रा अम्लरस की अपेक्षा काफी अधिक है। हम अगर अधिक चर्बीजातीय खाद्य का सेवन कर लेते हैं तो हमारा रक्त अम्लरस की अधिकता से विषाक्त हो जाता है। ये पाचक रस अतिरिक्त चर्बी को पचाने में असमर्थ होने के कारण स्वतः विषाक्त होकर अम्ल-विष में परिवर्तित हो जाते हैं। जब पेट का स्नायुकोष इस अम्ल से अत्यधिक विषाक्त हो जाता है तब अत्यधिक यन्त्रणा से आर्त्तनाद करता है, इसे ही अम्लशूल यानी आमाशय का शूल कहते हैं।

अग्न्याशय का अग्निरस, पाकस्थली का पित्तरस और पाचन रस सम्मिलित होकर ऊपरी अन्त्र के अर्धजीण खाद्य-पदार्थ को पूर्णरूप से पाचन करते हैं। अगर ये मिश्रित रस-समूह भोजन-पदार्थ को आँतों में नहीं गला पाते हैं तो वे स्वयं अजीर्ण होकर विषाक्त हो जाते हैं। इस प्रकार से जमा हुआ विष, आँत की स्नायुओं में ऐंठन पैदाकर अंत्र-शूल उत्पन्न करता है।

हमारे शरीर में दो प्रकार की रक्तवाही शिराएँ हैं। उदाहरण-स्वरूप एक धमनी है जो अशुद्ध रक्त को फुस्फुस प्रभृति शोधन-यन्त्र तक ले जाती है। कार्वन-डाई-आक्साइड जैसी गैस से युक्त खून के परिवहन के कारण इनका रंग हल्का नीला होता है। फुस्फुस के द्वारा यह अशुद्ध रक्त शोधित होकर हृदय में जाता है और हृत्पिण्ड क्रमशः रक्तवाहिनी शिराओं के द्वारा रक्त को सारे शरीर में फैलाता है। जब रक्त-शोधक यन्त्र, फुस्फुस, यकृत, प्लीहा या मूत्राशय अशक्त रहते हैं तब शरीर के अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने का मौका नहीं मिलता। रक्त में इस प्रकार मिश्रित विष जब हृदयकी स्नायुओं को आक्रान्त करता है, तब हृत्प्रदेश

में अत्यधिक वेदना महसूस होती है। रोगी का दम घुटने लगता है और वह मरणासन्न हो जाता है। इस कष्ट को हृद्‌शूल कहते हैं।

उपचार : प्रातः सहज वस्तिक्रिया, पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ ; सहज प्राणायाम संख्यक १, ६ और ८ ; वारिसार धौति ; अग्निसार धौति संख्यक १, २ ; उड्डीयान आसन और भ्रमण प्राणायाम।

सायं—भ्रमण प्राणायाम ; सहज अग्निसार; अग्निसार धौति संख्यक १, २ ; शशांगासन २ मिनट या सहज शीर्षासन ; सहज प्राणायाम संख्यक १, ६ और ८।

क्रम वर्धमान व्यायाम तथा जल से स्नान करें। उपवास के सिद्धांत एवं जलपान की विधि का कड़े रूप से पालन करना चाहिये।

आक्रमण काल में रोगी को ठण्डे पानी के स्थान पर गर्म पानी का सेवन करना चाहिये। अगर पूरा गिलास पानी न पिया जा सके तो आधा-आधा घण्टे के अन्तरसे आधा गिलास करके पानी पीना चाहिये। आक्रमण की समाप्ति पर ठंडा पानी पिया करें। मध्याह्न एवं रात्रिके भोजन के उपरान्त कम से कम १ घण्टे तक श्वास इस प्रकार लें ताकि दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास आ सके। आक्रमण के सिलसिले में अगर श्वास की क्रिया बदल दी जाती है तो वेदना का प्रभाव कम होता है।

नियम एवं पथ्य—शूलव्याधि के रोगी को दोपहर एवं सुबह के नाश्तेका परित्याग कर २४ घण्टे में सिर्फ दो बार भोजन करना चाहिए। आमाशय से सम्बन्धित व्याधियों के रोगियों को एक प्रकारकी भूख का भ्रम होता है। इस भ्रम को रोगी को समझना चाहिये। इस मिथ्या-भूख के समय एक गिलास पानी पी लेना ही पर्याप्त होता है। ज्यों-ज्यों रोग शान्त होता है, भूख जाग्रत होने लगती है। प्रातःकाल थोड़ी हरी सब्जी जैसे, पपीता, अनारस, अनार, संतरे अंगूर आदि खाये जा सकते हैं। इसके साथ नींबू के रस से बनाया हुआ कोई ठण्डा पेय पीना लाभ-दायक है। नींबू के रस में शरीर से दूषित अम्ल एवं पित्त को धोकर

निकालने की शक्ति है और इसलिये पेट की **बीमारियों में औषधि एवं खुराक दोनों रूप में नींबू का व्यापक प्रयोग होता है।**

पित्तज शूलव्याधि की प्रारम्भिक अवस्था में कुछ खा लेने से क्षणिक आराम होता है। इस पर ध्यान न देने से धीरे-धीरे बीमारी पुरानी हो जाती है। अतएव शूलव्याधि की अवस्था में पेट को पूरा आराम दें। पानी में नींबू का रस डालकर पीने के अलावा कुछ भी ग्रहण न करें।

आंशिक रूप से अपना रक्त नमकीन है। रक्त से ही सभी ग्रन्थियाँ एवं अवयव पोषण प्राप्त करते हैं। अतएव रोगी के भोजन में अम्लांश की अपेक्षा क्षार का अंश अधिक रहना चाहिये। दूध, मट्ठा, साग और सब्जी स्वभावतया क्षारीय हैं। लेकिन चावल, रोटी, मछली, मांस, अंडे, घी और मक्खन में अम्लांस की अधिकता है। शूलव्याधि के रोगी के भोजन का ४।५वाँ हिस्सा पूर्णरूपेण क्षारीय हो इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। अनजान या भोजन लोलुप व्यक्ति अधिक अम्लांशयुक्त भोजन का सेवन करते हैं। और, चूंकि वे शारीरिक श्रम कम करते हैं, फिर भी वे नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त होते हैं। स्वस्थ विवाहित स्त्रियों की संख्या अपने देश में कम है। हिन्दू-संस्कृति के अनुसार उपवास करनेवाली एवं शाकाहारी विधवाओं का स्वास्थ्य उत्तम होता है। इसका मूल रहस्य है—आहार नियमितता।

रोग की अवस्था में ठोस (solid) भोजन रोगी को न दें। पथ्य में साधारण उबाला हुआ दूध, नारियल से निकाला हुआ दूध, छाछ, मक्खन-रहित दही, वेजीटेबुल रस, फलों का रस एवं खट्टे फल दें। पाचनशक्ति सबल हो जाने पर चावल, रोटी, ताजी छोटी मछली, या रस और दूध देना चाहिये। मांस, अण्डे, केसीन, घी, मक्खन, दाल, मरी मछली, तेल, घी या अधिक मशाले से बने भोजन, चाय, सिगरेट, बीड़ी, अधिक मिष्टान्न, कचौड़ी, सिंघाड़ा, तेल या घी में भुने हुए पदार्थ खाना मना है। चीनी के स्थान पर शक्कर या लाल गुड़ का सेवन करें। भोजन के समय अधिक नमक खाने का अभ्यास त्याग दें।

श्वेतकुष्ठ

(Leucoderma)

आयुर्वेद के मतानुसार सभी चर्मरोगों को कुष्ठरोग में ही शामिल किया गया है। आयुर्वेद में इसके १८ भेद हैं। इसमें से ७ प्रकार के कुष्ठ कठिन हैं एवं अवशेष ११ प्रकार के कुष्ठ साधारण प्रकार के हैं। Leucoderma को आयुर्वेद में 'श्वित्रा' कहते हैं। यह कुष्ठ का आसान भेद है। तीव्र जाति का कुष्ठ शरीर की सप्त धातुओं को प्रभावित कर देता है। लेकिन श्वेतकुष्ठ की जातिवाला रोग सिर्फ रक्त एवं चमड़ी को प्रभावित करता है। कुष्ठ के अन्य सभी भेदों में एक प्रकार का तरल पदार्थ बहता है पर श्वेत कुष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता।

इस रोग के प्रारम्भ में चमड़ी पर एक लाल दाग जैसा हो जाता है जो कालान्तर में स्वयं ही श्वेत हो जाता है। यह धब्बा समय के साथ बढ़ता जाता है। यद्यपि यह संक्रामक जाति का रोग नहीं है फिर भी लोग श्वेतकुष्ठ के रोगी से भी भय एवं घृणा करते हैं एवं सभी प्रकार के सम्पर्क स्थगित कर देते हैं।

कारण—अगर चमड़ी की प्रतिरोधात्मक शक्ति एकदम निर्बल हो जाती है तो यह रोग चमड़ी पर आक्रमण करता है। रक्त में अम्ल-लवण की अधिकता के फलस्वरूप चमड़ी की प्रतिरोधात्मक शक्ति समाप्त हो जाती है। स्पष्टरूप से—विकृत रक्त इस रोग का मूल कारण है। जब रक्त दूषित होता है तब यकृत भी पूरा कार्य नहीं कर पाता। फलस्वरूप यकृत-व्याधि, क्षुधा-नाश आदि इस रोग की जड़ें बनाते हैं।

उपचार—प्रातः पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्तिक्रिया ; सहज प्राणायाम सं० १, ३, ६, एवं ८ ; जानुशिरासन ; अग्निसार धौति सं० १, २ ; सहज अग्निसार एवं वारिसार धौति।

सायं—उड्डीयान, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, अग्निसार, हलासन, शयन पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्रासन, शीर्षासन, सहज प्राणायाम सं० १, ३, ६, ८ ; अर्धचक्रासन, भ्रमण प्राणायाम ।

सूर्यस्नान, जल-पान, जल-स्नान एवं उपवास के नियमों का पालन करें । क्रम वर्धमान व्यायाम करें ।

नियम एवं पथ्य—भोजन में प्रोटीन सदैव के लिये त्याग दें । अगर मांस, मछली एवं अण्डों को कतई न छोड़ा जा सके तो कभी-कभी शीतकाल में खायें । चाय, पान, तम्बाकू एवं अन्य नशीली चीजों का उपयोग कतई न करें । भोजन पकाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखें कि रोगी के लिये कोई भी ऐसा भोजन न बनाया जाये जिसमें घी, तेल या मशाले की मात्रा अधिक हो । दूध शाक-सब्जी, खट्टे-मीठे फल आदि क्षारीय भोजन पदार्थ रोग के लिये उत्तम हैं । अगर सम्भव हो तो रात को रोटी एवं दिन में चावल खावें । दाल का पानी लें । जब तक यकृत व्यवस्थित रूप से कार्य न करने लगे उसना चावल न खावें । घी, मक्खन का उपयोग बन्द करें । २ चम्मच ओलिव आयल खावें । यह बीमारी एकबार होने के बाद चिकित्सा से जल्दी नहीं मिटती है । फिर भी, यौगिक अभ्यास, पथ्य के नियम आदि का कड़ाई से पालन करने पर २-३ वर्ष में इसका इलाज हो सकता है ।

हमारी राय के अनुसार चलने एवं पथ्य आदि नियमों का अनुशासन पूर्वक पालन करने से बहुत से लोगों को स्थायी लाभ हुआ है । यह रोग औषधियों के वश का नहीं है । अतएव रोगियों से हमारा अनुरोध है कि वे औषधियों के प्रति अपने ममत्व का त्याग कर यौगिक तरीकों को अपनायें तों लाभ होने की आशा की जा सकती है ।

शोथ रोग

(Dropsy)

लक्षण—हाथ-पैर, चेहरे, पलक या पेट पर होनेवाला शोथ (सूजन)। सूजे हुए स्थान पर हाथ या अंगुली का दबाव पड़ने पर गर्त जैसा हो जाता है। यही जलशोथ का मुख्य लक्षण है।

कारण :

"रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् वहिःशिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात् त्वक्मांससंश्रयम्॥"

शरीरस्थ वायु कुपित होकर दूषित कफ, रक्त एवं पित्त को ढकेल कर वाह्य शिराओं में एकत्रित कर देती है। लेकिन वायु स्वयं भी उनसे शिथिल हो जाती है और दूषित रक्त, पित्त एवं कफ को शरीर के विभिन्न हिस्सों, जैसे चमड़ी एवं मांस के बीच जलवत् एकत्रित कर देती है। इस जलवत् एकत्रित पदार्थ के फलस्वरूप ही शरीर के विभिन्न अंगो पर शोथ (सूजन) हो जाता है जिसे जलशोथ रोग (Dropsy) कहते हैं।

रक्त में क्रमशः एकत्रित होनेवाले पित्त एवं कफजनित दोष को फुस्फुस, यकृत, प्लीहा या वृक्क आदि शारीरिक अवयवों के द्वारा रक्त से पृथक कर देते हैं एवं इन्हें शरीर से बाहर निकालते हैं। लेकिन इन अवयवों की अनियमित क्रिया के फलस्वरूप इन विषाक्त कफादिक को शरीर से जब बाहर नहीं निकाल पाता तब ये शरीर के अंग विशेष में संचित होकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। शरीर अपनी प्रकृति के अनुसार इस संचित विष को निकालने के लिये कोष्ठ में तरलता उत्पन्न करता है। इसके माध्यम से दूषित पदार्थ का काफी मात्रा में निःसरण होता है। कहीं-कहीं कोष्ठबद्धता के कारण यह विषाक्त पित्त या कफ शरीर से बाहर नहीं निकल पाता और शरीर के किसी भी अंग में संचित होकर शोथ उत्पन्न कर देता है।

रक्त-शोधन की क्रिया के लिये शरीर में मूत्रग्रन्थि (Kidney) है। रक्तस्थ जलीय अंश एवं अन्य दूषित पदार्थों का पृथक्करण इन्हीं यंत्रों के द्वारा होता है। इस पृथक्करण से जलीय अंश मूत्राशय में पहुँचता है एवं मूत्रमार्ग से वाहर निकल जाता है। अस्वस्थ अर्थात् रुग्ण मूत्रग्रन्थि दूषित जलीय पदार्थ को रक्त से पृथक नहीं कर पाती है। ऐसी अवस्था में ये ही पैर की स्नायु तथा शिराओं में संचित होकर—पलकों एवं पैरों पर भी शोथ उत्पन्न कर देते हैं। पैरों पर या पलकों पर लक्षित होनेवाला शोथ मूत्रग्रन्थि की रुग्णता का परिचायक है।

मूत्रग्रन्थि की तरह रक्त-शोधन का दायित्व यकृत एवं प्लीहा पर भी है, लेकिन इन यन्त्रों की क्रिया अनियमित होने पर उदर पर शोथ उत्पन्न हो जाता है। यही शोथ पुराना होकर सम्पूर्ण शरीर पर छा जाता है।

कभी-कभी रक्त-प्रवाह की गति आवश्यकता से अधिक तेज होती है। ऐसी अवस्था में यकृत एवं प्लीहा को रक्त शुद्ध करने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इस प्रकार शोधन से वचे हुए अशुद्ध रक्त को शुद्ध करने का भार फुस्फुस पर पड़ जाता है। अशुद्ध रक्त को हृदय अपने आप खींच कर शोधन के लिये फुस्सफुस को देता है। फुस्फुस रक्तस्थ कार्बन डाई आँक्साइड एवं विषाक्त जलांश को श्वास-क्रिया के द्वारा दूर करता है। हृदय भी अपने में संचित दोषों को वाहर निकालने की व्यवस्था करता है। जिन व्यक्तियों का हृदय अशक्त होता है, उनके दूषित पदार्थ वाहर नहीं निकल पाते एवं चेहरे तथा पैरों में संचित हो जाते हैं। हृदय की दुर्वलता के फलस्वरूप जो शोथ होता है उसमें पैर एवं चेहरे के अतिरिक्त पीठ में भी शोथ रहता है। इन लक्षणों के साथ ही साथ हृदय की धड़कन, श्वासावरोध होकर रोगी की अवस्था चिन्ताजनक हो जाती है।

स्त्रियों में शोथ ऋतु की गड़वड़ी या गर्भावस्था में होता है। यह साधारण उपचार और पथ्य से जल्दी ही दूर हो जाता है।

उपचार : प्रातः—सहज वस्तिक्रिया पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ। प्रातःकृत्य के उपरान्त अग्निसार धौति संख्यक १ दस बार एवं संख्यक २ चार बार; सहज प्राणायाम संख्यक १, २, और ८; वस्तिसार-धौति या वमन-धौति।

सायं—सहज विपरीतकरणी या शीर्षासन, सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ८; अग्निसार धौति संख्यक १; सहज अग्निसार ३० बार।

इन व्यायामों को क्रमशः बढ़ाना चाहिए। स्नान करने एवं जल पीने के सिद्धान्तों का अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार पालन करना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर पर सरसों के तेल की मालिश कर सूर्य-स्नान अवश्य करें। कभी भी अधिक पानी न पीवें, बल्कि घूंट-घूंट पानी पीवें।

नियम एवं पथ्य : जलशोथ के लक्षण दिखते ही २-३ दिनों तक लगातार उपवास करें। इस उपवास की अवधि में नींबू का रस मिला कर पानी या नारियल का पानी काफी मात्रा में पीवें। रोगी को २-३ दिन बाद जो भोजन दिया जाय उसमें पतला दूध, संतरे का रस, अनार, अंगूर और नारियल का पानी दें। इसके बाद भूख के अनुसार हल्का एवं सुपाच्य भोजन दें। बहुत पुराने चावल, शाक-सब्जी का रस, दूध, मट्ठा या छाछ, पका केला आदि इस रोग के आदर्श भोजन हैं। इन भोजनों से थोड़ी शक्ति प्राप्त कर नीचे चीजों में से अपने भोजन का चुनाव करें—अंजीर, हरे केले, बैंगन, सहजन की फली, घीया, अदरख, प्याज, पपीता, कुम्हड़ा, हरे चने की दाल, दूध, मट्ठा, या छाछ, नीम का पत्ता, एवं पके हुए फल आदि।

भोजन में कभी भी अधिक नमक न लें। पूर्ण स्वस्थ न होने तक घी या तेल में तली कोई भी भोजन-सामग्री न खावें। टूटे हुए चावल भी न खावें। दूध या पानी के साथ १-२ चम्मच शुद्ध मधु का सेवन करें। शोथ के रोगी को अधिक चाय-पान या धूम्रपान बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

संन्यास एवं मृगी रोग

लक्षण : आयुर्वेद में मृगी या एपीलेप्सी, अपस्मार, मूर्च्छा और संन्यास रोगों के अन्तर्गत इसकी परिगणना की गयी है। एपीप्लेक्सी को सान्निपातिक मूर्च्छा में समाविष्ट किया गया है। क्योंकि इससे आकस्मिक निपात या मृत्यु की सम्भावना तत्काल रहती है, इसलिये इसे सान्निपातिक मूर्च्छा नाम दिया गया है। मेडिकल विज्ञान में अपस्मार को एपीलेप्सी कहा गया है। सच्चाई तो यह है कि इन दोनों में वहुत ही कम अन्तर है और इसीलिए हम इस स्थल पर दोनों की चिकित्सा संयुक्त से लिखने का प्रयास करेंगे। जब हमारे शरीर में काफी अधिक शारीरिक दुर्वलता आ जाती है तो मूर्च्छा-वेहोशी के दौरे आया करते हैं, किन्तु यदि शारीरिक अवस्था में काफी सुधार हो जाता है तो यह दौर वन्द हो जाया करता है। इसके विपरीत संन्यास अथवा मृगी वहुत ही सांघातिक रोगों में से है और इसकी चिकित्सा भी काफी कष्टसाध्य है। इस सम्वन्ध में हिस्टीरिया रोग का प्रकरण भी आगे के पृष्ठों में देखना चाहिए।

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्योऽकृत ॥

हमारे ज्ञानकोष की जो स्नायु हैं और जो मस्तिष्क तक शरीर में अनुभूत संवेदनाओं का संचारण किया करती हैं, इनके साथ जो मस्तिष्क तक रक्त ले जाने वाली धमनियाँ हैं, इन दोनों में जव किसी प्रकार का दोष आ जाता है और इनके अन्दर प्रकुपित वायु, पित्त अथवा श्लेष्मा संश्लिष्ट हो जाता है तो प्रारम्भिक स्तर पर मूर्च्छा-विषयक रोगों के लक्षण सामने आने लगते हैं। पर रोग का उग्र रूप तो तभी सामने आता है जव कि शरीर की धमनियों में और जितने भी ज्ञानकोष के स्नायु हैं और छोटी-छोटी रक्त केशिकाएँ हैं उनमें रक्त का संचारण अवरुद्ध हो जाता है अथवा शिथिल होने लगता है, तो उस अवस्था में प्रकृत रूप से

पहुँचने वाले रक्त में कमी आ जाने से यह रोग और भी विषम होने लग जाता है। अन्त में वह अवस्था भी आ जाती है कि रुग्ण व्यक्ति में चेतना सर्वनाश अवस्था तक पहुँच जाती है। प्रायः ऐसा भी होता है कि जब रोगी मूर्च्छित होने लगता है तो उससे पहले वह एक बड़े जोर की चीख मारता है।

अधिकतर रोगियों में रोग का आक्रमण होने से पहले मूर्च्छा होने के लक्षण स्पष्ट रूपसे अनुभूत होने लगते हैं। कुछ को ऐसा महसूस होता है कि उनके सारे वदन पर कोई धीरे-धीरे तीखी पिनें चुभा रहा है। कुछ रोगियों को ऐसा भी होता है कि पहले उनके पेट में दर्द महसूस होने लगता है और शनैः शनैः वह दर्द मस्तिष्क की ओर उठता हुआ चला जाता है। कुछ लोगों को मूर्च्छा से पहले बड़ी गन्दी वदबू का ऐहसास होता है। और कुछ लोगों में रोग का आक्रमण शुरू होते ही एकदम सिर में चक्कर शुरू होने लगता है, जिसे घूर्णि भी कहा गया है। यद्यपि ये जितनी भी अग्रिम प्रतिक्रियाएँ हैं वे रोगी को यह ऐहसास अवश्य दिला देती हैं कि उन्हें मूर्च्छा का आक्रमण होने वाला है, किन्तु इतना समय नहीं रहता कि रोगी किसी तरह से कोई उपाय करके उस रोग से अपने को सुरक्षित कर सके। यही कारण है कि वे तत्काल ही मूर्च्छित हो जाते हैं और विना विलम्ब हुए उनके शारीरिक अवयवों की ऐंठन शुरू हो जाती है।

वह अपना दाँत किटकिटाने लगता है और चवाने लगता है। उसके मुँह से झाग निकलने लगता है और कुछ रोगियों की अवस्था तो इतनी दयनीय हो जाती है कि उस अचेतन अवस्था में उनका मूत्र भी प्रायः निकल जाया करता है। जब थोड़ी देर बीत जाती है तो यह ऐंठन और मरोड़ आदि की क्रिया शांत हो जाती है, रोगी की चेतना वापस लौटने लगती है और रोगी उसके बाद शान्तिपूर्वक एक गहरी नींद में निमग्न हो जाता है।

कारण : यह प्रायः इसलिये हुआ करता है, क्योंकि शारीरिक

प्रणाली में साधक पित्त का वहुत अभाव हो जाया करता है। हम इस पित्त की चर्चा आयुर्वेद विषयक शरीर-विज्ञान में पहले कर आये हैं। यदि रोगी के पिता अथवा माता अथवा वे दोनों ही माता-पिता वहुत अधिक क्रोध एवं आवेशमयी भावनाओं से पीड़ित रहते रहे हों तो ऐसे व्यक्तियों के पुत्रों अथवा कन्याओं में मूर्च्छा आदि रोग प्रवल हो जाया करते हैं। जिन माता-पिताओं को दमा अर्थात् श्वासरोग आदि के गहरे आघात पहुँच चुके हैं तो उनकी सन्तान में भी यह रोग जड़ पकड़ लिया करता है। जिन माता-पिताओं में प्रकुपित पित्त की पुरानी वीमारियाँ रह चुकी हैं, उनकी सन्तानों में भी ऐसे रोगों की संभावना प्रायः प्रकट हो जाया करती है। जिन लोगों में सम्भोग की इच्छा अधिक बलवती रहती है, वे भी ऐसे रोगों के प्रायः शिकार वन जाया करते हैं। जो लोग काम-वासना से प्रायः पीड़ित रहा करते हैं उनकी स्नायु और रक्त-धमनियाँ प्रायः अस्वस्थ रहने लगती है और वे दूषण से अशक्त होते रहते हैं, ऐसी शारीरिक अवस्था के समय जो सन्तान पैदा होती है वह प्रायः ऐसे ही जन्मजात दोषों से युक्त पैदा हुआ करती है। और, उनमें वंशानुगत यह रोग चलता रहता है, कारण यह है कि उनकी अस्वस्थ धमनियाँ मस्तिष्क तक उचित मात्रा में रक्त नहीं पहुँचा पातीं। ऐसे रोगी वच्चे प्रायः अर्धविकसित वुद्धि लेकर उत्पन्न हुआ करते हैं। उनमें कुछ वड़ी विचित्र अतिरंजित ऐसी आदतें विद्यमान रहती हैं कि वह पागल-सा नजर आता है। कुछ वच्चों में तो स्थूलरूप से पागलपन के लक्षण काफी हावी रहा करते हैं। यदि अस्वस्थ धमनियों के कारण दिमाग में रक्त पहुँचाने की क्रिया अस्थायी है तो ऐसे रोगी प्रायः अपनी चेतना खो दिया करते हैं और ऐंठन खाकर जमीन पर गिर जाया करते हैं।

जब वच्चेकी प्रारम्भिक अवस्था से ही या १० वर्ष बाद से मूर्च्छादि अथवा पागलपन के लक्षण नजर आवें, तो उनका आधारभूत कारण मस्तिष्क में प्रचुर मात्रा में रक्त का न पहुँचना ही हुआ करता है और यह समझ लेना चाहिए कि उनके माता-पिताओं में पारस्परिक यौन

सम्बन्धों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं रह गया है और वे स्वयं मानस-रोगों से पीड़ित हैं।

किन्तु जब २४ या २५ वर्ष की अवस्था के बाद इन रोगों का आक्रमण होने लगे तो उसके लिए उसके माता-पिता नहीं, बल्कि वह स्वयं ही अपने जघन्य कर्मों अथवा अन्य गुप्त कारणों के लिए दोषी है। ऐसी अवस्था में देखना चाहिए कि क्या उसमें पित्त की बहुत अधिक विषमता तो घनीभूत नहीं हो चुकी है? या उसमें कोष्ठबद्धता का तीव्र रूप काफी पुराने समय से तो रहता हुआ नहीं चला आ रहा है? कहीं वह सुजाक रोग अथवा गुप्त रोगों के व्रणों का तो रोगी नहीं है? कहीं वह दिन भर चाय और सिगरेट अथवा सुरापान करनेवाला व्यसनी तो नहीं है? यह भी हो सकता है कि उसमें काम-वासना प्रतिक्षण इतनी घुमड़ती रहती हो कि वह औसत स्तर से भी नीचे गिरे हुए मस्तिष्क का रोगी बन गया हो। इन सब कारणों से जब रोगी के शरीर में विजातीय विष से लिप्त पदार्थ संचित होकर सर्वाङ्ग सड़ने लगता है और स्नायु व धमनियों को अपने कुपित प्रभाव से ध्वस्त कर दिया करता है, उस अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि पक्षाघात अथवा सन्निपात आदि रोगों का वह एक स्थायी अधिष्ठान रूप रोगी बन जाय। रक्त का संचार करनेवाले कोष और केशिकाएँ उस समय तक कार्य में पूरी तरह से समर्थ नहीं हो पाते जब तक कि दोषों से थक्के बँधे हुए रक्ताणु तथा अन्य अवरोधक कारण रक्त-संचार के दबाव को प्रकृत अवस्था से हटाकर उसे बहुत शिथिल अथवा बहुत अधिक वेगवान बनाने की दुश्चेष्टाएँ करते रहते हैं। और, जब इस तनाव-भरी स्थिति के कारण मस्तिष्क की रक्त-केशिकाओं में चिन्तनीय स्थिति पैदा हो जाती है तब उन्हें मृगी रोग का प्रारम्भिक आक्रमण शुरू हो जाता है।

यहाँ पर हमने रोग के कुछ थोड़े से ही कारणों पर प्रकाश डाला है। यदि हमारा यकृत पचे हुए भोजन को उचित रूप से रक्त में परिवर्तित करने का कार्य परित्याग कर देता है अथवा हमारे गुर्दे हमारे

रक्त को शुद्ध करने का कार्य पूरी मात्रा में नहीं कर पाते, अथवा हमारे भोजन में आवश्यक मात्रा में रहनेवाले कैल्शियम में अधिक से अधिक कमी होने लगती है—इन सव अवस्थाओं में भी ये रोग प्रायः प्रकट हो जाया करते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि शुद्ध रक्त के उत्पादन में कमी अथवा उसके शुद्धिकरण में कमी अथवा कैल्शियम की कमी ये तीनों कारण बहुत लम्बे समय तक बराबर बने रहते हैं तभी मूर्च्छा जैसा रोग प्रवल होने का अवसर पा लिया करता है।

संन्यास और मृगी रोग में एक यही अन्तर है कि मृगी में तो दौर आया करती है, किन्तु संन्यास में ऐसा कुछ नहीं होता। यही कारण है कि यह रोग मृगीसे कहीं अधिक सांघातिक और वहुत भयंकर हुआ करता है। यदि मृगी रोग का दौरा शुरू होने के वाद कहीं हृदय की गति अवरूद्ध हो जाये तो उस अवस्था में अवश्य मृत्यु का सम्भावित बुलावा आ जाया करता है, लेकिन जब मस्तिष्क के अन्दर रक्त-नलिकाएँ फट जाती हैं और जिसे कि अंग्रेजी में हिमोरेज कहा गया है, तो वह भी एक प्रकार से संन्यास ही है। जब फटी हुई नलिकाओं से रक्त का प्रवाह मस्तिष्क में बहुत अधिक मात्रा में होने लगता है तो उस समय मृत्यु अवश्यंभावी हो जाया करती है और उस अवस्था में रोगी विना विलम्ब, तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो ही जाता है। पर मृगी के रोगियों में मृत्यु को सम्भावना प्रायः वहुत दूर रहा करती है। हाँ, यदि रोगी मूर्च्छित होकर पानी के अन्दर या आग पर या छत आदि से नीचे गिरने के तुल्य किसी मृत्युदायक स्थान में गिर जाता है या उसके अन्दर नियंत्रित न हो सकने को असमर्थता पैदा हो जाया करती है तो उस अवस्था में वह रोगी मृत्यु के काफी निकट पहुँच जाता है। इन सव वातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मृगी रोगियों में मस्तिष्क के अन्दर रक्त-नलिकाओं के फटने की सम्भावनाओं से होने वाली मृत्यु की आशंका प्रायः कम रहती है। जिन युवकों अथवा प्रौढ़ों में अपनी ही बुरी आदतों और बुरे स्वभाव के कारण मृगी रोग

के लक्षण दिखाई देते हैं—उनमें मस्तिष्क-ह्रास उतना अधिक नहीं हो पाता, किन्तु जब इन रोगों के कारण बहुत अधिक समय तक मस्तिष्क में श्रान्ति उत्पन्न करने का अत्याचार करते रहते हैं या वे रोगी अनेकानेक भावनाओं की पीड़ा से त्रस्त रहते हैं, तो उनमें स्मृति का ह्रास हो जाता है और वे जड़बुद्धि वनकर प्रायः निर्वीर्य मनुष्य जैसे लक्षणों से भी हावी होकर आक्रान्त रोगी वन जाया करते हैं।

उपचार : प्रातःकाल सहज वस्तिक्रिया के साथ योग-मुद्राएँ, पवन मुक्तासन, विपरीतकरणी मुद्रा, अर्धकूर्मासन आदि करना चाहिये। शौच आदि के बाद १० मिनट के लिए टब-बाथ लेना चाहिये। संख्यक १, ८ और ९ सहज प्राणायाम करना चाहिये। अग्निसार धौति संख्यक १ और २ तथा वमनधौति अथवा वारिसार-धौति के अतिरिक्त भ्रमण प्राणायाम करना चाहिए।

दुपहर में ३० मिनट के लिये टब-बाथ लेना चाहिये। साथ ही सहज अग्निसार ४० वार।

सायंकाल भ्रमण-प्राणायाम, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, सहज अग्निसार धौति ३० वार। अग्निसार धौति संख्यक १, सहज प्राणायाम संख्यक १, ३ और ९ के अतिरिक्त उड्डीयान तो करे ही, पाँच मिनट के लिये टब-बाथ भी लेना चाहिए।

भ्रमण प्राणायाम को पूरी तरह से करना चाहिए और दिन में प्रचुर मात्रा में पानी पीने का अभ्यास आवश्यक रूप से करना चाहिए।

नियम एवं आहार : जहाँ तक सम्भव हो सके ऐसे रोगियों को वलपूर्वक वैठी हुई मुद्रा में रखना चाहिए। यदि उसके दाँतों के बीच जिह्वा दव गयी हो तो उसे मुंह के अन्दर कर देना चाहिए। और तत्काल दाँतों के बीच एक भींगे कपड़े की पट्टी सरका देनी चाहिए ताकि किटकिटाते हुए दाँत जिह्वा को किसी प्रकार का नुकसान न

पहुँचा सकें। जब दौरे की अवधि समाप्त हो जाय, तो शरीर पर हथेली से काफी मालिश करनी चाहिए। इसके साथ ही रोगी की आँखों को, चेहरे को, कानों को, और गर्दन को गीले हाथ से काफी मात्रा में रगड़ना चाहिए। उसके सारे शरीर पर गीली हथेली से रगड़ने के तुल्य मालिश करनी चाहिए। इसके बाद रोगी को एक करवट से लिटा दिया जाय। इस अवस्था में रोगी के सिर के नीचे तकिया न रखा जाय। यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि यदि रोगी सो रहा है तो उसकी नींद में किसी प्रकार का विघ्न न पहुँचाया जाय। जब वह सुवह और शाम घूमने के लिए जाय तो नंगे पैर चलने का अभ्यास डालना चाहिए। यह भ्रमण आधे घण्टे से लेकर एक घण्टे से अधिक न हो। सतर्क रहें कि वह रोगी यह भ्रमण या तो घास के मैदान में करे या पक्की सड़क पर जिसके वातावरण में धुंआ या गर्द-गुब्बारा आदि न हो। यहाँ पर यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि इस भ्रमण के समय भ्रमण-प्रणायाम का क्रमशः अभ्यास करते रहना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, रोगी को खुले कमरे में रखा जाय अथवा खुले बरामदे में। इस बात की तो बहुत ही अधिक सतर्कता रखी जाय कि रोगी नियमित रूप से ठीक समय पर शौच जाय और उसका पेट अधिक से अधिक साफ होता रहे। नदी के किनारे अथवा तालाब में उसे कभी भी अकेले स्नान के लिए नहीं जाने देना चाहिए। जब तक यौगिक प्रणाली से उसकी चिकित्सा चलती रहे, उसे घी, तेल, मछली, मांस, अण्डा और गाढ़ी पकाई हुई दाल आदि कभी न दिये जायँ, इनका पूर्ण निषेध रखा जाय। पतली दाल दी जा सकती है। फल और दूध अधिक से अधिक मात्रा में भूख के अनुसार देते रहना चाहिए। बहुत ही कम मात्रा में चावल और आटे की रोटी भी उसके आहार में शामिल की जा सकती है। हाँ, रात के समय उसके आहार में जो फल दिये जायँ उनमें केले को त्याज्य रखा जाय। इस बात का ध्यान रखें कि रोगी अपने आहार में ऊपर से अधिक मात्रा में नमक न बुरकाने पाए।

सर्दी-रोग

लक्षण :—सर्दी के लक्षणों को हम सब भली प्रकार जानते हैं। नाक से श्लेष्मा का बहना, माथे का भारीपन, साधारण बुखार एवं जी मिचलाना आदि इसके मुख्य लक्षण हैं।

कारण—आम तौर पर जब पाचन-क्रिया अव्यवस्थित हो, कब्ज हो, प्रकाशहीन कमरे में रहते हों, श्वास-प्रश्वास में धूलयुक्त वायु का सेवन करते हों या फिर वर्षा में भींग गये हो तो सर्दी का प्रकोप हो सकता है। कभी ठण्ढे एवं कभी गर्म वातावरण के कारण भी सर्दी का आक्रमण होने की सम्भावना रहती है। यही सर्दी राजयक्ष्मा, परि-फुस्फुस-शोथ एवं निमोनिया आदि प्राणघातक रोगों की प्रारम्भिक अवस्था है। योग-विज्ञान के अनुसार सर्दी उनको होती है जिनकी नभः-ग्रन्थि, वायुग्रन्थि या फुस्फुस क्षीण रहते हैं। वास्तव में इन ग्रन्थियों की क्षीणता के बिना इस प्रकार की प्राणघातक बीमारियाँ उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं। रक्त के दूषित जलीय अंश से इस रोग की उत्पत्ति होती है। रक्त में विकृत लसिका की अभिवृद्धि ही रोग के कीटाणुओं के आक्रमण योग्य क्षेत्र बनाती है। साथ ही ऐसे ही स्थानों में कीटाणुओं की कई गुना वृद्धि भी होती है। ऐसी अवस्था में शरीर अपनी प्रकृति के अनुसार इन कीटाणुओं के निःसरण का भरपूर प्रयत्न करता है।

उन मनुष्यों को सर्दी बहुत कम होती है, जिनके शरीर में मुख्यतया पित्त से बनी अग्नि की सुगठित ग्रन्थियाँ होती हैं। जो आदमी पागल हैं, या जिनमें पागल होने की प्रकृति है, वे कभी सर्दी से आक्रान्त नहीं होते। कम से कम वे पागल होने से आश्वत रहें, इसके लिये वर्ष में एक-दो बार सर्दी का आक्रमण होना श्रेयस्कर है।

उपचार : प्रातः सहज वस्तिक्रिया और पूरक आसन एवं मुद्रायें। शौच के बाद सहज प्राणायाम संख्यक १, ३, ६; अग्निसार धौति संख्यक १; भ्रमण प्राणायाम।

मध्याह्न—सूर्यस्नान। सहज प्राणायाम संख्यक २, ३, ७ और ६, प्रत्येक ३-३ मिनट।

सायं—सहज प्राणायाम संख्यक १, ३, ६। शीर्षासन या सहज विपरीतकरणी, उड्डीयान आसन, भ्रमण प्राणायाम।

खुली हवा में टहलते-टहलते सुबह एवं शाम को भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। भ्रमण प्राणायाम करते समय शरीर को भली प्रकार से कपड़ों से ढक लें। गर्दन पर मफलर लपेटें तथा शिर पर भी टोपी या पगड़ी धारण करें। **भ्रमण प्राणायाम के व्यवस्थित अभ्यास से सर्दी क्या—और भी कई रोग जैसे—इन्फ्लुएंजा, तपेदिक (Pthisis), निमोनिया, टाइफाइड, श्वास, रक्त-चाप एवं यहाँ तक कि हृद्रोग भी शरीर के पास नहीं फटकते हैं।**

नियम एवं पथ्य—रोग की अवस्था में आंशिक लंघन का सहारा लेना चाहिये। भोजन के नियमित समय पर उत्पन्न होनेवाली क्षुधा के निवारण के लिये हल्का एवं सुपाच्य भोजन करें। एक-दो दिन पूर्ण विश्राम करें। सोते समय शरीर को कम्बल या रजाई से भली प्रकार ढक लें। इससे शरीर अपनी प्रकृति के अनुरूप गर्म रहेगा। गर्म पानी का सेवन करें—इससे पसीना होगा। पसीना आना सर्दी की चिकित्सा में काफी सहायक होता है, क्योंकि पसीने के माध्यम से अन्तर्विष काफी मात्रा में बाहर निकलता है।

स्नायु-दौर्बल्य

(Nervous Debility)

आधुनिक युग ने राजधानियों के टेलीफोन या टेलीग्राफ से सारे देश से सम्पर्क बना रखा है। ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर में स्नायुएँ कार्य करती हैं। शरीर की राजधानी से सारा शरीर स्नायुओं के जाल से जुड़ा हुआ है। इन स्नायुओं के माध्यम से ही मस्तिष्क शरीर के सभी

अंगों को प्राशासनिक आदेश देता रहता है। एक दूसरे प्रकार की स्नायुएँ मस्तिष्क को खतरे की सूचना तुरन्त देती हैं। इन दो तरह की नसों का नाम Efferent Nerves एवं Afferent Nerves है। एक प्रकार का ऐसा स्नायु-समूह है जो सुरक्षित सेना की तरह खतरे के समय काम आता है। जब कभी एक पागल हाथी हमारे पीछे दौड़ता है तब हम आत्मरक्षार्थ दौड़ पड़ते हैं। इस प्रकार दौड़ते समय फुस्फुस, हृदय एवं हमारे शरीर की सभी मसलों को अधिक कार्य करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में अतिरिक्त शक्ति सभी अंगों को पहुँचाना इन्हीं स्नायुओं का काम है। आयुर्वेद के मतानुसार स्नायु को नाड़ी कहा जाता है। इन स्नायुओं के माध्यम से खतरे की सूचना मिलने पर पेट में पाचन-क्रिया बन्द हो जाती है एवं पसली एवं हृदय को सीधा रक्त पहुँचने लगता है और हम तेजी से दौड़ने लगते हैं। सभी स्नायुओं का हमारे शरीर में पृथक्-पृथक् कार्य है। शरीर के सभी अंग इन स्नायुओं से जुड़े रहते हैं एवं कार्य करते रहते हैं। अगर ये स्नायु कमजोर हो जायें तो शरीर भली प्रकार कार्य नहीं कर सकेगा। शरीर की सक्रियता नष्ट हो जाती है। स्नायु-दौर्बल्य का रोगी शिथिल होकर अज्ञानावस्था में गिर पड़ता है। इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं—अचानक गिर पड़ना, शरीर के किसी विशिष्ट हिस्से का चेतनाहीन होना या आँखो में चकाचौंध हो जाना।

कारण—हमारे हाथ-पैरों की चलता-फिरता रखने के लिये स्नायु-मण्डल सारा दिन व्यस्त रहता है। जब रात को हम सोते रहते हैं तभी ये भी आराम करती हैं। आराम करने से इनमें शक्ति पुनः पैदा होती है एवं आराम के वाद पुनः काम में जुट जाती हैं। अगर कई रात भली प्रकार नींद न आवे तो वे भी शिथिल हो जाती हैं।

स्थायी अपचन या अम्लता की बीमारी के कारण शरीर में विष एकत्रित होता जाता है और रक्त को भी दूषित कर देता है। इस प्रकार दूषित रक्त से स्नायु पुष्ट नहीं हो पाती एवं कमजोरी होती जाती

है। रक्तालपता की अवस्था में भी ऐसा ही देखा गया है। अधिक स्त्री-प्रसंगादि के फलस्वरूप भी स्नायु निर्बल हो जाती है। इसके अतिरिक्त, कोष्ठबद्धता, मलेरिया और उपदंश आदि रोगों के फलस्वरूप भी रक्त विषाक्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप भी स्नायुदुर्बलता की बीमारी हो जाती है।

चिकित्सा के लिये स्वप्नदोष का प्रकरण देखिये।

नियम एवं पथ्य—रक्तालपता के प्रकरण में लिखे गये नियम एवं पथ्य का पालन करें। यह रोग बढ़कर उन्माद आदि रोगों में परिवर्तित हो सकता है।

स्वप्न-दोष

(Wet Dreams)

आधुनिक औषधि-विज्ञान एवं पाश्चात्य काम-विज्ञान का यह मत है कि प्रत्येक मास में दो, तीन या चार बार अविवाहित युवकों के लिये स्वप्नदोष होना उतना ही स्वाभाविक है जितना स्त्रियों में मासिक धर्म होना। लेकिन यौगिक मत के अनुसार यह स्वाभाविक नहीं, एक प्रकार का रोग है। इसकी चिकित्सा यौगिक उपायों से हो सकती है। बंगला पुस्तक 'ब्रह्मचर्य और छात्र-जीवन' में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है।

दिन के समय निद्रा या अर्ध निद्रावस्था में स्खलन होना या एक रात में दो बार होना। अगर दूसरे दिन प्रातः शारीरिक कमजोरी, माथा चक्कर खाना, सुस्ती जान पड़ती हो, अगर इस प्रकारके स्खलनोंकी संख्या बढ़कर एक मास में ५-६ या इससे अधिक हो जाये, अगर रात को प्रगाढ़ नींद न आती हो या स्नायविक उत्तेजना का अभाव हो तो यह समझना चाहिये कि रोग चिकित्सा से परे है—असाध्य है।

कारण—इस रोग के प्रमुख कारण हैं—अस्वाभाविक उपायों से जैसे—हस्तमैथुन, समलिंगिक मैथुन, (किशोरावस्था में) शुक्र का नष्ट करना। जिस प्रकार दधि-मंथन से मक्खन उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रक्त से शुक्र की उत्पत्ति होती है। मक्खन के समान ही शुक्र हमारे रक्त का सार-पदार्थ है। जिस प्रकार छाछ निःसार है, उसी प्रकार शुक्रहीन रक्त भी सार-रहित होता है। इस रक्त से शरीर का समुचित पोषण हो सकता है—यह आशा करना व्यर्थ है। इस रक्त से साधारण स्वास्थ्य भी स्थायी नहीं रह पाता। अतएव २५ वर्ष की अवस्था के पूर्व युवकों द्वारा अस्वाभाविक रूप से इस मुख्य पदार्थ का अपव्यय का परिणाम भयानक है। कुसंग या इस आदत के परिणामों की विना जानकारी से लड़के एवं युवक हस्तमैथुन आदि करते हैं एवं इसके परिणाम भोगते हैं—पश्चात्ताप करते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो व्यक्ति कम उम्र में विवाह कर अत्यधिक मैथुन करते हैं, उन्हें इस गन्दी बीमारी का शिकार होना पड़ता है।

इस प्रकार की गन्दी आदतों से बचे हुए युवक भी, जो कामाचारी नहीं हैं, जिनका चरित्र निष्कलंक है, उन्हें भी कभी-कभी यह बीमारी हो जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनके माता-पिता रोगी हैं और उनकी प्रजापतिग्रन्थि और अन्य कामग्रन्थियाँ कमजोरी होती हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि शरीर के निर्माण में शुक्र महत्वपूर्ण द्रव्य है। इसी के सहयोग से शरीर के अवयव पोषित होते हैं एवं उनकी उन्नति होती है। शरीर के निर्माण की इस क्रिया के फलस्वरूप शुक्र का उपभोग नहीं रह जाता है। जिस प्रकार इंजिन में से तेल निकलता है उसी प्रकार यह शुक्र भी विना उपयोग पड़ा रहता है और स्वप्न में निकल पड़ता है। यही कारण है नवयुवकों को स्वप्नदोष के फलस्वरूप जो महीनों में १-२ वार हो जाया करता है—कुछ भी कमजोरी नहीं मालूम होती है। वल्कि युवकों के शरीर एवं चरित्र-

निर्माण की दृष्टि से यह आवश्यक है। युवक में—इस प्रकार से निःसृत एकत्रित वीर्य—उनके काम सम्बन्धी विचारों को कम करता है।

कोष्ठबद्धता या पेट खराब होने के फलस्वरूप शुक्र ऊपर की तरफ नहीं जा सकता है एवं रक्त में मिल जाता है। यही कारण है कि कोष्ठ-बद्धता या उदारमय को अवस्था में वीर्य नीचे की ओर बहकर निकल जाता है।

उपचार : प्रातः पूरक आसन एवं मुद्राओं के साथ सहज वस्ति-क्रिया का अभ्यास करें। निःसारण एवं स्नान के समय मूलबन्ध मुद्रा, महाबन्ध मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, अग्निसार धौति सं० १ और २ का अभ्यास करें। सहज प्राणायाम सं० ६ ७ और ६ तथा भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें।

मध्याह्न : १०-१५ मिनट तक टब स्नान करें। प्रातःकाल की भाँति ही टब-स्नान के समय मूलबन्ध मुद्रा आदि का अभ्यास करें।

सायंकाल : मूलबन्ध, महाबन्ध, शक्तिचालिनी, उड्डीयान, शीर्षासन, सहज अग्निसार, शयन पश्चिमोत्तान, हलासन, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, सहज प्राणायाम सं० ६, ७, ६ या भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें।

नियम एवं पथ्य : दिन के समय न सोवें। अगर भोजन के बाद थकावट महसूस हो तो शवासन में आराम करें। दिन के समय सोने से रक्त कुपित हो जाता है एवं स्वप्नदोष में मदद मिलती है। दिनमें सोनेसे रात को प्रगाढ़ निद्रा आने में बाधा होती है और स्वप्नदोष होते हैं रात्रि के शेष काल में या प्रातःकाल में सुस्ती छोड़कर बिछौना छोड़ दें।

युवकों के विचार क्षणिक होते हैं। अगर निद्रा प्रगाढ़ नहीं है तो स्वप्नदोष होना स्वाभाविक है। अगर विचारों में उत्तेजना हो तो भी स्वप्नदोष होना स्वाभाविक है। अतएव उठने के बाद दुबारा न सोवें और यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करें।

रात्रि में भोजन के एक घण्टा बाद सोवें। सोने के पूर्व हाथ-पैरों को धोवें, एक ग्लास ठण्डा पानी पीवें एवं भगवानका ध्यान कर सोवें।

रात्रिकालीन भोजन ६ बजे के पूर्व करें । रात्रि में देर से भोजन की अपेक्षा उपवास करना उत्तम है। प्रायः कोष्ठबद्धता के फलस्वरूप स्वप्नदोष होता है। रात्रि में मांस, अण्डे आदि दुष्पाच्य द्रव्यों के सेवन से कोष्ठबद्धता होती है। अतएव स्वप्नदोष के रोगी को कब्ज करनेवाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। थोड़ा भात, २-३ फुलके, काफी मात्रा में शाक-सब्जी, एक बार उबाला हुआ शुद्ध-दूध आदर्श भोजन है।

हृदय-रोग

(Heart disease)

लक्षण : इस रोग से आक्रान्त रोगी के शरीर की गठन साधारणतः मजबूत होती है। लेकिन हृदय की गति अस्वाभाविक, असंगत या जोर-जोर से सुनने लायक हो जाती है। छाती के वायें हिस्से हृदय के स्थान के आस-पास दर्द होने लगता है ।

कारण : *'दूषयित्वारसं दोषा विगुणा हृदयं गता हृदि बाधा प्रकुर्वन्ति हृद-रोग तं प्रचक्षते।'* अर्थात् किसी रोग का विष या अन्य विकृत पदार्थ शरीर में एकत्रित होकर रस आदि जैसे रक्त को दूषित वना देते हैं। यह दूषित रस हृदय में प्रवेष कर हृदय की साधारण गति में बाधा पहुँचाता है। इन्हीं सब कारणों से हृद-रोग की उत्पत्ति होती है। विकृत पदार्थ के शरीर में एकत्रित होनेके जिस प्रकार वहुत से कारण हैं, उसी प्रकार हृदय-रोग भी एक-दो नहीं बल्कि कई कारणों से होता है।

एक छोटा इंजिन बड़ी फैक्ट्ररियों को गति प्रदान करता है। अगर इंजिन में या इंजिन से सम्बन्धित किसी यन्त्र में दोष है तो, यन्त्र-समूह भली प्रकार कार्य नहीं कर सकता, या स्वयं इंजिन की गति ही अनियमित हो जाय। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण कारखाने का काम स्थगित हो सकता है। हमारे शरीर में स्थित ५ इंच लम्बा और ३$\frac{5}{2}$

इंच चौड़ा हृदय ही मुख्य इंजिन है जो हमारे ६३ इंच लम्बे शरीर को गति प्रदान करता है। हमारे शरीर रूपी कारखाने के प्रत्येक अवयव का इस हृदय रूपी इंजिन से सम्पर्क बना हुआ है। ऊपर से मस्तिष्क से लेकर नीचे पैरों की अंगूठे तक यही हृदय, रक्त उसी प्रकार पहुँचाता है जिस प्रकार आधुनिक पम्प मशीन शहर की गली-गली या मकान की छत तक जल वितरण करता है। हृदय द्वारा प्रवाहित होनेवाले इस रक्त से पोषण प्राप्त कर हमारा सम्पूर्ण शरीर भली प्रकार कार्य करता है हृदय में अशुद्ध खून को शुद्ध करने की व्यवस्था मौजूद है। ऐसा मालूम होता है मानो हृदय पम्प हों। इस कार्य के सम्पादन के लिये हृदय २ कक्ष में विभाजित है। दाहिने हिस्से का कक्ष अशुद्ध खून को फुस्फुस में स्थानान्तरित करता है। कार्बन डाइ आक्साइड या इसके जैसी अन्य विषाक्त गैस जो रक्त में मिली रहती है। फुस्फुस द्वारा श्वास के जरिये पृथक कर ली जाती है। आक्सीजन के सहयोग से फुस्फुस ही दूषित रस को भी साफ करता है एवं इसे बाहर निकालने की व्यवस्था करता है। प्रत्येक श्वास के साथ प्राप्त हुई आक्सीजन से यह शुद्ध किया हुआ रक्त क्रमशः सजीव हो उठता है। यह रक्त रक्तवाहिनियों द्वारा बायीं तरफ के कक्ष में पहुँचाया जाता है। शुद्ध रक्त ही हमारे सम्पूर्ण शरीर के सभी अंगों का मुख्य भोजन है; शरीर को कार्यशील रखने की शक्ति का मूल स्रोत है। पृथक-पृथक रोगी के प्रकरण में इस क्रिया को सविवरण समझाया गया है।

हमारे शरीर के किसी अंग को अगर शुद्ध रक्त प्राप्त न होगा तब या तो वह अंग अशक्त हो जायगा या सड़ कर खराब हो जायेगा। अगर हम अपनी अंगुली की जड़ में इस प्रकार धागा बाँध लें कि इसे रक्त का प्रवाह न प्राप्त हो सके, तो चन्द दिनों में ही अंगुली सड़ जायगी। इस छोटे से उदाहरण से हम भली प्रकार समझ सकते हैं। कि हृदय का हमारा शरीर के प्रति कितना दायित्व है और हमारे शरीर में शुद्ध रक्त का अविरल प्रवाह कितना आवश्यक है।

भोजन के पाचन के समय रक्त की पेट को काफी अधिक मात्रा में आवश्यकता रहती है। रक्त में एक प्रकार का पाचक रस रहता है जो ग्रन्थियों के आभ्यन्तरिक रस में एकत्रित रहता है। रक्त-कोषों से प्रवाहित होने वाले इसी पाचक की सहायता से पेट में भोजन पचता है और साथ ही रक्त के अम्ल एवं क्षार पदार्थों की मात्रा को आवश्यक सीमा के अन्तर्गत रखता है। अगर हमारा भोजन संयम से न होगा, मांसाहारी भोजन का लगातार सेवन करेंगे या अनावश्यक या अधिक भोजन कर पेट पर अधिक भार देंगे तव हृदय को अधिक कार्य करने के लिये यानि इन सब वस्तुओं को पचाने के लिये पेट को रक्त अधिक मात्रा में देना होगा। इस प्रकार लगातार अधिक परिश्रम करने के फलस्वरूप हृदय की अपनी शक्ति में क्रमशः ह्रास होता जायेगा। कालान्तर में परिणाम यह होता है कि हृदय रोगी हो जाता है। परिश्रम न करने वाले जिह्वा लोलुप व्यक्ति भूख के अभाव में भी भोजन करते हैं या साधारण भूख होने पर आवश्यकता से अधिक खाते हैं। इन्हीं सब कारणवश उनके पेट को अधिक कार्य करना पड़ता है और वह फूल जाता है। एक जालीनुमा पतली दिवाल इस बढ़े हुए पेट को हृदय से पृथक करती है। अधिक परिश्रम के फलस्वरूप वढ़ा हुआ पेट, हृदय पर दवाव डालता है। आयुर्वेद की भाषा में यह कहा जाता है— **"हृदवाधा प्रकुर्वन्ति"** यानि हृदय के कार्य में पेट वाधा उपस्थित करता है। अतएव, भूख के अभाव में भोजन करना या अधिक मात्रा में भोजन करना हृदय-रोग के कारण है।

अंत्र समूह में विद्यमान मल कोष्ठवद्धता के फलस्वरूप एक प्रकार की सड़न पैदा कर देता है जिससे रक्त विकृत हो जाता है। विषाक्त रक्त में स्थित कीटाणु हृदय की मुलायम एवं सूक्ष्म मसल (Muscle) को कमजोर वनाता है। इस प्रकार प्रभावित हुआ हृदय का निश्चित भाग न तो शुद्ध रक्त प्राप्त कर सकता है और न अशुद्ध रक्त दे ही सकता

है। इस प्रकार हृदय के नियमित कार्य में अव्यवस्था हो जाती है। सारांश यह है कि हृदय रोग के कारणों में कोष्ठबद्धता भी है।

क्रोध के समय हमारे शरीर की शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार के अवसरों पर हमारा चेहरा, आँखें आदि लाल हो जाती हैं। हृदय को भी ऐसे अवसरों पर रक्त अधिक मात्रा में देना पड़ता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों का जो स्वभाव से चिड़चिड़े हों या जरा-सी बात पर क्रोध करते हों उनका हृदय इन अवसरों पर अधिक काम करने के फलस्वरूप क्रमशः निर्बल हो जाता है। इस प्रकार अत्यधिक क्रोधी होना भी हृदय रोग के कारणों में से एक है।

संभोग के समय भी हृदय को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है। यही कारण है कि इस रोग के अन्य कारणों में से विषय-भोगी होना भी एक कारण है।

भारत जैसे उष्ण प्रधान देश में जो मछली, अंडे, माँस या अन्य गरिष्ठ भोजन जैसे घी, मक्खन, छीना आदि रोज खाना और वह भी ५० वर्ष की उम्र के बाद खाना रक्त के क्षारीय अंश को कम कर देता है और रक्त की अम्लता बढ़ जाती है। फल यह होता है कि हृदय निर्बल होकर रोगी हो जाता है।

शरीर में मेद (चर्बी) अधिक एकत्रित हो जाने से हृदय को क्रियाशील रखनेवाली स्नायुओं में इसका जमाव होने लगता है और हृदय के नियमित स्पन्दन में बाधा होने लगती है। इस प्रकार हृदय अपना प्राकृतिक कार्य नहीं कर पाता है। हृदय रोग का कारण—अत्यधिक मेद (चर्बी) जमना भी है।

अत्यधिक चाय, काफी, तम्बाकू, सिगरेट, शराब, अफीम आदि के सेवन से स्नायु, रक्तवाहिनी नसें एवं ग्रन्थियाँ निर्बल हो जाती हैं। इसका प्रभाव हृदय पर भी होता है। इसलिये मादक द्रव्यों का सेवन भी हृदयरोग के कारणों में से एक है।

रक्तचाप, वेरी-बेरी, निमोनियाँ, जलोदर, वात, उपदंश, यक्ष्मा आदि का परिणाम भी हृदयरोग हो सकता है।

चिकित्सा :— प्रातः—सहज वस्तिक्रिया (हृदयरोगी को अधिक जल एक साथ पीना निषेध है। इसलिए उसे १० औंस से अधिक पानी एक बार में नहीं पीना चाहिये। पानी भी साधारण गर्म एवं नींबू का रस मिला हुआ होना चाहिये।) ; योग मुद्रा—४ वार, विपरीत करणी या सहज विपरीत करणी मुद्रा—२ मिनट तक ; पवन मुक्तासन—४ वार, सहज प्राणायाम नं० १, २, ३, निःसारण एवं धोने की क्रिया करें ; टब स्नान १५ मिनट तक करें ; भ्रमण प्राणायाम—६ मिनट तक।

मध्यान्ह टब स्नान—३० मिनट तक, टब में सहज प्राणायाम नं० २, ८, अग्निसार धौति नं० १-१० वार।

अपरान्हः—टब स्नान—५-६ मिनट तक, भ्रमण प्राणायाम। सायं—सहज विपरीत करणी, पवन मुक्तासन, सहज प्राणायाम नं० १, २, ३, अग्निसार धौति नं० १-१० वार ; सहज अग्निसार, —३० बार।

रोग शान्त होने के वाद क्रमिक विकास के अभ्यास करें। हृदयरोग के आक्रमण के समय चूँकि पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है अतएव योगाभ्यास न करें।

पानी पीने के उपरोक्त नियमों का उपयोग किया जा सकता है।

नियम एवं पथ्य : इस रोग के आक्रमण के समय शवासन की तरह चित्त लेट जावें, सारे शरीर को पूरा आराम दें। उसके वाद श्वास-प्रश्वास को थोड़ा लम्बा करने का प्रयत्न करें। इससे तकलीफ शीघ्र कम होगी और आराम महसूस होगा। इस अवस्था में एक गीला कपड़ा छाती पर रखें। १५-२० मिनट वाद कपड़े पर थोड़ा पानी छिड़क दें ताकि कपड़ा गीला बना रहे। भींगे हुये तौलिये की ठण्ड से हृदय की गति कम होगी।

इस रोग के आक्रमण की अवस्था गुजर जाने के उपरान्त आप उठ बैठिये या मसनद के सहारे अपनी ईच्छानुसार लेटिये। आक्रमण के दौरान में मल-मूत्र त्यागने के लिये आप कमरे से बाहर न जावें। बिछौने में Bed-pan के सहारे मल-मूत्र त्याग करें। २-४ घन्टे बाद तक आप घर में ही आराम करें। हृदय की बीमारी जिन व्यक्तियों को है उन्हें अधिक श्रम का कार्य नहीं करना चाहिये। साधारण परि-श्रम के काम के अतिरिक्त कुछ न करें। थोड़े परिश्रम का कार्य करने के बाद भी शरीर को शवासन की तरह आराम देना चाहिये। बिछौने पर कुछ समय के लिये आराम करना चाहिये। इस प्रकार दिन में आप जब कभी भी परिश्रम का कार्य करें उसके बाद लेट कर आराम अवश्य करें। पेट साफ रखने का विशेष ध्यान रखें (इस विषय में कोष्ठबद्धता का प्रकरण देखिये);

अधिक कार्य करने के फलस्वरूप जब तक पेट का आकार बढ़ नहीं जाता है तब तक हृदयरोग नहीं पैदा होता है। इसलिये यह कहा जाता है कि रोगी को एक बार भी अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। शाम के समय आवश्यक हो तो दूध एवं फल के साथ साधारण नाश्ता करें। रात के समय दूध और फल (केले छोड़ कर) के आलावा कुछ भी नहीं खाना चाहिये। जो व्यक्ति दूध नहीं पचा सकते हैं उन्हें छाछ का सेवन करना चाहिये। नाश्ते के समय नींबू के रस के शर्बत आदि लेवें, कुछ खट्टे या मीठे फल भी खाये जा सकते हैं। शारांस यह है कि ठोस भोजन न करें।

हैजा अथवा विसूचिका

लक्षण—सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः।
यस्याजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥

अर्थात्—अजीर्ण के लगातार रहने के फलस्वरूप वायु कुपित हो जाती है एवं स्नायुओं में सुई की चुभन-जैसी एक विचित्र प्रकार की

प्रतीति हुआ करती है। इसके साथ कभी-कभी उदरामय (Diarrhœa) भी हो जाता है ; और इसलिये आयुर्वेदिक चिकित्सकों ने इसका नामकरण किया—विसूचिका ; अर्थात् साधारण रूप का हैजा। प्रारम्भिक अवस्था में मल के साथ पित्त मिला हुआ निकलता है ; शरीर के नाभिप्रदेश में काफी वेदना, तृष्णा एवं पेट में मरोड़ होते हैं। रोगी इस अवस्था में पूर्णरूपेण न तो चेतनाशून्य होता है और न ही शक्तिहीन।

कारण—*न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।*
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः॥

संतुलित भोजन करनेवालों को यह रोग कम होता है। भोजन के विषय में जिनका अपने आप पर वश नहीं है और इस विषय में जो अनजान हैं, आमतौर पर वे ही इस रोग के शिकार होते हैं।

पश्चिमी औषधि-विज्ञानके अनुसार एक प्रकारकी वेसीली (कोमा) नामक कीटाणु, हैजे का मूल कारण है। "रोग के कारण कीटाणु हैं"—इस सिद्धान्त को आयुर्वेदज्ञ नहीं मानते। उनके अनुसार एक, दो या तीनों दोषों (अर्थात् वात, पित्त, कफ) का एक साथ दूषित होना, शरीर को रोगों के आक्रमण होने योग्य बना देता है और फलतः कीटाणुओं के आक्रमण का भय वना रहता है।

वास्तव में अनपच्चा भोजन और दूषित मल जब आँतों में जम जाते हैं तो उससे स्वाभाविक रूप से एक प्रकार की गैस पैदा होती है। इस गैस के प्रभाव से रक्त एवं शरीर के अन्य अंग दूषित एवं बलहीन हो जाते हैं। इस प्रकार आँतों में रोग के कीटाणुओं को अबाध रूप से बढ़ने का सुयोग मिलता है। शारीरिक प्रकृति द्वारा इस एकत्रित मल का उल्टी और दस्त द्वारा निःसरण होता है।

उपचार : सहज अग्निसार—५० से १०० वार। अग्निसार धौति संख्यक १ को १ से १५ वार, संख्यक २ को ५ बार, तीन घण्टे के अन्तर से।

नियम एवं पथ्य—रोगी को पूर्ण विश्राम एवं सफाई की आवश्यकता है। जो रोगी बैठने में असमर्थ हैं वे अग्निसार का अभ्यास लेट कर ही करें। हमारा यह सिद्धान्त नहीं है कि रोगियों को पीने के लिए पानी न दिया जाये। यह अमानवीय एवं निर्मम व्यवहार है। गर्म जल के साथ साधारण मात्रा में निर्यास देना चाहिये। रोगी के माँगने पर थोड़ा-थोड़ा नमक एवं नींबू का रस दें। यह शक्तिवर्धक है। इसके द्वारा एकत्रित मल की सफाई भी होती है। रोग की अवस्था में खाने-पीने के लिए इसके अलावा अन्य कुछ भी न दें। रोग के ठीक होने का लक्षण क्षुधा की अनुभूति है। साफ एवं स्वच्छ प्रकार से तैयार कर डाभ एवं नींबू का पानी एवं संतरे आदि देना लाभदायक है।

रोगावस्था में शरीरके मुख्य द्रव पदार्थ रक्त एवं सीरम (serum) की कमी होनेसे एक चिन्तनीय प्रश्न उपस्थित होता है; सुरक्षा के लिए रोगी को कुछ अधिक दिनों तक भूखा रखा जाता है। भोजन में कुछ दिनों तक काफी कड़ाई बरतनी चाहिये। नींबूका रस, फल और निर्यास एवं इसके बाद बार्ली, साबू, दूध और फल आदि क्रमशः एवं सावधानी से प्रारम्भ करने चाहिये। अधिक कमजोरी रहनेपर रोगी सहज अग्निसार, अग्निसार धौति, सहज प्राणायाम संख्यक २ और ३ एवं सम्भव हो तो भ्रमण-प्राणायाम का अभ्यास करें। इनसे शीघ्र ही लाभ होगा एवं शरीर की जो क्षति हुई है, वह भी पूरी होगी। ये सब व्यवहार में लाये गये परीक्षित उपाय हैं। इन्हें निःसंकोच व्यवहार में लाया जा सकता है।

हमारे द्वारा आविष्कृत सहज अग्निसार-क्रिया का जो बीच-बीचमें व्यवहार करते रहते हैं, उन पर हैजे का आक्रमण नहीं हो पाता। वास्तव में हैजे के टीके (इंजेक्शन) के बदले सहज अग्निसार क्रिया का ही प्रचार होना उचित है।

हैजा (गम्भीर)

लक्षण :—साधारण एवं गम्भीर हैजे में अन्तर होता है। गम्भीर हैजे में वमन एवं दस्त बराबर होते हैं। इसके अलावा नाभि-प्रदेश में वेदना का अभाव, शौच के साथ पित्त के स्थान पर धोवन जैसा पानी निकलना, पेट में मरोड़ की जगह हाथ-पाँव में बग्घा, दस्त के समय मूत्र का अभाव, शीत-प्रतीति, पसीना आना, आँखें धँस जाना, क्रमशः अचेतन होना, नाड़ी एवं आवाज का क्रमशः मन्द होना आदि हैजे की गम्भीर अवस्था के लक्षण हैं। कहीं-कहीं चिन्तनीय अवस्था में जीवनी शक्ति के १ घण्टे में ही ह्रासके उपरान्त रोगी मरणासन्न हो जाता है।

उपचार—इस प्रकार की चिन्ताजनक अवस्था में 'योग' से विशेष लाभ की आशा नहीं करनी चाहिये। डाक्टरों की खोज भी सगे-सम्बन्धी मानस-तुष्टि के लिए करते ही हैं। यहाँ एक बात यह ध्यान देने योग्य है—यौगिक चिकित्सा बीमारी की जड़ पर आघात करती है, जो समय-साध्य है। रोगी की मरणासन्न अवस्था में यौगिक चिकित्सा से चमत्कार सम्भव नहीं होगा। उस अवस्था में रोग के अनुरूप शक्तिशाली उपाय (अगर कुछ हो तो) की आवश्यकता है।

पंचम परिच्छेद

आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम

योग-शास्त्र में आसन और मुद्राओं के गुणों का काफी वर्णन है। सिर्फ अकेले सर्वाङ्गासन के लिये ही कहा गया है कि इसके अभ्यास से सभी रोग जैसे—अपचन, अम्लता, अर्श, प्लीहा के रोग, कुष्ठ, यकृत के रोग, श्वास, राजयक्ष्मा, स्नायु-दौर्बल्य, मधुमेह, प्रदर, गर्भाशय का स्थान-भ्रष्ट होना आदि दूर होते हैं। इसी प्रकार उड्डीयानबन्ध मुद्रा की प्रशंसा में भी कहा गया है कि यह सभी प्रकार की शारीरिक व्याधियों को दूर करने में समर्थ है। इसे 'मृत्युमातंगकेशरी' के नाम से भी पुकारा गया है। अन्य आसन एवं मुद्राओं की भी इसी प्रकार प्रशंसा की गई है। वास्तव में यह अतिशयोक्ति नहीं है। **हमें याद रखना चाहिये कि एक आसन या मुद्रा के अभ्यास से कोई भी रोग दूर होनेवाला नहीं है अतएव यह आंशिक मदद ही है।**

किसी एक अंग या ग्रन्थि के दोषी होने से ही कोई बीमारी उत्पन्न नहीं हो सकती है। रोग तभी उत्पन्न होते हैं जब कि शरीर की प्रायः सभी ग्रन्थियाँ या रक्तवाहिनी नसें दोषी हों। जब एक ग्रन्थि अपने सहयोगी की कमी की पूर्ति नहीं कर पाती तब सम्मिलित प्रयास भी विफल हो जाते हैं, सभी ग्रंन्थियां रोगी होकर बेकार हो जाती हैं और रोग के कीटाणु एकत्रित होने लगते हैं, संख्या में बढ़ते हैं एवं शरीर में चारों तरफ फैल जाते हैं। **अतएव कोई भी बीमारी स्थान-विशेष को**

प्रभावित नहीं करती है बल्कि सारे शरीर के संकट की द्योतक है। यही कारण है कि कोई भी एक आसन या मुद्रा एक बीमारी को पूर्णरूपेण दूर नहीं कर पाती। इन्द्रग्रन्थि स्वाभाविक रूपेण रोगी हो जायगी अगर वायु की ग्रन्थियाँ (फुस्फुस, हृदय आदि) रक्त शुद्ध करने और ग्रन्थियों के लिये पोषक तत्त्व के रूप में वदलने के लिये समुचित मात्रा में आवश्यक ऑक्सीजन नहीं देंगी। इसके फलस्वरूप अग्नि की ग्रन्थियों (जैसे—यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय आदि) में भी कमजोरी हो जायेगी। इसके कारण कई प्रकार के रोग हो सकते हैं। शरीर के सभी अवयव आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे को सक्रिय सहयोग देते रहते हैं। अतएव जब तक, शरीर के सभी अंग ठीक प्रकार से कार्य न करने लग जायें, रोग का निर्मूल होना असम्भव है। अगर ग्रन्थियों के सातों केन्द्र भली प्रकार कार्य करने लगें, शरीर के सभी भाग, स्नायु, नाड़ी मसल, कोष, तन्तु आदि सभी ठीक प्रकार कार्य करेंगे तभी रोग होने की सम्भावना दूर होगी।

हमने इस अध्याय में उन्हीं आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम, धौति और वस्ति आदि की चर्चा की है जिनसे इन ग्रन्थियों को वल मिलता है और रोग दूर होते हैं। **इसमें नाममात्र का संशय नहीं कि इन सिद्धान्तों एवं तरीकों का पालन करनेवालों को रोगमुक्त जीवन, सदृढ़ स्वास्थ्य एवं शतायु होने का वरदान मिलेगा।**

आसन और मुद्राएँ

आसन : दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के आसन वे होते हैं जिनकी मुद्रा ध्यानस्थ होती है। ये पूर्ण स्वास्थ्य के लिये उपयोगी हैं। ये आसन ध्यान आदि आरामपूर्बक करने के लिये उपयोगी हैं। 'ध्यान' आत्म-ज्ञान की ओर जानेवाली पहली सीढ़ी है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिये उपयोगी मुद्राओं का विशिष्ट उद्देश्य है शरीर के रासायनिक सन्तुलन को कायम रखना एवं उसकी रोग से रक्षा करना। यहाँ हमने सिर्फ उन्हीं मुद्राओं की चर्चा की है जिनका उद्देश्य स्वास्थ्य-रक्षा है।

मुद्राएँ : शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक बहुत-से आसन हैं। रीढ़ की हड्डी को मुलायम एवं लचीली बनाने के लिये स्नायु एवं मसल को सुदृढ़ बनाये रखना आसनों का मुख्य उद्देश्य है, जब कि मुद्राएँ ग्रन्थियों को स्वस्थ एवं ठीक प्रकार कार्य करने योग्य अवस्था में बनाये रखती हैं। स्वास्थ्य-रक्षा में, स्नायु एवं मसल की अपेक्षा इन ग्रन्थियों का दायित्व अधिक है। इनमें से वे ग्रन्थियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनसे रसमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन ग्रन्थियों से प्राप्त होनेवाले रस के अभावमें शरीर निर्बल, अशक्त और रोगी होकर अकाल मृत्यु को प्राप्त करता है। यही रस रक्त में मिलकर शरीर को सुन्दर स्वास्थ्य बनाता है एवं उसकी रोग से रक्षा करता है। इस रक्त का सार पदार्थ शरीर के सभी यन्त्रों को कार्य करने में सहायता पहुँचाता है। अतएव सुदृढ़ शारीरिक स्वास्थ्य एवं मस्तिष्क संतुलन के लिये मुद्राओं के अभ्यास से काफी मदद मिलती है।

स्वास्थ्यवर्धक आसनों का अभ्यास बच्चे भी कर सकते हैं। उनके लिये योगमुद्रा वर्जनीय है। बच्चे अन्य मुद्राओं का अभ्यास कर सकते हैं। जो लड़कियाँ ऋतुमती होती हैं और ११ वर्ष से अधिक की आयु के लड़के (उष्ण-प्रधान देशों में एवं शीत प्रधान देशों में १२ वर्ष) मुद्राओं का अभ्यास कर सकते हैं।

मुद्राओं के अभ्यास से इन्द्रग्रन्थि और कामग्रन्थियाँ पुष्ट होकर क्रियाशील होती हैं। ग्रन्थियों को कृत्रिमरूप से पुष्ट न करने से साधारण स्वास्थ्य एवं मस्तिष्क के सन्तुलन में बाधा होती है। अतएव वयस्क न होने तक उन्हें मुद्राओं का अभ्यास न करावें।

अंगुष्ठासन

क्रिया : पाँव सामने फैलाकर बैठ जावें। अपने दोनों हाथ बगल में जमीन पर नितम्बों के पास रखें। इस अवस्था में हाथों के सहारे कोहनी तक शरीर को उठावें ताकि समूचा भार हथेली एवं अंगुलियों पर रहे। पाँवों को पृथ्वी के समानान्तर सीधा रखें। इस अवस्था में १५-२० सेकेण्ड रहकर धीरे-धीरे जमीन पर आ जायें। एक क्षण विश्राम करें और इसी प्रकार ३-४ वार दोहरावें।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से सम्पूर्ण शरीर की स्नायु एवं ग्रन्थियाँ पुष्ट होती हैं। हाथ एवं पैर काफी सबल होते हैं—हाथ एवं पाँवों की गठिया, कोष्ठवद्धता दूर होती है। विद्यार्थी एवं विद्यार्थिनियों को इसके अभ्यास से विशेष लाभ होगा।

अर्धकूर्मासन

क्रिया : वज्रासन में बैठें। हाथों को ऊपर ले जाकर हथेलियाँ आपस में मिला लें। कमर से ऊपर के हिस्से को सामने की ओर झुकावें ताकि सिर जमीन को छूने लगे। धीरे-धीरे श्वास लेते रहें। इसी प्रकार कुछ सेकेण्ड तक विना श्वास लिये रहें। साँस लेते हुए शरीर को ऊपर करें। इसे ५-६ वार करें।

उपयोग : इससे भूख वढ़ती है, पेट की नसें एवं ग्रन्थियाँ सबल होती हैं, पेट की चर्बी दूर होती है और शक्ति वढ़ती है।

अर्धचक्रासन

क्रिया : पाँव सटा कर पीठ के वल लेट जावें। पाँवों को घुटनों तक मोड़ें। पाँव का तलुवा पूरा जमीन पर पैर रखें। अपने सिर के बगल जमीन पर हाथों की हथेली रख लें। अव सिर सीना एवं कमर को इस

प्रकार उठावें कि आपके शरीर का भार पाँव एवं हाथ पर रहे। इस प्रकार एक अर्धचक्र बनेगा। अपने सिर को अधिक से अधिक भीतर की ओर मोड़ें। अब पाँवों को धीरे-धीरे सिर के समीप लावें ताकि चक्र पूरा हो सके। घुटने सीधे रखें। प्रारम्भ में इस आसन में आप अर्ध-चक्रासन कर सकेंगे। कालान्तर में अभ्यास करने पर आप कम-बेशी एक चक्र की आकृति धारण कर सकेंगे। यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप अभ्यास कर अपने शरीर के कड़ेपन को दूर करें। इस आसन में २-१ सेकेण्ड तक रहें। सिर एवं सीना नीचे कर आराम करें। एक मिनट बाद इसे फिर दोहरावें। शीत ऋतु में ही ३ से ५ वार दोहरावें अन्यथा २ वार करें।

उपयोग : शरीर की रीढ़ अगर लचीली रहे तो यौवन बुढ़ापे में परिणत नहीं हो पाता है। इस आसन से रीढ़ की लचक को स्थायी रखा जा सकता है। वास्तव में यह आसन करने से धनुरासन एवं भुजंगासन दोनों में लाभ प्राप्त होते हैं। इससे लड़कों एवं लड़कियों के वक्षस्थल समानुपात में बढ़ते हैं, अधिक चर्बी घटती है एवं शरीर सुन्दर होता है। अगर यह आसन शुरू से ही किया जाये तो बच्चे पैदा होने के बाद भी स्त्रियाँ अपने वक्षस्थल के सौन्दर्य को टिकाऊ रख सकती हैं। कोष्ठवद्धता, अपचन एवं गठिया आदि इससे दूर होते हैं। जो लड़के-लड़कियाँ इस आसन का अभ्यास करते हैं वे चुस्त एवं फुर्तीले होते हैं।

अश्विनीमुद्रा

क्रिया : यह मूलवन्ध मुद्रा का एक भेद है। अन्तर सिर्फ यह है कि मूलवन्ध में शंखिनी नाड़ी को इतनी शक्ति से ऊपर की ओर खींचा जाता है कि तनाव "मूलस्थान" तक पहुँच जाता है। इसका प्रभाव श्वास की नाड़ी—इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना पर भी होता है। जब कि

अश्विनी मुद्रा में शंखिनी नाड़ी का तनाव इतना अधिक नहीं होता है। इसमें तनाव एवं छोड़ना होता रहता है। इसे १५-२० बार प्रातः सायंकाल किया जा सकता है।

उपयोग : गुदा के रोग जैसे—अर्श, नासूर इस मुद्रा के अभ्यास से दूर होते हैं। अन्य व्यायामों के साथ इसका अभ्यास करने से Spermatorrhoea नामक रोग भी दूर होता है।

आकर्ण धनुरासन

क्रिया : बैठकर दाहिने पाँव को पृथ्वी पर सीधा रखते हुए फैलावें। अपने बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ें। इसके बाद अपने बायें हाथ के नीचे से दाहिना हाथ फैलाकर बायें पाँव के अंगूठे को पकड़ कर दाहिने कान तक खींचे और सीधे बैठे रहें। इस आसन में १ या २ मिनट तक रहें बाद में साधारण स्थिति में आ जावें। अब इस आसन को प्रथम बायाँ पाँव फैलाकर पुनः करें। बायें पाँव के अंगूठे को ऊपर बताये अनुसार बायें हाथ से पकड़कर बायें कान तक खींचिये। अर्थात् प्रथम आसन से उल्टा करें। इस प्रकार एक साथ ३-४ बार करें।

उपयोग : इस आसन से हाथ एवं पैरों की नसें एवं ग्रन्थियाँ पुष्टतर होती हैं एवं शरीर के अंग सुदृढ़ होते हैं। छोटे बच्चों के पाँव एवं हाथ की हड्डियों के दोष इस आसन से दूर होते हैं।

उड्डियानबन्ध मुद्रा

क्रिया : १८ इंच की दूरी रखते हुए अपने पैरों पर खड़े होकर शरीर को सामने इस प्रकार झुकावें कि आपकी दोनों हथेलियाँ दोनों जंघाओं से ऊपर घुटनों पर रखें। श्वास छोड़ते हुए अपने पेट के

सामनेवाले भाग को संकुचित करें। ताकि वहाँ एक गड्ढा जैसा हो जाये। जबतक आप श्वास रोककर रख सकें पेट को संकुचित रखें। उसके बाद श्वास लेते हुए पूर्व की स्थिति कर लें। यह सावधानी रखें कि उदर की मांसपेशियाँ पीछे की ओर न तनें। इस मुद्रा का अभ्यास बैठकर भी किया जा सकता है। प्रारम्भ में इसका अभ्यास २-३ बार करना चाहिये, तदुपरान्त क्रमशः ६-७ बार तक बढ़ावें।

उपयोग : यह मुद्रा उदर की अग्नि-ग्रन्थियों को तथा वरुण-ग्रन्थियों को पुष्ट करती है। ताकि वे कोष्ठबद्धता, अपचन, उदरशूल, पित्त-शूल पित्त-अश्मरी आदि रोगों से बच सकें। स्त्रियों के कष्टरजः, प्रदर आदि रोगों में लाभ करता है। इसके नियमित अभ्यास करनेवाले व्यक्ति हैजा या चेचक के शिकार नहीं होते हैं। इसके अभ्यास से उदर की सभी स्नायु एवं मांसपेशियाँ सुदृढ़ एवं स्वस्थ बनी रहती हैं। योग कहता है—

"उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेशरी।
अभ्यसेत् सततं यस्तु बृद्धोपि तरुणायते ॥"

अर्थात् यह मुद्रा मृत्यु को जीतनेवाली है क्योंकि यह मनुष्य की अकाल-मृत्यु से रक्षा करती है। इसके नियमित अभ्यास से वृद्ध भी तरुण बना रहता है। यह अतिशोक्ति नहीं है क्योंकि इसके अभ्यास से यकृत प्लीहा, अग्नशय, वृक्क, वृषण, डिम्ब्र, आदि ग्रन्थियाँ स्वस्थ रहती हैं।

उष्ट्रासन

क्रिया : घुटने की वल बैठकर शरीर को पीछे की ओर झुकावें। श्वास निकालते हुए सीने को उठावें शिर को नीचे झुकावें एवं हाथों से पैरों को टखनों के पास से पकड़ लें। इस प्रकार आपका शरीर अर्ध-

बृताकार स्थिति में हो जावेगा और आपके हाथों से आपको समर्थन प्राप्त होगा। श्वासरहित अवस्था में १०-१५ सेकेण्ड तक रहें तद्उपरान्त पूर्व स्थिति में आ जायें। कुछ विश्राम के वाद इस आसन को २-३ बार दोहरावें।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से रीढ़ लचीली वनी रहती है। ताकि सम्वन्धित नसें एवं स्नायु सशक्त होकर शरीर की स्फूर्ति को कायम रख सकें। पेल्विक प्रदेश एवं गुदा-प्रदेश की नसें भी इससे पुष्ट होने के फलस्वरूप व्रह्मचर्य पालन में स्तम्भन-शक्ति बढ़ने से सहयोग प्राप्त होता है।

कुक्कुटासन

क्रिया : पद्मासन लगाकर बैठिये। अपने दाहिने हाथ को दाहिने घुटने के भोतर की ओर घुसावें। उसी प्रकार वायाँ हाथ भी वायें घुटने के भीतर की ओर घुसावें। इस प्रकार आप अपनी हथेलियाँ जमीन पर रखकर पूरा पंजा फैलाकर शरीर को ऊपर उटावें। इस प्रकार शरीर को कोहनी तक उठावें एवं इसी अवस्था में १ से ३ मिनट तक रहें। इसके वाद शरीर को जमीन पर उतार लें और कुछ सेकेण्ड विश्राम करें। इसी प्रकार इस क्रिया को ३ या ४ बार करें।

उपयोग : जिस प्रकार पादांगुष्ठासन के अभ्यास से पैरों की नसें एवं मांसपेशियाँ पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार कुक्कुटासन के अभ्यास से हाथ की स्नायु एवं मांसपेशियों को नवजीवन मिलता है। वास्तव में हाथ एवं कलाई कोई भी कठिन कार्य करने योग्य हो जाते हैं। इस आसन के नियमित अभ्यास से हाथ एवं पैरों में वृथा भेद एकत्रित नहीं हो पाता है। साथ ही स्कन्ध एवं वक्षस्थल की स्नायु एवं मांसपेशियाँ भी पुष्ट होती हैं। शरीर को सुदृढ़ करने, मेहनती वनाने एवं सुस्ती दूर करने के लिये इस आसन का अभ्यास जरूरी है।

गोमुखासन

क्रिया : बायें जंघा पर दाहिने जंघा को रखकर इस प्रकार बैठिये कि दाहिनी एड़ी आपके बायें नितम्ब के पास रहे। बायीं एड़ीसे दाहिने नितम्ब को दबावें। अपने बायें हाथ को बायीं बगल से ही पीठ की तरफ से दाहिने कंधे की तरफ ले जावें एवं दाहिने हाथ को दाहिने कंधे के ऊपर से पीठ की तरफ ले जाकर एक दूसरे को पकड़ लें।

उपयोग : बद्ध-पद्मासन की तरह, इस आसन के अभ्यास से रीढ़ की हड्डी सीधी होती है। इस आसन से मस्तिष्क को वश में करने के लिए उत्तेजक विचारों पर नियंत्रण किया जा सकता है, अतएव इसके अभ्यास से ब्रह्मचर्य के पालन में पूरा सहयोग मिलता है। पैरों की बात-व्याधि जैसे—गठिया, रेंगण, Urethritis, Insomnia आदि के निवारण में भी इस आसन से मदद मिलती है।

जानुशिरासन

क्रिया : दोनों पावों को सामने फैलाकर बैठ जायें। बायें पाँव को इस प्रकार मोड़ें कि बायीं एड़ी अण्डकोषों के नीचे लगी रहे। धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए दोनों हाथों से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़े, साथ ही अपने माथे से दाहिने पाँव के घुटने को छूने का प्रयत्न करें। नवीन अभ्यासार्थी प्रारम्भ में पाँव जमीन पर सीधा न रख सकेंगे पर यह असुविधा कुछ ही दिनों के अभ्यास से दूर हो जायेगी। इत अवस्था में साँस रोककर कुछ सेकेण्ड तक रहें। इसके बाद धीरे-धीरे साँस ग्रहण करते हुए सीधी स्थिति में आ जायें। इस आसन को सिर्फ ३-४ बार करें। इसके बाद ऊपर बतायी क्रिया के अनुसार दाहिने पैर की एड़ी को अपने अण्डकोष के नीचे रखकर इसको दोहरावें।

उपयोग : इस आसन से भूख बढ़ती है, नाभिप्रदेश की स्नायु एवं मांसपेसियाँ सबल होती हैं, कमजोरी एवं सुस्ती दूर होती है और रीढ़

लचीली होती है। वातव्याधियों, जैसे—गठिया, रेंगण एवं अर्श आदि की चिकित्सा में इससे मदद मिलती है। किशोरावस्था में पायी जाने वाली शारीरिक सुस्ती इस आसन से दूर होती है।

त्रिकोणासन

क्रिया : अपनी सुविधा के अनुसार पाँवों को दूर रख कर खड़े हो जायें। शरीर के ऊपर के आधे हिस्से को नीचे झुका लें ताकि आप अपने बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़ सकें। यह क्रिया करते समय दोनों घुटने सीधे तने रहने चाहिये। आपका दाहिना हाथ सिर के ऊपर की तरफ सीधे तना रहना चाहिये। दाहिने हाथ की अंगुलियों की तरफ आपको दृष्टि रखनी चाहिये। इस मुद्रा में १-२ सेकेण्ड रहें। बाद खड़े हो जावें। यही क्रिया दाहिने हाथ से दाहिने पाँव का अंगूठा पकड़कर, बायाँ हाथ ऊपर की ओर ले जाकर दोहरावें। जब इसका आप सुगमतापूर्वक अभ्यास करने लगें तो शीघ्र-शीघ्र १० से २० बार तक इस क्रिया को दोहरावें।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से रीढ़ की लचक स्थायी बनी रहती है और अभ्यास के समय अधिक रक्त-संचार होने के फलस्वरूप वहाँ की स्नायु एवं मांसपेशियों को पोषण प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास न कर सकें उन्हें उसके स्थानपर त्रिकोणासन का अभ्यास करना चाहिये। उन्हें आंशिक लाभ होगा। त्रिकोणासन के अभ्यास से अपचन, कोष्ठबद्धता दूर होकर भूख बढ़ती है। जिन बच्चों का एक पाँव दूसरे पाँव से छोटा है, इस कमी को दूर करने में यह आसन काफी सहायता करता है।

धनुरासन

क्रिया : शलभासन की तरह पेट के बल लेट जावें। घुटने के पास से पैरों को मोड़कर अपने कमर से ऊपर के हिस्से को इस प्रकार

ऊपर उठावें कि आप दाहिने हाथ से दाहिने पैर को टखना (ankle) के पास से एवं बायें हाथ से बायें पैर को टखना के पास से भली प्रकार पकड़ सकें। इस प्रकार की स्थिति में सिर को पीठ की तरफ अधिक से अधिक मोड़ें एवं घुटनों को भरसक ऊपर उठावें। शरीर का पूरा भार पेट पर रहेगा। इस प्रकार कुछ सेकेण्ड रहें। हाथ को छोड़ दें। पूर्व-स्थिति में जाकर कुछ विश्राम करें। पुनः इस आसन को करें। इस प्रकार ३-४ वार से अधिक न करें।

अभ्यास में पूर्ण सफलता प्राप्त कर धनुरासन की अवस्था में ही घुटने को मिलाने का प्रयत्न करें।

उपयोग : भुजंगासन, शलभासन तथा धनुरासन आपस में मिलकर एक मुद्रा की पूर्ति करते हैं। रीढ़ को आगर ३ भागों में विभक्त किया जाये तो भुजंगासन के अभ्यास से ऊपरी भाग, शलभासन से निचला भाग तथा धनुरासन के अभ्यास से रीढ़ के मध्य भाग का लचीलापन स्थायी होता है। साथ ही साथ इन भागों की स्नायु एवं मांसपेशियाँ सबल होती हैं। धनुरासन में चूंकि उदर भाग पर शरीर का पूरा भार पड़ता है वृहद् एवं लघु अंत्र, यकृत एवं प्लीहा के दोष इसके अभ्यास से दूर होते हैं। साथ ही साथ पेट की सभी मांसपेशियाँ निर्दोष होती है। यह आसन वात-व्याधि की जड़ को नष्ट करता है एवं पेट के भाग पर चर्बी एकत्र नहीं होने देता।

पद्मासन

क्रिया : पद्मासन दो प्रकार का होता है (१) मुक्त-पद्मासन, (२) वद्ध-पद्मासन। दाहिने पैर को वायीं जाँघ पर रखिये। अपनी जिह्वा सामने के दाँतों की जड़ में लगाये रखें। अपने नासिकाग्र भाग को देखते रहें। रीढ़ हमेशा सीधी रखें। बायीं एवं दाहिनी हथेलियाँ क्रमशः वायें एवं दाहिने घुटनेपर रखें। यही मुक्तपद्मासन कहलाता है।

बद्ध-पद्मासन के लिये मुक्तपद्मासन की स्थिति में बैठकर दाहिने हाथ को पीठ के पीछे से घुमाकर बायीं जाँघ पर स्थित दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ें। उसी प्रकार बायें हाथ को भी पीछे-पीछे से घुमाकर उससे बायें पैर का अंगूठा पकड़ें जो दाहिनी जाँघ पर है। अपनी ठोड़ी को गले पर लगाये रहे। नासिकाग्र भाग को देखते रहें। यही बद्ध-पद्मासन की क्रिया है।

उपयोग : यह शारीरिक स्वास्थ्य स्थाई रखने के लिये, गठियावात तथा पैर का दोष मिटाने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। प्राणायाम आदि बहुत-सी इस प्रकार की मुद्रायें हैं जिनका अभ्यास पद्मासन में बैठकर किया जाता है। इसके अतिरिक्त सिद्धि प्राप्त करने के लिये या ध्यानस्थ होने के लिये भी यह आवश्यक है। रीढ़ का टेढ़ा होना स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। बद्ध आसन से यह दोष ठीक हो सकता है। यही कारण है कि योग में इस दोष के निवारण एवं रीढ़ को सबल बनाने के लिये इतने आसन आदि क्रियाएँ बतायी गई हैं।

पदहस्तासन

क्रिया : एड़ी मिलाकर सीधे खड़े हो जायें। पैर के अंगूठों को काफी दूर रखें। अपने दोनों हाथों को अपनी बगल में ताने रखें। श्वास खींचते हुए बायें हाथ को सिर के ऊपर ले जावें। इस क्रिया के समय आपका हाथ एवं पंजा सीधा रहना चाहिये। अपनी कोहनी से सिर के बायें हिस्से को दबावें। श्वास छोड़ते हुए अपने शरीर को कमर के पास से दाहिनी तरफ झुकावें। आपका बायाँ हाथ तथा कंधा उसी प्रकार तने हुए रहें। इस बात का ध्यान रहे कि आपके पाँव सीधे तने रहें। इस प्रकार आपका हाथ एड़ी की तरफ बढ़ेगा। लगातार अभ्यास करने से आप एड़ी छूने लगेंगे। श्वास बन्द कर इसी स्थिति में कुछ सेकेण्ड रहें। धीरे-धीरे श्वास लेते हुए कमर सीधी कर खड़े हो जावें।

इसी क्रियाको दाहिना हाथ ऊपर कर, कमर के पास से बायीं तरफ झुक कर करें। यह क्रिया समाप्त होनेपर आप पुनः दोनों हाथों को बगल में रखकर खड़े हो जावें। सामने की तरफ से श्वास लेते हुए हाथों को सीधे ताने सिर के ऊपर ले जावें। दोनों हाथों की कोहनियों के बीच सिर को दबाये रखें। अब श्वास छोड़ते हुए कमर के पास से पीछे की तरफ जितना मुड़ सके मोड़ें। इस स्थिति में कुछ सेकेण्ड रुकें। श्वास रोककर रखें। इसके बाद धीरे-धीरे श्वास लेते हुए कमर सीधी कर खड़े हो जावें। अब श्वास छोड़ते हुए सामने की तरफ झुकें। पाँवों को घुटने के पास सीधा रखते हुए हाथों की अंगुलियों से पैर का अंगूठा पकड़ने का प्रयास करें। क्रमिक अभ्यास से आप अपनी कोहनी से घुटना छू सकेंगे। यहाँ तक कि आप माथा भी घुटने से मिला सकेंगे। श्वास रोके इस स्थिति में कुछ सेकेण्ड तक रहें। उसके बाद श्वास लेते हुए सीधे खड़े हो जावें। अब श्वास छोड़ते हुए हाथों को नीचे ले जाकर बगल में शरीर से सटा लें। प्रारम्भ में किसी-किसी व्यक्ति का शरीर इच्छानुसार नहीं मुड़ सकेगा परन्तु अभ्यास से अवश्य सफलता मिलेगी। इसके चार भाग हैं—पदहस्तासन के, प्रारम्भ में इसे दिन में २ बार करें। कालान्तर में प्रतिदिन ४-५ बार तक कर सकते हैं। प्रारम्भ में श्वास-प्रश्वास की क्रिया का लिखे अनुसार पालन अगर न कर सकें तो कोई विशेष बात नहीं है। लेकिन कालान्तर में अधिकाधिक लाभ के लिये श्वास-प्रश्वास की क्रिया ऊपर लिखे अनुसार ही करें।

उपयोग : इस आसन का उपयोग रीढ़ को आजीवन सीधा एवं लचीला बनाये रखने के लिये किया जाता है। अभ्यास के समय रीढ़ के दोनों ओर तथा आगे पीछे की स्नायु एवं मांसपेशियो को स्फूर्ति मिलती है। इसके अलावा लड़के-लड़कियों की लम्बाई बढ़ाने में यह विशेष उपयोगी है। इसके अभ्यास से लम्बाई बढ़ती है। जिन व्यक्तियों को रक्ताल्पता का रोग है वे इसका अभ्यास कम मात्रा में परन्तु निय-

मित करें। धीरे-धीरे उनके शरीर में रक्त का संचार होगा और उनकी कमजोरी आदि की बीमारी भी दूर हो जायेगी। पदहस्तासन के अभ्यास से कोष्ठबद्धता, अपचन, रेंगणवात, मेद रोग, वृक्क-दोष दूर होकर शरीर में रक्त का संचार होता है क्योंकि इस आसन का अभ्यास करते समय सिर से पाँव तक रक्त दौड़ने लगता है।

जिन व्यक्तियों को हृदय-रोग तथा रक्तचाप का रोग हो वे इस आसन का अभ्यास नहीं करें।

पवन-मुक्तासन

क्रिया : पीठ के बल शवासन की मुद्रा में लेट जायें। अपने पैर फैला लें। अब अपने दाहिने पाँव को श्वास ग्रहण करते हुए उठावें, घुटने के पास से मोड़ें एवं दोनों हाथों से पकड़कर अपने सीनेपर ५-१० सेकेण्ड के लिये दबावें। दबाव देते समय श्वास-क्रिया बन्द कर दें। इसके बाद श्वास छोड़ते हुए पाँव को पुनः फैला दें। यही क्रिया बायें पाँव से भी दोहरावें। इसके बाद दोनों पाँवों को एक साथ उठावें एवं हाथ से पकड़कर उसी प्रकार सीनेपर दबावें। इस प्रकार पवन-मुक्तासन की तीन क्रियाएँ हैं। इसी प्रकार ४ बार करना चाहिये। श्वासक्रिया इस प्रकार करें—घुटने को दबाते समय श्वास बन्द रखें एवं घुटने को फैलाते समय श्वास छोड़े।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से अपचन, अम्लता, अफरा, मेद-वृद्धि आदि में लाभ होता है। यह उदर की स्नायु एवं स्नायु-पेशियों को सुदृढ़ कर पाचन-ग्रन्थियों को बल प्रदान करता है। तथा कोष्ठ-बद्धता को नाश करता है।

पश्चिमोत्तानासन

क्रिया : अपने पैर सामने की ओर फैलाकर सीधे तनकर बैठिये। आपकी एड़ियाँ आपस में मिली रहनी चाहिये। बायें एवं दाहिने हाथ

से क्रमशः बायाँ एवं दाहिना अंगूठा पकड़ें। अब श्वास छोड़कर कमर मोड़ते हुए अपना माथा घुटनों से लगाने का प्रयत्न करें। अपने पाँव सीधे रखें ताकि घुटने जमीन से लगे रहें। प्रारम्भ में इस क्रिया में कठिनाई होगी परन्तु धैर्य रखें। यौगिक क्रियाओं में जल्दवाजी करना निषिद्ध है। लेकिन मन को स्थिर कर नियमपूर्वक अभ्यास करने से योग में लाभ होता है। क्रमशः आप अगर मोटे हैं तो भी यह आसन भली प्रकार कर पायेंगे। इस स्थिति में श्वास-रहित हो ५ से १० सेकेण्ड तक रहें। इसके बाद अंगूठे को छोड़ दें और क्रमशः श्वास ग्रहण करते हुए बैठने की स्थिति में आ जायें। प्रारम्भ में इसका अभ्यास दिन में १ या २ बार करें लेकिन बाद में ५-७ बार प्रतिदिन किया जा सकता है। चूँकि प्रातःकाल शरीर की सभी मांसपेशियाँ कड़ी अवस्था में रहती हैं इसलिये इस आसन के अभ्यासार्थ सायंकाल का समय अधिक उत्तम है। सिर्फ बच्चों को छोड़कर अन्य सभी व्यक्तियों को शरीर मोड़ने में कठिनाई होगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये आप अत्यधिक प्रयास न करें। नियमित एवं स्थिरतापूर्वक अभ्यास से यह कठिनाई अवश्य दूर होगी। आप आसन करते समय अपने हाथ को घुटने की बगल में ले जाकर कोहनियों से जमीन भी छू सकते हैं या हाथ सीधे ही रखें तो भी कुछ हानि न होगी।

उपयोग : यौगिक अभ्यास करनेवालों को यह ध्यान रखना चाहिये कि रीढ़ कड़ी या टेढ़ी होनेपर शरीर को बुढ़ापा घेर लेता है। जब तक रीढ़ में लचक है तभी तक शरीर, अन्यान्य ग्रन्थियाँ एवं स्नायु आदि भली प्रकार कार्य कर सकते हैं, एवं शरीर आजीवन स्वस्थ रहता है। रीढ़ एक ही हड्डी से नहीं बनी है। इसमें छोटे-छोटे ३३ टुकड़े हैं जो आपस में सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि इसे किसी भी ओर मोड़ा जा सकता है।

इस आसन के अभ्यास से रीढ़ के आगे-पीछे की नसें एवं मांसपेशियाँ तथा हाथ-पैर एवं गुदा-प्रदेश की स्नायु आदि सुदृढ़ होती हैं।

इसके अभ्यास से रेंगण, अर्श, मधुमेह, कोष्ठबद्धता, अतिसार, स्वप्नदोष आदि रोग दूर होते हैं। अनेक कारणवश स्त्रियों की कमर मोटी होकर भद्दी हो जाती है। इस आसन के अभ्यास से स्त्री या पुरुष किसी की भी कमर सुन्दर होती है। इस आसन के नियमित अभ्यास से कमज़ोरी आदि दूर होकर शरीर सुदृढ़ और स्फूर्तियुक्त होता है।

जिन व्यक्तियों के यकृत या प्लीहा काफी बढ़ा हुआ हो या जिन्हें अंत्रपुच्छ-वृद्धि या अंत्रवृद्धि का रोग हो वे यह आसन न करें।

शयन-पश्चिमोत्तान

क्रिया : पीठ के बल लेटकर अपने सिर की बगल में सीधे हाथ फैला लें। पैर भी सीधे फैले रहें और एड़ियाँ एक दूसरे से लगी रहनी चाहिये। श्वास छोड़ते हुए कमर से ऊपर के हिस्से को ऊपर उठावें एवं अपने पैरों पर झुका लें। हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़ लें। २ से ४ सेकेण्ड तक इसी स्थिति में श्वास छोड़कर रहें। उसके वाद धीरे-धीरे फिर श्वास लें और पूर्वस्थिति में आने के लिये लेट जावें। इसी प्रकार ५ से ७ बार तक करें।

उपयोग : पश्चिमोत्तान की अपेक्षा शयन-पश्चिमोत्तान से शीघ्र एवं अधिक लाभ होता है।

वज्रासन

क्रिया : अपने पाँवों पर इस प्रकार बैठिये कि घुटने से नीचे का भाग मुड़ कर आपके नीचे दबा रहे। पैर की एँड़ी आपके नितन्वों से लगी रहनी चाहिये। अपने घुटने पर हथेली रखें। प्रारम्भ में घुटनों में या पैर में थोड़ी वेदना होना स्वाभाविक है लेकिन कालान्तर में कुछ भी असुविधा न होगी। दिन में तीन वार इस आसन में कुछ देर तक बैठिये।

उपयोग : इस आसन से स्नायु एवं मसल शक्तिवान् वनते हैं, गठिया या रेंगण वात कभी भी पैरों में नहीं होते। दोपहर एवं रात्रि-कालीन भोजन के बाद अगर इस आसन का अभ्यास दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास-प्रश्वास लेते हुए किया जाये तो भोजन अति शीघ्र एवं सुगमता से पच सकता है। युवावस्था से ही अगर इस आसन में बैठकर केशों में कंघी की जाये तो बाल सफेद नहीं होते। इस अभ्यास से पैरों में वातरोग का आक्रमण कभी नहीं होगा।

विपरीतकरणी मुद्रा

क्रिया : ऊर्ध्वं च नीयते सूर्यः चन्द्रश्च अधः आनयेत्—शरीर के सूर्य-स्थान यानि अग्निग्रन्थि को उल्टी स्थिति में रखने को विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में अग्निग्रन्थियों का स्थान चन्द्रस्थान यानी सिर में रहता है।

सिर के नीचे विना कुछ रखे पीठ के बल लेट जायें। शरीर के वगल में दोनों हाथ रखें। पाँव तान कर सीधे रखें। पाँवों को उठाकर धीरे-धीरे ३०^0 का जमीन के साथ कोण बनावें। अपने दोनों हाथों से नितम्बों को सहारा देकर अपने शरीरको पाँवों के साथ ऊपर उठावें। इस प्रकार शरीर का सम्पूर्ण निचला भाग जमीन पर उल्टा लम्बवत् खड़ा हो जायेगा। अब धीरे-धीरे शरीर को नीचे लावें। इसका अभ्यास धीरे-धीरे करें। सुबह शाम दो वार भी किया जा सकता है। जब ५ मिनट तक इसी मुद्रा में रहने से आपको कोई असुविधा न हो तो सिर्फ १ वार प्रातःकाल करें। इसके करने के समय की अवधि रोगियों के लिये ३ से ५ मिनट तक ही है।

उपयोग : यौगिक साहित्य कहता है कि इस मुद्रा के अभ्यास से 'वली' यानी चर्म का संकोच और 'पली' यानी बुढ़ापे के समान केशों का

सफेद हो जाना रुक जाता है। यह मुद्रा उम्र के प्रभाव को रोकती है। यौवन को दीर्घस्थायी बनाती है। वास्तव में, यह नभः की ग्रन्थियों को नव जीवन प्रदान करती है। अपचन, कोष्ठवद्धता, रक्ताल्पता को नष्ट कर भूख बढ़ाती है एवं शारीरिक स्वास्थ्य में स्फूर्ति पैदा करती है। इसके अलावा शरीर में जो भी जहरीले पदार्थ अन्यान्य कारणवश उत्पन्न होते हैं, उनको नष्ट करता है।

शरीर के ऊपरी एवं शिखर भाग तथा रक्त प्रदान करनेवाली नसों को सदैव पृथ्वी की आर्कषण शक्ति के विपरीत कार्य करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप ये नाड़ियाँ निर्बल हो जाती हैं एवं शरीर की कान्ति एवं तेज क्रमशः नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि इस कार्यवश होनेवाली उनकी क्षति की पूर्ति नहीं हो पाती। अतः यह स्पष्ट है कि इन रक्तवाहिनी नसों के निर्बल हो जाने के फलस्वरूप शरीर के ऊपरी हिस्से में रक्त का संचार भली प्रकार नहीं हो पाता है। प्रायः चक्कर खाना, बेहोशी एवं साधारण कमजोरी के यही कारण हैं। आराम करते समय या थक कर सो जाने पर, ये नसें भी आराम करती हैं। ताकि ये स्वस्थ एवं सबल हो सकें। इस प्रकार विपरीतकरणी एवं इसी प्रकार की अन्य मुद्राएँ कम से कम दिन में एक बार शरीर की इन नसों को पूरा आराम पहुँचाती हैं। इस प्रकार वृद्धावस्था में भी यौवन कायम रहता है। बाल सफेद नहीं होते, चर्म की चमक नष्ट नहीं होती, झुर्रियाँ नहीं पड़ती। इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से ऊपर लिखे लाभ के अतिरिक्त असमय में दाँत नहीं गिरते हैं।

यौगिक मतानुसार मस्तिष्क में इस प्रकार की एक ग्रन्थि है जहाँ से जीवनी शक्ति का संचार होता है और इस मुद्रा के अभ्यास से वह ग्रन्थि पुष्ट होती है तथा सम्पूर्ण शरीर को जीवनी शक्ति एवं पुष्ट जीवन के लिये सार पदार्थ पहुँचता है। यही कारण है कि एक निर्बल शरीर इसके अभ्यास से पुनः स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति प्राप्त करता है।

सहज विपरीतकरणी मुद्रा

जो व्यक्ति शारीरिक कारण वश ऊपर लिखी मुद्रा का अभ्यास न कर सकें उनके लिये सहज विपरीतकरणी मुद्रा का उपयोग आवश्यक है।

क्रिया : काफी मात्रा में जल पीने के बाद एक दीवाल के पास पीठ के बल लेट जायें। इस दीवाल को सहारे के रूप में उपयोग करें। इसके सहारे शरीर के निचले भाग को इच्छानुसार कोण तक ऊपर उठाया जा सकता है। इस मुद्रा के अभ्यास से विपरीतकरणी मुद्रा के अनुसार ही लाभ प्राप्त होंगे।

भद्रासन

(स्त्रियों के लिये उपयोगी)

क्रिया : पादतालु मिलाकर आराम से बैठिये। एँड़ियों को मिलाकर बीचों-बीच रखें। पीठ की हड्डी को सीधा ताने रखें। दोनों हथेलियों को या तो घुटनों पर रखें या अंगूठों को पकड़ लें। हाथों को कोहनी के पास से मुड़ने न दें।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से क्षुधा जाग्रत होती है, पेल्विक क्षेत्र एवं घुटनों की नसें फैलती हैं एवं शक्तिवान् होती हैं। इसके अभ्यास से ब्रह्मचर्य रखने की शक्ति बढ़ती है। इस आसन को अगर लड़कियाँ करें तो काफी लाभ होगा। उन्हें बच्चा पैदा होते समय कम प्रसव-वेदना होगी।

भुजंगासन (सर्पासन)

क्रिया : पेट के बल लेट जावें। पावों को एक दूसरे से मिलाते हुए अधिक से अधिक लम्बा फैलावें। अपने वक्षस्थल के बगल में हथेलियाँ रखें। किसी भी प्रकार का हथेलियों पर जोर न देते हुए अपने सिर को

धीरे-धीरे ऊपर उठावें, इसके वाद वक्षस्थल को इस प्रकार उठावें कि आपकी रीढ़ की हड्डी एवं गर्दन मुड़ जाये एवं आप आकाश देख सकें। नाभि एवं नाभि से नीचे का हिस्सा जमीन से सटा रहना चाहिये। सहारे के लिये हाथों का उपयोग न करें। प्रारम्भ में हाथों पर स्वाभाविक थोड़ा दवाव आयेगा। इस व्यायाम के फलस्वरूप रीढ़ की हड्डी के साथ लगी मसल एवं नसों को जो लाभ मिलना चाहिये, हाथों पर जोड़ देने के फलस्वरूप उतना लाभ प्राप्त नहीं होगा। शुरू की कठिनाई के वाद इस आसन को करते समय हाथों को जमीन से ऊपर रखें। इसे ३ से ७ वार तक करें। पूर्णरूप से सफलता प्राप्त होने के उपरान्त सिर उठाते समय साँस लें एवं नीचे करते समय स्वाँस छोड़ें। आकाश को देखते हुए २-३ सेकेण्ड तक स्वाँस रोकिये। माथे से जमीन छूयें।

उपयोग : अन्य आसनों की तरह भुजंगासन से भी रीढ़ की हड्डी लचीली बनी रहती है। अगर रीढ़ की हड्डी में किसी प्रका का टेढ़ापन आ गया हो तो वहाँ नसों एवं मसल आदि को प्रभावित किये विना ही यह आसन उसे ठीक कर देता है। हृदय, पेट एवं पीठ की नसों एवं मसलों को भी यह आसन शक्ति प्रदान करता है। युवक एवं युवतियाँ इस आसन का अभ्यास कर अपने बक्षस्थल को समुन्नत बना सकते हैं। इस आसन से पेल्विक क्षेत्र की नसें, फुस्फुस से हवा निकलने के छेद भली प्रकार स्वस्थावस्था प्राप्त करते हैं। स्त्रियों के मासिक धर्म की वीमारी एवं प्रदर आदि की यह अच्छी औषधि है।

मकरासन

क्रिया : पेट के वल लेट जावें। चित्र में बताये गये अनुसार दोनों हाथों को आपस में वाँध लें। एवं सिर के सामने रखकर सिर को उस पर रखें। दोनों पाँवों को एक दूसरे से अधिक-से-अधिक दूर रखकर

उठावें। जंघा सहित जितना उठा सकें उठावें। सफल अभ्यास कर सकने के उपरान्त इस मुद्रा में १ मिनट तक रहें। इसके वाद पाँव जमीन पर रखें। १ मिनिट विश्राम कर इसी आसन को पुनः करें। इस प्रकार ३-४ वार से अधिक न करें।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से भूख वढ़ती है, अम्लता दूर होती है। पेल्विक एवं गुदा-प्रदेशकी स्नायु एवं ग्रन्थियाँ सुदृढ़ होती हैं। लड़के-लड़कियों के ब्रह्मचर्य को स्थायी रखने में इस आसन के अभ्यास से काफी मदद मिलती है। इसके अतिरिक्त इस आसन के अभ्यास से पैर एवं कमर का गठिया भी दूर होता है।

मत्स्यमुद्रा या मत्स्यासन

क्रिया : मुक्त पद्मासन या अन्य किसी मुद्रा में वैठिये। चित लेट जायें ताकि घुंटने जमीन पर ही रहें। कन्धों को ऊँचा उठाकर सिर को पीछे की ओर यथाशक्ति मोड़ें। ताकि माथा जमीन छूने लगे। गर्दन की नसें तनी हुई रहें। अपना वक्षस्थल इतना ऊपर रखें कि पीठ जमीन से ऊपर रहे ताकि सिर एवं नितम्व के आधार पर आपका वक्षस्थल एक वृत्त वनाने लगे। अव वायें पैर के अंगूठे को दाहिने हाथ से एवं दाहिने पैर के अंगूठे को बायें हाथ से पकड़ लें। प्रारम्भ में इसका अभ्यास आधा से १ मिनट तक ही करना चाहिये। इसके वाद तीन मिनट तक अभ्यास वढ़ावें। रोगी व्यक्ति इसका अभ्यास दो मिनट से अधिक न करें। पर स्वस्थ व्यक्ति अधिक-से-अधिक ५ मिनट तक इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं।

अगर मोटापा के कारण आप अपनी पीठ न उठा सकें तो एक तकिया लगा लें।

उपयोग : सर्वाङ्गासन के प्रकरण में हमने थाइरायड ग्रन्थि का उल्लेख किया है। गर्दन के दोनों ओर ४ उपेन्द्र ग्रन्थियाँ भी हैं जो

२-२ हरेक ओर लगी रहती हैं। इन दोनों युगल ग्रन्थियों के मध्य में एक केपसूल जैसी वस्तु इन्हें अलग करती है। शरीर एवं मन की उन्नति के लिये इन ग्रन्थियों से उत्पन्न होनेवाला रस अति आवश्यक है।

आजकल केल्सियम के नाम से सभी परिचित हैं। हड्डियों के निर्माण, पाचनक्रिया एवं शरीर को रोगों के किटाणुओं से बचाने के लिये केल्सियम सर्वाधिक आवश्यक है। यह दूध, नींबू, नारंगी, वादाम, नारियल, प्याज में काफी मात्रा में विद्यमान है। इन उपेन्द्र ग्रन्थियों का रस शरीरस्थ केल्सियम को ग्रहण करने एवं उसे पचाने में मदद करता है। अगर रस की उत्पत्ति कम होती है तो केल्सियम भली प्रकार शरीर में नहीं समा पाता और न ही काफी दूध पीने या केल्सियम के इन्जेक्शन लेने के वावजूद भी शरीर में काफी मात्रा में केल्सियम पैदा हो जाता है। यही उपेन्द्र ग्रन्थियों का उपयोग है। इन ग्रन्थियों से अगर रस कम उत्पन्न होता है तो उदर में घाव, पायरिया, दाँत-रोग, नाखून टेढ़े-मेढ़े हो जाना आदि आदि शरीर में होने लगते हैं। इस अवस्था में कोई भी घाव ठीक नहीं हो पाता। अंत्र-पुच्छ-वृद्धि, अंत्र-वृद्धि, यकृत दोष, स्नायुओं का ऐंठना, हाथ पैर टेढ़े हो जाना आदि का भी यही कारण है। इस रस की अधिक उत्पत्ति के फलस्वरूप रक्तचाप वढ़ जाता है।

सर्वाङ्गासन के बाद इस आसन के साथ-साथ अभ्यास से थाइरायड एवं पैराथाइरायड की ग्रन्थियाँ पुष्ट होती हैं। मत्स्यासन के अभ्यास से इन ग्रन्थियों के सामने का भाग पुष्ट होता है जव कि सर्वाङ्गासन पिछले हिस्से को पुष्ट करता है। अतएव सभी नसें एवं स्नायु पुष्ट होती हैं। इन दो आसनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

मत्स्येन्द्रासन

क्रिया : अपनी वांयी जाँघपर दाहिना पाँव रखें एवं अपने नितम्ब की बगल में जमीन पर पाँव रख लें वांयीं एड़ी से मूत्राशय को दबावें।

दाहिने हाथ को बायें पाँव के घुटने की दाहिनी तरफ से फैलाते हुए नितम्व की बगल में रखे हुए अंगूठे को पकड़ लें। अब दाहिने हाथ को अपनी पीठ की ओर ले जावें एवं हाथ से पेट तथा जाँघ के मिलने की जगह को पीछे से पकड़ लें। अपना सिर एवं गर्दन दाहिने कंधे की तरफ अधिक से अधिक मोड़िये। इस आसन में सिर्फ ५ से १५ सेकेण्ड तक रहें, फिर आराम करें। इसके बाद आसन को पाँव उलट कर करें यानी दाहिनी जाँघ पर बायाँ पैर रखें आदि का अभ्यास करें। इस प्रकार बायें एवं दाहिने पाँव से यह आसन करने से ही आसन पूरा होता है। यह आसन ग्रीष्म ऋतु में सिर्फ एक बार करें तथा शीत ऋतु में २ बार करें। प्रारम्भ में इस आसन को करने में काफी कठिनाई होती है। अगर कठिनाई अधिक हो तो एड़ी को नितम्ब की बगल में रखकर गोमुखासन की तरह प्रारम्भ में इसका भी अभ्यास करना चाहिये। ८-१० दिन में ही स्नायु एवं माँसपेशियाँ लचीली हो जानेपर ऊपर लिखी पूरी क्रिया करने में किसी प्रकार की भी अड़चन न होगी।

शरीर के दोनों ओर की नसें एवं मांसपेशियाँ इस अभ्याससे लचीली एवं सुदृढ़ होती हैं। इसके अभ्यास से पीठ एवं कमर का गठिया, कोष्ठ-बद्धता, अपचन एवं यकृत तथा प्लीहा के रोगों में लाभ होता है।

मयूरासन

क्रिया : घुटनों के बल बैठिये ताकि नितम्ब एड़ियों पर रहे। घुटने से करीब १ फुट की दूरी पर दोनों हाथों की कलाई पास-पास रखकर पूरा पंजा जमीन पर रखें। पंजे की अंगुलियाँ घुटनों की तरफ रहें। अब दोनों कोहनियों को नाभि के पास लगाकर अपने शरीर का भार पंजों पर डालें, ताकि आप अपने शरीर का निम्न भाग जमीन से ऊपर उठा सकें। अपने शरीर को जितना अधिक हो सके, जमीन से ऊपर उठावें। सिर एवं पैर सीधे रखें। क्रमिक अभ्यास से आप, मयूर की

तरह सिर नीचे एवं पाँव ऊपर उठे हुए रहे—इस आकृति में रह सकेंगे। इस आकृति में एक वार ४-५ सेकेण्ड तक रहें एवं ३-४ वार दोहरावें। पूर्ण सफल अभ्यास करने की स्थिति में भी एक वार १० सेकेण्ड से अधिक न रहें। यह श्वास रोककर करें।

यह आसन अति उपयोगी है। इस आसन के अभ्यास से अग्नि की ग्रन्थियाँ सुदृढ़ होकर भूख को जाग्रति करती हैं। साथ ही उदर एवं पेल्विक प्रदेश की स्नायु एवं मांसपेशियाँ पुष्ट होती हैं और सारे उदर-रोग दूर होते हैं।

योगियों ने मयूरासन की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीन्,
अभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं,
जनयति जठराग्नि जारयेत् कालकूटम्॥"

अर्थात् इस आसन के अभ्यास से गुल्म, शोथ, प्लीहा रोग तथा अन्य सभी उदर रोग दूर होते हैं। साथ ही यह आसन खराव पित्त को निकालता है और गठिया, सुस्ती आदि को नष्ट करता है। इस आसन के नियमित अभ्यास से क्षुधाग्नि इतनी जाग्रति होती है कि विषैले भोजन पदार्थ भी पचाये जा सकते हैं और शरीर की कुछ भी क्षति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह आसन कोष्ठबद्धता, अपचन, मधुमेह, अर्श आदि को दूर करता है। यह वृक्क तथा अंत्रसमूह की स्नायु एवं मांसपेशियों को सुदृढ़ करता है।

मस्तकमुद्रा या शीर्षासन

(सिर के बल खड़ा होना)

क्रिया : घुटनों के बल बैठकर हाथों की अँगुलियों को आपस में मिलाकर जमीन पर रख लें। इस प्रकार आपस में मिली हुई हथेलियों

पर सिर रखें। आपके हाथों की कोहनियाँ जमीन पर रहना चाहिये। अपने सिर एवं भुजाओं के सहारे अपने पाँव के अंगूठों को जमीन से कुछ सेकण्ड उठावें। इसी प्रकार अभ्यास करते-करते अपने शरीर को ऊपर उठावें। आपके घुटने मिले हुए रहने चाहिये। अपने शरीर को नीचे करें। इसी प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करने से आप सिर के बल कोहनियों के सहारे घुटने मोड़कर उठने में समर्थ हो जायेंगे। इस प्रकार जब आप ३-४ मिनट तक खड़े रहने में समर्थ हो जावें तो धीरे-धीरे पाँव को सीधे करने का अभ्यास करें ताकि सिर एवं कोहनियों के सहारे आप सीधे लम्बवत् खड़े रहें। इस अवस्था में आप यह विशेष रूप से ध्यान रखें कि इसमें आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो एवं शरीर स्थिर रहे। भली प्रकार अभ्यास हो जानेपर एक साथ अधिक समय तक इसी प्रकार रहें। यौगिक अभ्यास प्रारम्भ करनेवालों को हमारा यह परामर्श है कि मुद्रावस्था कुछ सेकेण्ड के लिये ही रहे। बाद में पाँवों को नीचे कर लें। इस क्रिया को पुनः दोहरावें। इसपर विशेषकर ध्यान रखें कि शीर्षासन की मुद्रा में शरीर का वजन चोटी के पास रहे। सिर के अगल-बगल के हिस्सों पर वजन का भार न पड़े। इस आसन के अभ्यास की अवधि एक स्वस्थ लड़की के लिये ५ से ७ मिनिट तक है। युवकगण इस अवधि में किंचित् वृद्धि कर सकते हैं। कमजोर या रोगी व्यक्ति को यह आसन ३ से ५ मिनिट तक कर सकते हैं। हृदय-रोग, रक्त-चाप के मरीज इस आसन का अभ्यास नहीं करें। अपने रोग की चिकित्सा अन्य आसनों से ही करें। स्वस्थ व्यक्ति या जिन व्यक्तियों को यकृत के दोष के कारण होनेवाले रोग हों—सुबह की अपेक्षा अगर दोपहर या शाम को इस आसन का अभ्यास करें तो अधिक लाभ होगा।

यह आसन करने की पद्धति में कई भेद हैं; जैसे कि शरीर का भार उठाते समय हथेलियाँ जमीन पर रह सकती हैं या हाथों के भरोसे सम्पूर्ण शरीर का वजन टिक सकता है और सिर को जमीन से ऊपर रखा जाये। लेकिन इस आसन की यह चरम अवस्था है। चूंकि यह भेद

आपद्‌जनक एवं कठिन है, इसलिये सभी को नहीं करना चाहिये। इसलिये हमने सभी के करने योग्य सुगम तरीका सविस्तार लिखा है। इस आसन का पूरा अभ्यास हो जाने के बाद पाँव समेटकर पद्मासन लगा लें ताकि पूरे समय ऊपर की तरफ ही सीधे न रहें।

उपयोग : हमारे शरीर की प्रमुख राजधानी है—सिर। वहीं से नेत्रों की शक्ति, प्राणशक्ति, विचार-शक्ति, श्रवण-शक्ति, स्मरण-शक्ति आदि का सम्पादन होता है। मस्तिष्क के किसी भी भाग को समुचित मात्रा में रक्त नहीं प्राप्त होने पर सम्पूर्ण शरीर रोगी हो जाता है। इस आसन के अभ्यास से मस्तिष्क को भरपूर रक्त प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क की ग्रन्थियाँ, कोष एवं स्नायु आदि पोषण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर इस आसन के अभ्यास से स्वस्थ एवं सवल बना रहता है।

मस्तिष्क में महत् एवं अहं ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं, जिनकी क्रियाओं के ५ प्रमुख केन्द्र हैं। योग के मतानुसार मस्तिष्क में कम से कम ३ ग्रन्थियाँ अवश्य हैं। आधुनिक मत के अनुसार शिवसती ग्रन्थि (Pituitary gland) एवं वृहस्पति ग्रन्थि (Pineal gland) मस्तिष्क में अवस्थित हैं। इन ग्रन्थियों का सविस्तार उल्लेख हमने बंगला की पुस्तक "सहज यौगिक व्यायाम" में किया है।

इस आसन का नियमित अभ्यास करनेवाला अगर सदाचारी है तो कभी किसी रोग का शिकार न होगा। जिन व्यक्तियों की नेत्र-शक्ति कमजोर हो गई है या जो पायरिया, सिर चकराना, हिस्टीरिया, स्नायुदौर्बल्य, शीघ्र पतन, कोष्ठबद्धता, अपचन, यकृत या प्लीहा के रोगों से पीड़ित हैं वे मस्तक-मुद्रा का नियमित अभ्यास करें, लाभ होना सुनिश्चित है।

अधिक स्त्री-प्रसंग करनेवाले पुरुष यह आसन करने में कमजोरी महसूस करते हैं। इसीलिये सदाचार पर वल दिया गया है। (अस्वस्थ काम-जीवन का अध्याय भी देखें)।

महाबन्ध मुद्रा

क्रिया : सिद्धासन में बैठें। साँस ग्रहण करते समय क्रमशः अपने अण्डकोष की नसों को ऊपर की तरफ खींचिये। स्त्रियाँ अपनी डिम्ब को खींचें। अब क्रमशः श्वास छोड़ते हुए इस ग्रन्थियों को धीरे-धीरे छोड़ दीजिये। खींचने एवं छोड़ने की इस क्रिया को १० से २० बार तक दोहरावें। इसी प्रकार सिद्धासन में पाँवों की स्थिति बदल कर इसे पुनः करें। किसी व्यक्ति को सिद्धासन में बैठने में कोई असुविधा हो तो वे अन्य किसी मुद्रा में बैठकर इसका अभ्यास कर सकते हैं। लाभ में किसी प्रकार का अन्तर न होगा।

उपयोग : इस मुद्राके अभ्यास से पुरुषों की प्रजापतिग्रन्थि एवं स्त्रियों की मातृग्रन्थि स्वस्थ रहती है। ये ग्रन्थियाँ स्त्री-पुरुषों में स्फूर्तियुक्त जीवन के लिये उत्तरदायी हैं। फलस्वरूप उनकी सन्तति का भविष्य भी इसी पर निर्भर करता है।

आयुर्वेद में पितृग्रन्थि को वृषण ग्रन्थि कहा गया है, जिस प्रकार मातृग्रन्थि डिम्ब में है। प्रजनन से सम्बन्धित अवयवों को पुष्ट रखने, उनकी उन्नति करने के लिये प्रजापति ग्रन्थि से उत्पन्न 'रस' आवश्यक है। इसी रस पर स्त्री-पुरुषों का स्वभाव भी निर्भर करता है। यह रस शरीर के केल्सियम की रक्षा करता है। पुरुषों की वृषण ग्रन्थियाँ अण्डकोष में रहती हैं एवं स्त्रियों के डिम्ब गर्भाशय के दोनों ओर १-१ अवस्थित है। ये ग्रन्थियाँ थाइरायड ग्रन्थि, पिट्यूरी ग्रन्थि, नभः एवं अहं ग्रन्थियों के साथ मिलकर स्त्री-पुरुषों में स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं आयु की रक्षा करती हैं।

इन ग्रन्थियों के रस उत्पादन में अगर किसी प्रकार का दोष है तो पुरुषों को शुक्र-दौर्बल्य, असमय में बाल पकना, शरीर निर्बल होना और आंशिक नपुंसकता आदि रोग हो जाते हैं। स्त्रियों में स्नायुदौर्बल्य, मासिम धर्म की गड़बड़ी, श्वेतप्रदर आदि रोग हो जाते हैं। अगर ये

ग्रन्थियाँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं तो मनुष्य अधिक कामी हो जाता है, उनके विचार दूषित हो जाते हैं। उनकी प्राकृतिक रूप में सन्तुष्टि न होने पर वे अप्राकृतिक और अनैतिक उपाय जैसे हस्तमैथुन आदि करने लगते हैं। फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। स्त्रियों में इन नसों के अधिक सक्रिय होने पर रक्तचाप कम होना, रज का अधिक स्राव होना, गर्भाशय का स्थानभ्रष्ट होना, बन्ध्यात्व आदि रोग हो जाते हैं। महावन्ध मुद्रा के नियमित अभ्यास से ऊपर लिखे सभी रोग दूर होते हैं तथा स्वास्थ्य पूर्णरूप से सुरक्षित रहता है।

महावेध मुद्रा

क्रिया : इस मुद्रा का भली प्रकार अभ्यास करने के पूर्व यह आवश्यक है कि आप सहज प्राणायाम एवं लघु प्राणायाम का अभ्यास ठीक प्रकार से कर लें। सिद्धासन, पद्मासन या अन्य किसी भी ऐच्छिक आसन में वैठें। श्वास पेट से वाहर निकालें। गुदा एवं कामजनक स्नायुओं को ऊपर खींचिये एवं ५ सेकेण्ड तक खींच कर रखें। श्वास पुनः ग्रहण करते समय इन नसों को ढीला छोड़ दें। इस क्रिया को १५-२० बार करें। अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार आप जितना श्वास रोक सकें उसी अनुपात से इसके अभ्यास को बढ़ावें।

उपयोग : किसी भी स्थान-विशेष के संकोचन एवं स्फुरण के परिणाम-स्वरूप वहाँ काफी मात्रा में रक्त का संचार होता है। इसीलिये इन मुद्राओं के अभ्यास से वहाँ की स्नायु, तन्तु, मांस-पेशियाँ एवं ग्रन्थियाँ पुष्ट होकर दृढ़ हो जाती हैं। अतएव मूलबन्ध, महावन्ध, शक्ति-चालनी एवं महावन्ध मुद्राओं के अभ्यास से पेल्विक प्रदेश की ग्रंथियाँ जैसे—अण्डकोष, प्रोस्टेट ग्रन्थि, कूपर्स ग्रन्थि, डिम्ब, बर्थोलिन्स ग्रन्थि स्कीनेज ग्रन्थियाँ आदि स्फूर्ति प्राप्त कर सबल होती हैं। फलतः पूरे शरीर की संजीदगी वनी रहती है। स्वप्नदोष, शुक्र-दौर्बल्य, श्वेत-

प्रदर, गर्भाशय का स्थानभ्रष्ट होना आदि रोग स्वाभाविक रूप से ही इसके अभ्यास से दूर होते जाते हैं। इसके अभ्यास से वीर्यक्षय दूर होता है, शरीर में पूर्ण शक्ति संचित होती है।

महामुद्रा

क्रिया : महाबन्ध मुद्रा एवं महामुद्रा एक दूसरे की सम्पूरक हैं तथा दोनों ही स्त्री-पुरुष की काम-ग्रन्थियों को पुष्ट करती हैं अतएव महावेध मुद्रा करने के उपरान्त शीघ्र यह मुद्रा करनी चाहिये।

मूत्राशय पर अपने दाहिने पाँव को घुटने के पास से मोड़कर दवाव डालें। घुटने से जमीन पर दवाव डालें। बांयें पाँव को सीधा फैला कर इसके अंगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें। ठोड़ी सीने से लगा लें। अव श्वास को खींचते हुए, महाबन्ध मुद्रा की तरह काम-स्नायु को तव तक खींचे रखें जव तक आप साँस रोक सकें। श्वास छोड़ते समय स्नायु को भी छोड़ दें। इस प्रकार १० से २० वार तक करें। इसी क्रिया को विपरीत पैर की एड़ी से मूत्राशय को दवाकर एवं दाहिने पाँव को फैला कर दोहरावें।

उपयोग : मूलवन्ध एवं महामुद्रा का अभ्यास करनेवाले व्यक्ति नासूर या गर्भाशय का शोथ के कभी शिकार नहीं होते। ये दो मुद्रायें यकृत-दोष, कोष्ठवद्धता आदि दूर करने में भी मदद करती हैं। युवकों का स्वप्नदोष रोग इससे दूर होता है तथा स्त्री पुरुष दोनों की स्तम्भन शक्ति वढ़ती है।

मूलबन्ध मुद्रा

रीढ़ मस्तिष्क के आधार से प्रारम्भ होकर गुदा के निकट समाप्त होती है। इस समाप्ति-स्थान से कुछ महत्त्वपूर्ण स्नायु एवं नसें प्रारम्भ होती हैं। योग में मूलाधारचक्र के नाम से यह स्थान प्रसिद्ध है। मूल-

बन्थ मुद्रा के अभ्यास से यह स्थान-विशेष की स्नायु एवं मांसपेशियाँ सुदृढ़ होती हैं ।

मूत्रस्थान के सन्निकट ही कन्दर्प एवं मदन ग्रन्थियाँ अवस्थित हैं जिन्हें पाश्चात्य मत के अनुसार Prostate एवं Cowper's ग्रन्थियाँ कहा गया है। ये ग्रन्थियाँ मूत्राशय के दोनों ओर अवस्थित हैं। कामुक विचार एवं चेष्टा के फलस्वरूप इन ग्रन्थियों में चेतना आती है। स्त्रियों में इन ग्रन्थियों के स्थानपर रतिग्रन्थि एवं मिथुनग्रन्थि, जिन्हें डाक्टरी मत से Bartholin's एवं Skene's glands कहा गया है—विद्यमान हैं। ये भी पुरुषों की कन्दर्प एवं मदन-ग्रन्थियोंके समान कार्य करती हैं।

इस मुद्रा का अभ्यास करनेवालों के लिये इन स्नायु एवं ग्रन्थियों की उत्तम जानकारी आवश्यक है। गुदा एवं मूत्राशय के मध्य भाग को योनिमण्डल कहा जाता है। रीढ़ इसी स्थान के ठीक ऊपर समाप्त होती है। जिसे कन्दस्थान कहा जाता है।

उर्ध्वं मेढ्रात् अधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
ततो नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥

अर्थात् कन्दस्थान की आकृति चिड़िया के अण्डे के समान होती है जो नाभि के नीचे एवं प्रजनन ग्रन्थि के ऊपर अवस्थित है। यहाँ से ७२००० नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के विभिन्न स्थानों की ओर अग्रसर होती हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक बहु-प्रसिद्ध नाड़ियाँ और तत्सदृश अन्य बहुत-सी काम-स्नायु एवं गुदा की स्नायुएँ इसी स्थान से प्रारम्भ होती हैं। गुदा की नाड़ियाँ यही से गुदा-प्रदेश में विभक्त होकर विभिन्न स्थानों तक पहुँचती हैं। ये स्नायु ही अत्रस्थ दूषित पदार्थों को बाहर निकालने के लिये उत्तरदायी हैं। कामस्नायु जिसे कुहू स्नायु कहा जाता है यहीं से प्रारम्भ होकर काम-ग्रन्थियों एवं अन्य

सम्बन्धित अवयवों का नियन्त्रण करती है। अतएव काम से सम्बन्धित शरीर के सभी अंग कुहू नाड़ी के सहयोग से कार्य करते हैं।

एक स्नायु कन्दस्थान से प्रारम्भ होकर रीढ़ तक जाती है। यह रीढ़ की बायीं ओर से ऊपर बढ़ती है। इसे इड़ा नाड़ी या 'सोमग्रन्थि की स्नायु' कहा जाता है। पिंगला नामक दूसरी नाड़ी भी इसी स्थान से प्रारम्भ होकर रीढ़ की दाहिनो ओर से ऊपर बढ़ती है। इड़ा जहाँ समाप्त होती है, वहीं यह भी समाप्त होती है। तीसरी सुषुम्ना नामक नाड़ी कन्दस्थान से प्रारम्भ होकर रीढ़ के साथ ऊपर बढ़ती है तथा विशुद्ध चक्र (गल-प्रदेश) के पास पहुँचकर दो प्रशाखाओं में विभक्त होती है। एक प्रशाखा आज्ञाचक्र एवं दूसरी ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इन तीन महत्त्वपूर्ण नाड़ियों के माध्यम से हमारे श्वास-प्रश्वास की क्रियापर नियंत्रण होता है। अगर हमारे बायें नासिकारन्ध्र से श्वास-क्रिया चालू रहे तो समझना चाहिये कि हमारी इड़ा नाड़ी कार्य-रत है। अगर श्वास दाहिने नासिका-रन्ध्र से है तो पिंगला नाड़ी कार्य-रत है। अगर हमारे दोनों नासिका-रन्ध्रों से श्वास का आना-जाना चालू है तो सुषुम्ना नाड़ी को कार्यरत समझें।

क्रिया : पद्मासन या अन्य किसी सुविधाजनक ध्यान के आसन में बैठें ; श्वास लेते समय शंखिनी नाड़ी को 'मूलस्थान' तक खींचिये। श्वास लेते समय इसे छोड़ दें। साँस धीरे-धीरे या दृढ़तापूर्वक लें। चूकि कुहू एवं शंखिनी दोनों नाड़ियों की उत्पत्ति मूल स्थान से है, शंखिनी को खींचनेपर कुहू में भी अवश्य खिंचाव होगा। लेकिन कुछ दिन के अभ्यास से दोनों नाड़ियों को अलग-अलग खींचा जा सकता है। इन नाड़ियों के खिंचाव के अन्तर को इस उदाहरण से भली प्रकार समझा जा समता है। हम शौच की अवस्था में जब मल को रोकते हैं तब हमें 'शंखिनी नाड़ी' को खींचना होता है। जब कि मूत्र को रोकने के लिये कुहू नाड़ी को खींचना पड़ता है। ये तथ्य याद रखने योग्य हैं।

प्रारम्भ में इसका अभ्यास सुवह-शाम १० वार से अधिक न करें। इसके बाद क्रमशः २० वार तक वढ़ा सकते हैं। इसके अलावा शीघ्र लाभ के लिये प्रतिदिन ३ वार अभ्यास कर सकते हैं।

उपयोग : जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है—शंखिनी नाड़ी के माध्यम से शरीर के अंत्रस्थ मलादि निःसृत होते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से इस नाड़ी में स्फूर्ति आने के परिणामस्वरूप कोष्ठवद्धता, अर्श, शीघ्रपतन, क्षुधानाश आदि रोग दूर होते हैं। योगियों का मत है कि "युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलवन्धनात्"—अर्थात् मूलवन्ध मुद्रा के नियमित अभ्यास से वृद्ध भी युवक हो जाते हैं।

कन्दर्प एवं अन्य काम-ग्रन्थियों से रस के उत्पन्न होने पर कामोत्तेजना होती है। पुराणों में कामदेव को इस उत्तेजना का मूर्त्तरूप माना गया है। वही स्त्री एवं पुरुष के मध्य काम-सम्पर्क उत्पन्न करने का माध्यम है। इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से पुरुषों की कन्दर्प एवं मदन-ग्रन्थियों तथा स्त्रियों की रति एवं मिथुन-ग्रन्थियो में नवजीवन का संचार होता है। इसके फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों में स्तम्भन-शक्ति की वृद्धिं होती है। पेल्विक प्रदेश की अन्य स्नायु भी इस मुद्रा के अभ्यास से सुदृढ़ होती हैं।

योगमुद्रा

क्रिया : पद्मासन या अन्य किसी भी सुविधाजनक मुद्रा जैसे वज्रासन आदि या सिर्फ आलथी-पालथी लगाकर बैठ जावें। अपनी कमर के पीछे दोनों हाथ ले जाकर बायें हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़ लें तथा श्वास छोड़ते हुए सामने की ओर झुककर माथा भूमि पर टेकें। श्वास-रहित अवस्था में ५ सेकेण्ड तक रहें। सामने झुके रहें। क्रमशः श्वास ग्रहण करते हुए पुनः पूर्व स्थिति में आ जावें। इसे ७ से

१० वार तक करें। प्रारम्भ में दिन में २-३ वार करना चाहिये। क्रमशः अभ्यास बढ़ावें।

उपयोग : नामानुसार यह मुद्रा शरीर को योग के लिये तैयार करती है। वास्तव में इसके अभ्याम से यकृत-वृद्धि, प्लीहा के रोग एवं अन्य स्नायु तथा ग्रन्थियों की कमजोरी दूर होकर शरीर स्वस्थ होता है।

शक्ति–चालनीमुद्रा

क्रिया : पद्मासन या गोमुखासनकी मुद्रामें वैठें। धीरे-धीरे श्वास ग्रहण करते हुए कुहू एवं शंखिनी नाड़ी को अन्य सभी सहायक नाड़ियों के साथ ऊपर खींचिये। इसके फलस्वरूप स्वभावतः नाभि-प्रदेश एवं गुदा-प्रदेश पीठ की तरफ आकृष्ट होगा। इसी स्थिति में श्वास रोके रहें एवं ५ से १५ सेकेण्ड तक रहें। इसके उपरान्त श्वास छोड़ते हुए नसों को धीरे-धीरे छोड़ दें। सुवह एवं शाम इस क्रिया को १० से २० वार तक दोहरावें।

उपयोग : इस मुद्राके ठीक प्रकारसे अभ्यास करने से काम-विचार एवं वीर्यप्रवाह रुक जा सकता है। इसके अभ्यास से वीर्य ऊपर की तरफ वहने लगता है। इस प्रकार उर्ध्व-रेता होने में मदद मिलती है।

ऊर्ध्वरेता वनने की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के पूर्व गुदा-प्रदेश एवं पेल्विक-प्रदेश की स्नायु एवं ग्रन्थियों की पूरी जानकारी करा देना आवश्यक है। पुरुष के वृषण वयस्क होनेपर सदैव स्थायी रूप से रक्त प्राप्त करते रहते हैं। विना किसी उत्तेजना के इस रक्त से प्रकृति वीर्य वनाती है जो वहाँ पर कोषों में एकत्रित रहता है। वीर्य संग्रह के ये कोष वीर्यवाहिनी नस की दोनों वगल में अवस्थित हैं। इस नस के दो मुख हैं। एक मुख हृदय में Aorta में खुलता है तथा दूसरा मुख मूत्रमार्ग में अवस्थित है। जव हमारे विचार उत्तेजित होते हैं तो निचला मुख खुल जाता है और वीर्य मूत्रमार्ग से वहने लगता है। जिन व्यक्तियों की

कुहू-नाड़ी सुदृढ़ होती है एवं जिनकी वृषण ग्रन्थियों की कार्यकारिता से नियमित रूप से वीर्य उत्पन्न होता है, उनका वीर्य ऊपर की ओर वढ़ कर रक्त में मिल जाता है। इसके परिणामस्वरूप शरीर में ओज पैदा होता है जो शरीर की सूक्ष्म शक्ति है। इस प्रकार के मनुष्यों की विना इच्छा के वीर्यस्राव नहीं होता है। यही कारण है कि वुढ़ापे में भी वे युवकों के समान शक्तिवाले, सुदृढ़, सशक्त एवं अथक परिश्रमी होते हैं। काम एवं अन्य संलग्न ग्रन्थियाँ अशक्त होकर वीर्य को जब रोक नहीं पाती हैं तव वीर्य के प्रवाह को ऊपर की ओर करने का सामर्थ्य इनमें कहाँ होगा। वीर्यवाहिनी नस का निचला वल्व (valve) ढीला होने के फलस्वरूप कामोत्तेजना होनेपर या कामोत्तेजना न होनेपर भी मूत्र के साथ वीर्य वहने लगता है।

इस ग्रन्थियों की कमजोरी के कई कारण हैं। कई विशिष्ट रोगों के कारण ये नसें एवं ग्रन्थियाँ कमजोर हो जाती हैं। इनमें से Mumps एवं Parotitis नामक ऐसे भयावह रोग हैं जो प्रजनन ग्रन्थियों को नष्ट कर देते हैं। यहाँ तक कि उनके प्रभाव से पितृग्रन्थि एवं मातृ-ग्रन्थि आजीवन नष्ट हो जाती हैं। युवावस्था में अत्यधिक हस्तमैथुन या विवाहित होनेपर अधिक स्त्री-प्रसंग करना भी स्नायुओं के दुर्वल होनेके कारण हैं। जो व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, ध्यानी योगी हैं, आध्यात्म-विचारक हैं, या विज्ञान की उलझनपूर्ण गुत्थियों में उलझते हैं, उनके मस्तिष्क में रक्तादिका संचारण अधिक होता है। परिणामस्वरूप उनके पेल्विल प्रदेश की ग्रन्थियाँ आदि परित्यक्तावस्था में रहने के कारण अनुपयोगी हो जाती हैं। फलस्वरूप स्नायु एवं ग्रन्थियों से संलग्न मांसपेशियाँ कमजोर हो जाती हैं तथा असमय में ही बुढ़ापा आ घेरता है। अतएव कामजनित ग्रन्थियाँ आदि—व्यसनी एवं ब्रह्मचारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की कमजोर हो जाती हैं। स्त्रियों की मातृ-ग्रन्थि, रति-ग्रन्थियाँ एवं मिथुन-ग्रन्थियाँ एवं अन्य स्नायु कमजोर हो जाने के फलस्वरूप वहुत प्रकार के स्त्री-

रोग पैदा हो जाते हैं और समय से पूर्व ही स्त्रियों का सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। शक्तिचालनी मुद्रा के नियमित अभ्यास से इन रोगों की रोकथाम की जा सकती है।

शलभासन

क्रिया : जमीन पर पेट के वल सीधे लेट जावें तथा ठोड़ी जमीन पर रख दें। अपने दोनों हाथ अपनी बगल में जंघाओं के पास मुट्ठी वांध कर सीधा तानकर रख लें। अव कोई भी एक पैर भली प्रकार सीधा ताने हुए जितना ऊँचा उठा सकें उठावें। इस स्थिति में कुछ सेकेण्ड पैर रखें। इसके वाद धीरे-धीरे पाँव जमीन पर रख दें। यही क्रिया दूसरे पैर से भी करें। इसी प्रकार ३-४ बार प्रत्येक पैर से करें। इसके वाद दोनों पैर एक साथ जमीन से ७-८ इंच ऊपर उठावें। यह क्रिया करने के लिये बन्द मुट्ठियों पर दवाव दें। कुछ सेकेण्ड तक इसी स्थिति में रहें। इसके वाद दोनों पैर नीचे कर लें। कुछ सेकेण्ड पैर जमीन पर रहने के वाद प्रारम्भ में इस क्रिया को सिर्फ २-३ वार दोहरावें। कालान्तर में इसे ५-७ बार आसानी से किया जा सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में ऊपर वताये गये तरीके के अनुसार प्रत्येक पैर से अर्धशलभासन का अभ्मास करें। इसके वाद शीघ्र ही एक साथ दोनों पैरों को आप १८ इंच तक उठा सकेंगे।

इस आसन के अभ्यास से फुस्फुस एवं हृदय पर भार पड़ता है। अतएव असक्त फुस्फुस एवं हृदय-रोगवालों के लिये शलभासन का अभ्यास निषिद्ध है।

जिस प्रकार भुजंगासन के अभ्यास से शरीर के ऊपरी आधे भाग को शक्ति मिलती है उसी प्रकार शलभासन के अभ्यास से शरीर का निचला अर्धाङ्ग पुष्ट होता है। कमर एवं हाथ-पैर के गठिया को यह आसन दूर करता है। जिन स्त्रियों को मासिक धर्म के समय वेदना

होती है वे अगर इसका कुछ दिन तक अभ्यास करें तो वेदना न होगी। इसके अतिरिक्त इसका अभ्यास करनेवाले काफी दूर तक, विना थकावट के पैदल चल सकते हैं और अधिक परिश्रम करने योग्य हो जाते हैं। इसके अभ्यास के फलस्वरूप हाथ-पैरके वाहर एवं भीतर की मांसपेशियों एवं स्नायुओं में रक्त का संचार अधिक होता है जिसके फलस्वरूप हाथ-पैर मजबूत होते हैं। इसका ठीक प्रकार से नियमित अभ्यास करने से नितम्ब एवं कमर पर एकत्रित अतिरिक्त चर्बी दूर होकर शरीर सुन्दर हो जाता है। साथ ही फुस्फुस भी सुदृढ़ होता है।

शवासन

क्रिया : पीठ के बल लेट जावें। हाथ-पैर सीधे रखें। दोनों हाथ वगल में जमीन पर रखें। अव क्रमशः शरीर के नसों एवं मांस-पेशियों के नियंत्रण को ढीला करें। सर्वप्रथम पैर, उसके बाद हाथ, शरीर के अन्य भागों की नसों का नियंत्रण ढीला कर शव की तरह लेटे रहें। सर्वाधिक कठिन कार्य है मस्तिष्क को कार्यमुक्त करना ताकि यह क्रियाहीन हो जाये जैसा कि प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में होता है। मृत शरीर की मुद्रा में इस आसन का अभ्यास १५ मिनट तक सभी क्रिया विचार एवं शरीर के नियंत्रण को छोड़कर करें। आपको शारीरिक थकावट से मुक्ति मिलेगी तथा आपका मस्तिष्क शक्तिशाली वनेगा। **इस आसन का अभ्यास सभी आसन एवं मुद्राओं के अभ्यास के शेष में करना चाहिये। यह शरीर एवं मस्तिष्क को स्वस्थ रखने के लिये आदर्श आसन है।**

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से शरीर काम करने को तैयार होता है, पहले की थकावट आदि दूर होती है ; जो व्यक्ति किसी कारण वश नहीं सो सकते हैं, वे निद्रा के स्थान पर इसका अभ्यास करें। इससे शरीर स्वस्थ रहेगा और उसकी कार्यक्षमता बनी रहेगी।

थकावट का अर्थ है स्नायुओं का शिथिल हो जाना। परिश्रम के उपरान्त इस आसन के अभ्यास से शरीर में पुनः शक्ति आ जाती है। गरीब एवं मध्यवित्त परिवार की स्त्रियों को दिन-रात काम करते रहने के कारण वे अस्वस्थ हो जाती हैं। जव भी उनको शरीर या मस्तिष्क में थकावट या भारीपन अनुभव हो, वे अपने बिस्तरपर ही इस आसन का अभ्यास करें। यह आसन सभी व्यक्तियों के लिये अतीव उपयोगी है। इस आसन के अभ्यास से विद्यार्थीगण परीक्षा के समय रात में अधिक समय तक पढ़ सकते हैं तथा उनके स्वास्थ्यपर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होगा।

कमजोर, रोगी या वृद्ध व्यक्ति आसन या मुद्राओं के अभ्यास के बीच में इस आसन का अभ्यास करें। जिन व्यक्तियों को रक्तचाप या हृदय का रोग है उनके लिये यह आसन वरदान-स्वरूप है। जब कि योगी इसी आसन के माध्यम से योगनिद्रा प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करते हैं।

शशांगासन

क्रिया : वज्रासन की मुद्रा में बैठिये। अपने दोनों हाथों से अपनी एड़ियाँ पकड़ लें। अव अपने नितम्ब-प्रदेश को इस प्रकार उठावें कि घुटने झुककर जमीन छूने लगे तया घुटनों के ठीक सामने आप सिर को रख दें। यहाँ तक क्रिया करने तक आप धीरे-धीरे श्वास छोड़ते रहें। शरीर को मोड़ते समय हाथ सीधे तानकर रखें। इस स्थिति में ५ से १० सेकण्ड तक रहें। श्वास वन्द रखें। अव धीरे-धीरे श्वास लेते हुए अपना शरीर उठाकर पुनः वज्रासन की स्थिति में आ जावें। इस आसन का अभ्यास ४-५ वार किया जा सकता है।

उपयोग : इस आसन के अभ्यास से रीढ़ की स्नायु तथा मांस-पेशियाँ, नभः तथा अहं ग्रन्थियाँ (जैसे—थाइरायड, पिट्यूटरी तथा

तालुग्रन्थि आदि) सवल होती हैं तथा भूख को जाग्रत करतो है। जो व्यक्ति शीर्षासन का अभ्यास करने में असमर्थ हैं उन्हें इस आसन का अभ्यास करना चाहिये। आंशिक लाभ अवश्य होगा।

सर्वाङ्गसाधन मुद्रा

क्रिया : जो व्यक्ति विपरीतकरणी मुद्रा का भली प्रकार अभ्यास कर लेते हैं वे सर्वाङ्ग-साधन मुद्रा या सर्वाङ्गासन का अभ्यास भली प्रकार कर सकते हैं। सर्वाङ्गासन का उपयोग एवं विपरीतकरणी मुद्रा का उपयोग पृथक्-पृथक् है।

विपरीतकरणी मुद्रा की तरह पीठ के वल लेट जावें। दोनों पाँवों को कन्धे की सीध में ऊपर उठावें ताकि सारे शरीर का भार कन्धों पर रहे। विपरीतकरणी मुद्रा में हाथों से कमर को सहारा दिया जाता है जवकि सर्वाङ्गासन में हाथों से पीठ को सहारा दिया जाता है। ठुड्डी को सीने से लगावें। पर विपरीतकरणी मुद्रा में ठुड्डी एवं सीने में अन्तर रहता है।

इस मुद्रा की आकृति में कुछ अन्तर है। हाथों को जमीन पर समानान्तर भी रखा जा सकता है या दोनों हाथों को आपस में बाँध कर पीठ पर दवावें इससे शरीर को कन्धों के सहारे सीधा रखने में मदद मिलती है। अगर ५ मिनिट तक आप इस मुद्रा में स्थिर रह सकें तो यह प्रमाणित हो जायेगा कि आप इस मुद्रा को भली प्रकार कर सकेंगे। कमजोर या रोगी व्यक्ति इसका अभ्यास १ मिनिट से अधिक न करें। इसमें शीघ्रता भी न करें। अधिक से अधिक १० मिनट तक इसका अभ्यास किया जा सकता है। अगर किसी कारणवश इसका अभ्यास न किया जा सके तो सहज विपरीतकरणी का अभ्यास करें।

उपयोग : सर्वाङ्गासन के लाभ आश्चर्यजनक हैं। जो भी व्यक्ति इसका नियमित अभ्यास करेंगे उन्हें आश्चर्यजनक लाभ होगा। संक्षेप

में यों कहिये कि इस आसन से सभी रोग दूर होते हैं। नभःग्रन्थि, गल-ग्रन्थि, एवं लाला-ग्रन्थि आदि जो हमारे शरीर की रक्षा करनेवाली हैं, वे सभी इस आसन से पुष्ट होती हैं। नभ या व्योमतत्त्व जिनका विवरण प्रथम परिच्छेद में दिया जा चुका है अन्य सभी तत्वों का मूलाधार हैं। अतएव अन्य ग्रन्थियों की अपेक्षा इनका महत्व अधिक है और इनके भली प्रकार स्वस्थ रहने से शरीर सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ रहता है। अत-एवं जब ये ग्रन्थियाँ स्वस्थ और सबल रहती हैं तब कोई भी रोग शरीर को प्रभावित नहीं कर सकता है। अगर ये कमजोर रहेंगी तो अन्य सभी ग्रन्थियाँ, स्नायु आदि कमजोर रहेंगे।

ये दोनों ग्रन्थियाँ गले के मूल भाग में अवस्थित हैं। सर्वाङ्गासन का अभ्यास करते समय इस अंग में भरपूर रक्तका संचार होता है जिससे यहाँ की ग्रन्थियाँ अपना पोषण प्राप्त करती हैं।

आधुनिक चिकित्सकों ने इसके सम्बन्ध में काफी अनुसन्धान किया है। इन सभी ग्रन्थियों में नभ ग्रन्थियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऑपरेशन के जरिये इन ग्रन्थियों को नष्ट कर देने के फलस्वरूप शरीर नानाविध रोगों के आक्रमण का क्षेत्र बन जाता है जिससे अनेक व्यक्ति अकाल में ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। चिकित्सा-शास्त्रियों ने प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया है कि थाईरायड ग्रन्थि से उत्पन्न रस का अगर शरीर में इन्जेक्शन देकर रक्तकी श्वेत-कणिकाओं एवं रक्त-कणिकाओंकी क्षतिपूर्ति कर देने से शरीर में क्रमशः पुनः बल का संचार होता है। तालुग्रन्थियों को भी काट देने से इसी प्रकार का प्रभाव होता है।

आयुर्वेद के प्राचीन चिकित्सकों को थाइरायड ग्रन्थि एवं इसके उपयोग का पूर्ण ज्ञान था। मकरध्वज नामक प्रसिद्ध औषधि के अविष्कार के पीछे उनका यही ज्ञान छिपा था। क्योंकि मकरध्वज के महत्वपूर्ण मूल द्रव्य पारद का थाइरायड ग्रन्थि पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि यह इन ग्रन्थियों को उत्तेजित करता है, यही कारण है कि मकरध्वजका अनुपान-भेदसे सभी रोगोंमें उपयोग किया जाता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों का मत है कि थाइरायड के अन्तर्मुखी रस में आयडिन काफी मात्रा में है। हमारे रक्त के लिये आयडिन मुख्य द्रव्य है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थि एवं स्नायु को स्वस्थ रखने के लिये भी आयडिन अति उपयोगी है। अतः यह सिद्ध है कि थाइरायड-जनित रस के अभाव में शारीरिक स्वास्थ्य का ह्रास होता है।

इस ग्रन्थि का अन्य नाम है "यौवनग्रन्थि"। क्योंकि इस ग्रन्थि के जाग्रत होनेपर शरीर में यौवन-चिह्न बनने लगते हैं एवं इसके सुप्त होनेपर बुढ़ापा एवं स्नायु-दौर्बल्य हो जाता है। **शारीरिक क्रिया-विज्ञान एवं शारीरिक शास्त्र के अनुसार बुढ़ापा एवं स्नायु-शिथिलता भी रोग ही हैं। अतएव ये आसन एवं मुद्राएँ निःसंदेह शरीर को स्वस्थ रखते हुए बुढ़ापा आदि का प्रतिरोध करने लायक बनाता है, बशर्ते कि इनका अभ्यास नियमपूर्वक किया जाये।**

मेकफारडेन जैसे शरीर शास्त्री इस ग्रन्थि के महत्व को समझते हुए इसके लिये समुचित व्यायाम का प्रचलन किया; जैसे—गर्दन को दोनों तरफ मोड़ना। लेकिन इनका अन्य स्नायु एवं मांसपेशियों पर आंशिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार ये व्यायाम थाइरायड ग्रन्थि को उतना पुष्ट नहीं कर पाते हैं जितना सर्वाङ्गासन कर सकता है। सर्वाङ्गासन के अभ्यास से सभी इच्छित लाभ प्राप्त होते हैं।

सर्वाङ्गासन का नित्य अभ्यास करनेवाले व्यक्ति को हैजा, चेचक, टाइफायड, निमोनिया, उदरशूल, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, अपचन, यकृत और प्लीहा के रोग नहीं हो सकते हैं। यह कमजोरी, सिर चकराना, अंत्र-वृद्धि आदि रोगों को दूर करता है। इसके अभ्यास से स्त्रियों के मासिकधर्म के रोग, जरायु एवं गर्भाशय आदि ठीक रहते हैं।

अगर कोई व्यक्ति किसी कारणवश सर्वाङ्गासन का अभ्यास न कर सकें तो उन्हें सहज विपरीतकरणी या सहज शीर्षासन का अभ्यास करना चाहिये। ये भी उसके स्थान पर उपयुक्त हैं।

हलासन

क्रिया : अपने हाथों को शरीर की वगल में सीधा रखते हुए पीठ के बल लेटिये। धीरे-धीरे दोनों पैरों को जमीन के साथ कोण वनाते हुए उठावें। पाँव उठाते समय ३० डिगरी का कोण वनाकर ठहर जावें। फिर ६० डिगरी का कोण वनाकर ठहर जावें। धीरे-धीरे पाँव को अपने सिर की तरफ नीचे करें। अपने कटिप्रदेश को उठाते हुए एवं अपने हाथों को यथास्थान रखते हुए पाँवों को नीचे कर सिर के पास अंगूठे से जमीन छुवें। आपके सिर एवं जाँघों में करीव ३ इंच का अन्तर रहेगा। इस अवस्था में १० सेकेण्ड तक रहें। इसके वाद धीरे-धीरे प्रारम्भ की स्थिति में आ जावें। इस आसन का भली प्रकार अभ्यास हो जाने के वाद अपने पाँवों को क्रमशः उठाते समय श्वास ग्रहण करें एवं वापस जमीन पर रखते समय श्वास छोड़ें। जव तक आप आसन की अवस्था में रहें अर्थात् अपने अंगूठों से जमीन छूए रहें श्वास रोकें। यह आसन सुवह एवं शाम को केवल ३-४ वार तक करें। सिर्फ शीतकाल में इसका अभ्यास थोड़ा वढ़ाया जा सकता है। विपरीतकरणी मुद्रा एवं सर्वाङ्गासन भली प्रकार कर सकने की अवस्था के वाद इस आसन का अभ्यास प्रारम्भ करें। इस आसन की मुद्राओं में भिन्नता है। जैसे—जाँघ एवं सिर के वीच में अन्तर न रखा जाये या दोनों हाथों की हथेलियों को जमीन पर न रखकर आपस में जोड़कर सिर के नीचे सहारे के वतौर रखा जाये।

उपयोग : रीढ़ की हड्डी के सामने के भाग से लगी हुई मांस-पेशियाँ एवं स्नायुकेन्द्र इस आसन के अभ्यास के समय संकुचित एवं प्रसारित होते हैं और इसके फलस्वरूप सुदृढ़ होते हैं। शरीर की स्फूर्ति एवं रीढ़ की हड्डी की लचक को स्थायी रखनेवाला यह एक आसन है। चूँकि इस आसन के अभ्यास के समय जंघा-प्रदेश, पेल्विक प्रदेश, उदर और हृदय एवं रीढ़ की हड्डी की मांसपेशियों में प्रसारण एवं संकोचन

होता है अतएव वे सबल होती हैं, अतिरिक्त मेद घट जाता है, प्लीहा एवं यकृत के दोष (रोग) दूर होते हैं, हृदय सवल होता है। इसके अभ्यास से क्षुधानाश, कोष्ठवद्धता एवं मधुमेह रोग नहीं होते, शरीर की नभः ग्रन्थियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

बारह वर्ष की उम्र से छोटे बच्चे के लिये इसका अभ्यास वर्जित है। शुरू-शुरू में यह आसन सुवह की अपेक्षा शाम के समय आसानी से होगा।

प्राणायाम

(श्वास बढ़ाने की प्रक्रिया)

प्राणायाम का अर्थ है—प्राण+आयाम अर्थात् श्वास का बढ़ाना। योग में प्राणायाम उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके क्रमिक अभ्यास से जीवनी शक्ति बढ़ती है, आयु बढ़ती है, तथा शरीर रोग, बुढ़ापा, शिथिलता और अकालमृत्यु का सामना करने में सशक्त होता है। उच्च स्तर के कई प्रकार के प्राणायाम हैं जिनका यौगिक साहित्य में वर्णन किया गया है। ये—लघु, वैदिक, राजयोग आदि प्रकार के प्राणायाम हैं। यहाँ हम कुछ सहज एवं सुगम प्राणायामों का उल्लेख कर रहे हैं जिनका अभ्यास रोगियों के लिये लाभदायक है।

प्राणायाम का अभ्यास करनेवाले को वायु का पूरा ज्ञान होना चाहिये। वायु प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पाँच प्रकार की है, जिनका योग के मतानुसार पहले वर्णन किया जा चुका है।

इस प्रकार प्राणायाम एक कला है—जिसके अभ्यास से वायु की ग्रन्थियाँ सशक्त होती हैं, फुस्फुस की क्षमता बढ़ती है ताकि यह अधिक वायु रख सके, जिसके फलस्वरूप शरीर के लिये अधिक ऑक्सीजन प्राप्त होता है और रक्त शुद्ध होता है।

फुस्फुस से प्राप्त ऑक्सीजन के सहयोग से रक्त की रक्त-कणिकाएँ रक्त तक ऑक्सीजन पहुँचाती हैं और यह ऑक्सीजन युक्त रक्त शरीर में अस्थि, मांस, मज्जा आदि का निर्माण करता है तथा शरीर की स्नायु, कोष एवं मांसपेशियों की सम्पूर्ण संचार-प्रणाली अर्थात् सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है।

योगशास्त्र के अनुसार प्राणवायु जोवन है और इसका अधिकाधिक प्रयोग करें।

निर्वल या रोगी व्यक्तियों की श्वासक्रिया धीमी होती है। पाचक अग्नि इस ऑक्सीजन को जलाकर कारवन उत्पन्न करती है जिसका शरीर में अधिक एकत्र होना विपद्‌जनक है। जब तक श्वास छोड़ने के जरिये इसे शरीर से बाहर नहीं निकाला जाता, तव तक रक्त के सम्पर्क से यह रक्त के ऑक्सीजन को नष्ट कर शरीर में कमजोरी पैदा करता है। एक अशक्त रोगी, चूंकि इस कार्बन को शरीर से वाहर नहीं निकाल पाता है इसलिये नानाविध रोगों का उसपर आक्रमण होता ही रहता है। इससे छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि शुद्ध वायु अधिक मात्रा में सेवन करें। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के श्वास-प्रश्वास के विशेषज्ञ भी हमारे इस कथन को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि **प्राणायाम के विना किसी भी रोग का स्थायी इलाज नहीं हो सकता।** केवल प्राणायाम ही शरीर को इस विषाक्त कार्बन से मुक्त कर सकता है जिसके फलस्वरूप रक्त को ऑक्सीजन प्राप्त होता है तथा स्नायु एवं ग्रन्थियां इस विशुद्धीकृत रक्त से पोषण प्राप्त करती हैं। अत-एव आसन एवं मुद्राओं के गुणों के बावजूद भी **प्राणायाम सर्वाधिक उपयोगी है।** प्राणायाम के विना ये आसन एवं मुद्राएँ उसी प्रकार दिखावा मात्र हैं जिस प्रकार राजा दक्ष का यज्ञ शिवजी के विना निरर्थक था। यही कारण है कि पूर्ण लाभ-प्राप्ति हेतु हमने स्थान-स्थान पर प्राणायाम का अभ्यास करने का परामर्श दिया है।

सहज प्राणायाम

यौगिक साहित्य में वर्णित सभी प्राणायाम रोगी के लिये नहीं हैं। कुम्भक प्राणायाम को हमने सहज प्राणायाम तथा भ्रमण प्राणायाम के रूप में संशोधित कर यहाँ उल्लेख किया है। रोगियों के उपयोग के लिये हमने श्वास रोकने की क्रिया को सम्मिलित नहीं किया है। हठयोग के प्रकरण में वर्णित ‘कपालभाति’ तथा ‘सूर्यभेद’ प्राणायाम के

भेद-प्रभेद हैं—इस पुस्तक में लिखे हुए प्राणायाम के तरीके। रोग-मुक्ति के लिये सहज प्राणायाम तथा भ्रमण प्राणायाम अति उपयोगी हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि अभ्यास में अगर कुछ गलती भी हो तो उससे कोई हानि नहीं हो सकती। अतएव ये तरीके सर्वाधिक भयरहित हैं एवं आसानी से इनका अभ्यास किया जा सकता है। केवलमात्र प्राणायाम के अभ्यास से बीस प्रकार के राजयक्ष्मा, निमोनिया, इन्फ्लुएंजा, श्वास और कफ, खाँसी आदि रोग दूर होते हैं। सैकड़ों रोगियों पर इन सबकी परीक्षा कर देखा जा चुका है।

(१)

(क) पीठ के बल लेट जायें। एड़ियाँ मिली रहनी चाहिये। दोनों हाथ बगल में रखें। धीरे-धीरे श्वास ग्रहण करते हुए हाथों को उठाकर सिर के बगल में रखें। तदुपरान्त श्वास छोड़ते हुए हाथों को वापस अपनी बगल में ले आवें। इस क्रिया को एक मिनट तक करते रहें।

(ख) लेटे-लेटे अपने हाथ बगल में रखते हुए दाहिना पैर जमीन से ऊपर सीधा उठावें। इस समय श्वास ग्रहण करें। श्वास छोड़ते हुए पैर वापस जमीन पर रख दें। इसी क्रिया को बायें पैर से करें। एक मिनट तक इस क्रिया को दोहराते रहें। इसके बाद विश्राम करें।

उपयोग : साधारण तौर पर इस क्रिया से हृदय एवं फुस्फुस सबल होते हैं तथा हाथ-पैर का लकवा रुकता है। कफ-खाँसीजनित रोग का प्रतिरोध भी होता है।

(२)

किसी ध्यानासन में (पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन प्रभृति को ध्यानासन कहता है)। बैठें या सीधे खड़े रहें। फुस्फुस की क्षमता

के अनुसार भरपूर श्वास ग्रहण करें। धीरे-धीरे मुंह से एक रफ्तार पर श्वास छोड़ें। इस क्रिया को २-३ मिनट तक दोहराते रहें।

उपयोग : इस क्रिया से फुस्फुस के सभी दोष दूर होते हैं। यहाँ तक की राजयक्ष्मा के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। पेट एवं यकृत के रोगों को दूर करने में इससे सहयोग मिलता है। इसके अभ्यास से बच्चों का रक्त शुद्ध होता है तथा उनके खुजली आदि रोग दूर होते हैं।

(३)

किसी ध्यानासन में बैठें या कुर्सीपर सीधे बैठ जावें। जोर से नाक से साँस लें। ठुड्डी को गले से दबाकर मुख नीचा कर श्वास छोड़ दें। धीरे-धीरे श्वास लेते हुए मुख को पूर्व स्थिति में ले आवें। इस प्रकार २-३ मिनिट तक अभ्यास करें। अभ्यास के समय श्वास छोड़ने में श्वास ग्रहण करने से अधिक समय लगना चाहिए।

उपयोग : इससे कफ-खाँसी दूर होती है। टाइफाइड, निमोनिया आदि जैसी भयंकर वीमारियों का प्रतिरोध करने की शरीर में ताकत आती है।

(४)

ध्यानासन में वैठकर श्वास इतना छोड़ें कि पेट खाली हो जाये। अपने पेट की नसों में विना किसी प्रकार का तनाव पैदा किये नाभि को भीतर की तरफ खींचे। जब तक आप श्वास रोक सकें इसी स्थिति में रहें तदुपरान्त श्वास ग्रहण करते हुए तनाव कम कर दें। इस क्रिया को २-३ मिनिट तक दोहरावें।

उपयोग : इस प्राणायाम के अभ्यास से अपचन दूर होगा, भूख बढ़ेगी ; पेट पर एकत्रित अतिरिक्त चर्बी घटेगी, उदर-भाग की स्नायु एवं मांसपेशियों को बल प्राप्त होगा। पुरुषों की वृषण एवं स्त्रियों की

डिम्ब-ग्रन्थियों को नवजीवन प्राप्त होता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से वीर्य के ऊर्ध्व वहन में मदद मिलती है।

(५)

पीठ के बल लेट जायें और शरीर को ढीला छोड़ दें। दोनों हांथों की अंगुलियों को आपस में मिलाकर नाभि पर रख लें। नाक के द्वारा गहरे रूप में यह सोचते हुए श्वास लें कि इस श्वास से वायु के साथ आपके नाभि-प्रदेश में जीवनी शक्ति पहुँच रही है। पूर्णरूप से श्वास ग्रहण करने के बाद धीरे-धीरे यह सोचते हुए श्वास छोड़ें कि श्वास के साथ नाभि-प्रदेश में एकत्रित शक्ति आपके सम्पूर्ण अंगों की स्नायु, नसों तथा मांसपेशियों एवं अन्य अवयवों में प्रवाहित होकर आपके शरीर को शक्तिशाली बना रही है। साथ ही वह शरीर को नुकसान पहुँचानेवाले कीटाणु या अन्य पदार्थों का नाश कर रही है। इस प्रकार सोचते हुए इस क्रिया को ३ से ४ मिनिट तक करें।

उपयोग : इस अभ्यास में प्राणायाम के सभी गुण मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त इस अभ्यास से 'इच्छाशक्ति' की वृद्धि होती है।

(६)

ध्यानासन में बैठकर दोनों नासिका-रन्ध्रों से एक साथ पूरा श्वास ग्रहण करें। अपने होठों से चिड़ियों की चोंच के समान आकृति बनाकर श्वास छोड़ें। इस क्रिया को ८-१० बार करें।

उपयोग : इस क्रिया में प्राणायाम के सभी गुण हैं। इसके अतिरिक्त इसके अभ्यास से मुँह और गले में स्थित कीटाणु नष्ट होते हैं, श्वासनली को सुदृढ़ बनाता है। चेहरे के पक्षाघात या चेहरे के अन्य रोगों को दूर करने में सहायक है।

(७)

आराम से सीधे तनकर बैठिये। अपना हाथ इस प्रकार नाक पर रखें कि दाहिने नासिका-रन्ध्र पर आपका अंगूठा रहे। बायें नासिका-रन्ध्र से धीरे-धीरे भरपूर श्वास लें। अंगूठे का दवाव हटाकर दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास छोड़ें। श्वास छोड़ते समय बायें नासिका-रन्ध को अंगुली से दवा लें। अव दाहिने नासिका-रन्ध्र से श्वास ग्रहण करें और बायें रन्ध्र से छोड़ें। यह क्रिया करते समय यह ध्यान रखें कि श्वास लेते समय जितना समय आपको लगे श्वास छोड़ते समय उससे अधिक समय लगे। इस प्राणायाम के ४ अंग है—एक नासिका रन्ध्र से श्वास लेना दूसरे से छोड़ना, इसके बाद पहलेसे श्वास छोड़ना और दूसरे से श्वास ग्रहण करना। इस सम्पूर्ण क्रिया को १० से १५ वार तक या अधिक लाभ के लिये अधिक वार दोहरावें।

उपयोग : इसके अभ्यास से हमारी तीनों नाड़ियाँ—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना परिष्कृत होती हैं तथा शरीर कफ खाँसी जैसे रोगों से मुक्त होता है।

(८)

अपने होठों के बीच से जीभ बाहर निकालते हुए चिड़ियों की चोंच की शकल बनावें। इसी-आकृत में मुँह से श्वाम लें, ५ सेकेण्ड तक गले में रोकें तथा धीरे-धीरे नाक से बाहर निकाल दें। इस क्रिया को एक साथ ३-४ वार या अधिक से अधिक १० बार तक किया जा सकता है।

उपयोग : इस क्रिया को योगशास्त्र में 'शीतली प्राणायाम' कहा गया है। पित्त-प्रकृति के व्यक्तियों को, जिनके हाथ-पैरों में जलन होती हो उन्हें इसका कुछ दिन अभ्यास करने से ही लाभ प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इस क्रिया के अभ्यास से रक्तशोधन होता है ज़िसके

फलस्वरूप शरीर में खाज, खुजली, फोड़ा-फुन्सी आदि रोग नहीं होते हैं। योगशास्त्र में यहाँ तक लिखा है कि इस क्रिया का नियमित अभ्यास करनेवाला साँप के काटने से भी नहीं मरता है। इसका अभ्यास शीत ऋतु में न करें। जिनको सर्दी-जुकाम की प्रकृति हो वे इसका अभ्यास न करें।

(९)

सीधे खड़े होकर अपने हाथ क्रमशः अपने वाँये एवं दाहिने वक्ष पर रख, कोहनियों को अधिक-से-अधिक पीछे की ओर खींचिये। वक्ष एवं हाथ की नसों तथा मांस-पेशियों में तनाव पैदा करते हुए नाक से गहरा श्वास लें। इसी प्रकार हाथों एवं वक्ष के तनाव को क्रमशः कम करते हुए श्वास छोड़ें। इस क्रिया को ५ से ६ बार तक दोहरावें।

उपयोग : इस क्रिया में प्राणायाम के सभी गुण हैं। इसके अतिरिक्त यह वक्षस्थल की लचक को स्थायी रखता है तथा हृदय एवं फुस्फुस को भली प्रकार कार्य करने योग्य बनाता है।

(१०)

अपने सिर से ऊपर हाथ उठाकर सीधे खड़े हो जावें। क्रमशः हाथों को नीचे लाते हुए श्वास छोड़ें एवं साथ ही शरीर को सामने की ओर झुकाते हुए हाथोंकी हथेली घुटनों पर रखें। अब पुनः श्वास लेते हुए अपना शरीर सीधा करें और दोनों हाथ सिर के ऊपर ले जावें। कुछ समय विश्राम कर इसी क्रिया को पुनः करें। इस प्रकार ६ से ८ वार तक करें।

उपयोग : राजयक्ष्मा एवं प्लुरिसी में रोगी जल्दी-जल्दी तथा छोटे-छोटे श्वास लेता है। इस क्रिया के अभ्यास से श्वास ग्रहण करने की क्षमता वढ़ती है तथा इस प्रकार की घातक बीमारियों का प्रतिरोध होता है।

भ्रमण प्राणायाम

भ्रमण प्राणायाम हमारा निजी आविष्कार है। इसके लाभ चमत्कारी हैं।

धुआँ या धूल-रहित रास्तों का चुनाव कर सुबह और शाम घूमने के लिये घर से निकलें।' स्त्रियाँ या घर से वाहर निकलने में असमर्थ व्यक्ति इसका अभ्यास कहीं खुली जगह, बरामदा या छत पर घूमते हुए कर सकते हैं। चलते समय आपका शरीर सीधा रहना चाहिये। श्वास धीरे-धीरे संख्या गिनते हुए ग्रहण करना चाहिये। भरपूर श्वास ग्रहण करने के बाद श्वास छोड़ने की क्रिया भी इसी प्रकार मन में संख्या गिनते हुए करें। ताकि पेट श्वास से खाली हो जाये। श्वास ग्रहण करते समय १, २, ३, ४, तक गिनें एवं श्वास छोड़ते समय १, २, ३, ४, ५, ६ तक गिनें। प्रारम्भ में रोगी या निर्बल व्यक्ति इन संख्याओं को समान-समान रख सकते हैं। एक सप्ताह तक अभ्यास करने के वाद उनकी सभी वाधायें दूर हो जायेंगी और वे भी ऊपर लिखे अनुसार ही कर सकेंगे। धार्मिक विचारों के व्यक्ति संख्या गिनने के स्थान पर प्रणव मन्त्र 'ॐ' का भी उच्चारण कर सकते हैं। इस प्रकार सुविधा होने पर श्वास छोड़ने एवं ग्रहण करने की क्रिया को ६ से ८ कदम तक क्रमशः बढ़ावें। इस क्रिया का कुछ सप्ताह तक अभ्यास करें इसके बाद ८ से १२ कदम तक तथा अन्तिम रूप में १२ से १८ कदम तक श्वास-प्रश्वास ग्रहण करें। यही शेष सीमा है। इस क्रिया का भली प्रकार अभ्यास करने के उपरान्त आपको संख्या गिनने की आवश्यकता ही नहीं है। सिर्फ श्वास-प्रश्वास की क्रिया के साथ अपनी क्षमता के अनुसार भ्रमण करें। इस प्रकार २-३ वर्ष तक लगातार अभ्यास करने के बाद आप चलते समय सदैव भ्रमण प्राणायाम का अनवरत अभ्यास घण्टों करते रहें।

लेकिन अपनी क्षमता से अधिक या एक साथ अधिक श्वास-प्रश्वास

वढ़ाने का प्रयास न करें । इसकी सफलता धीरे लेकिन नियमित अभ्यास पर ही निर्भर करतो है। यही सिद्धान्त अन्य आसन आदि पर भी लागू होता है। विशेष रूप से इसका ध्यान रखें कि आपको श्वास-प्रश्वास में किसी प्रकार की अड़चन महसूस न हो । अन्यथा साधारण रूप से २-३ बार श्वास लेकर पुनः इस क्रिया का अभ्यास करें ।

प्रारम्भ में कुछ हफ्तों के लिये २ मिनिट तक अभ्यास करें । भ्रमण के प्रारम्भ में २ मिनिट, भ्रमण के मध्य में २ मिनिट तथा भ्रमण के अन्त में २ मिनिट अभ्यास करें । अर्थात् आप आधा घण्टे के भ्रमण मात्र ६ मिनिट ही इस क्रिया का अभ्यास करें । इसमें सफलता मिलने पर ३×३=९ मिनिट तक अभ्यास बढ़ावें । जब आप ३×३ मिनिट तक अभ्यास भली प्रकार कर सकें तब ४ × ३ मिनिट तक अभ्यास करें और इसी प्रकार इस अभ्यास को अपनी क्षमता के अनुसार वढ़ाते जायें । इस क्रिया की सफलता आपके फुस्फुस की क्षमता से भी सम्वन्धित है । कभी भी योग में जल्दीवाजी से काम न लें ।

उपयोग : साधारण प्राणायाम के सभी गुण भ्रमण प्राणायाम में भी हैं । इसके अभ्यास से हृदय और फुस्फुस आदि शरीर की सुरक्षा करनेवाले अंग सशक्त होते हैं, रक्त शुद्ध होता है तथा कमजोरी दूर होती है । यह प्राणायाम अगर आसानीपूर्वक आधा घण्टा के लिये प्रतिदिन अभ्यास किया जाये तो तपेदिक, प्लुरिसी, श्वास, टाइफाइड और इन्फ्लुएँजा जैसे रोग भी शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकते । कमजोर व्यक्तियों के शरीर में शक्ति का संचार होता है । अधिक उम्र की स्त्री या पुरुषों के लिये भ्रमण प्राणायाम अति उपयोगी है । जो व्यक्ति इन योगासनों से असन्तुष्ट है वे सुबह-शाम खुली हवा में कुछ दिनों तक भ्रमण प्राणायाम का अभ्यास करें तो वे अवश्य लाभान्वित होंगे । इसके साथ अगर भोजन पर समुचित नियन्त्रण अगर रखा जाये तो सभी प्रकार के रोगों से शरीर की निश्चित सुरक्षा हो सकेगी । किसी रोग

का आक्रमण होना तो दूर रहा, इस प्राणायाम का अभ्यास करनेवाले के पास भी रोग नहीं आ सकते।

श्वास ग्रहण करने एवं श्वास छोड़ने की क्रिया धीरे-धीरे होनी चाहिये एवं अभ्यास की अवधि भी सावधानी से क्रमशः बढ़ानी चाहिये। अभ्यास में वृद्धि करते समय व्यक्तिगत क्षमता का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस प्राणायाम या अन्य किसी भी प्राणायाम के अभ्यास के समय सीने के बांयी ओर अगर थोड़ी-सी भी वेदना प्रतीत हो तो यह समझना चाहिये कि अभ्यास क्षमता से अधिक हो रहा है। ऐसी स्थिति में कुछ दिनों के लिये विश्राम करने के बाद ही इसका अभ्यास पुनः प्रारम्भ करना चाहिये।

तपेदिक रोग के प्रतिरोध के लिये स्कूल में पढ़नेवाले बच्चों को बी० सी० जी० के टीके लगवाना अनिवार्य कर दिया गया है। इस औषध के फलस्वरूप होनेवाली हानियों का वर्णन अन्यत्र किया गया है। आजकल समाचार पत्रों में भी इस विषय में काफी समाचार प्रकाशित हो रहे हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक समझता हूँ कि बी० सी० जी० के टीके से न तो तपेदिक निर्मूल होती है और न मनुष्यों का खोया हुआ स्वास्थ्य ही पुनः प्राप्त होता है। अगर इस देश में बच्चों के स्वास्थ्य का हम निर्माण करना चाहते हैं तो यौगिक अभ्यास, मुद्रायें तथा प्राणायाम आदि का प्रचलन आवश्यक है। यह एक अच्छा समचार है कि अमेरिका के बहुत से विश्वविद्यालयों ने औगिक अभ्यास कुछ वर्षों से छात्रों के लिये अनिवार्य कर दिया है।

अगर सिर्फ भ्रमण प्राणायाम का ही अभ्यास किया जाय तो अभ्यासार्थी पर तपेदिक का आक्रमण न हो सकेगा। **अगर हम राजयक्ष्मा को भारत से दूर भगाना चाहते हैं तो भ्रमण प्राणायाम एक सुनिश्चित उपाय है।** यह अभ्यास बिना अधिक समय व्यय किये ही हो सकता है। यहाँ तक कि काम के लिये जाते समय रास्ते में भी किया जा सकता है।

पाश्चात्य प्राणायाम

पश्चिमी देशों के जनस्वास्थ्य अधिकारियों ने प्राणायाम के रोग-प्रतिरोधात्मक, रोग-चिकित्सामूलक एवं शक्तिवर्धक गुणों से आश्वस्त होकर बहुत से यौगिक सिद्धान्तों पर आधारित श्वास-प्रश्वास के व्यायाम प्रचलित किये हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

प्रथम क्रिया : सैनिक की तरह 'सावधान' की मुद्रा में खड़े होकर गहरा श्वास लेते हुए अपने दोनों हाथों को सामने की तरफ से ऊपर उठावें। आपकी बाँहें कान को स्पर्श करती रहनी चाहिये। धीरे-धीरे बाँहों को नीचे लाते हुए श्वास छोड़ें। इस अभ्यास को ३-४ मिनिट तक करें।

उपयोग : गहरे श्वास-प्रश्वास के फलस्वरूप शुद्ध वायु का ग्रहण एवं कार्बन-डाई-आक्साइड का त्याग होता है। परिणामस्वरूप फुस्फुस सशक्त होता है तथा रक्त शुद्ध होता है और शरीर में रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ती है। यह जोखाम को दूर करता है।

द्वितीय क्रिया—सैनिक के समान 'सावधान' मुद्रा में खड़े हो जायें एवं मुट्ठी बन्द रखते हुए दोनों हाथों को कंधे की सीध में सामने की ओर फैलावें। गहरा श्वास ग्रहण करते हुए दोनों हाथों को बगल में ले जाकर पीछे ले जावें। श्वास छोड़ते हुए हाथों को सामने की ओर ले आवें। इस क्रिया का अभ्यास ३-४ मिनिट तक करें।

उपयोग : इस क्रिया के अभ्यास से वक्ष सुडौल होता है, फुस्फुस एवं हृदय सशक्त होते हैं। अभ्यासार्थी कभी सर्दी, जुकाम, इन्फ्लुएंजा टाइफाइड और निमोनिया का शिकार नहीं होता।

तृतीय क्रिया : सैनिक के समान 'सावधान' मुद्रा में खड़े हो जायें। दाहिने पाँव को घुटने के पास से मोड़ते हुए उठावें, एवं श्वास ग्रहण करें और पाँव को जमीन पर रखते हुए श्वास छोड़ें। यही क्रिया बायें पाँव से दोहरावें। इस प्रकार ३-४ मिनिट तक अभ्यास करें।

उपयोग : इसके अभ्यास से वात दूर होता है। अन्त्रवृद्धि रोग तथा नजला दूर होता है।

चतुर्थ क्रिया : कुर्सी पर सीधे तनकर बैठ जायें एवं दोनों हाथ घुटनों पर रख लें। धीरे-धीरे लम्बे श्वास लें एवं छोड़ें। यह अभ्यास ३-४ मिनिट तक करें।

उपयोग : इस क्रिया में प्राणायाम के सभी गुण विद्यमान हैं। यह हृदय एवं फुस्फुस को सबल् बनाता है।

श्वास बदलने की क्रिया

आप अगर एक रन्ध्र से बदलकर दूसरे रन्ध्र से श्वास लेना चाहते हैं तो जिस ओर के रन्ध्र से आपकी श्वास-क्रिया चालू है, उस तरफ करवट लेकर लेट जायें। अर्थात्—अगर आपके बायें नासिका-रन्ध्र से श्वास-क्रिया चल रही है तो आप बायीं करवट लेट जावें। पूर्ण विश्राम के लिए सिरहाने तकिये का उपयोग करें। अब आप बायें रन्ध्र से श्वास ग्रहण करें एवं दाहिने रन्ध्र से श्वास छोड़ें। इस प्रकार करने पर आपका दाहिना नासिका-रन्ध्र साफ हो जायगा एवं श्वास दाहिने रन्ध्र से आपकी इच्छानुसार चलने लगेगा। जब कभी भी आप बायें नासिका-रन्ध्र से श्वास ग्रहण करने में कठिनाई महसूस करें तभी आप यह समझ लें कि इड़ा नाड़ी पिंगला नाड़ी में परिवर्तित हो गई है। अगर आप बायीं नाक से श्वास लेना चाहें तो दाहिनी करवट लेटकर दाहिनी नाक से श्वास लें और बायीं नाक से श्वास छोड़े। इस प्रकार करने से ही आप बायें नासिका-रन्ध्र से श्वास ले सकेंगे।

इसके अलावा इससे भी सहज एक श्वास बदलने की क्रिया है। अगर आप बायीं नाक से श्वास ग्रहण करना चाहते हैं तो दाहिनी करवट लेट जावें। कुछ मिनिट उपरान्त स्वतः आपका श्वास बायीं नाक से चलने लगेगा। इसी प्रकार बायीं करवट कुछ समय के लिए

लेट जाने पर दाहिनी नाक से श्वास चलने लगेगा। ऊपर लिखी क्रिया की अपेक्षा इस क्रिया में अधिक समय लगता है। ये दोनों क्रियाएँ सभी के लिए सुगम हैं।

ऊपर बतायी क्रियाओं का अभ्यास करने के कुछ दिन बाद आपको श्वास बदलने के लिए लेट जाने की भी आवश्यकता न होगी। शरीर को किसी भी एक तरफ मोड़ना ही श्वास बदलने के लिए काफी हो जायगा। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इच्छा करते ही अपना श्वास बदल सकते हैं, उनमें रोग से शरीर की रक्षा करने की काफी शक्ति रहती है। बंगला की 'विविध प्राणायाम' नामक पुस्तक में स्वरशास्त्र के प्रकरण में हमने इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की है।

क्रम-वर्धमान व्यायाम

आसन एवं मुद्राओं की उनके उपयोग के अनुसार एक संक्षिप्त तालिका निम्नांकित है। उससे यह भी ज्ञात हो सकता है कि अमुक आसन अमुक-अमुक स्नायु, ग्रन्थियों या मांसपेशियों को प्रभावित करता है। स्वस्थ अवस्था में या रोग से छुटकारा पाने के उपरान्त नीचे लिखे आसन या मुद्राओं में से २-३ क्रियाओं को अपनी आवश्यकता एवं क्षमता के अनुसार चुनाव कर अभ्यास करना चाहिये। इससे स्वास्थ्य में उन्नति होती है एवं शरीर के सभी अंग भली प्रकार अपना-अपना कार्य करते हैं।

शरीर के निम्न अर्ध-भाग स्नायु एवं मांसपेशियों के लिये—शलभासन, पदहस्तासन, गोमुखासन, त्रिकोणासन, जानु-शिरासन, पादांगुष्ठासन।

उदर-प्रदेश की स्नायु एवं मांसपेशियों के लिये—अर्ध-कूर्मासन, अर्धचक्रासन, त्रिकोणासन, पदहस्तासन, धनुरासन, पवनमुक्तासन, आकर्ण-धनुरासन, मकरासन, शयन, पश्चिमोत्तान, हलासन, नौलिक्रिया।

शरीर के ऊपरी अर्धभाग की स्नायु एवं मांसपेशियों के लिये—भुजंगासन, धनुरासन, पदहस्तासन, अर्ध-चक्रासन, कुक्कुटासन, उत्थित पद्मासन।

रीढ़ की लचक स्थायी रखने के लिये:—पश्चिमोत्तान, पद-हस्तासन, हलासन, भुजंगासन, शशांगासन, उष्ट्रासन, अर्ध-चक्रासन।

वरुण-ग्रन्थियों को सबल बनाने के लिये (अर्थात मातृ-पितृ ग्रन्थि जैसे—वृषण, डिम्ब, वृक्क, कुहूनाड़ी, मिथुनग्रन्थि और कन्दर्पग्रन्थि आदि के लिए)—मकरासन, शकटाशन, गोमुखासन, मूलबन्ध-मुद्रा, महाबन्ध मुद्रा, महामुद्रा, अश्विनी मुद्रा, शक्तिचालनी मुद्रा, महावेध और प्राणायाम। शरीर के ये सब महत्वपूर्ण केन्द्र पूर्णरूप से स्वस्थ रहने के फलस्वरूप व्यक्ति आजीवन नीरोग एवं सबल बना रहता है।

अग्निग्रन्थि को सशक्त बनाने के लिये—योगमुद्रा, उड्डीयानबन्ध मुद्रा, अग्निसार धौति, सहज अग्निसार एवं उदर-प्रदेश के लिए बताये गये आसनों के साथ प्राणायाम।

वायु-ग्रन्थियों के लिये (फुस्फुस, हृदय आदि)—प्राणायाम एवं शरीर के ऊपरी अर्ध-भाग के लिए बताए गये आसनों के साथ प्राणायाम।

व्योम-ग्रन्थियों के लिये (थाइरायड, पेरा-थाइरायड एवं टॉन्सिल आदि)—विपरीतकरणी मुद्रा, सर्वाङ्गासन, मत्स्यमुद्रा, उष्ट्रासन, प्राणायाम। अहं एवं महत ग्रन्थियों के लिए—शशांगासन, उत्थित-पद्मासन, वृश्चिकासन, मस्तकमुद्रा या शीर्षासन और प्राणायाम।

आसन एवं मुद्राओं की अपेक्षा प्राणायाम निश्चित रूप से अधिल लाभदायक है।

आसन एवं मुद्राओं के अभ्यास के साथ श्वासक्रिया के नियमों का भली प्रकार पालन न किया जाय तो पूर्ण लाभ नहीं होता है। प्राणायाम

से स्नायु, मांसपेशियाँ और ग्रन्थियाँ सशक्त होती हैं। इसीलिए प्राणायाम रोगी या स्वस्थ सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए आवश्यक है।

इस पुस्तक में उन्हीं प्राणायामों का जिक्र किया गया है जिनका अभ्यास रोगी या अशक्त व्यक्ति कर सकते हैं। क्योंकि प्राणायाम के अन्य भेद जैसे—लघुप्राणायाम, राज-योग प्राणायाम, वैदिक प्राणायाम आदि का अभ्यास उनके लिये विपद्जनक हैं। ये सब सिर्फ योगियों के लिये ही हैं।

षष्ठ परिच्छेद

आभ्यन्तरिक शुद्धि

(धौति, नेति, नौलि एवं वस्तिक्रिया)

साधारण तौर पर धौति का अर्थ है—धोना। योग में धौति का तात्पर्य है उदर, अंत्र-समूह एवं पेट को जल या वायु से धोना, ताकि उन सब अंगों में एकत्रित मल या कीटाणु आदि दूर हो जायें और शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ रह सके।

हठयोग में वर्णित धौति क्रियाएँ साधारण व्यक्तियों के लिए कठिन है और इसीलिए जनसाधारण की सुविधा के लिए इन क्रियाओं में संशोधन कर इन्हें रोगी या निर्बल व्यक्तियों के लिए सुगम बनाया गया है। इनके गुणों में किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

धौति क्रियाएँ पुरानी कष्टसाध्य बीमारियों की चिकित्सा में काफी सहायता करती है। धौति से सभी प्रकार के रोगोंका प्रतिरोध होता है।

वमन धौति

क्रिया : ५-६ गिलास साधारण गर्म पानी पीवें। अपनी ३ बड़ी अंगुलियों को गले में घुसाकर वमन की क्रिया करें। इस क्रिया को तब तक दोहरावें जब तक कि पेट का सम्पूर्ण जल वमन द्वारा निकल न जाये। अंगुलियों के सहारे जिन व्यक्तियों को उल्टी न हो वे गर्म जल में थोड़ा नमक भी मिला दें। लेकिन प्रतिदिन अभ्यास के लिए नमक का उपयोग न करें। पानी निकल जाने के बाद भी कई दफे इसी

क्रिया को करना चाहिए, उससे दूषित पित्त, कफ, अम्ल प्रभृति अच्छी तरह निकल जाता है।

उपयोग : इस क्रिया के अभ्यास से पेट में एकत्रित कफ, अम्ल, पित्त या कीटाणु आदि अन्य हानिप्रद पदार्थ नित्यप्रति वमन से निकल जाते हैं। अतएव अपचन, अम्लता, नजला आदि रोग दूर होकर शरीर सदैव स्वस्थ रहता है। इसके अभ्यास से कोई भी प्राणनाशक कठिन व्याधि शरीर को नहीं आक्रमण कर सकता है।

वारिसार धौति

क्रिया : ३ फुट लम्वी तथा ७ मिलीमिटर की रवड़ की मुलायम नली (जो केमिष्ट की दूकान से प्राप्त होगी) लेकर गर्म जल में प्रतिदिन अभ्यास के पूर्व भली प्रकार उवालें। ५-६ गिलास भरपेट शुद्ध गर्म पानी पीवें। पानी पीने के उपरान्त सामने की ओर थोड़ा झुककर खड़े हो जायें और रवड़ की नली के एक सिरे को गले के नीचे ले जायें। नली का दूसरा ओर कमर से नीचे लटकता रहना चाहिये। प्रारम्भ में ज्यों ही आप नली को गले से नीचे उतारेंगे—पूरा पानी वमन होकर निकल जावेगा। लेकिन इसके वाद करीव १ सप्ताह के अभ्यास के वाद इंच-इंच कर नली को पेट में निगल जाने का अभ्यास करें। १-२ सप्ताह के अभ्यास के उपरान्त आप नली को निगल सकेंगे और पानी का वमन न होकर, पानी इस नली के द्वारा धारा-प्रवाह गिरेगा। इससे आप के पेट में एकत्रित दूषित पित्त, अम्ल, कफ या अन्य विना पचे हुए भोजन के पदार्थ, जल में घुलकर या जल के साथ बाहर निकल आवेंगे। इस प्रकार जल बाहर निकल जाने के उपरान्त ८-१० वार इस क्रिया को करते रहना चाहिए इससे अग्न्याशय में एकत्रित विषाक्त पदार्थ या कीटाणु वहकर नली से बाहर निकल जायेंगे। नली को पेट में थोड़ा नीचे और पहुँचावें। जल और भी

निकलेगा। इसके वाद नली को धीरे-धीरे खींचकर बाहर निकाल लें और साबुन के पानी से धोकर सूखने के लिये लटका दें।

इसका अध्यास पेट के धोने की यह क्रिया कठिन नहीं है। रोगी एवं निर्बल व्यक्ति भी कर सकते हैं। अच्छा यह होगा कि किसी जानकार व्यक्ति के निर्देशन में इसका अभ्यास प्रारम्भ किया जाय ताकि प्रारम्भिक कठिनाइयाँ दूर हो सकें।

उपयोग : इस धौति के अभ्यास से पित्त रोग, अम्ल, अपचन, कोष्ठबद्धता, उदरशूल, कुष्ठ आदि रोग नहीं होते हैं। यहाँ तक कि राजयक्ष्मा का आक्रमण भी नहीं हो पाता है। जो व्यक्ति रोग के चंगुल में हैं उन्हें इससे लाभ होता है और चिकित्सा में इससे काफी सहायता मिलती है। प्रत्यक्षतः यह क्रिया हमारे शरीर के आभ्यन्तरिक अंगों को धोकर शरीर को कीटाणु एवं नाना प्रकार के रोगों से मुक्त रखती है। यह क्रिया करने के उपरान्त ५ मिनिट तक विश्राम करें। आधा घण्टा पर्यन्त कुछ भी नहीं खायें।

जहाँ वमन धौति से पेट की आंशिक सफाई होती है, वहाँ वारिसार धौति तलपेट को धोती है : अतएव यह उससे अधिक उपयोगी है।

धौति का एक अन्य भेद है—**वस्त्रधौति**। यह २ इंच चौड़े एवं २४ फुट लम्बे रेशम के कपड़े से की जाती है। इसे गले से निगला जाता है और वाहर निकाला जाता है। इससे अंत्र-यंत्र की सफाई होती है। इसका अभ्यास काफी कठिन है और उपयोग कम। यही कारण है कि इसका विस्तृत विवरण यहाँ नहीं दिया गया है। हमारी बंगला पुस्तक 'प्राणायाम और नेति धौति आदि' देखिये। सभी प्रकार की धौति का अभ्यास प्रातः खाली पेट रहनेपर करें। इस वारिसार धौति के अभ्यास से किसी की भी अकाल मृत्यु नहीं होगी। सप्ताह में दो दिन इस क्रिया का अभ्यास करें।

अग्निसार धौति

(वायु द्वारा पेट का धोना)

प्रथम क्रिया : श्वास ग्रहण करते हुए नाभि के साथ उदर के निम्न भाग को यथासम्भव पीछे की ओर तानें। भरपूर श्वास लेने के उपरान्त श्वास को छोड़ते हुए नाभि के हिस्से को ढीला कर दें। इस क्रिया को कम से कम १०-१२ बार दोहरावें।

नाभिग्रन्थि : मेरुदण्डे शतवारञ्च कारयेत्—यौगिक साहित्य में इस क्रिया को १०० बार तक करने के लिए लिखा गया है।

उपयोग : इन क्रिया के अभ्यास से भूख बढ़ती है और यकृत एवं प्लीहा के दोष दूर होते हैं। अपचन, अतिसार आदि उदर- रोगों में भी लाभ होता है।

द्वितीय क्रिया : श्वास को पूरा बाहर निकालकर रोकें और नाभि-प्रदेश को आगे-पीछे की ओर करें ताकि यह पीठ को छूने लगे। जब आप श्वास अधिक न रोक सकें तो पेट को आराम देते हुए श्वास ग्रहण करें। इस क्रिया को ४ बार करें।

उपयोग : इस क्रिया के अभ्यास से अग्नि की ग्रन्थियाँ सबल होती हैं अतएव जिन व्यक्तियों को उदर-रोग हो वे इसका अभ्यास अवश्य करें। यह क्रिया करने के १ घण्टे के बाद ही लाभ प्रतीत होगा।

सहज अग्निसार धौति

(उदर को वायु एवं रक्त से धोना)

क्रिया : सुविधाजनक मुद्रा में बैठकर अपने हाथ की अंगुलियों को सामने एवं अंगूठे को पीछे की ओर रखते हुए हाथों को बगल में नितम्ब की हड्डियों के ऊपर खाली स्थान पर रखें। अंगूठे को अपने स्थान पर ज्यों का त्यों रखते हुए अंगुलियों से नाभि-प्रदेश पर दबाव

देते हुए उसे पीछे की ओर दबावें और छोड़ दें। इस क्रिया को २५-३० बार करें। अधिकतम १०० बार तक इस क्रिया को दोहराया जा सकता है। इस क्रिया का भली प्रकार अभ्यास करने के वाद इसका अभ्यास नित्य करें।

प्रारम्भ में यह अभ्यास करने से नाभि-प्रदेश में कुछ दर्द हो सकता है, अतएव प्रारम्भिक अवस्था में अंगुलियों से अधिक दबाव न दें। धीरे-धीरे क्रमशः दबाव वढ़ावें। मोटे व्यक्ति नाभि-प्रदेश को अगर अधिक नहीं दबा सकें तो जितना हो सके उतना ही अभ्यास करें।

उपयोग : उदर से सम्बन्धित व्यायाम करने से उदर के विशिष्ठ भागों में शुद्ध रक्त एवं वायु का प्रवाह होता है। परिणामस्वरूप कीटाणु एकत्र होने के स्थान समय-समय पर साफ होते रहते हैं। इन स्थानों पर एकत्र कीटाणु रक्त या वायु के साथ स्थान छोड़कर रक्त-संचार द्वारा सारे शरीर में प्रवाहित होने लगते हैं जहाँ रक्त की श्वेत-कणिकाएँ उन कीटाणुओं को नष्ट कर देती हैं। इस प्रकार इस क्रिया के अभ्यास से अतिसार एवं उदरामय आदि रोग जल्द ठीक होते हैं। सहज अग्निसार धौति हैजे की उपयोगी प्राथमिक चिकित्सा है। अपचन रोग में भी इससे लाभ होता है।

योग में वर्णित उपायों से उदरामय, पुराने अतिसार आदि की चिकित्सा में पूर्ण सफलता न मिलने के फलस्वरूप हमें सहज अग्निसार का आविष्कार करना पड़ा। इसका परिणाम आश्चर्यजनक है। **सहज अग्निसार धौति का भली प्रकार अभ्यास करने से अतिसार एवं उदारमय का सफल प्रतिरोध किया जा सकता है। हैजे की चिकित्सा या महामारी के समय हैजे से बचने के लिये यह उत्कृष्ट साधन है।** हमारा परामर्श है कि सभी इसका अभ्यास करें। इसके सम्बन्ध में लिखे विवरण अतिशयोक्ति नहीं हैं। सुदूर गाँवों में जहाँ चिकित्सकों का अभाव है वहाँ महामारी के प्रतिरोध के लिये

इस क्रिया का अभ्यास करें। डाक्टरगण इसकी परीक्षा करें—उनसे हमारा यही अनुरोध है।

चूँकि यह क्रिया अग्निसार धौति से काफी मिलती-जुलती है, इसीलिये इसका नाम सहज अग्निसार धौति रखा गया है। तीन-चार वर्ष के बच्चों को इसका अभ्यास कराकर देखा गया है कि आश्चर्यजनक लाभ हुआ है। सिर्फ रजस्वला व गर्भवती स्त्री इसका अभ्यास न करें।

नेति क्रिया

(नाक का धोना)

, नेति क्रिया नाक से की जाती है। नासिका-मूल प्रदेश को धोने के लिये इस क्रिया का उपयोग किया जाता है। इससे माथे के कुछ हिस्से भी साफ होते हैं ताकि वह प्रदेश कीटाणु-रहित हो जाये।

योग में नेति की दो क्रियाएँ वर्णित हैं। सूत की डोरी को भिंगोकर नाक से खींचना प्रथम क्रिया है। द्वितीय क्रिया है—नाक से जल पीना। आजकल पतली रबर की नली का भी उपयोग किया जा सकता है लेकिन पानी सबसे सुगम एवं अधिक उपयोगी है। इसे नासापान कहते हैं। चूंकि यह सर्वाधिक उपयोगी है अतएव हम इसीका यहाँ वर्णन कर रहे हैं।

नासापान

(नाक के जरिये जल पीना)

क्रिया : एक चौड़े मुंह के वर्तन में पानी लें। अपना मुँह एवं नाक पानी में डुबो लें। सांस रोककर कुछ पानी नाक के जरिये खींचने की कोशिश करें। प्रारम्भ में नासा के मूल भाग में कुछ जलन जैसा

अनुभव हो सकता है। छींकें भी आ सकती हैं। लेकिन आप अभ्यास जारी रखें। कुछ दिन अभ्यास करने से आपकी इस प्रकारकी असुविधा दूर हो जायेगी। प्रारम्भ में होनेवाली असुविधा दूर होनेपर सभी व्यक्ति मुँह के समान ही नाक से जल पी सकेंगे। चिकित्सा की दृष्टि से कम से कम आधा पाव जल अवश्य प्रतिदिन पीना चाहिये। नाक से ग्रहण किया हुआ पानी मुँह से निकाल दें या निगल जावें। प्रारम्भ में इसका अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिये। कुछ दिन वाद सप्ताह में एक बार करना ही यथेष्ट होगा।

उपयोग : माथे के पीछे नासामूल के पास, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीनों श्वास-नाड़ियाँ मिलती हैं। अतएव थोड़ा-सा भी कफ अगर इस स्थान पर जम जाता है तो श्वास की क्रिया में बाधा हो जाने के कारण हमें मुँह से श्वास लेना पड़ता है। मुँह से श्वास लेना शरीर के लिये घातक तो है ही, साथ ही इससे जीवनी शक्ति का भी ह्रास होता है। मुँह से श्वास लेनेसे हवाकी नमी फुस्फुस में पहुँचती है और फुस्फुस में कफ पैदा हो जाता है। यही कफ कई प्रकार की बीमारियों की जड़ है। फुस्फुस में कफ एकत्रित हो जाने के फलस्वरूप ठीक प्रकार से प्राणायाम भी नहीं किया जा सकता। अतएव प्राणायाम का अभ्यास करनेवालों को कफ से छुटकारा पाने के लिये इस क्रिया का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इस नेति क्रिया के अभ्यास से माथा ज्वर की अवस्था में भी ठण्डा रहता है। किसी भी कारण से माथे में गर्मी या दर्द नहीं रह पायेगा। सर्दी, जुकाम, इन्फ्लु-एंजा, श्वासरोग, टाइफायड, निमोनिया आदि रोगों के कीटाणु शरीर की कफप्रधान अवस्था में उत्पन्न होते हैं एवं वढ़ते हैं। नासामूल में कफ एकत्रित हो जाने से नाक से श्वास लेने की प्राकृतिक क्रिया में वाधा होती है। अतएव नेति क्रिया एवं समुचित प्राणायाम के अभ्यास से शरीर स्वस्थ एवं कीटाणु-मुक्त रहता है, शरीर पर रोगों के आक्रमण की सम्भावना भी दूर होती है।

नौलि

इस व्यायाम के सफल अभ्यास से पेल्विक एवं उदर-प्रदेश की नली आकार के अंग अर्थात् सम्पूर्ण स्नायु, मांसपेशियों और रक्तवाहिनी नसों को अतिरिक्त शक्ति प्राप्त होती है। इसीलिये इनका नाम 'नौलि' है। कुछ व्यक्ति इसे 'लौलि' नाम से भी पुकारते हैं। इस क्रिया का अभ्यास केवल उन्हीं व्यक्तियों को करना चाहिये जो उड्डीयानबन्ध मुद्रा को सफलतापूर्वक कर सकते हों।

क्रिया : अपने पाँवों को १२ से १८ इंच तक फैलाकर खड़े हो जावें। शरीर के कमर से ऊपर के हिस्से को आगे की ओर झुकाकर रखें। हथेली अपनी जंघाओं पर रखें। पूरी तरह से श्वास बाहर निकाल दें और पेट को भीतर की ओर खींच लें। जंघाओं पर इस प्रकार दवाव दें कि पेल्विक प्रदेश की सभी मांसपेशियाँ चलने लगें। इसके साथ ही इन मांसपेशियों से सम्बन्धित उदर-प्रदेश की मांसपेशियाँ भी चलनी चाहिये। अब इन सभी मांसपेशियों को बाहर की ओर निकालें। भली प्रकार अभ्यास करने पर ये मांसपेशियाँ एक डण्डे की तरह बाहर की ओर निकल आयेंगी। नियमित अभ्यास के फलस्वरूप आप इस प्रकार का संचालन अपनी इच्छानुसार कर सकेंगे। इसे पेट के मध्य भाग में स्थित करें और श्वास रोक कर रखें। इसके बाद श्वास ग्रहण करें। फिर विश्राम करें। इसे मध्यमा नौलि कहते हैं।

जो व्यक्ति इस मध्यमा नौलि का अभ्यास न कर सकें वे उड्डीयान बन्ध मुद्रा में खड़े होकर श्वास को सम्पूर्ण रूप से निकाल दें। कमर से ऊपर के हिस्से को घुटनों के वल पर इस प्रकार झुका लें कि उदर प्रदेश की मांसपेशियों पर किसी भी प्रकार का भार न पड़े। इसके वाद धीरे-धीरे शरीर के ऊपरी भाग को उठा लें। इसके फलस्वरूप नौलि पेट के मध्य में आ जायेगी। इस क्रिया के सफल अभ्यास के उपरान्त वाम नौलि और दक्षिण नौलि का अभ्यास करें।

बाम नौलि : नौलि को मध्यमें अवस्थित कर दाहिनी ओरसे दवाव कम करें किन्तु वायीं ओर की तरफ दवाव यथापूर्व रहे। अव शरीर के ऊपरी भाग को थोड़ा वायीं ओर मोड़ें और उदर-प्रदेश की मांसपेशियों को दाहिने ओर चलावें। जव यह अभ्यास सफल रूप से हो जायगा तव मध्य में अवस्थित नौलि की वायीं ओर एक डण्डे की आकृति की मांसपेशी एक ओर खड़ी हो जायगी।

दक्षिण नौलि : जव बाम नौलि का अभ्यास सुगम हो जाय तव दक्षिण नौलि का अभ्यास करें। दाहिनी तरफ के तनाव को ज्यों का त्यों वनायें रखें और बायीं तरफ के तनाव में कुछ कमी कर दें। शरीर को थोड़ा दाहिनी तरफ मोड़ें और दाहिनी तरफ की मांसपेशी को उठाने का प्रयत्न करें। इस प्रकार अभ्यास करने से मध्यमा नौलि के दक्षिण भाग में भी नौलि बनने लगेगी।

जब ये तीनों नौलियाँ भली प्रकार उठने लगें तव एक ही श्वास के दौरान में इनका संचारण करें। संचारण वायें से प्रारम्भ कर दाहिनी ओर तक ले जायें। इसके वाद दाहिने से प्रारम्भ कर वाँयीं ओर ले जायें। समुद्र में उठनेवाली लहरों की तरह ही यह क्रिया होनी चाहिए। प्रारम्भ में यह क्रिया एक श्वास में ३ बार करनी चाहिए। अपनी क्षमता के अनुसार एक ही श्वास में अधिक से अधिक अभ्यास करना चाहिए।

उपयोग : योगी-गण नौलि को इसके गुणों के अनुसार काफी महत्व देते हैं। वस्ति, धौति आदि के सफल अभ्यास के लिये नौलि का अभ्यास परम आवश्यक है। संक्षेप में शरीर के वात, पित्त और कफ के दोषों को समुचित रखने में नौलि अद्वितीय है।

इसके अभ्यास से उदर-प्रदेश की स्नायु, मांसपेशियों एवं रक्त-वाहिनी नसों का भरपूर व्यायाम हो जाता है, साथ ही वृहद् एवं लघु अन्त्र समूह का व्यायाम भी नौलि से हो जाता है। इस व्यायाम के फलस्वरूप उक्त प्रदेशों की पुष्टि होती है। ताकि उदर-प्रदेश में कोई

भी व्याधि पैदा न हो सके। यकृत एवं प्लीहा सशक्त होती है। नौलि के अभ्यास से स्थानभ्रष्ट गर्भाशय एवं कष्टरज आदि स्त्री-रोगों की चिकित्सा में मदद मिलती है। वस्त्र-धौति के अभ्यास के बाद अगर कोई नौलि का अभ्यास करें तो अन्त्र-वृद्धि, अन्त्रपुच्छ-वृद्धि, अन्त्रक्षय रोग, उदर घाव, अजीर्ण रोग, कोष्ठबद्धता तथा उदरशूल आदि उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार नौलि के अभ्यास से सभी प्रकार के भयानक रोगों के आक्रमण से मुक्ति मिल जाती है।

नौलि का अभ्यास कम उम्र के बच्चे या वृद्ध न करें। युवतियाँ इसका अभ्यास कर सकती हैं। मासिक धर्म होने के २-३ दिन पूर्व एवं २-३ दिन बाद, गर्भ की अवस्था में और प्रसव के ३ मास बाद तक इसका अभ्यास वर्जनीय है। हृदय-रोग, रक्त-चाप, उदर के घाव और अन्त्र-क्षय के रोगी इसका अभ्यास न करें। स्वस्थ वृद्ध महानुभावों को चाहिये कि इसका अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व किसी सिद्ध योगी से परामर्श कर लें।

सहज वस्तिक्रिया

हमारी अंतड़ियों में मल एकत्रित होकर दूषित हो जाता है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण शरीर विषाक्त हो जाता है और शरीर में नाना प्रकार के रोगों के कीटाणु उत्पन्न होने का भय पैदा हो जाता है। यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी रोगों का मूल कारण है—अपरिष्कृत पेट। पेट की क्रिया स्वस्थ रहने से कीटाणु की रोकथाम होती रहती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियों में पेट साफ रखने पर विशेष जोर दिया गया है। सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सा के पूर्व आयुर्वेद में हरीतकी, त्रिफला या ग्लिसरीन आदि का उपयोग कर पेट साफ कर लिया जाता है। लेकिन कालान्तर में ये सभी औषधियाँ असफल हो जाती हैं। इन औषधियों के उपयोग से वस्ति-प्रदेश की नसें

एवं मांसपेशियाँ कमजोर हो जाती हैं और अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पातीं। फलस्वरूप कोष्ठबद्धता और भी भयानक हो जाती है। एनिमा का उपयोग कम हानिप्रद है पर हानिरहित नहीं है; क्योंकि इससे भी नसें निर्वल हो जाती हैं और कालान्तर में एनिमा के प्रयोग के बिना मलत्याग करना असम्भव हो जाता है। एनिमा से अन्त्रसमूह का सिर्फ निचला हिस्सा प्रभावित होता है, जहाँ मल एकत्रित रहता है। लेकिन योग में वर्णित वस्ति-क्रिया सम्पूर्ण उदर को साफ करता है जहाँ सड़ा हुआ मल एकत्रित रहता है। इस क्रिया के अभ्यास से दूषित पित्त एवं अन्य विषैले पदार्थ भी बाहर निकल आते हैं जिससे शरीर स्वस्थ बन जाता है।

योगियों ने कई प्रकार की वस्तिक्रियाओं का वर्णन किया है। जैसे—जल-वस्ति, स्थल-वस्ति आदि। ये सभी मनुष्य के लिये अति उपयोगी हैं। लेकिन ये क्रियाएँ कमजोर एवं रोगियों के लिये उपयोगी नहीं हैं। अतएव कुछ सहज क्रियाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है। ये उपयोगी हैं। इससे दीर्घस्थायी लाभ होता है।

प्रथम क्रिया : (१) प्रातःकाल उठने के बाद इस क्रिया का अभ्यास करना चाहिये। अगर आप पुरानी कोष्ठबद्धता के शिकार हैं, तो आधा औंस नमक, २ औंस नींबू का पानी, ३ प्वाइन्ट गर्म जल में मिलाकर पीवें। पीठ के बल लेटकर ४-६ मिनट तक विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करें, ३-४ बार मयूरासन करें; ४-५ बार पदहस्तासन करें। जो व्यक्ति मयूरासन का अभ्यास न कर सकें वे ५-६ बार शलभासन करें। ५ मिनिट के भीतर ही मल की तीव्र शंका न हो तो वे भुजंगासन, अर्धचक्रासन तथा धनुरासन का अभ्यास करें। इससे निश्चित लाभ होगा।

(२) कमजोर या रोगी व्यक्ति ऊपर लिखे अनुसार जल पीने के उपरान्त सहज विपरीतकरणी, योगमुद्रा, पवनमुक्तासन, अर्धकूर्मासन और अर्धशलभासन का अभ्यास करें। विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से

पेट के सभी हिस्सोंमें पानी पहुँचकर उसे साफ करेगा ताकि दूषित पित्त एवं अम्ल पेट में न रह जाय। यह पानी इसके बाद वृहद्-अन्त्र में जाता है और वहाँ से सभी दूषित पदार्थों को तरल वनाकर शरीर से वाहर निकाल देता है। इस प्रकार बिना हानि और भली प्रकार से मलत्याग कराने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

नींबू का रस जहाँ रेचक है वहाँ यह भूख भी बढ़ाता है। इसमें काफी मात्रामें केल्सियम भी है जो शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस दवा के साथ-साथ खाद्य पदार्थ भी है।

ऊपर लिखी दोनों क्रियाओं के वावजूद भी अगर मल न निकले तो यह समझें कि काफी मात्रा में बिना पचा हुआ भोजन मार्ग अवरोध कर रहा है और १-२ दिन तक उपवास करें। इससे पेट एकदम साफ हो जायगा। इस सम्बन्ध में उपवास के नियम देखिये।

द्वितीय क्रिया : एक औंस नींबू का रस, $\frac{१}{४}$ औंस नमक ३ प्वाइन्ट गर्म जल में मिलाकर पीवें। प्रथम क्रिया में वर्णित आसन एवं मुद्राओं का अभ्यास करें।

तृतीय क्रिया : जो व्यक्ति कोष्ठवद्धता के शिकार नहीं हैं और निर्वल एवं रोगी नहीं हैं वे नींबू के रस का नहीं भी उपयोग कर सकते हैं। इसके स्थान पर वे २ गिलास पानी पीवें, सहज विपरीतकरणी आदि का अभ्यास करें। इससे उन्हें लाभ होगा। शीतकाल में पानी की मात्रा कम होनी चाहिये।

चतुर्थ क्रिया—सहज वस्तिक्रिया में विपरीतकरणी मुद्राको विशेष स्थान है। यह मुद्रा शीघ्र ही सिद्ध की जा सकती है, परन्तु विपरीत-करणी मुद्रा एवं इसके साथ किये जानेवाले आसनों का अभ्यास अगर न किया जा सके तो केवल पवन-मुक्तासन का १०-१५ बार अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास गर्म या ठण्डे जल में नींबू का रस और नमक मिला पानी पीकर क्रिया सं० १ या २ में वताये अनुसार करना चाहिये।

पंचम क्रिया—नींबू का रस और नमक मिला गर्म पानी या सिर्फ जल पीकर ८-१० मिनिट तक लुढ़कते रहें। वायें हाथ की मध्यमा अंगुली को मधु, ग्लिसरीन या तेल से तर कर लें। (ध्यान रखें कि अँगुली के नाखून भली प्रकार कटे रहें।) मल त्याग करने के लिए बैठ जायें। सर्वप्रथम मल स्वतः निकलने दें। इसके वाद गुदा में अंगुली डालकर चारों तरफ घुमावें और मल निःसारण की प्रतीक्षा करें। इस क्रिया को पुनः करें ताकि गुदा-प्रदेश में जितना भी दूषित मल एकत्रित हो वह निकल जाय। इस प्रकार पेट पूर्ण रूप से साफ हो जायगा। इस क्रिया को योग में **गणेशक्रिया** या **सहज शोधनक्रिया** के नाम से पुकारा जाता है।

चतुर्थ क्रिया तथा सहज शोधनक्रिया के परिणाम सन्तोषजनक नहीं हैं। फिर भी 'डूस' या जुलाव की आधुनिक प्रचलित औषधियों से अच्छी और निरापद है।

चूंकि पेट की क्रिया के संचारण में मयूरासन एवं पदहस्तासन का महत्व है, अतएव हमने इन आसनों को भी वस्तिक्रिया में सम्मिलित कर दिया है। साधारण स्वास्थ्य के लिये आसन आदिका अभ्यास प्रारम्भ करने के पूर्व वस्तिक्रिया के उपरान्त स्नान या अर्ध-स्नान कर लें।

इस वात का उल्लेख करना आवश्यक है कि सभी प्रकार के जुलाब शरीर की क्रिया के लिए अत्यधिक हानिप्रद हैं। अतएव स्वस्थ या रोगी व्यक्ति के लिए जुलाव का सेवन हितकर नहीं है; क्योंकि इससे पाचन-ग्रन्थियाँ एवं गुदा-प्रदेश की स्नायुएँ निर्बल होती हैं। 'डूस' से गुदा की स्नायु निर्बल होती है और इसकी आदत बन जाती है। इन सब के वावजूद सहज वस्तिक्रिया गुदा की स्नायुओं को सशक्त बनाती है एवं शरीर में एकत्रित सभी प्रकार के दूषित पदार्थ एवं कीटाणुओं को शरीर से वाहर निकाल देती है। यह क्रिया स्वास्थ्यप्रद एवं निरापद और निर्दोष है। अतएव डूस या जुलाव की औषधियों का सेवन त्याग कर इस क्रिया का अभ्यास करें। प्रतःकाल कुछ मिनट व्यय

करने के अलावा यह निःशुल्क भी है। इसके अभ्यास से चेहरे पर कान्ति आती है। जीवन में सक्रियता आती है।

सूर्य-स्नान

सन-बाथ या आतप-स्नान के नाम से प्रसिद्ध क्रिया को आयुर्वेद में स्वेद-क्रिया कहा जाता है। इस क्रिया में शरीर से काफी मात्रा में स्वेद यानी पसीना निकलता है। स्वेदक्रिया का अभ्यास पित्त प्रकृति के मनुष्य न करें। जिन व्यक्तियों की कफ-प्रकृति है उनके लिए यह अतीव उपयोगी है।

क्रिया : शीतकाल में यह क्रिया करने का उपयुक्त समय है प्रातः ६ बजे से १२ बजे तक जब कि ग्रीष्म ऋतु में प्रातः ८ बजे से ११ बजे तक है।

अपने सिर को छाया में रखते हुए चित्त लेट जायें। शरीर के सभी अंग पूर्ण नग्न एवं सूर्य की धूप में खुले रहने चाहिये। अगर नग्न होने में किसी प्रकार की असुविधा हो तो कम से कम तथा बारीक वस्त्र का उपयोग करें, ताकि सूर्य की रश्मि का अधिकाधिक उपयोग हो सके। पसीना आना प्रारम्भ होने पर आप उलट जायें और शरीर की दूसरी ओर सूर्य-किरण को सीधा पड़ने दें। सीने पर सूर्य की किरणें १-२ मिनिट तक ही पड़ें—ऐसी व्यवस्था कर लें।

ग्रीष्मकाल में सूर्य-स्नान के पूर्व सिर को पहले पानी से धो लेना चाहिये। सिर को गीले तौलिये से रगड़कर पोंछें और तौलिये को तहकर सिर एवं कान पर डाल लें। पीठ सूर्य की ओर कर सीधे बैठ जायें। सूर्यस्नान के सम्पूर्ण समय का $\frac{3}{4}$ भाग समय सूर्यरश्मि का सेवन पीठ पर करें। सीने पर सिर्फ $\frac{1}{4}$ भाग समय तक सूर्य की किरणों का उपयोग करें। सूर्य-स्नान के बाद किसी छायादार स्थान में जाकर सम्पूर्ण शरीर को गीले तौलिये से रगड़ें। रोगी भी यह क्रिया करें।

प्रारम्भ में सूर्यस्नान ८-१० मिनिट तक करना पर्याप्त है। क्षमता के अनुसार समय को क्रमशः बढ़ायें। ज्यों ही पसीना आने लगे सूर्य-स्नान समाप्त कर दें। सूर्य-स्नानके तुरन्त बाद शरीरको आराम मिलता है। क्षमता से अधिक सूर्य-स्नान करनेपर सिर गर्म एवं भारी हो जाता है। ऐसा प्रतीत होनेपर सूर्य-स्नान का समय घटा देना चाहिये। शीत ऋतु में सूर्य स्नान का समय ग्रीष्मकाल की अपेक्षा लम्बा होना चाहिए।

उपयोग : जुकाम एवं कफ, श्वास, तपेदिक, रक्ताल्पता, शोथ तथा स्नायुदौर्बल्य में इससे काफी लाभ होता है। पेड़ तथा पौधे सूर्य की किरणों से अपने पत्तों के जरिये पोषण प्राप्त करते हैं। मानव शरीर के लिये भी यह पोषण आवश्यक है। चाय बागानों या खेत में काम करनेवाले चूँकि सुबह से शाम तक धूप में काम करते हैं, इसलिए अधिक अच्छा भोजन न प्राप्त कर पाने पर भी अधिक सुदृढ़ रहते हैं। रोग प्रतिरोध की शक्ति उन्हें सूर्य की किरणों से ही प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान भी इसके समर्थन में कहता है कि शरीर को विटामिन 'डी' सूर्य-किरणों से ही प्राप्त होता है। विटामिन 'डी' शरीर के लिये आवश्यक पोषक द्रव्य है जो शरीर को स्वस्थ रखता है। मनुष्य के चमड़े के नीचे एक स्निग्ध पदार्थ है जो सूर्य की किरणों से विटामिन 'डी' में परिवर्तित हो जाता है जिससे हड्डियों, एवं अन्य कैल्सियम एवं फासफोरस-प्रधान निर्माण-क्रियाओं को बल मिलता है। चूँकि फासफेट एवं कैल्सियम के अभाव से कई प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए सूर्य-स्नान शरीर के लिए काफी उपयोगी है। सूर्य-स्नान से जीवनी शक्ति और भूख बढ़ती है तथा रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं।

आधुनिक चिकित्सकों का मत है कि प्रातः ८ बजे के पूर्व सूर्य की किरणों में "अल्ट्रा-वायलेट" रश्मि विद्यमान रहती है और यही समय सूर्यस्नान के लिये उपयुक्त है। हमारा इस सिद्धान्त से मतभेद है। हमारे मत से सूर्य-स्नान का सर्वोत्कृष्ट समय प्रातः ८ बजे से १२ बजे

तक है। दोपहर के उपरान्त सूर्यस्नान निषिद्ध है। क्योंकि यह समय स्वास्थ्य के लिये हानिकर है।

जल-स्नान

संसार के सर्वाधिक प्राचीन साहित्य वेद में जल के गुणों का वर्णन निम्न प्रकार है :—

आपः इद्वा उ भेषजः आपो अमीव चातनीः ।
आपः सर्वस्य भेषजस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥

ऋग्वेद १०।१३७।६

अर्थात—जल औषधि है, जल से सभी व्याधियाँ शरीर से दूर की जा सकती हैं और शरीर को शक्तिवान् रखता है। जल में रोग-प्रतिरोध की शक्ति है। यह सभी दुःखों को दूर करता है।

अप्सु अन्तरमृतं अप्सु भेषजम् अपामुक्त प्रशस्तये ।

ऋग्वेद १।२३।१६

जल अमृतमय है। जल अमृत को अक्षुण्ण वनाये रखता है। जल में आराम पहुँचाने की शक्ति है। जल के इन सभी गुणों को हमें याद रखना चाहिये।

अपा-मार्जन अर्थात् जल से शुद्धिकरण गायत्री-जप का एक भाग है। सूर्योदय के समय, मध्याह्न में एवं सूर्यास्त के समय, भारतीय ब्राह्मण गायत्री-जप करते हैं। ६ से १२ वर्ष की उम्र में वैदिक मंत्रों से मार्जन के द्वारा ब्राह्मण-कुमारों का संस्कार किया है। इन मन्त्रों के अनुसार जल मस्तिष्क एवं शरीर की औषधि है।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनिगण जल के उपयोग से भली प्रकार अवगत थे। उन्होंने सभी युवा एवं वृद्ध स्त्री-पुरुषों को प्रतिदिन ३ बार

स्नान करने का परामर्श दिया है। ग्रीष्मप्रधान देशों के नागरिक प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन स्नान के गुणों से भली प्रकार परिचित हैं। प्रतिदिन इस प्रकार स्नान करनेवाले मनुष्यका स्वास्थ्य सबल रहता है। शीत-प्रधान देश के व्यक्ति दिन में २ बार स्नान कर जल के इन गुणों से लाभ उठा सकते हैं। रोगी निम्नलिखित स्नान के तरीकों से लाभान्वित हो सकते हैं :—

पूर्ण स्नान

नदी में स्नान करना आदर्श है। सर्वाधिक उपयोगी प्राकृतिक स्नान का यही साधन है। नदी के स्थान पर तालाब का भी उपयोग किया जा सकता है। सर्वप्रथम काफी मात्रा में जल से सिर धोना चाहिए। आँखों पर काफी पानी छोड़ना चाहिए। कमर तक गहरे पानी में ५, १०, १५ या २० मिनट तक खड़े होकर हथेली में जल लेकर नाभि-प्रदेश के चारों ओर मसलें। कुछ मिनट तक तैरिये—५-७ बार डुबकी लगाकर स्नान समाप्त करें।

टब-स्नान

चूँकि नहाना आवश्यक है, अतः रोगी के लिये नदी या तालाब के स्थान पर स्नान के लिये टब का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए टब पृथक्-पृथक् होना चाहिये। टब में सुविधापूर्वक काफी जल में बैठा जा सके—ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। नाभि तक जल का होना आवश्यक है।

ठण्डे पानी से टब को भर लें। ठण्डे पानी से सिर धोवें, आँखें धोवें, इसके बाद आवश्यकतानुसार ५, १०, १५ या २० मिनिट तक टब में आराम से बैठिये। इसके बाद शरीर के ऊपरी हिस्से को भी भली प्रकार धोवें।

इस प्रकार के स्नान में काम आने योग्य जल का तापमान शरीर के तापमान से कुछ ही डिगरी कम रहना चाहिये। लेकिन इससे कम या अधिक नहीं होना चाहिए। शीत ऋतु या शीत-प्रधान देशों में स्नान करनेवाले की रुचि के अनुसार इसमें कुछ संशोधन ठण्डे जल में कुछ गर्म जल मिलाकर किया जा सकता है। हाइड्रोपैथों द्वारा बताये गये तरीके से यह तरीका ज्यादा अच्छा है।

एक बात का सदैव ध्यान रखें कि गर्म जल से स्नान करना सदैव शरीर के लिए अहितकर रहा है। सिर्फ सर्दी-जुकाम या गठिया रोग के आक्रमण के समम १ या २ दिन गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। इसके अलावा गर्म जल से स्नान करने में कुछ भी लाभ नहीं है। गर्म जल-स्नान स्नायु को कमजोर बनाता है। साथ ही ग्रन्थियाँ एवं मांस-पेशियाँ भी कमजोर बनती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे पूरा शरीर कमजोर हो जाता है। धीरे-धीरे इस प्रकार रोग के आक्रमण का भय पैदा हो जाता है। सर्द ऋतु में उन्हीं व्यक्तियों को ठण्डे जल से स्नान करना चाहिये जिन्हें सर्दी लगने का भय न हो। शीतकाल में स्वस्थ या अस्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति प्रातःकालीन टब-स्नान गंजी या कमीज पहनकर कर सकते हैं।

साधारण स्नान

नदी में या टब में स्नान करने की सुविधा जिन्हें नहीं है वे निम्न प्रकार से स्नान करें—

प्रारम्भ में सिर को प्रचुर जल से धोवें। इसके बाद नाभि-प्रदेश पर जल डालें। तदुपरान्त गुप्त अंगों पर २-३ मिनिट तक जल डालें। इसके बाद आधे मिनिट तक नितम्बों पर जल डालें। इन सब के बाद शरीर के अन्य अंगों को रगड़-मसल पर स्नान करें।

अर्ध स्नान

साधारण स्नान की तरह सिर एवं शरीर के अधोभाग पर जल डालें कटिप्रदेश से ऊपर के अंग को गीले तौलिये से रगड़ें। इससे सर्दी लगने का भय नहीं रहता है। सीने पर जल न डालें।

उदर के निचले भाग से लेकर गुदा-प्रदेश तक हजारों स्नायु आदि हैं। वे अगर स्वस्थ हैं तो सम्पूर्ण शरीर स्वस्थ है। अतएव नाभि-प्रदेश अगर सावधानी पूर्वक धोया जाता है या ठण्डे पानी में डुबोकर रखा जाता है तो इस प्रदेश की स्नायु एवं ग्रन्थियों को स्फूर्ति प्राप्त होती है जो शरीर के लिए अमूल्य है। ऊपर लिखे स्नान रोगी एवं स्वस्थ सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपकारी है।

जल पीने के नियम

प्रातःकाल बिछौने से उठते ही साधारण तौर पर हाथ-मुँह धो लें और इसके वाद दो गिलास भरकर ठण्डा जल पीवें। भारत में यह क्रिया उषा-पान के नाम से प्रसिद्ध है। रोगियों को चाहिए कि इसके तुरन्त वाद वस्तिक्रिया करें। उषा-पान से शरीर के सभी कीटाणुओं को बाहर निकाला जाता है। साथ ही साथ शरीर में एकत्रित सभी दूषित मल का निःसारण होता है। यह क्रिया बड़े शहरों में भंगी द्वारा ड्रेज साफ करने की क्रिया से मिलती-जुलती है। प्रातःकाल कम से कम २ सेर पानी पीना चाहिये। प्रारम्भ में सम्भव है आप इतना जल न पी सकें, फिर भी अभ्यास करें।

दोपहर के भोजन के एक घण्टा पूर्व १ गिलास ठण्डा जल पीवें। भोजन के समय अगर आवश्यकता न हो तो जल न पीवें। भोजन के १ घण्टा वाद १ गिलास जल पीवें। रात्रि भोजन के १ घण्टा पूर्व १ गिलास जल पीवें। रात्रिकालीन भोजन के वाद १ घण्टा विश्राम

करने के उपरान्त १ गिलास जल पीकर सोना चाहिए। इस प्रकार सब मिलाकर ५-६ गिलास जल पीना चाहिए। इसके बीच आप अगर प्यासका अनुभव करें तो जल पी सकते हैं।

जिन व्यक्तियों को पित्त या अम्ल दोष है उन्हें नींबू का रस मिला कर पानी पीना चाहिये। ज्वर की अवस्था में ठण्डे जल के स्थान पर गर्म जल पीवें। रक्त-चाप या हृद्रोग से पीड़ित मनुष्यों को अधिक जल एक साथ नहीं पीना चाहिए। उन्हें चाहिए कि आवश्यकतानुसार २०-२५ मिनट के अन्तर से थोड़ा-थोड़ा जल पीकर पूरी मात्राकी पूर्ति करें। इस प्रकार व्यवस्थित जलपान विधि से रोगी एवं स्वस्थ दोनों को ही लाभ होगा।

उपवास की क्रिया

पाचन-क्रिया के दौरान में रक्त का अधिकतम भाग उदर-प्रदेश में रहता है और इसका उपयोग होता है पाचन-रसों के निर्माण के लिए। यदा-कदा उपवास करने से उदर एवं तत्सम्बन्धी अन्य यन्त्रों को अवकाश मिलता है। उपवास के समय कीटाणुओं को नष्ट करने एवं अन्य विषैले पदार्थों को नष्ट करने के लिये रक्त का उपयोग होता है। इसके अलावा भी शरीर के लिए अन्य लाभदायक कार्य सम्पादित होते हैं।

अतएव केवल मात्र उपवास करने से ही कई प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि उपवास रोगी एवं स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए समान रूप से उपकारी है।

उपवास के दिन कुछ भी न खावें। अपनी क्षमता के अनुसार अधिक से अधिक जल का सेवन करें। शरीर की प्रकृति इस जल कों अपने आप में शोषित कर दूषित मल एवं कीटाणुओं को वाहर निकालने में उपयोग करती है। यही कारण है कि एकादशी के दिन हिन्दू-शास्त्रों ने प्रत्येक व्यक्ति को उपवास करने का निर्देश दिया है। एकादशी के अलावा

पूर्णिमा एवं प्रतिपद् को भी उपवास की व्यवस्था की गई है। निःसन्देह यह हमारे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक परम्परा है।

यहाँ यह भी वताना उचित है कि केवल शारीरिक रोग ही दूर नहीं होते बल्कि इसका मानसिक महत्त्व भी है। रक्त की गर्मी के कारण ही हमारे शरीर के आभ्यन्तरिक शत्रुओं को जैसे—क्रोध, काम आदि को सहायता मिलती है। जब रक्त की गर्मी शान्त होती है तो ये भी शान्त रहते हैं। अतएव उपवास सभी के लिये उपयोगी है—यह संसार के सभी धर्मों का निर्देश है। उपवास करने के फल-स्वरूप काम एवं क्रोध शान्त होते हैं। उपर्युक्त कार्य में ध्यानस्थ होने की सख्त आवश्यकता है। आत्मज्ञान एवं ईश्वर-प्राप्ति के लिये भी यह आवश्यक है। उपवास शब्द का अर्थ (उप—निकट और वास—वैठना) निकट वास करना भी है। अतएव उपवासका तात्पर्य—ईश्वर के निकट जाना, ईश्वर के नजदीक रहना, ईश्वर में तल्लीन रहना भी है। उपवास के माध्यम से जब मस्तिष्क एकाग्र और शरीर निर्मल हो जाता है तब पूजा करनेवाले को आत्मज्ञान का सुअवसर मिलता है।

कमजोर व्यक्तियों एवं बच्चों को पूर्ण उपवास नहीं करना चाहिये। उन्हें उपवास के समय फलाहार, १-२ प्वाइन्ट गर्म दूध का सेवन करना चाहिये। जो व्यक्ति क्षुधानाश, गठिया, अम्लरोग अपचन, उच्च रक्त-चाप से पीड़ित है उन्हें सप्ताह में १ बार उपवास करना चाहिये। इससे रोग में अवश्य लाभ होगा।

नियम या व्यवस्था पत्र

यह पुस्तक ग्रन्थकार को उसके अवर्तमान में भी जीवित रखेगी। इसलिए ग्रन्थकार की यह इच्छा है कि इस पुस्तक की सहायता से वर्तमान एवं भविष्यत् मानव समाज सब प्रकार के रोगों से मुक्ति पा सकें।

एक अस्वस्थ शरीर से एक अस्वस्थ मन की उत्पत्ति होती है, इसलिए मनुष्य को रोग मुक्त होना जरूरी है और निम्न स्तरकी पशु मनोवृत्तियों से मुक्त होना भी जरूरी हैं। मनुष्य द्वैतका एक जीवित उदाहरण है ; प्रेम तथा ज्ञान का भण्डार है जो कि मनुष्य जीवन का ही लक्ष्य है, इस हेतु प्रत्येक मनुष्य को यह चेष्टा करनी चाहिये कि वह रोग मुक्त और इस सहज योग क्रिया की सहायता हो सकती हैं।

हमने इस पुस्तक में विशेष योग क्रियाओं का उल्लेख व्यवस्था के अनुकूल किया है और जो कि इस पुस्तक का उद्देश्य हैं। परन्तु जब शरीर जीवित रहने की क्षमता खो बैठता है तो उसके ऊपर एक साथ विभिन्न प्रकार के रोगों का आक्रमण होता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि वह सन्देह करे कि कौन से नियम का पालन करे जिससे कि वह रोग मुक्त हो सके। इसलिए इस पुस्तक में हमने चार सामान्य रोग व्यवस्थाओं का विवरण दिया गया हैं।

(१) वहुत कठिन तथा दुर्बल रोगियों के लिए व्यवस्था जैसे कि हृदय रोगी, रक्तचाप रोगी तथा कैन्सर (कर्कट) रोगी इन नियमों का पालन निःसन्देह कर सकते हैं। (२) सामान्य रोगियों के लिए जो कि चल सकते हैं और जो वहुत ज्यादा दुर्बल या बिस्तर से उठ सकने की हालत में न हों। (३) तीसरे रोग व्यवस्था पल में स्वस्थ पुरुष तथा स्वस्थ नारियों के लिए उल्लेख किया गया हैं। (४) अन्तिम व्यवस्थापल १२ वर्ष से कम आयु वाले वालकों के लिए हैं।

यह कहना व्यर्थ है कि सही योग क्रिया मनुष्य को जीवित नहीं रख सकती विना अच्छे निरीक्षण एवं परीक्षण की सहायता के बिना फिर भी यह व्यवस्था पत्र विल्कुल ठीक व्यवस्था पत्र न होते हुए भी उसके करीब है एवं इससे रोगी इन नियमों का पालन कर के निःसन्देह मुक्ति प्राप्त कर सकता हैं।

१

प्रातःकालः नींद खुलने के तुरन्त वाद मुँह धोकर दो गिलास पानी पीना है और फिर सहज विपरीत करणी मुद्रा ३ मिनिट, पवन मुक्तासन ४ बार, योग मुद्रा ६ बार सहज प्राणायाम सख्यक। दो मिनिट, अर्ध-शलभासन २ मिनिट, अर्ध कूर्मासन ६ बार।

प्रातःकालीन कृत्य समाप्त करके अर्धस्नान या टब स्नान २, ३ मिनिट, वामन धौति (हफ्ते में दो बार) सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्यक १, १० बार, सहज प्राणायाम संख्यक २, ३, ७ प्रत्येक २ मिनिट भ्रमण प्राणायम।

मध्याह्न : टब स्नान १०-१५ मिनिट, टब में बैठकर सहज अग्निसार ४० बार, अग्निसार धौति संख्यक १-१० बार सहज प्राणायाम संख्यक २ मिनिट (जिन व्यक्तियों को सर्दी जुकाम जल्दी हो जाता है वह लोग टब स्नान तब तक नहीं करेंगे जब तक कि प्राणायाम के द्वारा उनकी यह सर्दी जुकाम ठीक न हो जाय)।

अपराह्न : भ्रमण प्राणायाम।

सायं या रात्रि भोजन से पहले : सहज विपरीतकरणी मुद्रा ३ बार, मत्स्यासन १ मिनिट जानुशिरासन ३ बार, सहज अग्निसार ४० बार। अग्निसार धौति संख्यक। १० बार सहज प्राणायाम संख्यक १, २, ३, ५, ७—प्रत्येक २ मिनट।

२

प्रातःकाल :—दो गिलास पानी पीकर करणी मुद्रा ३ मिनिट योग-मुद्रा ८ बार, पवन मुक्तासन ४ बार, भुंजगासन ३ बार, शलभासन ३ बार, अर्धचक्रासन २ बार, सहज प्राणायाम सं० १ को २ मिनिट, पद-हस्तासन ४ बार।

प्रातःकालीन कृत्य समाप्त कर अर्ध-स्नान या टब स्नान २ से ५ मिनिट तक भ्रमण धौति या वारिशरा धौति (हफ्ते में दो बार, सहज अग्निसार— ५० बार, अग्निसार धौति संख्यक १० बार, संख्यक २, ४ बार सहज प्राणायाम २, ३, ७, ६ प्रत्येक २ मिनिट, भ्रमण प्राणायाम ।

मध्याह्न :—टब स्नान १० से २० मिनिट टब में बैठकर सहज अग्नि-सार को ५० बार अभ्यास । अग्निसार धौति संख्यक । १० बार संख्यक २-४ बार, सहज प्राणायाम संख्यक ३-३ मिनिट ।

अपराह्न :—भ्रमण प्राणायाम ।

सायं :—सर्वाङ्गासन ४ मिनिट मत्स्यासन २ मिनिट, पश्चिमोत्तन आसन ४ बार, हलासन ४ बार, सहज अग्निसार ६० बार, अग्निसार धौति संख्यक । १० बार, संख्यक २ । ४ बार, सहज प्राणायाम १, २, ३, ७, ६, प्रत्येक २ मिनिट शासगंशन १ मिनिट, भद्रासन १ मिनिट अर्धमर्त-शन्द्रासन ३ बार ।

३

प्रातःकाल :—दो गिलास पानी पीना है । विपरीतकरणी मुद्रा ५ मिनिट, योगमुद्रा ८ बार, मयूरासन ४ बार, अर्धचक्रासन २ बार, धनुरा-सन ४ बार, भद्रासन ३ मिनिट, सहज प्राणायाम संख्यक १।२ मिनिट, पदहस्तासन ४ बार । प्रातःकालीन कृत्य समाप्त कर के उड्डीयान ४ बार, नऊली ४ बार, भ्रमण प्राणायाम, वारिशरा धौति (हफ्ते में १ बार) सायं : सर्वाङ्गासन ५ बार, उत्तरासन ३ बार, अभुशस्तना ३ बार, शयन पश्चिमोत्तान ५ बार, हलासन ५ बार, उड्डीयान ५ बार, नउली ५ बार, मकरासन ५ बार सहज प्राणायम १, ३, ६, १० शीर्षासन, ५ मिनिट ।

४

प्रातःकाल :—एक गिलास पानी पीकर योगमुद्रा ६ बार, उत्थित

पद्मासन ३ वार, पदांगुष्ठासन ३ वार, अर्ध चक्रासन ३ वार, पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २, ३, ४, प्रत्येक को २ मिनिट ।

प्रातःकालीन कृत्य सम्पन्न कर तथा भोजन से पहले, सहज अग्निसार २५ बार, पाश्चात्य प्राणायाम सं० १, २, ३, ४ प्रत्येक दो मिनिट ।

सायं :—त्रिकोणासन ३ बार, उष्ट्रासन ३ बार, सकटासन ३ बार, कुकुरासना ३ बार, सहज अग्निसार २५ बार पाश्चात्य प्राणायाम १, २, ३, ४, प्रत्येक २ मिनिट ।

सप्तम परिच्छेद

औषधि सेवन के दोष

औषधियों के विरुद्ध डॉक्टरों के मत निम्न प्रकार हैं :—

Dr. S. S. Weir Mitchell—"Back of disease lies a cause and that cause no drug can reach."

डॉ० एस० एस० वीयर मिचेल—रोग की जड़ रोग के मूल कारण हैं, जहाँ तक औषधि की पहुँच नहीं है।

Elbert Hubbard—"My father Practised Medicine for 67 years but he never Practised on me."

अलबर्ट हब्बर्ड—मेरे पिता ने ६७ वर्ष तक चिकित्सा की परन्तु मुझपर कभी औषधि का प्रयोग नहीं किया।

Dr. Oertel—"He who loves his health will avoid the drug & doctors, and make this his capital principle."

डॉ० आर्टेल—जो व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को प्यार करते हैं वे दवा एवं डॉक्टरों से सदैव दूर रहते हैं। यही उनके जीवन का सिद्धान्त है।

Professor Alonzo clark, M. D.—"In their zeal to do good, Physicians have done much harm. They have hurried many to the grave, who would have recovered, if left to nature. All our curative agents are poisons, and as a consequence every dose diminishes the patient's vitality. If patients get well in some cases, it is inspite of the medicines...."

प्रोफेसर एलोन्जो क्लार्क, एम० डी०–भलाई करने के नामपर डॉक्टरों ने काफी क्षति पहुँचाई है। वहुत-से व्यक्तियों को उन्होंने समय से पहले ही कब्र में पहुँचाया है जो अगर प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जाते तो शायद वच सकते थे। सभी औषधियाँ विष हैं, इसके फल-स्वरूप प्रत्येक खुराक शरीर की जीवनी शक्ति को काम करती है। जो रोगी ठीक होते हैं—वे विना औषधि के भी ठीक हो सकते हैं।

Dr. Lind—"Almost every virulent poison known to man is found in Allopathic prescriptions ; these poison have a tendency to accumulate in the system to concentrate in certain parts and organs, and then to cause continual irritation and actual destruction of tissues. By far the greatest part of all chronic diseases is created or complicated through the suppression of acute diseases by means of drug-poisons, and through the destructive effects of the drugs themselves.

डॉ० लिन्ड—विश्व के सभी विष ऐलौपैथी औषधियों के नुश्खों में सम्मिलित हैं। उन विषों को शरीर के एक स्थान-विशेष में एकत्रित होने की प्रवृत्ति है। इसके पश्चात् वे वहाँ के जीवन-तन्तुओं को नष्ट कर देते हैं। बहुत-सी बीमारियाँ सिर्फ इसी कारण से प्रारम्भ होती हैं कि इसके पूर्व किसी बीमारी को औषधि-विष से नष्ट किया गया था। इन बीमारियों की उत्पत्ति का कारण है दवाओं के संहारक प्रभाव।

Dr. Noyes—"There is no reason, justice, nor-necessity for the use of drugs in diseases. I believe that this profession, this art, this misnamed science, is none other than a practice of fundamental fallacious principles, impotent of good, morally wrong and bodily hurtful."

डॉ० नोइस—रोगों के लिए औषधि-प्रयोग के पीछे न कोई कारण है, न कोई न्याय और न ही कोई आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि इस पेशे, कला या तथाकथित विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त भ्रामक हैं, नैतिक रूपसे गलत है तथा शरीर को क्षति पहुँचानेवाले हैं।

Dr. Francis Goggswell—"If it (the Medical Profession) were abolished, mankind would be infinitely the gainer."

डॉ० फ्रान्सिस गोग्सवेल—अगर चिकित्सा के पेशे को हटा दिया जाय तो मानवता का अति उपकार होगा।

Dr. Bigelow—"The amount of death and disaster in the world would be less than it is now, if all diseases were to be left to itself"

डॉ० विगेलो—अगर सभी रोगों को अपने आप ठीक होने के लिए छोड़ दिया जाये तो संसार में मृत्यु की संख्या कम हो जायगी।

Dr. James Johnson—"I declare, as my conscientious conviction, founded along with experiences, that if there were not a single Physician, Surgeon, Man-midwife Chemist, Druggist, nor drug on the face of the earth, there would be less sickness and less mortality than now prevail."

डॉ० जेम्स जानसन—मैं अपने विगत अनुभवों के आधार पर यह घोषित करता हूँ कि अगर पृथ्वीपर एक भी चिकित्सक, सर्जन, पुरुष-दाई, केमिस्ट या ड्रगिस्ट या दवा न हो तो रोग एवं इनके कारण होने वाली मृत्यु की संख्या आज की अपेक्षा कम होगी।

Dr. Magendie of Paris (from a lecture to a Medical class)—"Medicine is a great humbug. I know it

is called Science, Science indeed ! It is nothing like Science. Doctors are merely empirics when they are not charlatans........

"Let me tell you, gentlemen, what I did when I was a Physician at the Hotel Dieu. Some three or four thousand patients passed through my hands every year. I divided the patients into three classes. With one I followed the dispensary, and gave the usual medicines, without having the least the idea why or wherefore ; to others I gave bread pills and coloured water, without, of course, letting them know any thing about it. And occasionally I would create a third division, to whom I gave nothing whatever. These last would fret a great deal. They felt that they were being neglected, unless they were drugged—the imbeciles (and they irritated themseves, until they really got sick). But nature always came to the rescue and all the third class got well. There was little mortality among those who got the bread pills and coloured water. The mortality was greatest among those drugged according to the dispensary."

डॉ० मेगेन्डी आफ पेरिस (औषधिविज्ञान की कक्षा में दिये गये भाषण से उद्धृत)—औषधि एक बड़ा धोखा है। उसे विज्ञान कहा गया है। लेकिन विज्ञान जैसा कुछ नहीं है। होइल ड्यू में जब मैं चिकित्सक था उस समय के अनुभव आपको सुनाता हूँ। प्रत्येक वर्ष करीब ३०००-४००० रोगियों की मैं चिकित्सा करता था। रोगियों को मैं तीन श्रेणी में विभक्त करता था। एक श्रेणी को बिना कुछ

समझे-बुझे ही मैं औषधि देता था, दूसरी श्रेणी को रोटी की गोलियाँ (Bread Pills) और रंगीन पानी देता था पर रोगी को इसका आभास तक नहीं होने दिया जाता था। कभी-कभी एक ऐसी तीसरी श्रेणी बना लिया करता था जिसे मैं कुछ भी नहीं देता था। शेष की श्रेणी को सिर्फ इसलिये असन्तोष होता था कि वे यह अनुभव करते थे कि उन्हें कोई औषधि नहीं दी जा रही है। वे चिढ़ जाते थे और वास्तव में रोगी हो जाया करते थे, तब स्वयं प्रकृति ही उनका उपचार करती और ये तृतीय श्रेणी के मरीज स्वस्थ होते थे। जिन लोगों को रोटी की गोलियाँ एवं रंगीन पानी दिया जाता था उनमें मृत्यु संख्या कम रहती थी। जिन रोगियों को औषधि-सेवन कराया जाता था उनमें मृत्यु की संख्या सर्वाधिक होती थी।

Dr. Hastings—"After twenty five years of practice, I feel like the disciple of Shakespeare who said—Throw Physic to the dogs.'

डॉ० हेस्टिंग्स—२५ वर्ष की चिकित्सा के अनुभव के बाद मैं शेक्सपियर के शिष्य की तरह महसूस करता हूँ कि शारीर शास्त्र को कूड़े के ढेर में फेंक दो (अर्थात् नष्ट कर दो)।

Dr. R. H. Bakewell, M. D., M. R. H. C. S., formerly Vaccinator-General and Medical officer of Health, author of Pathology and Treatment of Small Pox—"I have very little faith in vaccination, even as modifying the diseases and none at all, as a Protective in epidemics. Personally I contracted Small pox less than six months after most severe re-vaccination.

डॉ० आर० एच० वेकवेल एम० डी०, एम० आर० एच० सी० एस० : वेक्सीनेटर-जनरल और मेडिकल अफसर आफ हेल्थ, पैथोलोजी और ट्रिटमेन्ट आफ स्माल पाक्स के लेखक—टीका लगाने में मुझे

बहुत कम विश्वास है। संक्रामक रोग से रक्षा का साधन—टीका नहीं है। तीव्र टीका लेने के बावजूद भी स्वयं मुझे ६ महीने बाद चेचक ने ६ महीनों तक घेरे रखा।

Dr. J. N. Hurty, Indian state Board of Health—"There is not a single medicine in the world that does not carry harm in its molecules."

डॉ० जे० एन० हर्टी, इण्डियन स्टेट बोर्ड आफ हेल्थ—जगत में एक भी औषधि ऐसी नहीं है जिसमें जीवन के लिए हानिकर पदार्थ न हो।

Bostwick's History of Medicine—"Every dose of medicine is a blind experiment on the vitality of the patient."

बॉसविक हिस्ट्री आफ मेडिसिन—रोगी की जीवनी शक्ति पर औषधि की प्रत्येक खुराक एक अन्धाधुन्ध प्रयोग है।

Dr. Wood Hutchinson—"Take away opium and Alcohol and the backbone of the patent medicine business will be broken in forty eight hours."

डॉ० वुडस हचिन्सन—अगर अफीम एवं मद्यसार को हटा दिया जाय तो पेटेन्ट दवाओं के व्यापार की दो दिनों में कमर टूट जाय।

Sir James Bay—President, British Medical Association—"The treatment of diseases is not a science, nor even a refined art, but a thrivin industry."

सर जेम्स बे—प्रेसिडेन्ट ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन—रोग की चिकित्सा न तो कोई विज्ञान है और न ही कोई सूक्ष्म कला। यह तो क व्यापार है।

[Reference—'Nature cure' by K. L. Sarmah. 'Natural Method of Hea!ing' by F. E. Bitz].

हमारा सत्परामर्श

मनुष्य ने औषधियों का आविष्कार वनस्पति जगत् एवं खनिज जगत् से तो किया ही है परन्तु कुछ औषधियों का आविष्कार प्राणी-जगत् से भी किया है। आधुनिक युग में प्राणी-जगत को काफी साधन-सम्पन्न माना गया है। जीवित प्राणियों की हत्या कर उनकी ग्रन्थियों से औषधियों का निर्माण किया जाता है। वनस्पति एवं खनिज पदार्थों की अपेक्षा जानवरों को मनुष्यों से अधिक नजदीक समझा गया है। लेकिन प्राणी-जगत् से उत्पन्न की गई हारमोन आदि औषधियाँ भी मनुष्यों के लिये निरापद नहीं हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति-विशेष के अनुसार आवश्यकीय गुणों को निश्चित करना किसी भी डॉक्टर के वश की बात नहीं है। डॉक्टर अन्धाधुन्ध परीक्षण करते हैं और असफल हो जाते हैं। थाइरायड से प्राप्त सार पदार्थ के समुचित मात्रा में सेवन न कर पाने से सारे शरीर में विषैला प्रभाव होकर मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार की चिकित्सा पर कितना भरोसा किया जाये यह विचारणीय प्रश्न है। इतना तो निश्चित ही है कि वनस्पति या खनिज पदार्थों की तरह ही ये भी हानिप्रद हैं। इस प्रकार की दवाओं के उपयोग से या शरीर में स्थित रक्त से भिन्न प्रकार के रक्त का सञ्चारण कराने से आकस्मिक मृत्यु हो जाया करती है। मृत्यु अगर न भी हुई तो शरीर की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक बार अस्त-व्यस्त हो जाती है। अपने देश के युवकों में, इस प्रकार की औषधियों के अत्यधिक सेवन के फलस्वरूप होनेवाली क्षति चिन्ताजनक है। इस प्रकार की अभागी मौतों के आंकड़े संग्रह करने की हमारे देश में कुछ भी व्यवस्था नहीं है।

पुरानी वनस्पति या खनिज औषधियों के स्थानपर 'एन्टिबायोटिक ड्रग्स' को आधुनिक युग में काफी महत्व दिया जा रहा है। आज स्ट्रेप्टोमाइसिन, टेरामाइसिन, सेकरोमाइसिन जैसी शक्तिशाली नयी औषधियों का आविष्कार हुआ है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि इन

भयानक औषधियों या उनके आविष्कारकर्त्ताओं के महत्व का सही अंकन नहीं किया जाये क्योंकि औषधियों के आविष्कार के पीछे प्रतिभा का हाथ सदैव रहा है। इस प्रकार के आविष्कार सतत प्रयत्न एवं कठोर परिश्रम के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकते हैं और इनका उद्देश्य 'मानव-कल्याण' ही रहा है। मनुष्यों के दुःखों को मिटाकर इन औषधियों ने कुछ हद तक मनुष्य-जीवन का उपकार ही किया है। लेकिन मनुष्य को अपनी बुद्धि के अनुसार सावधानीपूर्वक गुणों का परीक्षण करने का भी अधिकार है। ज्यों-ज्यों इस प्रकार की अचूक औषधियों का आविष्कार हुआ है मनुष्य के स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवन की परम्परा को क्षति पहुँचती है। शरीर रोगों का घर हो गया है, सभी घरों से शान्ति एवं सुख विदा हो गये हैं, सभी परिवार दुःख एवं आशंकाग्रस्त हैं। सभ्य समाज में अकाल मृत्यु की संख्या क्रमशः वृद्धि पर है। मध्य-वित्त परिवारों द्वारा कष्ट से उपार्जित धन केमिस्ट एवं ड्रगिस्टों की भेंट चढ़ जाते हैं और उन्हें आवश्यक वस्तुओं से भी वञ्चित रहना पड़ता है। अतएव समाज इन औषधियों के गुणों की चकाचौंध में न आवे। परिवार में इसकी निर्बाध उपयोगिता पर कड़े प्रतिबन्ध होने चाहिये।

औसतन स्वस्थ व्यक्ति की पेनिसिलिन से अचानक मृत्यु या स्ट्रेप्टोमाइसिन के उपयोग से मस्तिष्क उत्तेजित हो जाना कोई नई बात नहीं रह गई है। हमारे देश की तरह ही अन्य देशों के कुछ चिकित्सक इस प्रकार की दुर्घटनाओं के फलस्वरूप सावधान हुए हैं। एक बंगला समाचार पत्र 'युगान्तर' में प्रकाशित एक डॉक्टर के लेख का कुछ अंश नीचे उद्धृत कर रहे हैं :

"................स्ट्रेप्टोमाइसिन के उपयोग से काफी संख्या में रोगियों का मस्तिष्क उत्तेजित हुआ। विश्वविख्यात सर अलेक्जेण्डर फ्लेमिंग, लार्ड होर्डर और होरेन्स इवान्स जैसे चिकित्सकों ने इस पेशे के व्यक्तियों को पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, क्लोरोमाइसिन या अन्य

सलफा औषधियों के लिये चेतावनी दी है कि इसी प्रकार की कुछ अन्य औषधियाँ भी बाजार में आयी हैं ; जैसे सीनोमाइसिन, टेरामाइसिन, नियोमाइसिन, सेकरोमाइसिन। आपसी व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप इनके विज्ञापन की सीमा पार हो गई है। इन विज्ञापनों के आधार पर ही चिकित्सकगण औषधि के गुणों का मूल्यांकन करते हैं। इसके फलस्वरूप रोगी के धन एवं जीवनी शक्ति नष्ट हो जाते हैं। एन्टीबायोटिक औषधियों के उपयोग से रक्त-कणिकाएँ नष्ट हो जाती हैं—यह तथ्य है। साथ ही वृक्क एवं हृदय भी कमजोर हो जाते हैं। रोगमुक्त रोगी का जीवन निराशापूर्ण हो जाता है। औषधियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होनेवाली बीमारियाँ साधारण बीमारियों से अधिक खतरनाक होती हैं।

यह स्वतः सिद्ध है कि औषधियों, इन्जेक्सनों एवं वेक्सीन आदि से रोगों का प्रतिरोध नहीं किया जा सका है और न ही मनुष्य के स्वास्थ्य का स्तर ही ऊँचा किया जा सका है।

विशेषज्ञों का मत है कि किसी भी रोग को दवाने से किसी अन्य प्रकार का रोग हो जाता है। यह रोग कभी-कभी पहले के रोग से भी ज्यादा भयानक होता है। उदाहरण के लिये—सुजाक या शुक्रदोष के रोगों का इलाज करने से अण्डकोष वृद्धि की बीमारी हो जाती है। उपदंश रोग को दवाने से गठिया, हड्डियों में दर्द, पक्षाघात और अन्य बहुत सी बीमारियाँ पैदा होती हैं। डिप्थीरिया, मेनिनृजाइटिस मम्प्स रोग के शमन से राजयक्ष्मा कैन्सर और वृक्क-दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव ऐलोपैथी के माध्यम से रोग दबाने के परिणाम अधिक भयानक होते हैं। इन परिणामों को नवीन बीमारी समझकर, रोगी की जीवनी शक्ति एवं धन के मूल्य पर चिकित्सा की जाती है।

इन एन्टी-बायोटिक औषधियों के आविष्कर्ताओं के गुणगान करने के बावजूद भी कुछ देश के निवासियों एवं उन देशों की सरकारों ने

चिकित्सक एवं वहाँ के निवासियों के नाम खुली चेतावनी घोषित की है कि ऊपर से लाभदायक प्रतीत होनेवाली इन औषधियों के भयानक परिणामों से अपने आपको बचावें। शरीर के भीतर रहनेवाले कीटाणुओं को ये औषधियाँ नष्ट करती हैं इसमें सन्देह नहीं, लेकिन ये औषधियाँ रक्त कणिकाओं को भी नष्ट करती हैं। इस प्रकार वे रोगी की प्रतिरोध शक्ति को नष्ट कर आसानी से होनेवाले रोगों का शिकार बना देती हैं। इन भयानक औषधियों का असर आनेवाली सन्तान पर भी पड़ती है। नवीन सन्तति विकृत आकृति एवं स्वभाव की पैदा होती है। कुछ शिशु जन्म से ही यकृत-दोष, दोषी नेत्र शक्ति, शोथ आदि रोगों से ग्रस्त होते हैं। इसका अर्थ यही है कि उनके माता-पिता ने कुनाइन, सल्फा औषधि एवं वेक्सीन का अधिक उपयोग किया है। गरीब देशों के निवासियों पर इसका अधिक भयानक असर पड़ता है। क्योंकि इनकी जीवनी शक्ति पहले से कम रहती है।

स्कूल एवं कालेज के विद्यार्थियों के टाइफायड का इलाज इन एन्टी-बायोटिक औषधियों से किये जाने के कारण उनके मस्तिष्क की क्षमता कम हो जाती है, वे अध्ययन नहीं कर पाते हैं। किसी-किसी को अपना अध्ययन स्थगित कर देना पड़ता है। यौगिक आसन एवं मुद्राओं के १ वर्ष तक अभ्यास करने से इस प्रकार के रोगों में लाभ होता है। इन बच्चों में बहुत से प्रसिद्ध चिकित्सकों की सन्तान भी हैं। यह एक शुभ चिह्न है कि ये चिकित्सक यौगिक उपायों की परीक्षा कर अजमाते हैं और अपने बच्चों को यौगिक चिकित्सा के प्रति उत्साहित करते हैं।

औषधियों का सीमित क्षेत्र

हम औषधियों के अवगुणों का विस्तृत विवरण दे चुके हैं। लेकिन एक बात हमेशा स्मरण रखनी चाहिये कि समाज के हितार्थ किये गये आविष्कारोंका पूर्णरूप कभी नहीं होगा। इनमें कुछ भलाई सदैव मौजूद

रहेगी। वायुयान एक आधुनिक आविष्कार जिसके जरिये हम ३-४ सौ मील प्रति घण्टे की गति से आकाश में विचरण करते हैं। फिर भी अति मन्द गतिवाली बैलगाड़ी का उपयोग समाप्त नहीं हो गया है। बड़ी राइस मिल के रहते हुए भी पुरानी धान कूटनेवाली ढेकी ज्यों की त्यों प्रचलित है।

आग से जलने पर, जले हुए स्थान को पानी में तुरन्त डुबो देना चाहिए। धान की गम्भीरता के अनुसार पानी में डुबोकर रखने के समय को कम या अधिक किया जाता है। इस प्रकार की क्रिया के फलस्वरूप जलन शान्त होती है, जले हुए स्थान पर फफोले नहीं होते एवं बाद में कोई दाग भी नहीं रह जाता है। अगर शरीर अधिक जल गया हो तो इसे २४ से ७२ घण्टे तक जल में डुबोकर इस प्रकार रखें कि रोगी की आँख एवं नाक पानी से ऊपर रहे। इस चिकित्सा के समकक्ष आज कोई भी चिकित्सा नहीं है। औषधि या यौगिक प्रयोग से भी इस प्रकार का लाभ नहीं हो पाता है। अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि प्राचीन एवं अर्वाचीन चिकित्सा-पद्धतियों में ऐसी बहुत-सी चीजें छिपी हैं जो कभी भी लुप्त न हो सकेंगी।

अनादिकाल से कटे हुए स्थान पर दूर्वा (घास) का रस, घिसा हुआ चन्दन और गेंदा लगाने की प्रथा प्रचलित है। आजकल हम आइडिन वेन्जोइन का उपयोग करते हैं। इससे रक्तस्राव बन्द होकर घाव भरता है। घास में आइडिन काफी मात्रा में पाया जाता है जिसे आयुर्वेद में अरुणक के नाम से पुकारा गया है। अरुणक कम या अधिक सभी हरे पौधों में विद्यमान है। यही कारण है कि शाकाहारी मनुष्य में सेप्टिक होने का भय कम रहता है। किसी भी घावपर मलहम लगाकर उसका इलाज करना हानिकर प्रथा है। यह क्रिया रोग को मिटाती नहीं है उसे दबाती है। रोगी की गम्भीर अवस्था में या दुर्घटना होने पर डाक्टर ग्लूकोज का नमकीन पानी रोगी को इन्जेक्शन के जरिये

चढ़ाया करते हैं। यह कोई औषधि नहीं है लेकिन इससे शक्ति का संचार होता है। अंगूर आदि फलों में विद्यमान शर्करा की मात्रा हमारे शरीर के तापमान को स्थायी रखती है। शाक-सब्जी में विद्यमान खनिज लवण को वैज्ञानिक सावधानी से एकत्रित कर 'सेलाइन' बनाया करते हैं जो हमारे रक्त के क्षारांश को बढ़ाता है। इनके जरिये रोगों की रोक-थाम की जा सकती है और रोगी की चिकित्सा करने का डाक्टर को अवसर प्राप्त हो जाता है। मधुमेह में इन्सुलिन लाभ करती है, परन्तु इसी पर आश्रित रहने पर मृत्यु भी हो सकती है। आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सा के ये प्रमुख विषय हैं। लेकिन क्या इसी आधार पर शरीर को अबाध रूप से विषाक्त बनाने की इसे छूट दे दी जाये। इससे शरीर को हानि भी हो सकती है। साधारण ज्ञान के आधारपर इन्जेक्शन एवं टेबलेट आदि का उपयोग करने से वास्तविकता में प्राचीन फर्माकोपिया का लोप हो गणा है। बहुत से डाक्टर प्रचार साहित्य में लिखे गुणों के आधार पर औषधियों का अपने रोगियों पर प्रयोग करते हैं। पाश्चात्य देशों की जलवायु एवं वहाँ के सुदृढ़ शारीरिक ज्ञान पर प्रयोग की हुई खुराक में ही हमारे देश के डाक्टर उन विषैली औषधियों का प्रयोग करते हैं। उन्हें जो साधारण सफलता प्राप्त होती है उससे वे काफी सन्तुष्ट रहते हैं। इन्जेक्शन के जरिये हमारे शरीर में कितनी क्षति हुई है इसका पता शिक्षित लोगों को भी नहीं है। इन्जेक्शन के माध्यम से शरीर में रक्ताल्पता हो जाती है एवं शरीर की रासायनिक एवं शारीरिक प्रक्रिया में काफी अस्त-व्यस्तता हो जाती है।

सर्जरी ने जहाँ बहुत से व्यक्तियों की प्राण-रक्षा की है वहाँ बहुतों को मौत के मुँह में भी पहुँचाया है। जबकि उन्हीं रोगों की चिकित्सा-अन्य साधनों से सहज रूप से की जा सकती थी। सर्जरी का चिकित्सा-क्षेत्र विशाल है। खाद्य पदार्थों में मिलावट कर जो सामाजिक क्षति ये मुनाफाखोर कर रहे हैं, उतनी ही नासमझी में ये डाक्टर गण भी क्षति कर रहे हैं। यद्यपि इनका उद्देश्य अच्छा है। **स्वास्थ्य के सिद्धान्तों के**

विषयमें पूरी जानकारी का न होना, खाद्यपदार्थों की मिलावट, डाक्टरों द्वारा सदैव औषधियों का प्रयोग करना, आज जनता के स्वास्थ्य को नष्ट करने के ये तीन अद्वितीय साधन हैं। भारत के प्रत्येक हितैषी को इसके विरुद्ध अभियान प्रारम्भ करना चाहिये।

हमारी प्रकृति ने 'जीभ' एक ऐसा अवयव बनाया है जो हमारा रक्षक है। शरीर के लिये आवश्यक खाद्य पदार्थों को ग्रहण करने में यह बाधक नहीं है। लेकिन शरीर के लिये जो भी हानिकर पदार्थ हैं उनके लिये बाधा वन जाती है। प्रकृति के इस नियम को हमें ध्यान में रखना चाहिये। इस नियम का उल्लंघन करनेवाले व्यक्ति दण्डित होते हैं।

कुछ कड़वी चीजें खाना, जीभ के लिये बाधक नहीं है। जैसे नीम के सेंके हुए पत्ते, करेला एवं अन्य पदार्थ। इस प्रकार के कड़वे पदार्थ शरीर में स्थित पित्त के अनुपात को नियंत्रित करते हैं। चूँकि शरीर को इन कड़वे पदार्थों की आवश्यकता है इसलिये जीभ इन्हें खाने के लिये इच्छुक रहती है। वहुत-सी इस प्रकार की औषधियाँ हैं जिन्हें खाने में जीभ बाधक होती है क्योंकि ये काफी तेज होती हैं और यही कारण है कि ये द्रव्य हमारे शरीर को नुकसान ही अधिक पहुँचाते हैं। इस प्रकार की तीव्र औषधियों के सेवन के फलस्वरूप हमारे शरीर के महत्वपूर्ण अवयव जैसे—यकृत, प्लीहा और वृक्क आदि क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। इस परिस्थिति में यह निर्णय करना पड़ेगा कि कैसी ही औषधि हो, वह चाहे खनिज या पेड़-पौधों या प्राणी-जगत् से उत्पन्न होनेवाली हो—शरीर के लिये अहितकर है। इस प्रकार की औषधियों के सेवन के फलस्वरूप हमारे शरीर को हानि ही होती है। अतएव औषधियों का सेवन करना त्याग करें।

इसी प्रकार वाह्य प्रयोग में आनेवाली औषधियाँ, जैसे मलहम आदि का प्रयोग भी वर्जित है। यद्यपि इनसे शीघ्र लाभ होता है क्योंकि ये तीव्र विषों से बनी होती हैं। ये औषधियाँ अपने प्रभाव से जनता को

चकित कर देती हैं। लेकिन विस्फोटक रोगों को इस प्रकार दबाने के फलस्वरूप शरीर विषाक्त हो जाता है। उदाहरण के रूप में देखिये— मालिश के जरिये वातरोगों का इलाज करने से हृद्रोग या थ्रॉम्बोसिस हो जाता है, अगर इस रोग के कारण को शरीर से निकाल नहीं दिया जाय। चिकित्सा के लिए औषधियों का प्रयोग न करें। हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि औषधियों का विष हमारे शरीर के सूक्ष्म कोषों या स्नायु आदि में अवशिष्ट रह जाने से वह अपना दुष्प्रभाव दिखलाता है और इसके परिणामस्वरूप अकाल मृत्यु हो जाती है।

अष्टम परिच्छेद

अस्वास्थ्यकर यौन जीवन

एक अनुशासित दाम्पत्य जीवन का मनुष्य के मन एवं शरीर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि हम यहाँ भारतीय ऋषि-मुनियों के मत के अनुसार दाम्पत्य जीवन का विवेचन कर रहे हैं, ताकि व्यक्तिगत स्वास्थ्य एवं आनेवाली सन्तति का कल्याण हो सके।

कामाचरण के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ विचारकों का मत है कि २० से ३५ वर्ष की आयु के बीच व्यक्ति अगर प्रतिदिन ३ वार भी सम्भोग करे तो उसके स्वास्थ्य पर कुछ भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं होगा। कुछ विचारकों का मत है कि सम्भोग की यह संख्या सिर्फ १ या २ ही होनी चाहिये। अन्यान्य मतों के अनुसार यह संख्या प्रति सप्ताह में १, २ या ३ होनी चाहिये। कुछ विद्वानों का मत है कि दिन के समय या गर्भावस्था में भी सम्भोग किया जा सकता है। आधुनिक भारत में काम विज्ञान के सम्बन्ध में प्रचलित पुस्तकों से पाठक को पाश्चात्य मत की ही इस विषय में जानकारी होती है। वास्तव में पाश्चात्य काम-विज्ञान की पुस्तकों का ये पुस्तकें अन्धानुवाद हैं।

यौवन ही जीवन का आनन्द-काल है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की भाँति ही प्रत्येक देश का भी शैशव, यौवन एवं वृद्धावस्था का समय आता है। पाश्चात्य देशों की जातियों का यह यौवन काल है। यही कारण है कि आनन्द भोगने की प्रवृत्ति उनमें अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक है। अपने यौवन काल में भारतीय जाति भी कम

कामानुरक्त नहीं थी। प्राचीन कामविज्ञान से सम्बन्धित साहित्य जैसे कोक-शास्त्र आदि में इसके प्रचुर प्रमाण मौजूद हैं। भारतीय जाति विश्व की प्राचीनतम जाति है। आधुनिक युग इस जाति का वार्द्धक्य काल है। विचारों में परिपक्वता, कामानुरक्ति का जातीय स्तर पर अभाव आदि का यही कारण है। हमारा यह मत है कि विषय-भोग के सम्बन्ध में पाश्चात्य-समाज का अनुसरण करना या पाश्चात्य काम-विज्ञान से अपने को प्रभावित करना भारतीयता के सर्वनाश का कारण हो जायगा।

शीत-ऋतु में पाँच प्रकार की पाचक अग्नियाँ तीव्र होती हैं। इसी कारण-वश गरिष्ठ भोजन के फलस्वरूप भी शीत-ऋतु में स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन ग्रीष्मकाल में गरिष्ठ भोजन का स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव होता ही है—ऐसा अनुभव है। इसी प्रकार की सावधानी विषय-भोग के सम्बन्ध में भी बरतनी चाहिये। यह सम्भव है कि काम-जीवन में थोड़ा बहुत असंतुलन शीतप्रधान देशों के युवकों के स्वास्थ्य को नष्ट न कर सके। लेकिन ग्रीष्मप्रधान देशों के निवासियों के स्वाथ्य पर इसका निश्चित प्रभाव पड़ता है। अतएव पश्चिमी जगत का अन्धानुकरण न किया जाये।

हमारे देशमें स्वस्थ दम्पति शायद हजारों में से छाँटनेपर एक मिले। हमारे देश में दम्पति जीवन बोझ बन गया है। जीवन में यौवन एवं स्फूर्ति का अभाव है। अत्यधिक पुरुष-प्रसंग के फलस्वरूप स्त्रियों में कोष्ठबद्धता एक साधारण एवं व्यापक रोग है। इसीके फलस्वरूप उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग अपना घर बना लेते हैं। दूसरी तरफ युवक साधारण सी धूप में ही बेचैन एवं सुस्त हो जाते हैं, थोड़ी-सी सर्दी में ही जुकाम से आक्रान्त हो जाते हैं, थोड़ा चलने से ही उनका दम फूलने लगता है। यही हमारे स्वाथ्य एवं स्फूर्ति के लिये आदर्श युवकों की अवस्था है।

अधिक काम-वासना के फलस्वरूप स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक दुष्प्रभाव होता है। शुक्र के अत्यधिक क्षय के कारण शरीर की रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है। शुक्र ही हमारे जीवन और शरीर का रक्षक है। इसके दुरुपयोग से मनुष्य की अकाल मृत्यु सुनिश्चित है। यौवन-काल में रोग से मृत्यु नहीं हो सकती अगर रोगी का काम-आचरण संतुलित रहता हो। जीर्ण-शीर्ण आर्थिक अवस्था में वारम्वार गर्भ की स्थिति होने से स्त्रियों की अकाल मृत्यु हो सकती है। अपने पति की असंतुलित काम-वासना की पूर्ति हेतु बहुतसी स्त्रियों को आत्मोत्सर्ग तक करना पड़ता है।

रक्त में अम्लांश की वृद्धि के फलस्वरूप मनुष्य का यकृत विकृत हो जाता है। परिणामस्वरूप रक्तचाप और हृद्रोगों के कारण स्त्री-पुरुष अकाल मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। रक्त में अम्लांश चर्बी एवं मांसादिक भक्षण से वढ़ता है। आहार की कुव्यवस्था के कारण मरनेवालों की संख्या उससे कम है जो यौन जीवन के नियमादि का उल्लंघन कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसीलिये हमारा यह मत है कि यौन जीवन का दुराचार ही मनुष्य की अकाल मृत्यु का कारण है।

मेरी स्टोप्स द्वारा लिखित कामविज्ञान में वर्णित है कि पाश्चात्य स्त्रियों में पुरुषों के प्रति काफी असन्तोष है। उन्होंने लिखा है कि पुरुष उनकी काम क्षुधा को तृप्त नहीं कर पाते हैं। स्त्रियों के चरम आनन्द की सीमा प्राप्त करने के पूर्व ही उनका स्खलन हो जाता है। इस प्रकार का अधूरा सम्भोग स्त्री के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। उन प्रदेशों के पुरुषों की असावधानी एवं लापरवाही इस प्रकार के अभियोगों से सिद्ध हो जाता है। पुरुषों में दिन-प्रतिदिन शीघ्र पतन वढ़ता जा रहा है और पुंस्त्व का अभाव हो रहा है।

शीघ्र पतन के रोगी के साथ सम्भोग करने के फलस्वरूप भी स्त्रियाँ गर्भवती हो सकती हैं। इस प्रकार के पुरुष अपनी कामवासना पर नियन्त्रण नहीं रख पाते हैं। यही कारण है कि वे अपनी स्त्रियों को

अधिक तंग करते हैं, लेकिन वे अपनी स्त्रियों को तृप्त नहीं कर पाते। उनकी स्त्रियाँ अतृप्त ही रह जाती हैं। यह असन्तोष जव स्त्री के मस्तिष्क को प्रभावित कर देता है तो वहुत-सी स्त्रियों का यौन-जीवन नरक बन जाता है।

ऐसे मनुष्योंका भी अभाव नहीं है जो स्खलन पर वरावर नियन्त्रण रख सकते हैं। अपनी स्त्रीके चरम आनन्द प्राप्त करने के उपरान्त भी वे उन्हें सहवास के लिए बाध्य किया करते हैं। इस प्रकार अपनी प्रसन्नता और सुख के लिये स्त्रियों के स्वास्थ्य का कुछ भी ख्याल नहीं रखते हैं। स्त्रियाँ अपने पति के इस प्रकार के अत्याचारों को तब तक सहन करती रहीं जब तक कि वे अशिक्षिता थीं। वे सदैव इन सव परेशानियों को हँस-हँस कर टालती रहीं। अपने पतियों को इसके लिये कभी भी दोषी करार नही दिया। लेकिन आधुनिक स्त्रियाँ शिक्षिता हैं, उनमें एक अपनी सूझ-बूझ है और अव वे अपना भला-बुरा स्वयं समझने लगी हैं। पाश्चात्य स्त्रियाँ भी अपने पति के काम-आचरणों के प्रति पूर्वापेक्षा अधिक सजग हैं। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में तलाक की संख्या क्रमशः बढ़ रही है। तलाक के ज्वार की लहरें हमारे समाज को भी निगलना चाह रही हैं।

यह हम स्वीकार करते हैं कि स्वामी की इस प्रकार की असमर्थता से जो स्त्रियाँ तलाक की सरण लेती है—पूर्वी एवं पश्चिमी समाज में नगण्य हैं। अधिकांश स्त्रियाँ इस प्रकार के अत्याचारों को हँस-हँस कर झेलती रहती हैं। पति की आत्मतुष्टि की भावना, स्वार्थ, निर्दयता आदि तलाक के प्रमुख कारण हैं।

हमारे देश में अशिक्षित या अर्धशिक्षित धनी या मध्यवित्त परिवार की स्त्रियों का एक समुदाय है। इनकी दृष्टि में अधिक सम्भोग करना अपने पति के प्रेम एवं आस्था प्रदर्शित करने का एक साधन है। अगर पति इस विषय में नियन्त्रण का प्रदर्शन करता है तो उन्हें अपने पति पर अविश्वास होने लगता है कि उनका पति किसी परत्रिया पर

आसक्त है, अतः अधिक सम्भोग कर वे उसे अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती हैं। इसका कारण यह नहीं है कि वे अतृप्त हैं। वास्तविकता यह है कि उनका मस्तिष्क अस्वस्थ है और वे स्वयं आर्थिक रूप से परावलम्बी हैं। इस काम-आचरण के लिये वे अपने पति से झगड़ती रहती हैं। वे अपना शरीर समर्पण कर देती हैं। उनका उद्द श्य है कि किसी भी प्रकार से पुरुष पर नियन्त्रण करना। लेकिन इस प्रकार की स्त्रियाँ अपने पति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट कर देती हैं। उनका पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि उन्हें स्वास्थ्य के नियम तथा अपने पति के मानसिक इच्छा का पूरा ज्ञान नहीं रहता है।

हमारे देश में एक कहावत है—"जहाँ भोग वहाँ रोग"। पशुओं में इस प्रकार की बीमारियाँ नहीं पाई जाती हैं। भोग की सीमा का निर्धारण पशुओं में प्रकृति ने कर रखा है। यही कारण है वन्य जन्तुओं में रोग नहीं पाये जाने का। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान की बुद्धि के विकास होने का समुचित अवसर देते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी मनुष्य में बौद्धिक विकास का अवसर देती है। मनुष्य भी स्वस्थ रहकर अपना जीवन निर्वाह कर सकता है वशर्ते कि वह प्राप्त हुई स्वतंत्रता का दुरुपयोग न करे।

जिस प्रकार समुचित मात्रा में भोजन शरीर को स्वस्थ रखता है उसी प्रकार स्वस्थ यौन-जीवन व्यतीत करने पर शरीर एवं मन को तृप्ति और पुष्टि प्राप्त होती है।

कामुक भावना एवं भोग की क्षमता स्त्री-पुरुष दोनों के अपरिणत मस्तिष्क का परिचायक है। पूर्ण विकसित मस्तिष्कवाले स्त्री-पुरुषों में भी उच्च स्तरीय एवं संस्कृत भावनाओं के प्रति सम्मान का अभाव पाया जाता है। उनकी रुचि सांसारिक या विषय-वासना आदि में अधिक रहती है। यही कारण है कि उनके मस्तिष्क में उच्च विचार नहीं पनप सकते। इसी कारणवश उनकी शक्ति व्यर्थ के कार्यों में व्यस्त रहकर मन

में कामुक भावनाओं को उत्पन्न करती है। इस प्रकार के व्यक्तियों की काम-वासना की अगर समय पर तृप्ति न हो तो उनका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और शारीरिक स्वास्थ्य भी खराव हो जाता है। सांसारिक दुश्चिन्ताओं से प्रभावित व्यक्ति कामुकता से अपने आप को मुक्त नहीं रख सकता।

वंश-वृद्धि के हेतु स्त्री-पुरुषों में रज और वीर्य की कुछ अतिरिक्त मात्रा उत्पन्न होती है। स्त्रियों में भ्रूण-गठन के लिये रज का संचय होता रहता है। लेकिन प्रकृति का नियम है कि पुरुष को सन्तानोत्पादन करने के लिए वीर्य का व्यय करना चाहिये। इस प्रकार वीर्य के व्यय से पुरुषों के शरीर पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है, वल्कि दम्पति में मानसिक एवं शारीरिक संतुलन कायम रहता है। इस प्रकार के वीर्य व्यय के उपरान्त अगर आपको यह अनुभव हो कि आप स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि आपका व्यय सीमित है—समुचित है। आपने वीर्य की उस मात्रा का व्यय नहीं किया है जिसकी आवश्यकता शरीर-निर्माण के लिये हो सकती है। शरीर को स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक वीर्य भी अगर नष्ट कर दिया जाय तो शरीर पर इस अभ्यास का कुप्रभाव हुए विना नहीं रह सकता।

हमारे देश के युवक एवं युवतियों को अपने सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक रहना चाहिये। अगर अधिक विषय भोग में वीर्य को जो स्त्री-पुरुष नष्ट कर देंगे तो उनकी सन्तान कमजोर होगी। इस प्रकार के कमजोर वच्चे परिवार, समाज एवं देश के लिये लज्जास्पद हैं। अतएव यह परमावश्यक है कि प्रत्येक दम्पति देश और समाज के लिए अपने यौन सम्बन्धों को सीमा-बद्ध रखे। उतना ही संभोग करे जितना शरीर को स्वस्थ और सशक्त रख सके, दम्पति के मानसिक स्वास्थ्य को स्थायी रख सके। संभोग की यही सीमा है।

भारतीय काम-विज्ञान में कोकशास्त्र का भी स्थान है। इसमें विषय-भोग का नग्न चित्रण किया गया है। यह कोकशास्त्र इस प्रकार

के व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है जिनका मस्तिष्क विषय-वासनाओं से ओत-प्रोत था। उनकी दृष्टि में सम्भोग ही परम आनन्द है। आधुनिक काम-विज्ञान के साहित्य में और कोकशास्त्र में काफी समानता पायी जाती है। दोनों में ही सम्भोग का नग्न चित्रण है।

कोकशास्त्र के अलावा, प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियों ने भी शुद्ध एवं स्वस्थ साहित्य का निर्माण किया है। इन पुस्तकों का उद्देश्य है कि सभी दम्पतिका शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कल्याण हो। उनकी दृष्टि में स्त्रियों में संयम अधिक होता है। जिस प्रकार मादा-पशुओं की काम भावना नियन्त्रित सीमा में है उसी प्रकार स्त्रियों में भी इस पर नियन्त्रण पाया जाता है। विषय-भोग के प्रति उनकी रुचि अधिक नहीं होती है। यही कारण है कि स्त्रियों का शरीर सदैव उत्तेजित नहीं रहता है। उनको उत्तेजित करने के लिए पुरुष को प्रयास करना पड़ता है। आधुनिक काम-विज्ञान में स्त्री की इस प्रवृत्ति को उसकी सुस्ती कहा गया है। आधुनिक साहित्य में स्त्रियों की इस सुस्ती को दूर करने के लिए नग्न चित्रण किया गया है।

लेकिन भारतीय मुनियों का मत है कि यह सुस्ती उनकी नियन्त्रित प्रकृति का प्रतीक है। चूँकि उन्हें इस प्रकृति का ज्ञान था। इसीलिए उन्होंने स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। अगर पुरुष असभ्य न हो जायें तो स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का उपदेश देने की आवश्यकता ही न रहे। यही कारण है कि पुरुषों के लिए नाना प्रकार के संयम एवं साधनों का हमारे काम-साहित्य में वर्णन प्राप्त होता है! ताकि उनके अनुकूल आचरण कर वे अपना वैवाहिक जीवन नियन्त्रित रूप से व्यतीत कर सकें। पुरुष इन सिद्धान्तों के पालन से सच्चरित्र होकर काम-भावनाओं को भस्म कर सकते हैं। इस प्रकार आत्मसंयम करने के फलस्वरूप ही हम अपने परिवार में देवी 'उमा" का स्वरूप देख सकेंगे जो आसुरी मनोवृत्ति के संहार के लिए कार्त्तिकेय

रूपी सन्तान उत्पन्न कर सकेंगी। इस प्रकार की पीढ़ी ही समाज के आसुरी स्वरूप का दैवी स्वरूप में वदल सकती है।

हमारे ऋषि-मुनियों का मत है कि दम्पति के स्वास्थ्य एवं मानसिक कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए, स्त्री की इच्छा के विपरीत सम्भोग न किया जाय। स्वकीया स्त्री की इच्छा के विपरीत किया गया संभोग वलात्कार माना गया है। कहा गया है—

'भार्याम् गच्छन् ब्रह्मचारी, ऋतौ भवति वै द्विजः।'

मास में मात्र एक वार संभोग किया जाय। इस प्रकार का आचरण करनेवाला पति भी ब्रह्मचारी कहा गया है। ऋषियों के इस कथन की पुनरुक्ति है बंगला की इस लोकोक्ति में "मासे एक वछरे वारो, तार चेये कम यत पारो" अर्थात् संभोग मास में एक वार एवं वर्ष में १२ बार करें। इससे कम जितना आप कर सकें।

पशु जगत् में गर्भ-काल में संभोग असम्भव है। यहाँ तक कि शिशु जब तक माता का स्तन-पान करता है तब तक पुरुष-प्रसंग नहीं किया जाता है। यही कारण है कि उनका स्वास्थ्य स्थायी बना रहता है। यह दुःख का विषय है कि अपने को सभ्य कहनेवाला पुरुष समाज प्रकृति के इस प्रकार के नियमों का उल्लंघन करता है। शिशु को स्तन पान कराते समय अगर स्त्री उत्तेजित हो जाय तो दूध की प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है जो शिशु के लिए हानिकर हो जाता है। शिशु का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और उसका मस्तिष्क पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाता है। इसी कारणवश ऋषियों ने गर्भकाल में या शिशु को दूध पिलाते समय स्त्रियों के साथ सम्भोग करना निषिद्ध किया है। जिनकी यह इच्छा है कि वच्चे स्वस्थ हों, प्रतिभावान हों अर्थात् वच्चे देव-स्वरूप हों, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे इन नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करें।

आधुनिक काम साहित्य के लेखकों को इन नियमों से चिढ़ होगी

एवं इन्हें मिथ्या-विनयी की संज्ञा देंगे। लेकिन हमारा मत तो ऋषि-मुनियों के मत का ही समर्थन करता है। उनके मत के मूल में छिपा है, मानव-जाति के सांस्कृतिक स्तर के उत्थान की भावना एवं स्त्रियों में शारीरिक स्वास्थ्य एवं आत्मिक विकास की कल्पना। अगर कोई पुरुष अपनी स्त्री से मास में एक वार ऋतु के समय सम्भोग करता है तो इसके फलस्वरूप उसकी स्त्री को प्राप्त होता है दैहिक चरम आनन्द, उसे प्राप्त होती है सुख की अनुभूति। इस प्रकार के सम्भोग से वह तब तक तृप्त रहती है जब तक उसे पुनः मासिक धर्म नहीं हो जाता। इस प्रकार के संतुलित काम-व्यवहार के फलस्वरूप पुरुषों के समुदय अंग, स्नायु आदि सन्तुष्ट रहते हैं। आधुनिक पुरुष में इस प्रकार के नियन्त्रण का अभाव है। वीर्यदोष से पीड़ित पुरुष रोगी की तरह सुस्त एवं निराश दिखने लगता है, लेकिन कामोत्तेजना उसे अधिक होती है।

हमारे शरीर में वीर्य की जो अतिरिक्त मात्रा उत्पन्न होती है उससे सिर्फ महीने में एक बार ही सम्भोग किया जा सकता है। पौष्टिक वस्तुओं के सेवन से वीर्य की उत्पत्ति होती है। इस वीर्य का अगर शरीर के अन्य कार्यों में सदुपयोग किया जाय तो प्रकृति इससे मस्तिष्क का निर्माण करती है जिसके फलस्वरूप प्रतिभा में वृद्धि होती है। इस प्रकार काम-आचरण का संतुलन केवल स्वास्थ्य के लिये ही आवश्यक नहीं है, वल्कि भविष्य की पीढ़ी के लिये भी आवश्यक है। इस प्रकार स्वस्थ यौन-जीवन व्यतीत कर हम प्रतिभाशाली एवं देव स्वरूप संतान उत्पन्न कर सकते हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में संतुलन अधिक रहता है। एक या दो सन्तानोत्पत्ति के वाद स्त्रियों की काम-भावना तृप्त हो जाती है। अतएव अधिक सम्भोग स्त्रियों के लिये आनन्ददायक नहीं होता है। स्त्री अपने कामी पुरुष पर कभी भी आस्था नहीं रख सकती है और न ही उसे भरपूर प्रेम ही दे पाती है। इस प्रकार अपने पति के साथ वह किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करती है। उसका प्रेम पति के प्रति स्नेह में

बदल जाता है जो कालान्तर में वच्चों पर ढुलक जाता है। यही है उसके जीवन की सान्त्वना। कहा है—मिथो लीलाविलासेन हि यत् सुखम्, न तथा सम्प्रयोगेण स्यादेवं रसिका विदुः—अर्थात्—एक रसिक पति यह भली भाँति जानता है कि सम्भोग की अपेक्षा स्त्री लीला-विलास से अधिक प्रसन्न होती है। स्त्री का शरीर एवं आत्मा पुरुष के संस्पर्श से ही सुखी होता है। इसी प्रकार पति-प्रेम के फलस्वरूप स्त्री का हृदय प्रेम एवं सन्तोष से ओतप्रोत हो जाता है। परिवार में सन्तोष व्याप्त हो जाता है और जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है। ठीक ही कहा है—**"यत्र नार्यस्तु नन्दन्ते, नन्दन्ते तत्र देवताः"** जहाँ स्त्रियाँ शरीर से स्वस्थ हैं और मन से सुखी हैं—वहीं देवताओं का निवास-स्थान है। ऐसे परिवार में सुख-शान्ति और वैभव चिर-स्थायी होता है।

स्त्रियों का खराव स्वास्थ्य राष्ट्र के हित में नहीं है। उनका असन्तुष्ट मस्तिष्क परिवार के सुखी एवं शान्त जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। ऐसा परिवार दरिद्रता एवं क्लेश का स्थान वन जाता है। अतएव प्रत्येक पुरुष के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने पर संयम रखे और इसके प्रतिकूल परिणामों को ध्यान में रखे। उन्हें आदर्श दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना चाहिये।

कामुक होना भी एक रोग है। असंतुलित कामक्षुधा पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है। अपने आत्मसंयम के बल पर परम सुख की अनुभूति प्राप्त कर सकता है—यौगिक क्रियाओं के अभ्यास से। अतएव भारत एवं विश्व के तरुण-तरुणियों से हमारा यह कथन है कि वे यौगिक क्रियाओं के अद्भुत परिणाम से लाभ उठावें।

आदर्श दाम्पत्य-जीवन

विवाह दो नर-नारी का मिलन है—मिलन देह से, प्राण से, मन से और आत्मा से। इस मिलन की जड़ में जीवन-धर्म की प्रेरणा है।

पशु-जीवन में मिलन का एक ही उद्देश्य है, वह है वंश-विस्तार की इच्छा। मनुष्य भी पशु-जगत् के अन्तर्गत है ; इसीलिए उसमें भी वंश-विस्तार की प्रेरणा स्वाभाविक है। वंश-विस्तार प्राण का धर्म है—किन्तु उसका लक्ष्य क्या है ?

पशु-जगत का लक्ष्य है अपनी जाति को बँचाकर रखना—केवल बँचाकर रखना ही नहीं, उसके उत्कर्ष का प्रवन्ध भी करना। किसका उत्कर्ष—देह और प्राण का। पशुओं में मन अविकसित है, इसलिए उसकी प्रगति भी सीमावद्ध है। इसीलिए पशु-मन के उत्कर्ष को लेकर कोई सिर नहीं खपाता। जो पशु-पालन करते हैं, उनकी सारी चेष्टाएँ सुप्रजनन विद्या के द्वारा उत्कृष्ट पाशविक गुणों के विकास मात्र तक ही सीमित रह जाती हैं।

अतः मूल तथ्य हुआ—रूप के भीतर से गुण प्रस्फुटित होता है। देह के सहारे प्रस्फुटित होता है—चेतना का ऐश्वर्य—देह प्राण और मन के नाना गुणों के क्रमिक उत्कर्ष का कारण है। इसे आधुनिक युग के वैज्ञानिक कहते हैं—प्रकृति-परिणाम या विकासवाद (Theory of Ivolution)।

चेतना के समस्त ऐश्वर्य का प्रकाश होगा आधार के द्वारा। धीरे-धीरे युगों की साधना से पशु-मानव देव मानव में रूपान्तरित हो जायगा। इसी सुदूर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रकृति ने प्राण के मूल में 'पुत्रैषणा' अर्थात् सन्तान कामना की प्रेरणा भर दी है। प्रकृति के इस उद्देश्य की सिद्धि का उपाय है स्त्री-पुरुष का संयोग।

मनुष्य केवल पशु नहीं है। उसके भीतर पशुत्व है किन्तु उसके परे है उसका मन। उसी मनके द्वारा मनुष्य अपने को वाह्य-जगत में प्रविष्ट करता है। केवल यही नहीं कि वह वाह्य-जगत को अपने मनोनुकूल सजा-सँवार लेता है, अपितु इसके आगे भी एक बड़ी वात है। मनुष्य सृष्टि कर लेता है—एक अन्तर्जगत की, स्वप्न-संसार की, भावना-लोक की। पशु केवल इन्द्रिय-वोध लेकर तृप्त हो जाता है।

उसके भीतर कल्पना नहीं है, रस-वोध नहीं है। वह मन के द्वारा कोई सृष्टि नहीं कर पाता। प्रकृति का रूप-रस उसके भीतर सौन्दर्य्य-संवेदन नहीं जगाता। उसमें प्रेम का अस्तित्व है—मादा में संतान-वात्सल्य के रूप में अथवा दाम्पत्य प्रेरणाजनित प्यार के रूप में किंवा अप्रस्फुटित स्वजातिरक्षा-वोध के रूप में। यह प्रत्येक हृदय के उत्कर्ष का परिणाम है। किन्तु हृदय के साथ मन का संयोग नहीं होने का कारण, पशु-चरित्र का यह उत्कर्ष क्रमिक उन्नति की ओर नहीं वढ़ता—एक आवर्त्त के भीतर या स्वभाव-धर्म के भीतर घिर कर मर जाता है। मनुष्य मन की मुक्ति के द्वारा यह दैवी सम्पत्ति पाकर एक अभूतपूर्व उत्कर्ष की सुविधा प्राप्त करता है।

मनुष्य के मन का उत्कर्ष उसको ज्ञान के चरम शिखर पर पहुँचा देगा। उसके हृदय का उत्कर्ष उसे इस ओर प्रेम के वैकुंठ-धाम की ओर ले जायगा यही उसकी आशा है। यह केवल उसके प्राण-धर्म की प्रेरणा नहीं है। यह उसके मन-धर्म की भी प्रेरणा है। मन ही मनुष्य है। यह मन जैसा पुरुष में है वैसा ही नारी में भी। ऋषिगण कहते हैं—'पुरुष में है चित्‌शक्ति, नारी में है आनन्द-शक्ति'। सन्तान में माता-पिता की शक्ति और भाव ओतप्रोत होकर सन्निविष्ट रहता है। इसीलिए कोई पुरुष पूर्णतः पुरुष नहीं है और न कोई नारी पूर्णतः नारी है। दोनों के भीतर है अर्द्धनारीश्वर। इसी ओतप्रोत सम्वन्ध के कारण नर-नारी की मिलन-आकांक्षा जीव-स्तर से अध्यात्मस्तर की ओर वढ़ती है।

पुरुष स्त्री में रस खोजता है, आनन्द खोजता है और खोजता है माधुर्य। नारी पुरुष में ढूँढ़ती है पौरुष का प्रकाश, महिमा और ऐश्वर्य्य। परस्पर अध्यात्म-भाव की जो गम्भीर अनुभूति होती है वही प्रेम है। नर-नारी के आदर्श मिलन के भीतर इसी प्रेम की प्रेरणा है।

प्रेम एक दूसरे से दो वस्तुएँ चाहता है—अपने को जानो और दूसरे को समझो। अपने को जानना और दूसरे को समझना यही हुआ

मिलन का मूल-सूत्र। पहले कह चुका हूँ, पुरुष अकेले पूर्ण नहीं है—स्त्री भी नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर एक अखण्ड सत्ता है। परस्पर जिस वस्तु का अभाव है, दूसरे के निकट से श्रद्धा और आनन्द से लेना यही मिलन की सार्थकता है। स्थूल दृष्टि से पुरुष में बुद्धि का उत्कर्ष देखा जाता है, हृदय का नहीं। नारी में देखा जाता है हृदय का उत्कर्ष, किन्तु बुद्धि का नहीं। दोनों की न्यूनता की पूर्त्ति होगी, परस्पर प्रेम में एक दूसरे के लिए अपने को लुटाकर। प्रत्येक दम्पति के भीतर अर्द्धनारीश्वर विकलांग होकर प्रतिष्ठित है—उसे पूर्ण करना होगा। प्रकृति का उद्देश्य उस दिन सार्थक होगा जिस दिन पुरुष का हृदय-धर्म सारे विश्व को अपना समझकर अपना लेगा और नारी की बुद्धि-धर्म उसे वास्तविक पूज्य और गृह-दीप्ति समझकर ग्रहण कर लेगा।

हमारे देश में दाम्पत्य-जीवन को आध्यात्मिक दिशा की ओर एक अत्यन्त स्पष्ट दार्शनिक रूप दिया गया है। सांख्य की पुरुष-प्रकृति नर-नारी के सम्मिलित जीवन के आदर्श का मूल है। पुरुष का वैराग्य और प्रकृति का परार्थ्य, दोनों के आध्यात्मिक जीवन की मर्म-कथा है। हमारे सामने दोनों के आदर्श हैं—गौरी-शंकर तथा राधा-कृष्ण। गौरी-शंकर पितृत्व तथा मातृत्व के आदर्श हैं और राधा-कृष्ण नर-नारी के प्रणय-जीवन के आदर्श हैं। हर-गौरी के आदर्श में स्वभावतः पुरुष के शिव-भाव या चिन्मय-भाव पर जोर दिया गया है। उसी प्रकार राधा-कृष्ण के आदर्श में नारी के प्रेम-भाव का आनन्दमय स्वभाव पर जोर दिया गया है। दोनों के पात्र-पात्री परस्पर पूरक हैं। जिस प्रकार पुरुष का शिव-स्वभाव नारी के ऊपर प्रतिफलित होगा उसी नारी का प्रेम-स्वभाव प्रतिफलित होगा पुरुष के भीतर। शिव-स्वभाव और प्रेम-स्वभाव एक ही अद्वय भाव के दोनों पृष्ठ हैं। उसे और स्पष्ट किया जाय। चित्त और आनन्द, ज्ञान और प्रेम, वैराग्य में अटल स्थिति, सेवा-ज्ञान में कर्म, दोनों के शुद्ध चित्त के सहज धर्म हैं। नर-नारी के

अध्यात्म-स्वभाव में वही एक लाभ है। जितना वैषम्य है वह परस्पर आकृष्ट करता है—विकृष्ट नहीं।

कहना अधिक नहीं होगा कि इस अध्यात्म-स्वभाव की मूल बात है—त्याग, भोग नहीं। श्रीकृष्ण आत्माराम हैं इसीलिए वे गोपियों के हृदय में रमणोल्लास अर्थात् मिलन का आनन्द जगाते हैं। यही भागवत का सिद्धान्त है। लौकिक जीवन में इस सत्य का प्रयोग होगा, इस भाव से पुरुष आत्मस्थ होकर नारी को प्यार करेगा और नारी उसकी कामना की वस्तु नहीं होगी। नारी के प्रेम का आदर्श होगा—गोपियों के प्रेम की तरह, आत्मिक तन्मयता। दोनों के अन्तर का उल्लास त्याग में है। निस्पृह होने में है—शरीरसुख की कामना में नहीं है। आत्म-प्रतिष्ठा के निमित्त पुरुष में जो सुखानुभूति जाग्रत होती है वही सुखानुभूति नारी के भीतर आत्मविसर्जन के निमित्त जाग्रत होती है। यही नर-नारी के आन्तरिक मिलन का मूल-सूत्र है।

परिवार में या जगत में इसी मिलन का चित्र दिखाई देता है हर-गौरी के आदर्श में—'जगतः पितरौ' कहकर कालिदास ने जिसकी वंदना की है। विवाहित-जीवन की एक सामाजिक दिशा है—उसकी सार्थकता होती है—पितृत्व और मातृत्व में। सन्तान पिता-माता को शिव-शक्ति समझ कर श्रद्धा करेगी, इसी लक्ष्य को सामने रखकर दाम्पत्य-जीवन यापन करना होगा। प्रेम को एक गम्भीर महिमा प्रदान करना नर-नारी का आवश्यक कर्त्तव्य है।

इस सामाजिकता की एक दिशा और है। नववधू स्वामी की केवल सहधर्मिणी नहीं है; वह कुल की कुलवधू भी है। 'कुलवधू' इस शब्द के भीतर वधू-जीवन की एक व्यापकता की ओर इंगित किया गया है जो मातृत्व के गौरव से भी बढ़कर गौरवपूर्ण है। कुलवधू केवल सन्तान की जननी नहीं है वह पारिवारिक संस्कृति की वाहिका भी है। समाज के मूल में जो स्थिति-शक्ति की क्रिया है, नारी उसका आधार है। अर्थात् वंशानुक्रमिक अर्जित भाव और सदाचार को सच्चे

रूप में संसार-क्षेत्र में प्रदान करना, नारी का उत्तरदायित्व है। पुरुष का दायित्व है सामाजिक गति-शक्तिको मुक्त करना, उसे अग्रसर करना, नये-नये भाव और ज्ञान की शिक्षा देना। स्त्री-पुरुष आज भी इस कर्म के दायित्व के हिस्सेदार हैं—किन्तु अवस्था में परिवर्त्तन के साथ उसकी परिधि विस्तृत हो गई है। परिवार प्रारम्भिक युग की तरह आज संकीर्ण गढ़े में आवद्ध नहीं है। सारा विश्व सहसा घर के आंगन में आकर उपस्थित हो गया है। फलस्वरूप मनुष्य ने आविष्कार किया है—'विद्यालय'। विद्यालय की शिक्षा सम्पूर्ण होने पर भी उसकी पारिवारिक शिक्षा अभी पूरी नहीं है। संस्कृति आज एक अचल उत्तराधिकार की चीज नहीं है, एक चलायमान सृष्टि का अंग है।

घरका काम सहज ही समाप्त हो जाता है किन्तु मनका काम समाप्त नही होता। अनेकों समस्यायें मनके आंगन में आकर इकट्ठी हो जाती हैं—नर-नारी दोनों के सन्मुख। समस्या के समाधान की जिम्मे-वारी आज केवल पुरुष की ही नहीं है। स्त्रियों को भी बराबर हिस्सा लेना होगा। नारी आज केवल पुरुष के पारलौकिक जोवन की साधना की सहधर्मिणी नहीं है—उसके ऐहिक साधना की जीवनसंगिनी भी है।

"स्त्री कभी स्वतंत्र नहीं हो सकती" स्मृति-शास्त्रों का अनुशासन आज भी अचल है। जिस जाति में नारी की स्वतंत्रता जिस रूप में आवद्ध है उस जाति में उसी रूप में पुरुषों में बर्बरता उपलब्ध है। नारी के मांस की लोलुपता उतनी ही अधिक है। मानव-सभ्यता की जय-यात्रा में वह जाति उतनी ही पिछड़ी हुई है। इसलिए नर-नारी, समाज के दोनों अंगों को विचार-क्षेत्र में समान रखने के लिए दोनों की समान संस्कृति और समान स्वाधीनता अपेक्षित है। यही समान संस्कृति और स्वाधीनता आज के मानव समाज को क़ल्याण-पथ पर ले जायगी। ऐसे उच्च संस्कृति-सम्पन्न दम्पति के गृह में पशु-मानव आकर जन्म नहीं लेगा, प्रतिभाहीन मूर्ख का आविर्भाव नहीं होगा, विकलांग सन्तान उत्पन्न न होगी। विश्व के दरवार में इस समय पुरुष

के पास स्त्री को खड़ा होना पड़ता है। इस क्षेत्र में दोनों के हार्दिक सम्पर्क के भीतर एक परिवर्तन होना निश्चित है। नारी पुरुष के मन की चेतनता को प्रेम के जीव-धर्म की प्रेरणा से हटाकर बुद्धि के प्रकाशमान लोक की ओर ले जायगी।

कालिदास की भाषा में स्त्री होगी सखी या सचिव। जीवन के अनेकों क्षेत्रों में उसका अधिकार फैल रहा है। हमारे देश में अभी उस दृष्टि का प्रसार नहीं हुआ है किन्तु अब इसे रोक रखने का भी उपाय नहीं है। विश्व के साथ हमें भी समान ताल-स्वर में चलना होगा वरना हमारी जाति की मृत्यु अनिवार्य हो जायगी।

घरकी चहारदिवारी का यह फैलाव आज के नर-नारी के पारस्परिक सम्पर्क में भी एक परिवर्तन लायगा; फलस्वरूप दाम्पत्य-जीवन का आदर्श भी परिवर्तित होगा, यह निश्चित है। सुदूर भविष्य की ओर देखकर मन में आता है—**'नारी का स्वराज्य-लाभ समाज के सभी क्षेत्रों में नारी द्वारा सामाजिक प्रगति अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में दृष्टि गोचर होगा।'** हमारे देश के प्राचीन इतिहास ने नारी चरित्र को जिस रूप में चित्रित किया है, उसकी ओर दृष्टि रखकर कहा जा सकता है कि यह स्वराज्य दाम्पत्य-जीवन की दिशा को सुनियंत्रित करेगा, यह ध्रुव है। अतएव प्राचीनकाल में जिस जीवन-दर्शन के ऊपर दाम्पत्य जीवन की प्रतिष्ठा की गई थी उसका प्रकाश भविष्य में और पूर्ण तथा निर्मुक्त होगा; ऐसी आशा करना गलत नहीं है। कालचक्र आवर्तित होकर चलता है; उसे रोकना हमारे लिए संभव नहीं। हमारा कर्त्तव्य है, केवल पितृ-पुरुष द्वारा अर्जित भाव-शक्ति को वर्त्तमान जीवन-प्रवाह से मुक्ति देना। जीवन को यदि कुरुक्षेत्र के रूप में देखा जाय तो उससे व्यास की दृष्टि में जिस दाम्पत्य जीवन का वलिष्ठ आदर्श प्रस्फुटित हुआ है, उसे आधुनिक युग के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए रूपान्तरित करने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

व्यास ने नारी को चित्रित किया है, तांत्रिक की जीवन-संगिनी के रूप में। कुन्ती, द्रौपदी, गांधारी, दमयंती प्रत्येक क्षत्रिय की गृहिणी है। इनके जीवन में विपत्तियों का अंत नहीं था किन्तु कहीं वे पुरुष की गर्दन का बोझ नहीं बनीं। शक्ति के जीवन्त प्रतीक स्वरूप उन्होंने पुरुष के भीतर पौरुष जगाया। "दुर्योधन और दु;शासन ने जिस उद्धत अन्याय से नारी-मर्यादा को आहत किया है उसका प्रतिशोध किए बिना यह वेणी नहीं बँधेगी," द्रौपदी की यह दीप्त वाणी, द्रौपदी का यह दीप्त-तेज पंच पाण्डवों के भीतर तथा पांडव-वाहिनीमें शक्ति संचार करता रहा। गांधारी को घर छोड़ना नहीं पड़ा। घर में रहकर उन्होंने माता रूप में, जिस बलिष्ठ मन का परिचय दिया है, उससे नारीत्व की मर्यादा, मनुष्य का गौरव उज्ज्वल हो उठा है। शकुन्तला का पालन आश्रम में हुआ किन्तु वह कालिदास की शकुन्तला नहीं, व्यास की शकुन्तला है जो वीर्यमयी और शक्तिमयी है। सावित्री राजकुमारी है, आश्रम की वधू है, उसके चरित्र की दृढ़ता, कुमारी-जीवन में भी निष्ठा और संकल्प का तेज अतुलनीय है। उसी प्रकार चित्राङ्गदा और विदुला हैं। अतः व्यास की निर्मित नारियाँ 'देवी और मनुष्य' नये युग की छोकड़ियाँ नहीं। वर्त्तमान भारत की जीवन-समस्या कुरुक्षेत्र की नाईं दिखलाई पड़ रही है। क्षात्र-वीर्य छोड़कर बचने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए हम नारी को देखना चाहते हैं—वीरबाला, वीर-जाया और वीर जननी के रूप में। व्यास के महाभारत का स्वप्न स्वाधीन भारत में सार्थक हो यही कामना है।

अतएव पुनः कह रहा हूँ—दाम्पत्य-मिलन वा विवाह केवल आत्म-सुख के लिए नहीं—ऐसा निष्कलुष अध्यात्म आत्मरति के लिए नहीं है। अन्तर के मधु को बाहर लाना होगा। उत्तरदायित्व है समाज के प्रति, उत्तरदायित्व है सारे संसार के प्रति। सु-सन्तान का जन्म देना यहाँ के प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए। सु-सन्तान की सृष्टि करने में स्त्री-पुरुष के प्रेम को शिव-शक्ति की समरसता का पर्य्याय

समझना होगा। यहाँ भी तपस्या की आवश्यकता है—संयम का प्रयोजन है।

यथार्थ प्रेम का लक्षण है, एक दूसरे के प्रति ऐकान्तिक निष्ठा। परस्पर काम-कामनाहीन असीम अनुराग, गम्भीर प्रेम। इस दिशा में जीव होने के कारण पुरुष की शिथिलता देखी जाती है और जीव के कारण ही नारी में सतीत्व का विकास स्वाभाविक है। सतीत्व जातीय संस्कृति की एक अमूल्य निधि है। विवेकानन्द ने कहा है—नारी का सतीत्व और पुरुष का शिवत्व इन दोनों के बीच एक समान अनुपात है। जिस देश में सतीत्व की मर्य्यादा जितनी ही अधिक है, उस देश में उतने ही महापुरुषों का जन्म होता है। इसलिए पति का आदर्श होगा मदन को दग्ध कर, मदनमोहन के अप्राकृत प्रेम में अधिष्ठित होना, जिस प्रेम के आकर्षण से यमुना उल्टी बहने लगे—सारी विरुद्धता और विषमता दूर हो जाय, स्त्रीका हृदय स्वामीके हृदय के साथ आकर मिल जाय। तपःशुद्ध उमा की भाँति ऐकान्तिक निष्ठा और अविचलित प्रेम में प्रतिष्ठित होना नारी का आदर्श है। ऐसे दम्पति के घर में महामानव आकर जन्म लेते हैं। ऐसे ही महामानव का जन्म देना दाम्पत्य जीवन की सार्थकता है—समाज के जीवन के सार्थकता है।

योग विद्या का विजय-अभियान

जैसे सूर्य स्वभावतः पूर्व में उदय होता है उसी तरह उच्चतम ज्ञान का सूर्य, श्रेष्ठतम ज्ञान पूर्व में अर्थात् हमलोगों के भारतमें, संसार के पूर्व क्षितिज में उदित हुआ है। यह ज्ञान का किरण पूर्व से पश्चिम, एशिया से यूरोप, यूरोप से अमेरिका और फिर अमेरिका से अफ्रीका की ओर वढ़ता जायगा।

पूर्व और पश्चिम का यह सांस्कृतिक सम्बन्ध वहुत पुराना है। जब हमलोग ग्रीक दर्शन को पढ़ते हैं तो यह मालूम पड़ता है कि यह

भारतीय दर्शन की ही अस्पष्ट विवृति है। उस ससय की संस्कृति और शिक्षा में उन्नत पर्शिया बहुत शताब्दियों तक पूर्व और पश्चिम के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का केन्द्र था। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के जीवन चरित्र में हम पाते हैं कि उन्होंने १० वर्षों तक शिक्षा के लिए पूर्वमें बिताया। उन्होंने शायद पर्शियन विश्वविद्यालय में भारतीय सांख्य दर्शन और पातंजल योगदर्शन पढ़ा था। प्लेटो का जीवन और उनकी शिक्षा भारतीय दार्शनिकों की तरह है। प्लेटो महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। सांख्य और पातंजल योगदर्शन को गौतम बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले ही एशिया और अफ्रिका के विभिन्न राज्यों की विद्वत्मण्डली (विश्व विद्यालयों) में प्रशंसा प्राप्त हो चुकी थी।

बहुत से इतिहासकारों की राय है कि पर्शिया के अग्निपूजक वैदिक जाति के अग्निपूजकों की ही एक शाखा है। पुराने इतिहासों में इस बात के प्रमाण हैं कि भारत के विद्वान पर्शिया में शिक्षकों के रूप में जाया करते थे, वे पर्शिया के सरकारी अधिकारियों द्वारा काफी इज्जत के साथ निमन्त्रित किये जाते थे। आगे चलकर, तीसरी और चौथी शताब्दी ए० डी० में वैदिक आदर्श, योग पद्धति और बुद्ध के सिद्धान्त अहिंसा को लेकर बुद्ध के अनुयायी सन्यासियों द्वारा अरब, पर्शिया, सीरिया, मिश्र, पैलेस्टाइन और अलेक्जेण्ड्रिया तक फैल गए। वास्तव में, इन राज्यों ने भारत के बौद्ध धर्म और योग के सिद्धान्तों का स्वागत किया था। सीरिया के तीसरी शताब्दी के इतिहास में हम प्लेटिनस नामक एक वहीं के योगी का वर्णन पाते हैं जिसने अपने जीवन में चार बार समाधि प्राप्त की थी।

बौद्ध सन्यासियों द्वारा वेद के आदर्शवाद विश्वप्रेम और अहिंसा तथा योगविद्या का प्रचार और प्रसार प्रायः आधी पृथ्वी पर हो चुका था। यह सशस्त्र सेना द्वारा पाशविक ख़ुरेंजी का अभियान नहीं था, बल्कि यह वैदिक ईश्वरीय ज्ञान, मनुष्यमात्र के लिए विश्वप्रेम, समस्त सृष्टि के जीवमात्र से प्रेम और योग के प्रसार का अभियान था।

बौद्धमत के ऊँचे ज्ञान और ऊँचे दर्शन को समझ सकना उस देश के जन साधारण के लिए आसान नहीं था परन्तु बौद्धमत के साम्यवाद और नैतिक आदर्श तथा योगाभ्यास ने जनसाधारण का ध्यान आकर्षित किया। इसी कारण बिना राजकीय सहायता लिए ही बौद्धमत आधे भूमंडल में फैल गया। बौद्धमत के आदर्श कुछ भी नवीन नहीं थे, वह वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में से एक है। बौद्धदर्शन ने वेद के निर्गुण तत्त्व अर्थात् शून्यतत्त्व को प्रधानता दी है।

करीब एक सौ वर्ष पहले भारत के पूर्वी अंचल में ब्राह्म-धर्म का उदय हुआ। ज्यों ही ब्राह्मधर्म की उपयोगिता का शेष हुआ यह फिर धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में समाहित हो रहा है। ऐसे ही कारणों से बौद्ध मत भी हिन्दू धर्म से उदित हुआ और अपनी उपयोगिता के बाद स्वभावतः इसमें समाहित हो गया। बौद्ध आदर्शों के दब जाने पर एशिया में क्रिश्चियन धर्म अस्तित्व में आया।

१८ वर्ष से २९ वर्षों तक के १२ वर्ष यीशूमसीह के जीवन के बारे में न तो बाइबिल में और न ही उनके देशवासियों द्वारा लिखे गये किसी जीवन चरित्र में ही है। यीशू ने ये १२ वर्ष भारत में विताये। वे भारय में दूर-दूरतक घूमे तथा भारतीय मठों में भारयीय संन्यासियों के साथ योग और धर्म्माचरणों का अभ्यास किया। काश्मीर सीमा के निकट हिमिश मठ नामक एक पुराने मठ के पुस्तकालय में इसका विवरण प्राप्त हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले हमारे देश के दैनिक समाचार पत्र 'स्टेट्समैन' तथा लन्दन की दैनिक पत्रिकाओं में इस पुस्तक के विवरण छपे थे।

यीशू द्वारा लिखित कृतियाँ और वे आदर्श जिसकी वे शिक्षा देते थे, हिन्दू तथा बौद्धों की नैतिक शिक्षा के समान है। क्राइस्ट आदर्श और विचार में बुद्ध के अनुज थे। इसलिये हमलोग यीशू को एक भारतीय संन्यासी जिसने भारतीय आदर्श से प्रेरणा प्राप्त की है, ऐसा मानते हैं। वह वैदिक आदर्श और भाव के जीवन्त प्रतीक थे।

यीशूमसीह के मरकर फिर जीवित होने, कब्र से फिर निकल आने और उनके जीवित होने के विवरण मठ की उस पुस्तक में सारी बातें हैं। भारतीय योगाचार्य्यगण एक मृत व्यक्ति को जीवित कर देते थे। यह बात नहीं कि वे सभी मरे मनुष्यों को जीवन प्रदान कर सकते हैं बल्कि सिर्फ उन्हीं को जो फाँसी में लटककर या किसी दूसरो आकस्मिक घटनाओं द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए हैं क्योंकि उनके यंत्र रोग द्वारा विघटित नहीं हुए रहते हैं। परन्तु जिनके शारीरिक यंत्रों में गड़बड़ी हो गई है, उन्हें पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता। यीशू ने अपने सीधे और मीठे स्वभाव के कारण अपने गुरु और सह-सन्यासियों के प्रेम को आकर्षित कर लिया था। यह सुनकर कि यीशू को शूली पड़ेगी, उनके प्रिय गुरुदेव, जो एक बड़े योगी थे और नहीं ठहर सके। वे कब्र के मैदान में गये थे, उसे उठाकर सूक्ष्म शरीर या आत्मा को आकर्षित कर यीशू को फिर जीवित किया और उसे लेकर भारत आये। उसके बाद यीशू सिर्फ ३ तीन वर्ष जीवित रहे क्योंकि शूली के घावों के कारण वे अपने स्वाभाविक स्वास्थ्य को फिर से कभी प्राप्त नहीं कर सके। वह स्थान जहाँ यीशू का शरीर जलाया गया वहाँ आज भी एक मेला लगता है जो ईशक मेला (ईशा का मेला) कहलाता है। भारतवर्ष में यीशू ईशा के नाम से पुकारे जाते हैं। यीशू को भारतीय योगाचार्यों से सम्बन्ध था, इसी कारण हम ने वहाँ पर उनके पुनर्जीवित होने के रहस्य का संक्षिप्त वर्णन किया है।

ईसाई मत के बाद 'पाक महम्मद' के संस्थापकत्व में इस्लाम धर्म का अस्तित्व हुआ। जिस धर्म ने बन्दूक की नोक के बल पर आधे एशिया और यूरोप पर अपनी विजय-पताका फहराई। उन दिनों वहाँ बौद्ध धर्म फैला हुआ था। यहाँ तक कि मुहम्मद साहब की जन्मभूमि तक फैल गया था। उन शहरों में बुद्ध और बुद्धतंत्र की देवी-देवताओं की प्रतिमा की जनता द्वारा उपासना की जाती थी। इस्लाल की जेहाद की बाढ़ में अरब से बौद्धधर्म, पर्शिया से पारसी धर्म, मिस्र से मिस्री

धर्म बह गये। नये पैदा हुए इस्लाम धर्म ने मूर्तिपूजा को बुतपरस्ती कहा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मूर्तिपूजा अरव और उसके समीपस्थ स्थानों में बौद्ध संन्यासियों द्वारा फैलाए गए थे। भारतीत देवी-देवता, तत्वमुक्ति, भारतीय दर्शनशास्त्र की भावधारा के प्रतीक हैं। जो आज तक इस चतुर्दिक प्रसारित भारत की मूर्तिपूजा के रहस्य को जानते हैं वे इसे बुतपरस्ती नहीं कह सकते और वे इस मूर्तिपूजा को प्रशंसा की दृष्टि से देखेंगे।

भारत ने ६ सौ वर्षों तक इस्लाम के इस भयंकर अभियान को रोका। तदनन्तर भारत में भी इस्लाम की राजनैतिक प्रभुता स्थापित हुयी।

यदि सिर्फ एक जाति की उन्नत हो जाती है तो समस्त मानव जाति लाभान्वित नहीं होती है। समस्त मानवजाति में उच्च शिक्षा और उच्च संस्कृति का प्रवेश आवश्यक है। शायद क्रमिक विकाशवाद के नियम तथा क्रमिक उन्नति के अनुसार भारत में इस्लाम का प्रसार वैदिक विचारधारा और आदर्श के प्रसार के लिए आवश्यक था। इस्लाम के अनुयायियोंने भारतीय ज्योतिष, गणित, उपनिषद्, योगशास्त्रादि तथा धार्मिक पुस्तकों का अरवी और पर्शियन (फारसी) भाषाओं में अनुवाद किया। इस्लाम धर्म के जरिये ये पुस्तकें यूरोप, अफ्रीका और एसिया के विभिन्न देशों में प्रचारित हुई। इस्लामी सभ्यता वैदिक सभ्यता के सम्पर्क में आकर कुछ ऊपर उठ गई। जिसके फलस्वरूप एक उदारचेता, धर्मसहिष्णु सम्राट अकवर का जन्म भारतीय मुसलिम समाज में हुआ। उपनिषद् जो वेद के खण्ड हैं—ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, तंत्रमार्ग और अन्य मार्गों के स्रोत हैं। अकबर के समय में इस्लाम धर्म को वैदिक धर्म के साथ एकतावद्ध करने के लिये "अल्लाहोपनिषद्" की रचना हुई। दूसरी ओर इस समय सूफी धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित हुई।

तीसरी शताब्दी में सूफी धर्मकी स्थापना सीरिया और फिलस्तीन में हुई। यह भारतीय वेदान्त और योगशास्त्र का आधार बना। इस्लाम के

भयंकर आक्रमण से सूफी धर्म का उन्मूलन नहीं हुआ। इस्लाम के साथ मिलकर सूफी धर्म जीवित रह गया। सूफी धर्म की बातें। भारतीय ज्ञान धर्म या वेदान्त के समान हैं। वेदान्त कहता है:—'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ, मुझमें जो आत्मा है वह ब्रह्म है, मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं बुद्धि या अहंकार नहीं हूँ। तुम्हें अपने मन और शरीर की दासता से स्वयं को मुक्त करना होगा। मेरे शरीर और मन के परे जो चेतनावस्था है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। 'वह मैं हूँ' और 'मैं वह हूँ'। सूफी धर्म का कहना भी ठीक यही है। 'अनलहक' मैं ही सत्य स्वरूप हूँ, मेरे अन्दर जो आत्मा है वही ईश्वर है। उस समय का मुस्लिम समाज सूफी धर्म के इस उन्नत ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सका, इसलिए यीशू की तरह सूफी धर्म के संस्थापकगण को भी अपना जीवन अपने धर्म की प्रतिष्ठा के लिए बलिदान करना पड़ा। इस नये धर्म में विश्वास रखने के कारण ही सूफी साधक मंसूर धर्मान्ध मुसलमानों के हाथ का सर्वप्रथम शिकार हुआ जो उन लोगों द्वारा जीवित खाल खींचकर मार डाला गया; सिर्फ वही अकेले नहीं, वहुत से और सूफी साधकों को ऐसी-ऐसी क्रूर यातनाएँ सहनी पड़ी। कुछ को अग्नि के घेरे में जीवित जला दिया गया।

इन अमानुषिक अत्याचारों के होते हुए भी उन्होंने दुःख प्रकाश नहीं किया, उन्होंने आहें नहीं निकालीं। मृत्युभय ने उन्हें कभी विचलित नहीं किया। अपने जीवन की वलि देकर इन शहीदों ने सूफी मत को प्रतिष्ठित किया है। हम ने पहले ही कहा है कि सूफी मत में वेद और वेदान्त की प्रधानता है। अब सूफी इस्लाम धर्म का एक अंग है जो इस्लाम धर्म के लिए गर्व और प्रतिष्ठा की वस्तु है। इस्लाम भक्ति पंथ है। सूफी साधकों ने इस्लाम में ज्ञान और योग को घुसाकर प्रकाशित और पूरित किया है। बुद्धिमान और विद्वान मुसलमानों ने सूफी मत के गहन सत्य का अनुभव कर इसीको कुरान में युक्त किया। आजकल भक्तिधर्म और ज्ञानधर्म वर्तमान कुरान में सम्मिलित और प्रेमपूर्वक

रक्षित हैं। मूल कुरानकी साधनोंको 'शरियत' कहा जाता है। नियमित नमाज और प्रार्थना दिनमें ३ वार शरियतके अंग हैं। कुरान में जो ज्ञान धर्म युक्त किया गया है सूफी साधकों के प्रभाव के कारण उसे 'हकीकत' कहा जाता है। हकीकत का अर्थ है अन्तःसाधना। योग और ज्ञान की सहायता सर्वश्रेष्ठ सत्य का अनुभव करने के लिए अन्तर्मुखी साधना है।

सूफियों ने योग के प्रायः समस्त प्रकार की यौगिक साधनायें कुण्डलिनी योग से ध्यान और जपयोग तक सीख लिए हैं। योगशास्त्र कहता है : 'तद्-जपस्तदर्थभावनम्'—उसका नाम लो और उसके सत्य-स्वरूप का ध्यान करो। प्रणव के सहारे हर श्वास में जप का अभ्यास और सोहं मंत्र योग साधना का एक अंग है। यह जप साधना सूफियों द्वारा हकीकत में शामिल किया गया है। वे 'ला-इल्लाह' उच्चारण के समय श्वास भीतर ले जाते और 'इललल्लाह' कहने के समय इसे वाहर निकालते हैं। 'हाल' 'फना' 'मोकाम' इत्यादि शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं। यौगिक अनुभव प्राप्ति के भिन्न-भिन्न दशाओं को प्रतिपादित करने के लिए भारतवर्षमें सिद्धिप्राप्त सूफी संत सलीम चिश्ती अकबर के दरवार में बहुत प्रभावशाली हो गया। निःसन्तान सम्राट को इस सन्त के आशीर्वाद से एक पुत्र की प्राप्ति हुई। इसी कारण उसने उस लड़के का नाम सलीम रखा। यहाँ पूर्व बंगाल में एक दूसरे महान सूफी संत रहते थे। उनका नाम जालान शाह था। वह भी बंगाल के नवाबों के दरवार में प्रभावशाली थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी प्रतिष्ठा करते थे। हमारे देश में भजन नाम का एक धार्मिक अभ्यास था जिसका अर्थ था एकत्र मिलकर बैठे-बैठे भगवान का नाम स्मरण करना। परन्तु नृत्य करते हुए कीर्तन का अभ्यास उस समय नहीं था। संभवतः पर्शिया के सूफी इसे भारत में लाये। यह पूर्व भारत में गौरांग महाप्रभु और उनके शिष्यों द्वारा बहुत जनप्रिय हुआ।

इस तरह भारतीय वंशानुक्रमिक ज्ञान और योग के द्वारा इस्लाम धर्म उन्नत और सम्पन्न हुआ है। औरंगजेब के भीषण संकीर्ण धर्म्मान्धता

ने अकबर के दोनों धर्मों के सहमिलन के सत्प्रयास पर पानी फेर दिया और मुगल साम्राज्य के पतन में शीघ्रता ला दी।

अनिवार्य फलस्वरूप विद्या और कला में उन्नति प्राप्त यूरोप के प्रतिनिधियों (अंगरेजों) का आगमन इस्लाम द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने के लिये नए राज्य की स्थापना द्वारा हुआ। उन्होंने वैदिक साहित्यों और उसके विचारों को समस्त मानव जाति के बीच अपने पूरे सामर्थ्य से फैलाया। उन्होंने अंगरेजी में वेदों (यह कहना व्यर्थ है कि उनके द्वारा किया गया वेदों का अर्थ लड़कपन है), उपनिषदों, तंत्रों,, गीता, सांख्य, वेदांत, पातंजल और योग इत्यादि का अंगरेजी में अनुवाद किया—वास्तव में हिन्दूशास्त्रों द्वारा समस्त संसार में ज्ञान पिपासा की तृप्ति की। पश्चिम में असंख्य योगप्रेमी हैं। उनमें कुछ लोगों ने इसके अभ्यास से ऊँची स्थिति प्राप्त कर योग पर पुस्तकें लिखी हैं। कलकत्ता के भूतपूर्व चोफ जस्टिस मि० वुडरफ उनमें एक प्रख्यात लेखक हैं। उनके द्वारा योग और तन्त्र पर लिखी गई पुस्तकों की सारे संसार में सब जगह प्रशंसा हुई है। उन्होंने स्वयं लगन के साथ योगाभ्यास किया था। इसी तरह पूर्वीय ज्ञान की किरणें पश्चिम पर अपना प्रकाश फैला रही हैं। भारतका दर्शन और साहित्य पश्चिमीय दर्शन और साहित्य को नया रूप प्रदान कर रहा है। पूर्व और पश्चिम के संगम के फलस्वरूप एक नवीन सभ्यता का उदय हो रहा है। पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति ने ऐसे संगम को आसान बना दिया है। समय और दूरी का बन्धन कम होते जा रहा है। हवाई सेवा को धन्यवाद है जिससे एशिया के लिए युरोप और अमेरिका आज कोई दूरस्थ नहीं, पड़ोसी हैं। जब निःक्षेपणास्त्र जो कि राकेटों को चन्द्रमा पर भेज रहा है या पृथ्वी की परिक्रमा करने भेज रहा है, हवाई जहाजों में व्यवहृत हो रहा है, तो युरोप और अमेरिका का एशिया से चन्द मिनटों का उड़ान होगा।

ऐटमबम विज्ञान का एक दूसरा भयानक आविष्कार है। इस

दैत्याकार अस्त्र ने मनुष्य के हाथों में समस्त पृथ्वी को नाश करने की शक्ति ला दी है, पृथ्वी पर से मनुष्य जाति को समूल नष्ट करने की शक्ति। प्रकारान्तर से यही ऐटमबम है जो आज हम लोगों में युद्ध का भय कम हो रहा है। इसकी भयानक विनाशकारी शक्ति ने ही वड़ी शक्तियों को सावधान कर रखा है, ऐसी चीजोंसे जो तृतीय विश्वयुद्ध की चिनगारी हो। आज युद्ध और जुल्म के पूर्ण वन्दी के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं, इसी ऐटमबम के आविष्कार के कारण। इस पूर्ण युद्धवन्दी और समय तथा दूरी के ऊपर विजय का छिपा हुआ गम्भीर अर्थ क्या है? वस्तुतः यह संसार की सभी जातियों और राष्ट्रों के बीच एकता कायम करने के लिए है।

सव पिता-माता अन्दर हृदय से योग्य सन्तान चाहते हैं। सृष्टि-कर्त्ता और प्रकृति-माता भी सदा बुद्धिमान, योग्य, और देवतुल्य सन्तान की आशा करते और चाहते हैं। वे चन्द स्वार्थी, उद्दण्ड, आक्रामक, युद्धोन्मादी और क्रूर सन्तान पैदा कर कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। इसीलिए वे पाशविक मनुष्यों को देवतुल्य मनुष्यों में बदलने के लिए वह अवस्था उत्पन्न कर रहे हैं। इसी कारण युद्ध वन्द करने और समस्त मनुष्य जाति को आपस में सम्मिलन के प्रयास हो रहे हैं। वह राष्ट्र या वह नेता जो आज प्रकृति के इस झुकाव की पर्वाह नहीं करता है और लड़ाकू प्रवृत्ति तथा जातिगत घृणा का पोषण करता है, भावी इतिहास में उन्हें मूर्ख, जंगली मनुष्य और दानव लिखा जायगा। प्रकृति उन्हें क्षमा नहीं करेगी। वे वहिष्कृत कुपुत्रों की तरह दण्डित होंगे। यही प्रकृति का नियम है और ईश्वरीय विधान है।

समय-समय पर आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण वहुसंख्यक मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करते हैं। मनुष्य जव तक इस तरह के दुष्ट प्रकृति का परित्याग नहीं करता है तव तक प्राकृतिक तूफान, भूकम्प, बलवे, अग्निदाह और युद्ध द्वारा नाशकारी कोड़े और-और देशोंको भी परेशान

करते रह सकते हैं। ऐसी सजाओं के द्वारा मनुष्य को अपने किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करना होगा। यह प्रकृति का अकाट्य नियम है।

ठीक जैसे एक सुन्दर माला कई तरह के फूलों से बनी हुई है, वैसे ही मनुष्य-सभ्यता सब देशों और सब जातियों के पारस्परिक मित्रतापूर्ण एकता द्वारा ही उन्नति कर सकेगी, सम्पन्न और सुन्दर बनेगी प्रत्येक जाति में मनुष्य सभ्यता को उन्नति प्रदान करने के लिए उसका अपना एक खास गुण रहता है। हमें अपने सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपने तरीके के रास्ते में इस लेन-देन का पूरा लाभ अवश्य उठाना चाहिए। मनुष्य सभ्यता को दैवी सभ्यता में बदलने का आदर्श हमारा मार्गदर्शक हो। हमें अपनी भारतीय वंशावली, आध्यात्मिक साहित्य, अध्यात्म दर्शन, और योगपद्धति पर गर्व है। हमने पहले कह दिया है कि प्रकृति माता किस तरह धीरे-धीरे यह खजाना सारी दुनियाँ में बाँट रही है।

हमलोगों का वैदिक धर्म जिसमें भक्तिधर्म और ज्ञानधर्म भी सम्मिलित है, संसार में सबसे पुराना धर्म है। योग भी ज्ञानधर्म में ही सम्मिलित है। इस्लाम और इसाईमत मूलतः भक्तिमार्ग है। वैदिक धर्म अन्य धर्मों को नष्ट नहीं करता बल्कि उसका परिपूरक होता है और उसे पूर्ण कर देता है। जब मुसलमान और इसाईगण वैदिक धर्म की भीतरी सुन्दरता, मधुरता और दार्शनिक गहराई का आस्वादन करने योग्य हो जायंगे, तो उनका अपना धर्म परिपूर्णता प्राप्त करेगा। सबसे पुराना वैदिक धर्म पहले जन्म लेनेवाले बड़े भाई की तरह है। इसाई और इस्लाम धर्म छोटे भाई हैं। जातीयता और धार्मिक असहिष्णुता पृथ्वी पर से तभी धुलकर साफ हो जायेंगे जब छोटे भाईगण बड़े की आध्यात्मिकता और बुद्धिको ग्रहण कर लेंगे। सर्वोपरि, मनुष्य ईश्वरीय सत्य का प्रतीक है। मनुष्य के भीतर अन्तरस्थ, सर्वव्यापक, अविभाज्य, अमूर्त, अद्वैत, ईश्वरीय चेतना ही सर्वोत्तम सत्य है। इस ईश्वरीय ज्ञान का अनुभव करना ही जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य मनुष्य के बीच,

मनुष्य और ईश्वर के बीच कोई लगाव नहीं है। एक ही सर्वश्रेष्ठ सत्य है, एक ईश्वर है। वही एक समष्टि में व्याप्त है। प्रत्येक ससीम आत्मा में वही एक ही निःसीम है। इस वैदिक बुद्धि द्वारा इस महानतम सत्य से समस्त मानव जाति प्रेरणा प्राप्त करे और प्रशिक्षित हो।

कभी-कभी वर्तमान का पर्दा हम लोगों को स्वर्णिम भूतकाल की झांकी दिखाने के लिए सरक जाता है—पृथ्वी की सृष्टि अपने चिन्मय रूप को प्रकट कर देती है, अपने स्वर्गीय स्वरूप और प्रकृति माता की इन्द्रियागम्य स्वरूप हम अपनी प्रज्ञाचक्षु द्वारा देख सकते हैं कि योग और इसके अभ्यास ने इस पृथ्वी को पाशविक भूमि से दैनिक क्रीडा-भूमि में रूपान्तरित कर दिया है। पृथ्वी तल पर रोग, बुढ़ापा, अकाल मृत्यु, दरिद्रता, दुःख, ईर्ष्या, घृणा, स्वार्थ, पाशविक वासना नहीं है। लगता है जैसे संसार के मनुष्य शरीर में दैविक और भोले स्वभाव के, उदारचेता और प्रेममय बुद्धि की जीवन्त मूर्ति, प्रेम और अहिंसा की प्रतिमूर्ति, तथा देवत्व की जीवित मूर्ति वन गये हैं। यह ऐसा है जैसे बुद्ध, यीशूमसीह, शंकराचार्य, गौरांग, रामकृष्ण और विवेकानन्द का समूह एकत्रित हो गया है।

हमलोग अपने अन्तर हृदय से अनुभव करते हैं कि प्रकृति का लक्ष्य दैविक सृष्टि रचने की है। हमलोगों का जन्म पृथ्वी पर प्रकृति माता के इस कार्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरा करने के निमित्त हुआ है। अगर हमलोग प्रकृति के इस दैविक इच्छा की पूर्ति को मूर्त रूप दे सकें तो हमारे सब कर्म और सब त्याग पूर्ण होंगे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें स्वस्थ शरीर, शुद्ध मन और प्रकाशवान आत्माओं की आवश्यकता है। यह प्रकाशवान आत्मा हमें मन की सीमाओं को पार करने योग्य और महत् चेतनामृत का स्वाद लेने योग्य बनाती है। दैवी शक्ति का स्पर्शमात्र ही मनुष्य को दैवी बुद्धियुक्त और दैवी प्रेम की जीवित मूर्ति वना देता है।

इस दैवीस्तर को प्राप्त करने के लिए समस्त तरीकों में योग मुख्य पार्ट अदा करता है। आसन, प्राणायाम और मुद्रा शरीर को सभी रोगों से मुक्त करते हुए मन को स्वस्थ और शुद्ध बनाते हैं। ध्यान के जरिये हम उस अवस्था को प्राप्त करते हैं जो चेतना से परे है और अन्तिम सत्य अर्थात् ईश्वर से एक हो जाना है। भक्ति या ज्ञान के जरिये एक साथ शरीर, मन और आत्मा की उन्नति नहीं की जा सकती। यह सिर्फ योग से ही सम्भव है। योग की दूसरी विशेषता है इसके अभ्यास द्वारा चन्द विभूतियों अर्थात् आश्चर्यजनक शक्तियों की प्राप्ति। पातंजल योगशास्त्र में इन विभूतियों को प्राप्ति के तरीकों का वर्णन एक समूचे अध्याय में है। विभूतिपाद नामक अध्याय में हम मनुष्य द्वारा होने योग्य सम्भव आश्चर्यजनक शक्तियों का विवरण पाते हैं। हमारे यहाँ बहुत पुराना योगशास्त्र है। परन्तु उसके व्यावहारिक प्रयोग खो गये हैं। हममें से कुछ, इस समय के योगाचार्यगण ने इस खोये हुए विज्ञान को कुछ अंशों में पुनरुद्धार किया है। हमलोगों ने भी इसे अपने नये आविष्कारों से पूरित किया है। हम आज साहसपूर्वक विना किसी हिचकिचाहट के घोषणा कर सकते हैं कि यौगिक पद्धति की सहायता से मनुष्य रोग और बुढ़ापे पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा सौ वर्ष या उससे भी अधिक जीवन धारण कर सकता है। हमलोगों ने जिन्दगी की दूरी को इस हद तक प्राप्त करने की एक सहज विधि आविष्कृत की है। योग की विधि सिर्फ स्वास्थ को ही उन्नत नहीं करती बल्कि मन और भावना को भी उन्नत करती है। संसार के सभी मनुष्य इस विज्ञान से लाभ उठावें, उनके शरीर, मन और भावनायें उन्नत हों। आखिर में मैंने उच्च आदर्श और महत्वाकांक्षा के विषय में कहा है, किन्तु जीवन की कठिन वास्तविकताएँ हमारे मनुष्य समाज को चारों ओर से उपहास कर रही दिखाई पड़ती हैं। हमलोग आज के जीवन की कठिन समस्याओं के थपेड़ों से भग्न और दुःखी हैं। मनुष्य समाजको पहले खाद्य समस्या अवश्य हल करनी है। खेती के आविष्कार के कारण मनुष्य

जाति को खाद्य पदार्थ जमा करने का अवसर प्राप्त है जिससे हमलोग कुछ समय धर्म, दर्शन, विज्ञान इत्यादि जो मनुष्य सभ्यता के गर्व हैं, के विषय में सोचने का समय निकाल सकें। इस तरह के मानसिक खाद्य की सहायता से हमलोग अर्धसभ्य हुए हैं। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही भयावह खाद्याभाव की पूर्ति फिर भी एक समस्या है। भारत और चीन इस वास्तविकता के मध्य हैं। यह खाद्य समस्या इस तरह सब राजनैतिक संघर्षकारियों के लिए मेहराब के सबसे ऊँचे पत्थर के सदृश है जिसके द्वारा वे जनता के दिमाग को निजी स्वार्थसिद्धि में और करोड़ों निर्दोषों को एक दूसरे के साथ विनाशकारी युद्ध में आसानी से झोंक सकते हैं। यदि इस खाद्य समस्या का एक स्थिर हल निकाल लिया जाय तभी मानवता राजनैतिक दासता से मुक्त हो सकेगी।

हमलोग बहुत उदार दृष्टिवाले हैं, इसीलिए हमलोग क्षणिक तत्त्वों पर दृष्टि नहीं रखते। आनेवाली दिव्य मानव समाज की महान छवि हमलोगों की विचारधारा खोजती है। अनपढ़ और कम पढ़े-लिखे लोग साम्यवाद, सुविधावाद, स्वार्थपूर्ण राजनैतिक चातुर्य के सहायक अस्त्र बनाये जा सकते हैं। परन्तु जीविकोपार्जन के लिए कठिन परिश्रम से सभी तबके के लोगों को सुरक्षित और सुसंस्कृत बनाना होगा, तभी उन्हें सत्य के रास्ते से, न्याय और पवित्र इरादों से विचलित नहीं कर सकना सम्भव होगा। हमारे वर्तमान समय के स्वार्थी और नीच लोगों का छद्मपूर्ण राजनैतिक चातुर्य्य कुछ क्षण के लिए भी सफल नहीं होगा। हमलोग उस नये प्रशंसनीय युग की ओर निहार रहे हैं।

सृष्टि का विकास सिर्फ स्वार्थी, लड़ाकू, युद्धोन्मादी मनुष्यों की सृष्टि कर रुक नहीं सकता। सृष्टि ईश्वरीय गुणों, असीम ज्ञान और ईश्वरीय प्रेम से युक्त अतिमानवों के जन्म के बाद ही अपने को पूर्ण करेगी।

वृक्षों में खाद्य पृथ्वी से, सूर्य की किरणों से, हवा इत्यादि से इकट्ठा करने की शक्ति है। इसीलिए वे खाद्य की कमी से पीड़ित नहीं होते। मनुष्यों को भी कोई दूसरा वैज्ञानिक तरीका हवा और सूर्य की रोशनी से जीवन-यापन करने के लिए अपनाना पड़ेगा जिससे कि मनुष्य शरीर उसे आत्मसात् कर सके।

वर्तमान समय में विज्ञान की चन्द्रग्रह और मंगलग्रह इत्यादि पर पैर रखने की कोशिश तभी वास्तविक सफलता प्राप्त करेगी जब इस तरह के कलापूर्ण पौष्टिक भोजन मनुष्य के संयुक्त प्रयास द्वारा आविष्कृत होंगे। इसलिए हमलोग आशा करते हैं कि एक या दो शताब्दी में किसी वैज्ञानिक पद्धति द्वारा हमलोगों की खाद्य समस्या अवश्य हल हो जायगी।

खाद्य समस्या के समाधान के साथ ही एक पूर्ण सभ्यता का नयी दौर प्रारम्भ होगा। इस नये दौर के आगमन से स्वभावतः मनुष्य मानसिक राज्य को पार करने की जी तोड़ कोशिश करेगा, उच्चतम सत्य अर्थात् योग के उच्चतम स्तर की अनुभूति के लिए। योग का उच्चतम स्तर कैवल्य-प्राप्ति है।

योग का उच्चतम स्तर कैवल्यं-प्राप्ति है। कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति या मन बुद्धि और अहंकार के राज्य के पार टपना। हमलोग अपने शरीर और मन के दास हैं, पर कभी उनके स्वामी वनने की चेष्टा नहीं करते। हमलोगों को मन के परे क्या है यह जानने का कौतूहल नहीं है। यदि खाद्य पदार्थ और शारीरिक आराम की वहुत कमी न हो तो पशु अपने को सुखी समझ सकते हैं। साधारण आदमी शारीरिक आराम के साथ साथ मानसिक शान्ति चाहते हैं। वास्तविक मानसिक आनन्द के सामने शारीरिक आनन्द फीका पड़ जाता है। परन्तु उस समय भी जब इन दोनों की कमी नहीं रहती, तब एक कमी की भावना रह जाती है, जो तभी हटाई जा सकती है जब

मनुष्य मन को जीत लेगा और अपनी स्व-आत्मा का अमृत छककर पीयेगा। कैवल्य का दूसरा अर्थ है आत्मानुभव में गहरी पैठ—कैवल्य स्वरूप की प्रतिष्ठा या चित्स्वरूप की प्राप्ति। अपने महान ईश्वरत्व का अनुभव करना, महत्चेतना के साथ एक हो जाना ही कैवल्य है।

मन का अस्थायी निग्रह, मन को विलीन करना या निष्क्रिय करना समाधि है। वास्तविक दृष्टि से समाधि की दशा ही कैवल्य नहीं है। मनोनिग्रह के बाद समाधि को दो और सतह पार करने पड़ते हैं। वे सतह हैं मन और प्रकृति की अव्यक्त भूमि। गुरु की कृपा और ईश्वर की इच्छा से इन दो अव्यक्त भूमियों को पार किया जा सकता है। इन दो भूमियों के पार जाने पर मनुष्य अद्वय अनन्त परमात्मस्वरूप में अवगाहन करता है—यही है योग की केवली अवस्था। इसी अवस्था की प्राप्ति का नाम है कैवल्य।

मन की किञ्चित् जीत भी अलौकिक आनन्द देता है, स्वर्गीय आनन्द देता है जिसकी तुलना में वैषयिक और शारीरिक आनन्द कुछ नहीं हैं। जब निरुद्ध मन, एक नदी की तरह जो समुद्र में मिलती है, अपने को दिव्य चेतना में खो देता है तब वह ब्रह्मानन्द के महान आनन्द का रसास्वादन करता है। ब्रह्मानन्द क्या वस्तु है जो शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस ब्रह्मानन्द या कैवल्य की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। हमें इस लक्ष्य की ओर अवश्य कदम बढ़ाना चाहिए। समस्त मानव जाति को ऐसा अवश्य करना चाहिए। ठीक जैसे समुद्र अपने वक्ष पर सहस्रों तरंगों को धारण करता है वैसे ही अन्तरस्थ चेतना रूपी समुद्र भी अपने ऊपर मानसिक राज्य को धारण करता है। यही महान निःस्सीम चेतना सुखी जीवन का निकेतन है, यही हम लोगों का अथार्थ वासस्थान है।

अगर हम लोग अपने मानसिक स्तर को ऊँचा उठाकर एक सेकेण्ड के लिए भी उस दिव्य चेतना को धारण कर सकें, तो हमारे शरीर और मन रूपान्तरित हो जायेंगे, हमारा पार्थिव मन दिव्य मन में परि-

वर्तित हो जायगा, चिन्मय मन में परिवर्तित हो जायगा। ऐसा मन फिर कभी नीचे स्तर पर नहीं उतरेगा। जिस तरह पारस पत्थर लोहे को स्वर्ण में बदल देता है, उसी तरह दिव्य चेतना का स्पर्श मनुष्य को ईश्वर बना देता है। जैसे एक छोटे बच्चे के लिए दुष्कर्म करना असम्भव है उसी तरह दैवी मनुष्य के लिए दुश्चरित्र या दुष्ट होना असम्भव है। महत् चेतना के स्पर्श और अनुभूति से मनुष्य ईश्वर बन जायगा। वह देव मानव मनुष्य की तहर पृथ्वी पर भ्रमण करेगा। सभी मनुष्यों के भीतर देवभाव जाग उठेगा—यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है, यही प्रकृति का लक्ष्य है, यही ईश्वरेच्छा है। मनुष्य को इस लक्ष्यकी ओर अग्रसर करने के लिए पुराने ऋषियों ने योग पद्धति को उद्भावित किया है। योग सबों का कल्याण करे।

मानव सभ्यता की उन्नति और संसार की शान्ति-रक्षा के लिये हमलोगों के मन में एक विश्व-राष्ट्र की कल्पना आजकल जाग उठी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आशा किसी दिन वास्तविकता में परिणत होगी। परन्तु विश्वराष्ट्र प्रतिष्ठित हो जाने पर एक विश्वधर्म की भी आवश्यकता होगी। कुरान और बाइविल सब जाति (श्रेणी) के लोगों की अध्यात्म-पिपासा की तृप्ति में पर्याप्त नहीं होंगे। केवल वेदोक्त ज्ञान और योगदर्शन ही ऐसा कर सकता हैं।

वैदिक ऋषिगण अपने धर्म को सनातन धर्म अर्थात् शाश्वत धर्म कहते हैं। यह धर्म सत्य की प्रत्यक्ष अनूभूति पर आधारित है, केवल कोई व्यक्तिगत सिद्धान्त नहीं। यह किसी जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है। स्वयं इस सनातन धर्म की सत्यानुभूति रूपी अमृत का पान कर, विश्ववासी भी इसके अधिकारी बनें—यही हमारा लक्ष्य हो। योगियों के व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य होता है महान सत्य की अनुभूति, दिव्य आत्मा का अमृतपान और तब दूसरे की सहायता करना, जिससे वे ईश्वरीय बन जायें और दैवी सुधारस का अन्तर में पान करें।

मनुष्य देवत्व प्राप्ति का अभिलाषी है। अपने अन्तरस्थ देवता के स्पर्श से वह भी देवता हो उठेगा। देवत्व प्राप्ति के मार्ग को एकदम सुगम और कोमल बनाना हमलोगों का कर्त्तव्य है। भगवान की कृपा हमें सफलता प्रदान करे और सभ्यताकी उन्नति में विजय प्राप्त करे। मानवी सभ्यता और योगविद्या का अभियान जययुक्त हो।

नवम परिच्छेद

खाद्य नीति और शिशु पालन विधि

यद्यपि भोजन के सिद्धान्तों के विषय में आयुर्वेदिक एवं यौगिक मतानुसार यथास्थान हमने संक्षेप में चर्चा की है फिर भी सर्वसाधारण को इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो—भारत के प्राचीन सिद्धान्त एवं आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तों में क्या-क्या समता-विषमताएँ हैं यह बताने के लिए हम इस अध्याय में विस्तृत विवेचन कर रहे हैं। यहाँ हम आधुनिक एवं प्राचीन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विश्लेषण करेंगे। साथ ही हम यह भी सलाह देंगे कि सर्व-साधारण को भोजन के विषय में किस प्रकार का मार्ग अपनाना चाहिए ताकि उनके स्वास्थ्य का हित हो।

योग का मत है कि वायु ही जीवन है। पृथ्वी, जल एवं ताप वायु से ही उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार लाखों ही सौर जगत इस जीवन के तत्त्व—वायु से नाना प्रकार की आकृतियों में उत्पन्न होते हैं। हमारे शरीर की उत्पत्ति भी वायु से ही है। **वायुः पंचधा प्रविभक्तं देहं धारयति**—अर्थात वायु पाँच विभिन्न प्रकार के रूपों में विभक्त होकर शरीर को बनाती है एवं उसका संचालन करती है। पाँच प्रकार की वायु है—प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान।

भोजन—एक आवश्यकता : हमारे रोमकूपों से हम जिस हवा का सेवन करते हैं या श्वास-प्रश्वास ग्रहण करते हैं उससे ही हमारे शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। इस प्रकार से गृहीत वायु को पूर्ण रूप से हम उपयोम भी नहीं कर पाते हैं। आधुनिक अन्वेषणों

से यह पता चला है कि शरीर सिर्फ १/३ भाग हवा का ही उपयोग कर पाता है। इस प्रकार से बची हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हमें भोजन की आवश्यकता होती है। जितने भी खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं वे सभी पाँच प्रकार की वायु से निर्मित हैं। इन्हीं खाद्य पदार्थों से इन पाँचों प्रकार की वायु को ग्रहण कर हम अपने शरीर के निर्माण में इसका उपयोग करते हैं। खाद्य पदार्थ में स्थित वायु को हम सहज ही पचा सकते हैं और यही कारण है कि शरीर के विकास एवं स्वास्थ्य के लिए भोजन आवश्यक है। शरीर के कार्य कलापों के फलस्वरूप हम प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ अंश खोते रहते हैं। इस क्षति की पूर्ति भोजन से की जाती है ताकि शरीर सदैव सक्रिय बना रहे।

हमारा मत यह है कि जब तक भोजन के सिद्धान्तों को हम भली प्रकार नहीं समझ लेंगे हमारा शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास भली प्रकार नहीं हो सकेगा। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भोजन दो प्रकार का है : (१) शाक एवं (२) आमिष।

पाश्चात्य मतानुसार भी भोजन दो प्रकार का है : (१) शाकादिक आहार (२) मांसादिक आहार। पूर्वी एवं पाश्चात्य मत के आधार पर मांसाहारी खाद्य पदार्थों में सिर्फ दूध के विषय में मतभेद है। पाश्चात्य मत दूधको भी मांसाहारी द्रव्य समझता है, जबकि पूर्वी मत के अनुसार दूध शाकाहारी द्रव्य है। इस पुस्तक में हमने जहाँ कहीं भी मांसाहारी द्रव्यों का उल्लेख किया है उनमें दूध सम्मिलित नहीं है।

भारतीय मत के अनुसार प्राणवायु जीवन का आहार है। प्राणवायु के बिना जीवन निराधार है। सभी शाकाहारी द्रव्यों में चूँकि प्राण-वायु अर्थात् जीवन का समावेश है अतएव हमारा एवं 'प्राणी मात्र का भोजन' कह सकते हैं। भारतीय मत के अनुसार भोजन के दो भाग हैं जैसे—मांसाहारी द्रव्य एवं शाकाहारी द्रव्य अधिक उपयुक्त हैं। चूँकि शाकाहारी द्रव्य एवं दूध की पाचन क्रिया एक ही प्रकार की है अतएव दूध को शाकाहारी द्रव्य समूह में सम्मिलित करना अधिक सार्थक है।

पृथ्वी पर सर्वप्रथम जीवन का संचार वनस्पति में हुआ। पृथ्वी, जल एवं पत्थरों में छिपी शक्ति ही घनीभूत होकर पौधों के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार पृथ्वी की प्रथम सजीव—उत्पत्ति है—पौधे एवं—(moss) आदि। जल, वायु एवं प्रकाश से भोजन ग्रहण करने की शक्ति केवल पौधों में ही है। वे इन तत्त्वों से जीवनीय द्रव्य जैसे विटामिन आदि की उत्पत्ति करते हैं। हमारे भोजन का मुख्य अंश हम वनस्पति जगत से प्राप्त करते हैं। सिर्फ मनुष्य ही नहीं सभी प्राणियों का भोजन का स्रोत वही है। मांसभोजी जानवर भी शाकाहारी जानवरों को ही अपना भोजन बनाते हैं। इस प्रकार वे भी अप्रत्यक्ष रूप से वनस्पति जगत पर ही आश्रित हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि वनस्पतियाँ ही जीवन का स्रोत हैं वे ही एक मात्र ऐसे खाद्य पदार्थ हैं जो शरीर के निर्माण एवं विकास में सफल योगदान कर सकती हैं।

पाश्चात्य आधुनिक अन्वेषकों ने भी वायु को जीवन का मूल तत्त्व स्वीकार किया है। उनके मत के अनुसार शरीर ४ प्रकार की वायु एवं १४ प्रकार की खनिज पदार्थों से बना हुआ है। इस प्रकार ये खनिज पदार्थ भी शरीर के लिये आवश्यक द्रव्य हैं। ये खनिज पदार्थ भी वायु के ही रूप हैं। आधुनिक रसायनशास्त्री इन्हीं पदार्थों से ४ प्रकार की गैस (वायु) तैयार कर सकते हैं। इन गैस पदार्थों के विभिन्न नाम हैं ताकि इनके गुणों का भेद भली प्रकार समझा जा सके। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इन खनिज पदार्थों का पृथक् उल्लेख कर शरीर को पंचवायु पर ही आधारित बताया है; क्योंकि खनिज द्रव्य भी वायु के ही प्रतिरूप हैं। सभी हमारे मत को भली प्रकार समझें—इस उद्देश्य से भोजन के सिद्धान्तों का विवेचन हम पाश्चात्य मत के अनुसार ही कर रहे हैं।

मनुष्य के शरीर के निर्माण के लिये आवश्यक हैं ये ४ गैस पदार्थ—(१) आक्सीजन, कार्बन, हाईड्रोजन एवं नाइट्रोजन। १४ प्रकार के खनिज पदार्थों के नाम हैं—केल्सियम, फासफोरस, लौह, आइडिन,

पोटेसियम, सोडियम, मैग्नेसियम, ताँबा, गन्धक, फ्लोरिन, क्लोरिन, मैंगानीज, सिलिकन, एवं कोबाल्ट। इनका शरीर में नीचे लिखे अनुसार अंश अवस्थित है :

आक्सीजन—६२% ; कार्बन—२१% ; हाइड्रोजन—६% ; नाइट्रोजन—३% ; केल्सियम—२% ; फासफोरस—१% ; अन्य १२ प्रकार के लवण २%।

आक्सीजन : हम वायुरूपी समुद्र की गहराई में अवस्थित हैं जिसका २१% भाग आक्सीजन है। लेकिन हम सिर्फ ४% अंश का ही अपने श्वास-प्रश्वासमें उपयोग कर सकते हैं। अवशेष १७% भाग हमें श्वास के जरिये बाहर निकाल देना होता है। हमारे शरीरिक स्वास्थ्य के लिए आक्सीजन आवश्यक है। पहले ही बताया जा चुका है कि शरीर का ६२% भाग आक्सीजन से बना हुआ है। जिस प्रकार तैल के अभाव में दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार शरीर भी आक्सीजन के अभाव में मर जाता है। बन्द कमरे में जहाँ लालटेन जलती हो अगर कोई आदमी सो जाय तो वह मर जाता है; क्योंकि लालटेन आक्सीजन को समाप्त कर देती है। पेट की क्षुधाग्नि को प्रज्वलित रखने और शरीर के ताप को स्थायी रखने के लिये आक्सीजन शरीर में जलती रहती है, शरीर का निर्माण करती है एवं इसे सक्रिय रखती है।

आक्सीजन-युक्त खाद्य पदार्थ : सभी प्रकार के भोजनों में आक्सीजन विद्यमान है। लेकिन फलों के रस तथा शाक-सब्जी में आक्सीजन का भाग काफी अधिक मौजूद रहनेके कारण इनका नाम ही आक्सीजनीय खाद्य पदार्थ है। खाद्य पदार्थों के केलोरिक स्तरीय मूल्य की जानकारी की आवश्यकता नहीं है। तथ्य यह है कि इन खाद्य पदार्थों में जीवन शक्ति भरपूर है और शरीर के लिये आवश्यक आक्सीजन का स्रोत यही है।

कार्बन : अन्य वायु आदि के संयोग से कार्बन शरीर को शक्ति प्रदान करता है, शरीर के तापमान को स्थायित्व प्रदान करता है और

शरीर के विकास में सहायता करता है। लेकिन इसकी शरीर में अधिकता होने के फलस्वरूप रोगी होकर शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है। कार्बन एवं आक्सीजन की शरीर को समानरूप से आवश्यकता है। शरीर में आक्सीजन के जल जाने के फलस्वरूप कार्बन का उत्पादन होता है। लेकिन पेड़ पौधों में कार्बन आक्सीजन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पेड़-पौधों आदि एवं मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य की असावधानी के फलस्वरूप अगर वनस्पति-जगत में कार्बन की अधिकता हो जायगी, जिसके फलस्वरूप वायुमण्डल में भयंकर गर्मी पैदा होगी जो मनुष्य के लिये हानिकारक होगी। इसीलिये पेड़ एवं पौधों की मनुष्य को रक्षा करनी चाहिए ताकि उसे स्वयं का हित हो सके। पेड़ की लकड़ी जलावन के लिये उत्कृष्ट पदार्थ है। पेड़-पौधों के पत्ते एवं हरी शाक-सब्जी उत्तम खाद्य पदार्थ हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि वनस्पति-जगत् मनुष्य के उपयोग के लिये ही बना है। इसका संरक्षण मनुष्य का कर्त्तव्य है।

कार्बनयुक्त खाद्य पदार्थ—मक्खन, घी, चावल, गेहूँ, आलू, केला आदि चर्बी जातीय खाद्य पदार्थों में कार्बन की मात्रा प्रचुर है। शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिये एवं शरीर को स्फूर्ति प्रदान करने के लिये कार्बन अति आवश्यक खाद्य पदार्थ है।

हाइड्रोजन : जल में $\frac{२}{३}$ भाग हाइड्रोजन है। सभी तरल पदार्थों में हाइड्रोजन काफी मात्रा में अवस्थित है। रक्त, शुक्र एवं अन्य ग्रन्थियों आदि के रस में भी हाइड्रोजन की मात्रा काफी है। इसलिये शरीर की क्रिया एवं उसके पोषण के लिये यह अति आवश्यक है।

हाइड्रोजन युक्त खाद्य पदार्थ : कच्ची शाक-सब्जी एवं रसदार फलों, जल तथा दूध आदि हाइड्रोजन युक्त खाद्य पदार्थ हैं। ये सब खाद्य पदार्थ ऑक्सीजन एवं हाइड्रोजन दोनों से परिपूर्ण हैं।

नाइट्रोजन : वायुमण्डल का $\frac{३}{४}$ भाग नाइट्रोजन है। इसीके फलस्वरूप ऑक्सीजन हल्की बनी रहकर हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होती

है। अगर नाइट्रोजन की मात्रा में थोड़ी सी भी कमी हो जाय तो सम्पूर्ण जगत ऑक्सीजन की गर्मी से भस्मसात् हो सकता है। अधिक ऑक्सीजन से युक्त वायु को अगर हम श्वास-प्रश्वास के माध्यम से ग्रहण करेंगे तो हमारा शरीर जल जायेगा। इस प्रकार नाइट्रोजन ऑक्सीजन एवं कार्बन की मात्रा को सन्तुलित रखती है। इसके अभाव में ऑक्सीजन का जीवनीय उपयोग असम्भव है। नाइट्रोजन गैस के माध्यम से हमारे शरीर में एकत्रित मल को निकाला जाता है, मांसपेशियों का गठन एवं स्नायु-मण्डल के निर्माण होने में मदद मिलती है और शरीर का भली भाँति विकास होता है।

नाइट्रोजन युक्त खाद्य पदार्थ : प्रोटीन की प्रचुर मात्रा युक्त खाद्य पदार्थ जैसे मछली, मांस, अण्डे, दूध, छेना, दाल तथा मूँगफली आदि नाइट्रोजन युक्त खाद्य पदार्थ हैं।

खनिज लवण

शरीर के ढाँचे के निर्माण के लिये, इससे सुदृढ़ एवं सुगठित वनानेके लिये खनिज लवणों का उतना ही मूल्य है जितना एक महल के निर्माण में बालू एवं सिमेण्ट का।

आधुनिक खाद्य विज्ञान के अन्वेषणों के आधार पर यह पता लगा है कि शरीर में १४ प्रकार के खनिज लवण हैं :

केल्सियम : इस लवण से हमारे शरीर की हड्डियाँ एवं दाँत वनते हैं एवं भूख लगती है। हृदय एवं स्नायु की क्रियाओं में केल्सियम ही सन्तुलन कायम रखता है। माताओं के स्तन में केल्सियम ही दूध उत्पन्न करता है जिससे बच्चों का विकास होता है। अगर शरीर में केल्सियम का अभाव हो तो एक साधारण से घाव के कारण होनेवाले रुधिर-प्रवाह के कारण मृत्यु हो सकती है। पुरुषों में धातु का अपेक्षित घनत्व केल्सियम के फलस्वरूप ही है। केल्सियम की कमी के कारण स्त्रियों में

प्रदर आदि की बीमारियाँ हो जाती हैं। इसी लवण के फलस्वरूप शरीर की रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति सबल होती है और इसी के अभाव के फलस्वरूप स्मरणशक्ति का अभाव एवं मनुष्य में व्यक्तिगत प्रतिभा का अभाव हो जाता है। दाँत नष्ट हो जाते हैं एवं शरीर का विकास पूर्णतया रुक जाता है। स्त्री एवं पुरुषों के शुक्र एवं रज में केल्सियम प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यही कारण है कि अगर इसका दुरुपयोग किया जाय तो शरीर रोगी हो जाता है, चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जाती है एवं मानसिक विकास रुक जाता है।

केल्सियम युक्त खाद्य पदार्थ : सभी शाक-सब्जी, रसदार फल आदि में केल्सियम प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। आमला नामक फल में केल्सियम की मात्रा सर्वाधिक है। इसके अलावा दूध, दही, छाछ, पनीर, विभिन्न प्रकार की दाल एवं मूंगफली में भी केल्सियम स्थित है। आमिष पदार्थों में छोटी मछलियों, अण्डे आदि में केल्सियम काफी मात्रा में पाया जाता हैं। मांस, बड़ी जाति की मछली, घी, मक्खन, तेल, चावल एवं गेहूँ आदि में केल्सियम की मात्रा कम है। निरामिष खाद्यों में स्थित केल्सियम की अपेक्षा मांसाहारी खाद्यों में अवस्थित केल्सियम दुष्पाच्य है।

फॉस्फोरस : स्नायु एवं तन्तु, हड्डी एवं दाँत आदि के निर्माण एवं संरक्षण के लिये केल्सियम की क्रिया में फॉस्फोरस का भी सहयोग रहता है।

फॉस्फोरस युक्त खाद्य पदार्थ : सभी खाद्य पदार्थों में फॉस्फोरस काफी मात्रा में अवस्थित है। अतएव जब तक शरीर में कोई रोग न हो जाय तब तक फॉस्फोरस की शरीर में कमी नहीं हो सकती।

लौह : यकृत से उत्पन्न एक प्रकार का रंजक नामक पित्त रक्त की रक्त-कणिकाओं को उत्पन्न कर रक्त को लाल बनाये रखता है। इस रंजक पित्त में लौह काफी मात्रा में विद्यमान रहता है। रंजक पित्त से

ही इन रक्त-कणिकाओं की अभिवृद्धि होती है। हमारे फुसफुसों में श्वास के जरिये पहुँचनेवाली वायु से ये रक्त कणिकाएँ ऑक्सीजन ग्रहण कर शरीर के सभी कोष एवं तन्तुओं को ऑक्सीजन देती हैं। शरीर के कोषों में यही ऑक्सीजन जलता रहता है और कार्बन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ये ही रक्त कणिकाएँ इस कार्बन को फुस्फुस तक पहुँचाती हैं जो श्वास छोड़ते समय शरीर से निकल जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रंजक पित्त हमारे अस्तित्व के लिये कितना आवश्यक है। एक अस्वस्थ यकृत या अन्य किसी रोग के फलस्वरूप जब इस रंजक पित्त का निर्माण शरीर में नहीं हो पाता है तभी शरीर में खून की कमी हो जाती है एवं नाना प्रकार के रोगों के आक्रमण का भय उपस्थित हो जाता है।

लौह युक्त खाद्य पदार्थ : पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शरीर के लिये प्रतिदिन ०·०१२ ग्राम लौह की आवश्यकता होती है। पेड़ पौधों को हरा रंग लौह की वनिस्बत ही प्राप्त होता है। यही कारण है कि हरे पत्तों एवं सब्जियों में लौह प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। देशी खांड, सब्जी का गूदा, कुम्हड़ा, आलू एवं पपीता आदि में इस खनिज की बहुतायत है। मांस एवं कार्बो-हाईड्रेट प्रधान खाद्य पदार्थों में एवं अन्य शाक-सब्जी में लौह की मात्रा सामान्य है। मांसभक्षी जानवर अपनी लौह की आवश्यकता अन्यान्य जानवरों का रक्त पीकर, पूर्ति करते हैं, लेकिन यह तरीका मनुष्यों में नहीं अपनाया जा सकता। अतएव लौह की आवश्यकता पूर्ति के लिये हरी शाक-सब्जी खाना ही सर्वोतम उपाय है।

आइडिन : शरीर के कोषों के निर्माण, स्नायुओं को गतिशील एवं शरीर में केल्सियम के गुणों को मूर्त्तरूप देने में आइडिन आवश्यक खनिज पदार्थ है। इससे शरीर की जीवनी शक्ति स्थायी होती है। यह थाइरायड ग्रन्थि का प्रमुख भोजन है। आइडिन से यह ग्रन्थि अपना पोषण प्राप्त करती है एवं अपने रस से आइडिन के गुणों को सम्पूर्ण

शरीर में फैलाती है। शरीर में यौवन एवं स्फूर्ति इसी से स्थायी होती है। हमारे भोजन में जब आइडिन की मात्रा कम हो जाती है तब शरीर पर वातरोग का आक्रमण होता है। अगर थाइरायड ग्रन्थि वचपन से ही कमजोर हो जाय तो शिवसती ग्रन्थि कमजोर हो जाने के फलस्वरूप शरीर की आकृति छोटी एवं मानसिक विकास में वाधा आ जाती है। शरीर में अगर आइडिन एवं केल्सियम दोनों की एक साथ कमी हो जाय तो मूत्राश्मरी आदि रोगों का भय उपस्थित हो जाता है। साथ ही आइडिन के अभाव से मनुष्य की विचार-शक्ति में भी ह्रास होता है।

विवाहित स्त्रियों के शरीर में अगर आइडिन का अभाव हो तो वन्ध्यत्व की सम्भावना वढ़ जाती है। जिन माता-पिताओं को आइडिन तथा केल्सियम का अभाव होता है उनके वच्चे गूँगे या वहरे पैदा होते हैं। अतएव वचपन एवं किशोरावस्था में आइडिन एवं केल्सियम की शरीर में कमी न होने दें। अन्यथा शारीरिक एवं बौद्धिक विकास रुक सकता है। पाश्चात्य अन्वेषकों का मत है कि शरीर को प्रतिवर्ष $\frac{1}{4}$ ग्रेन आइडिन की आवश्यकता है।

आइडिन युक्त खाद्य पदार्थ : नाना प्रकार की हरी शाक, प्याज, अनरस, इमली एवं अन्य खट्टे फल, समुद्र से तैयार किया हुआ नमक, समुद्री मछली, अण्डे, काडलीवर आयल में आयडिन विद्यमान है। लेकिन शरीर के यन्त्र इस आइडिन को सुगमता से पचा नहीं पाते हैं। भारतीय मत के अनुसार इसमें आइडिन उपयुक्त मात्रा में नहीं है। इसीलिये भारतीय भोजन में अदरख, मिर्च, इलायची, लवंग, धनिया, जीरा आदि खाने की पुरानी परम्परा है। इनसे भोजन स्वादिष्ट वनता है एवं शरीर को आइडिन की आवश्यकता की भी पूर्ति होती है।

सोडियम : जिस प्रकार समुद्री जल का मुख्य अंश है सोडियम नमक उसी प्रकार शरीर में स्थित तरल पदार्थ का मुख्य भाग है

सोडियम क्लोराइड। समुद्री नमक से जिस प्रकार काँच, साबुन आदि का निर्माण होता है उसी प्रकार यह नमक शरीर के कोष एवं तन्तुओं के निर्माण में आवश्यक अंग है। हमारे शरीर की पाचन ग्रन्थियाँ एवं उनकी अन्य सहायक ग्रन्थियाँ सोडियम लवण के साथ मिलकर पाचक रसों की उत्पत्ति करती हैं। शरीर में उत्पन्न होनेवाले विषों को नष्ट करने एवं कीटाणुओं का सर्वनाश करने के लिये सोडियम उपयुक्त है। यह केल्सियम के काम में भी सहयोग देता है।

सोडियम युक्त खाद्य पदार्थ : शाक-सब्जी, फल, दूध कार्बो-हाइड्रेट यानी सभी शाकाहारी द्रव्यों में कम या अधिक सोडियम विद्यमान है। मांसाहारी द्रव्यों में सोडियम नगण्य मात्रा में है। मारे गये जानवरों के यकृत एवं वृक्कों में यह सामान्य मात्रा में विद्यमान है।

पोटेशियम लवण : यह लवण शरीर की मांसपेसियों एवं तन्तुओं को स्वस्थ एवं सक्षम रखता है एवं पाचन-क्रिया में सोडियम के कार्य को पूरा करता है। यह लवण सोडियम लवण से काफी मिलता-जुलता है। लेकिन पोटेशियम अधिक उपयोगी है। सोडियम लवण के अभाव से तो कुछ रोगों का ही आक्रमण होता है लेकिन पोटेशियम लवण के अभाव से तो मृत्यु ही आकर घेर लेती है।

पोटेसियम युक्त खाद्य पदार्थ : जिन-जिन खाद्य पदार्थों में सोडियम लवण विद्यमान है उन सब में पोटेशियम भी पाया जाता है।

मैग्नेसियम नमक : इस नमक से दाँत, हड्डी और स्नायुके निर्माण में सहायता मिलती है। कई प्रकार की शाक-सब्जी आदि में यह नमक विद्यमान है।

ताम्र लवण : ताँबा लोहे की मदद करता है। हेमोग्लोबिन ताम्र के विना नहीं बन सकती है। जिन खाद्य पदार्थों में लौह पाया जाता है उन्हीं में ताँबा भी होता है।

गन्धक लवण : शरीर में इस लवण का अभाव हो जाने पर बाल समय से पहले ही सफेद हो जाते हैं। यह लवण स्वास्थ्य को स्थायी रखता है एवं यकृत तथा प्लीहा को भली प्रकार कार्यकारी रखता है।

गन्धक युक्त खाद्य : गन्धक युक्त खाद्य पदार्थ हैं—प्याज, मूली, पत्तागोभी, पालक, खुरासानी अजवायन, जौ तथा विना उबाला अंडा।

फ्लोरीन : शरीर की हड्डी एवं दाँतों का सुनिर्माण हो, नेत्रों की ज्योति स्थायी रहे—इन कार्यों में यह नमक केल्सियम की सहायता करता है।

फ्लोरीन युक्त खाद्य पदार्थ : आमतौर पर फ्लोरीनयुक्त खाद्यपदार्थ ये हैं—पालक, वीट, अंडा, काडलीवर आयल।

सिलिकन नमक : इस नमक से केल्सियम को सहायता मिलती है, दाँत मजबूत बने रहते हैं, चर्म के रंग में सुधार होता है, केश काले बने रहते हैं। इनके अतिरिक्त यह नमक शरीर की मांसपेशियों को मुलायम रखता है। इसके अभाव से दाँतों का गिरना, केश झड़ना या सफेद होना और चर्म का स्वास्थ्य नष्ट होना, आदि हो जाते हैं।

सिलिकनयुक्त खाद्य पदार्थ : विभिन्न अनुपातों में सिलिकन इन खाद्य पदार्थों में विद्यमान है ; जैसे—रसदार फल, गाजर, गोभी, कुम्हड़ा आदि।

मैंगनीज नमक—यह नमक लौह के कार्य में सहायता करता है। यह रंजक पित्त में पाया जाता है। रक्त की शुद्धता को मैंगनीज बनाये रखता है। यह रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करता है एवं शरीर की स्नायु एवं तन्तुओं को शक्ति प्रदान करता है।

मैगनीजयुक्त खाद्य पदार्थ : गोभी, हरीतकी, चन्द्रसूरका पौधा, बादाम—Legumes, अजवायन आदि में मैंगनीज है।

भोजन के विभिन्न अंश

पाश्चात्य अन्वेषकों ने भोजन के अंश ४ बताये हैं। जैसे—प्रोटीन, चर्वी, कार्वो-हाइड्रेट तथा विटामिन।

प्रोटीन

प्रोटीन दो प्रकार का होता है। पहला मांसाहारी खाद्य पदार्थों में पाया जाने वाला एवं दूसरा शाकाहारी खाद्य पदार्थों में पाया जाने वाला। दूध का प्रमुख अंश छेना है—इसे ही दूध का प्रोटीन कहते हैं। इससे शरीर के विकास में मदद मिलती है और कमी की पूर्ति एक आवश्यक तत्त्व है। शरीर के यंत्र एवं मांसपेशियों को सुचारुरूप से विकसित करने का प्रमुख दायित्व इसी प्रोटीन पर है। प्रोटीन शाकजातीय एवं आमिषजातीय पदार्थों में पाया जाता है। दाल की आधी छटाक एवं मांस की आधी छटाक में प्रोटीन का अंश बराबर होता है। चीना बादाम एवं अन्य बादामों में दाल एवं मांस की अपेक्षा अधिक प्रोटीन पाया जाता है। आधी छटाक बादाम में उतना ही प्रोटीन होता है जितना २ छटाक मांस में। इस प्रकार पोषण की दृष्टि से ये बराबर हैं।

प्रोटीन का प्रमुख अंश है नाइट्रोजन जो अन्य किसी भी खाद्य में नहीं पाया जाता है। नाइट्रोजन युक्त खाद्य पदार्थों को ही प्रोटीड्स भी कहा जाता है। इस प्रकार के भोजन में ऑक्सीजन, कार्बन तथा हाइड्रोजन निश्चित अनुपात में रहता है।

हमारे शरीर में कार्बोहाइड्रेट एवं चर्वी के संचय की व्यवस्था है। लेकिन प्रोटीन का संचय सम्भव नहीं है। अगर यह व्यवस्था शरीर में होती तो मनुष्य का शरीर अधिकाधिक मांसल होता एवं शरीर की

आकृति विशाल हो जाती। आकृति पर नियन्त्रण रहे, शायद इसी उद्देश्य से प्रोटीन संचय करने की व्यवस्था नहीं है। शरीर में उतना ही प्रोटीन एकत्रित हो सकता है जितना शरीरके विकास के लिये आवश्यक है। अगर शरीर में प्रोटीन अधिक मात्रा में एकत्रित हो जायगा तो इससे स्वास्थ्य को नुकसान हो सकता है।

आधुनिक अन्वेषणों से यह पता लगता है कि शरीर के लिये प्रति-दिन २ आउन्स प्रोटीन की आवश्यकता है, जिसमें शाकज प्रोटीन एवं मांसज प्रोटीन का अनुपात वरावर रहे। एक आउन्स प्रोटीन के लिये हमें ५ आउन्स मछली, मांस एवं अंडों की आवश्यकता होती है। इससे अधिक प्रोटीन का सेवन हानिकर है। लेकिन मांसाहारी व्यक्ति इस सिद्धान्त का पालन नहीं कर पाते। इसके फलस्वरूप वे सदैव रोगी रहा करते हैं तथा अचानक मृत्यु का शिकार हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शरीर के लिये प्रोटीन ३-४ आउन्स प्रतिदिन आवश्यक है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि प्रोटीन की आवश्यकता २५ वर्ष की उम्रके वाद नहीं होती, जव कि विकास स्वतः ही रुक जाता है। इस उम्र के बाद प्रोटीन युक्त भोजन कम मात्रा में सेवन करना चाहिये। ताकि सिर्फ नित्यप्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

सोयावीन, चीनाबादाम एवं अन्य जाति के वादाम, हरे चने, दाल, छेना, पनीर और दूग्धचूर्ण आदि में २३ से ४३ प्रतिशत तक प्रोटीन पाया जाता है।

विभिन्न पशुओं के मांस, चिड़िया एवं मछली, अण्डों, चावल, गेहूँ चना आदि में १३ से २२ प्रतिशत तक प्रोटीन पाया जाता है।

शाक-सब्जी, दूध तथा फल में प्रोटीन कम मात्रा में है। मनुष्य के शाकजातीय या आमिषजातीय दोनों प्रकार के भोजनों में विभिन्न अनुपातों में प्रोटीन उपस्थित है।

चर्बी (Fats)

तैलजातीय भोजनपदार्थों को चर्बी कहा जा सकता है—जैसे घी, मक्खन, तैल आदि। चर्बी में—आक्सीजन १०%, हाइड्रोजन ११%, तथा कार्बन ७६% के अनुपात में पाया जाता है।

शरीर के तापमान को स्थिर रखने के लिये चर्बी आवश्यक है। यह शरीर को शक्ति प्रदान करती है। इसे सुन्दर बनाती है एवं नित्यप्रति की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है, ताकि हड्डियों का ढाँचा चल-फिर सके। हमें जब भी किसी कारणवश १-२ दिन भोजन उपलब्ध नहीं होता तब यह चर्बी अपने आपको जलाकर शरीर की गति बनाये रखती है। समुचित मात्रा में चर्बी के अभाव में शरीर की गर्मी एवं ठंड से रक्षा होना कठिन हो जाता है और कफ, जुखाम, निमोनिया, टाइफायड, एवं यक्ष्मा के आक्रमण का भय उपस्थित हो जाता है।

घी, मक्खन, पकाने के तेल, सभी प्रकार के बादाम, पिस्ता, छेना, पनीर, दूग्ध चूर्ण तथा सोयाबीन आदि में ३५ से ८५% तक चर्बी पायी जाती है।

मांस, अंडे, बड़ी मछलियाँ, विभिन्न प्रकार की दाल तथा चावल, गेहूँ के आटे में भी चर्बी कम मात्रा में मौजूद रहती है।

शाक-सब्जी तथा फल में चर्बी की मात्रा नगण्य है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि तरुण को प्रतिदिन २ आउन्स चर्बी की आवश्यकता होती है। शीत-प्रधान देशों में यह मात्रा ४ आउन्स तक बढ़ सकती है। इसकी अधिक मात्रा शरीर में अम्ल तथा अनपच उत्पन्न करती है इसलिये हानिकर है।

कार्बोहाइड्रेट

(शर्करा या शर्कराप्रधान खाद्य)

आधुनिक मत में चावल या गेहूँ दोनों ही शरीर में शर्करा बढ़ाते हैं। अतएव इन्हें कार्बो हाइड्रेट प्रधान द्रव्य कहा गया है। भारत

में इसे शर्करा-प्रधान खाद्य कहा गया है। इन्हीं के एक भाग से शर्करा निर्मित होकर हमारे यकृत में संचित रहती है जिससे शरीर को अतिरिक्त शक्ति प्राप्त होती है, जब कि हम कोई विशेष कार्य करते हैं।

कार्बो-हाइड्रेट के पाचनसे मांसाहारी द्रव्यों तथा चर्बी के पाचन में सहायता मिलती है। कार्बो-हाइड्रेट ही शरीर में चर्बी की कमी को पूरा करता है। चर्बी की अगर अधिक मात्रा शरीर में एकत्रित होगी तो स्वास्थ्य एवं स्फूर्ति के लिए हानिकर होगी। कार्बो-हाइड्रेट के अंश हैं—कार्बन ४५% ; शर्करा उत्पन्न करनेवाले द्रव्य—कार्बन ४३%, ; हाइड्रोजन ६% तथा आक्सीजन ५१% की मात्रा में उपस्थित रहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन १२ से १६ आउन्स तक शर्कराजातीय खाद्य सेवन करना चाहिये। ये सब अम्ल-प्रधान भोजन हैं। अतएव अधिक सेवन करने से अम्लरोग तथा अपचन का भय रहता है।

चीनी, शहद, गुड़, रायसीन, छुहारा, चावल, गेहूँका आटा, मैदा, सागू, चना, हरा चना, मसूर, इमली, हल्दी, ज्वार आदि में कार्बो-हाइड्रेट ५० से ९५% तक उपस्थित रहता है।

आलू, केला, गाजर, बीट, प्याज, मीठा आलू, आम, अञ्जीर, नारियल, चीनाबादाम, इलायची, लवंग, जीरा, धनिया, अदरख, एवं अन्य दानों में ३० से ५०% तक कार्बोहाइड्रेट उपस्थित रहता है।

मछली, अंडे एवं अन्य आमिषजातीय द्रव्यों में कार्बो-हाइड्रेट नहीं पाया जाता है। जबकि सभी हरी शाक-सब्जी, फल आदि में शर्करा या स्टार्च पाया जाता है।

विटामिन

हमारे भोजन में उपस्थित जीवनीय द्रव्य का नाम है विटामिन। हमारे जीवन के निर्वाह के लिये प्रोटीड एवं कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा

विटामिन की आवश्यकता कम है। परन्तु विटामिन के अभाव में प्रोटीड्स, कार्बो-हाइड्रेट्स एवं चर्बी का उपयोग करना शरीर के लिए असम्भव हो जाय, अगर विटामिन समुचित मात्रा में विद्यमान न हो। इसके अभाव में शरीर की स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। विटामिन की आवश्यकता का यही पर्याप्त प्रमाण है। जिस प्रकार मकान के ढाँचे को कायम रखने के लिये सिमेण्टकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर को सुदृढ़ एवं सुरक्षित बनाये रखने के लिये विटामिन की आवश्यकता होती है।

उदाहरण : मिल से तैयार किया हुआ चावल एवं ढेकी से कुटे हुए चावल में प्रोटीन एवं कार्बो-हाइड्रेट समान-समान मात्रा में पाये जाते हैं। लेकिन मिल के बने चावल के सेवन से बेरी-बेरी जैसी भयानक बीमारी हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भोजन में विटामिन का प्रमुख स्थान है। इस तथ्यकी जानकारी अभी कुछ दिनों से ही हुई है। सर्वप्रथम इसकी जानकारी सन् १९१२-१३ में हुई। अभी तक के अनुसंधान के फलस्वरूप हम १० प्रकार के विटामिनों का पता लगा चुके हैं। इस विषय में अनुसंधान जारी है।

विटामिन ए

बच्चों के समुचित विकास एवं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विटामिन ए आवश्यक है। नेत्रशक्ति के समुचित विकास के लिये यह जरूरी है। इस विटामिन की कमी से आंशिक अंधापन एवं नाना प्रकार के चर्म-रोग हो जाते हैं। अगर शिशु की माता के शरीर में विटामिन प्रचुर मात्रा में है तो बच्चे को किसी भी प्रकार की बीमारी नहीं हो सकेगी। इसे Fat-soluble vitamin भी कहते हैं। यह विटामिन चर्बी में मिश्रित होकर शरीर में संचित रहता है।

पारिज़ात के पत्ते, धनिया के पत्ते, सोहजन (Drumstick) के

पत्ते, कलमी (Ipomœa) के पत्ते, पत्तागोभी, मेथी के पत्ते, चने के पत्ते, पालक, पान का पत्ता, हरीतकी, गाजर, आम, टमाटर, पपीता (Jælefruit), सन्तरे, केला आदि में विटामिन-ए प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। अन्य शाक-सब्जियों में भी यह विटामिन पाया जाता है। शाकभोजी पशुओं को यह विटामिन पत्तों से प्राप्त होता है। पक्षी यह विटामिन फलों से ग्रहण करते हैं जब कि मछलियों को यह विटामिन जलीय वनस्पतियोंसे प्राप्त होता है। मांसभक्षी पशु एवं मनुष्य को विटामिन-ए चर्बी भरे हुए जानवरों के यकृत से प्राप्त होता है जहाँ यह विटामिन विशेष रूप से संचित रहता है। माता के शरीर में एकत्रित विटामिन शिशु को स्तनों के माध्यम से प्राप्त होता है। विटामिन-ए के दो भेद हैं—विटामिन-ए$_{१}$ तथा ए$_{२}$ ।

विटामिन बी

अभी तक ५ प्रकार के विटामिन बी की जानकारी हो सकी है। इनके नाम हैं—बी$_{१}$, बी$_{२}$, बी$_{3}$, बी$_{४}$, बी$_{५}$ ।

विटामिन-बी की समुचित मात्रा से शरीर की पाचन-क्रिया व्यवस्थित रहती है। स्टार्च का पाचन इसके बिना असम्भव है। इसके अभाव में शरीर निर्बल होता जाता है तथा स्नायुदौर्बल्य, हृदयरोग, वेरीवेरी, शोथ, आंशिक पक्षाघात, मासिक धर्म के समय रक्तस्राव होना, गर्भपात आदि रोग हो जाया करते हैं। यह विटामिन-ए के समान ही शरीर के विकास में मदद करता है। अल्पायु होना, अकाल मृत्यु होना, असमय में बुढ़ापा आना, गले तथा मुँह में घाव हो जाना आदि विटामिन बी के अभाव में ही होते हैं।

सोयाबीन, ढेकी से कुटा चावल, चक्की से बना हुआ आटा, बार्ली, दाल, चना, गाजर, गोभी आदि विटामिन बी प्रचुर मात्रा में विद्य-

मान है। स्टार्च, बादाम, आलू, शंख-आलू, नारियल, सभी प्रकार के फल, शाक-सब्जी आदि में विटामिन बी पाया जाता है।

घी, मक्खन, तैल एवं अन्य चर्बीमय पदार्थ में, चीनी या गुड़ में विटामिन-बी नहीं पाया जाता है।

विटामिन सी

शरीर में विटामिन सी की समुचित मात्रा उपस्थित रहने पर रक्त शुद्ध रहता है, फुस्फुस या चर्म-रोग नहीं होते हैं। रक्त के गुणों को यह स्थायी रखता है एवं घाव से अधिक रक्तस्राव नहीं होने देता है। यह अन्य प्रकार के विटामिनों के कार्य में भी मदद पहुँचाता है।

इस विटामिन की कमी के कारण शरीर में सुस्ती आती है और शरीर निर्बल एवं अस्वस्थ होकर चर्म-रोग, दाँत-रोग, पायरिया आदि का शिकार हो जाता है। हड्डी में कड़ापन आ जाता है और शरीर पर संक्रामक रोगों के आक्रमण का भय उपस्थित हो जाता है। इस विटामिन के अभाव में बच्चों का विकाश रुक जाता है।

नींबू, संतरा, अंगूर, अनार, अमरूद, बिजोरा नींबू, पारिजात के पत्ते, अल्फाल्फा नामक घास, पत्तागोभी, लवंग, सोहजन (drumstick) के पत्ते, आलू, पालक, टमाटर, आमला आदि में विटामिन सी प्रचुर मात्रा में है। फलों के समान विटामिन सी की अधिक मात्रा किसी भी पदार्थ में नहीं है। आमले के रस में विटामिन-सी की मात्रा, नींबू या संतरे के रस से बीसगुनी अधिक है। आयुर्वेद का अभिमत है कि आमले के रस का सेवन करनेवाला शतायु होगा।

चर्बी, कार्बो-हाइड्रेट, चावल, मैदा, खांड़, चीनी तथा आमिष खाद्य पदार्थों में विटामिन सी नहीं है।

विटरमिन डी

अभी तक ४ प्रकार के विटामिन डी का पता लग चुका है। यह केल्सियम एवं फासफोरस जो हड्डियों के प्रमुख भाग हैं, को अपने कार्य में मदद करता है। दाँतों के निर्माण में इस विटामिन की आवश्यकता होती है। इसकी कभी से रेक्टाइटिस (Ractitis) नामक रोग हो जाता है। अगर माता में इस विटामिन का अभाव है तो शिशु की हड्डियोंके ढाँचेका निर्माण समुचित रूप से नहीं हो पायेगा। वे खड़ा होना तथा चलना-फिरना देर से सीखेंगे, उन्हें टॉन्सिल का रोग हो जायगा और उनके फुस्फुस कमजोर होंगे तथा वे यक्ष्मा के शिकार हो सकते हैं। गर्भिणियों को अगर इसकी कमी हो तो वे अस्वस्थ हो जायेंगी। यह विटामिन चर्बी में घुलनशील रहता है और पशुओं की चर्बी तथा यकृत में वहुतायत से पाया जाता है।

सभी हरी शाक-सब्जी, दूध, दूग्धजात पदांर्थों एवं अन्य चर्बीवाले खाद्य-पदार्थोंमें विटामिन डी उपलब्ध होता है। पशुओंके मांस, मछली, अंडे की जर्दी एवं पशुओं के यकृत में यह विटामिन काफी मात्रा में है। पशु इसे हरे पत्तों से प्राप्त करते हैं, साथ ही सूर्य की किरणों से भी उन्हें यह विटामिन मिलता है। मछलियों को यह विटामिन जलीय वनस्पतियों से मिलता है।

विटामिन डी प्राप्त करने का सर्वाधिक आसान तरीका है शरीर पर सरसों या काडलीवर तैल की मालिश करना एवं सूर्य-स्नान करना। चर्मप्रदेश में वर्तमान स्निग्ध पदार्थ सूर्य की गर्मी से उष्ण होकर विटामिन डी उत्पन्न करता है। भोजन वनाते समय यह विटामिन नष्ट नहीं होता है।

विटामिन ई

शरीर के तन्तुओं के निर्माण में इस विटामिन का प्रमुख हाथ है। विटामिन ई वीर्य का आवश्यक अंग है। इसकी कमी से स्त्री या पुरुष

की प्रजनन शक्ति नष्ट हो जाती है। यह विटामिन भी चर्बी में घुलनशील है तथा खाने योग्य चर्बियों में पाया जाता है। चर्बी चाहे मांसज हो या वनस्पतिज। सभी प्रकार की शाक-सब्जियों में भी विटामिन ई मौजूद है। आल्फाल्फा, संतरा, केला, हरीतकी आदि में यह पाया जाता है।

विटामिन एच

यह विटामिन जल में घुलनशील है। इसके अभाव में शरीर में चर्मरोग, इन्द्रलुप्त आदि रोग हो जाते हैं।

यह सभी प्रकार की शाक-सब्जी, फल, अंडे और मनुष्य तथा पशुओं के यकृत एवं वृक्क में पाया जाता है।

विटामिन के

यह रक्त के गाढ़ापन को स्थायी रखता है। गर्भिणी स्त्रियों के लिये यह अत्यावश्यक है। हड्डियों के निर्माण एवं विकास के लिये यह विटामिन अत्यावश्यक है। अतएव माता के शरीर में अगर इसका अभाव होगा तो शिशुओं को इसकी समुचित मात्रा प्राप्त न होने के फलस्वरूप उनकी हड्डियाँ कमजोर हो जायेंगी। विटामिन के तथा डी के एक साथ अभाव होने पर बच्चों को चलने-फिरने एवं खड़े होने में असुविधा होने लगती है।

सभी हरी शाक सब्जी, सूक्ष्म-अणुजीव, टमाटर, समुद्रीय वनस्पति, सोयाबीन, पालक, पत्तागोभी, गोभी, स्ट्रावेरी फल, आल्फाल्फा आदि में यह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। फल एवं स्टार्च में यह नगण्य मात्रा में है। यह विटामिन भी चर्बी में घुलनशील होता है।

विटामिन पी

विटामिन पी विटामिन सी का पूरक है। यह जल में घुलनशील है तथा रक्तकोषों की दीवालों को सुदृढ़ एवं लचीला बनाये रखता है।

सभी खट्टे फलों में जैसे नींबू, सन्तरा तथा अंगूर के रस में यह पाया जाता है।

अभी तक हमने संक्षिप्त में शरीर तथा भोजन के अंश-प्रत्यंश का विवेचन किया है। अग्रिम पृष्ठों पर हम शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के खाद्यों की किस-किस मात्रा में आवश्यकता है—इस पर प्रकाश डालेंगे। ताकि हमारा भोजन सन्तुलित भोजन हो और उसका शरीर के स्वास्थ्य एवं मन पर प्रतिकूल असर न हो। भोजन का स्वास्थ्य एवं मन पर क्या प्रभाव होता है इसका विवेचन भी आपको आगामी पृष्ठों में प्राप्त होगा।

संतुलित भोजन

जीवनी शक्ति का स्रोत भोजन है। हम जीवित रहने के लिये भोजन करते हैं। शरीर में भोजन का पाचन होता है एवं शरीर को पोषण प्राप्त होता है और शरीर बढ़ता है। कुपथ्य रोग का मूल कारण है, अतएव भोजन के विषय में पूरा ज्ञान अति आवश्यक है।

आसाम एवं बंगाल के बच्चों पर भोजन सम्बन्धी किये गये प्रयोग के आधार पर हम सन्तुलित भोजन एवं आदर्श भोजन का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। अतएव जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसे सिर्फ किताबी ज्ञान ही न समझा जाये। ये अनुभव-सिद्ध तथ्य हैं।

जीव-जगत् का आधार है स्त्री एवं पुरुष। पुरुष मात्र के मस्तिष्क में दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। आनुपातिक एवं भावुक। भौतिक विज्ञान-शास्त्रियों का मत है कि स्थावर-जगत् में भी २ प्रकार की शक्तियाँ सक्रिय हैं। उदाहरण के रूप में अगर हम विद्युत को ही लें, जिससे हमारे घर, बाजार एवं शहर जगमगाते हैं। बिजली भी २ प्रकार की है—ऋणात्मक (−) एवं धनात्मक (+)। एक बिजली के बल्ब को प्रकाशित करने के लिये बिजली दो पृथक तारों में संचारित की

जाती है। ये दोनों आपस में आकर्षित होकर प्रकाश उत्पन्न करते हैं। छोटे से छोटे फूल के कारण या अणु में भी दो प्रकार के विद्युत-कण— इलेक्ट्रोन एवं प्रोटीन विद्यमान हैं। इनकी भी क्रिया ऊपर लिखे समान ही चलती है।

हमारे शरीर के अंग भी पृथक-पृथक नहीं हैं। हाथ और पैर, नाक, कान, आँख, दाँत, मस्तिष्क और शरीर की मांसपेशियाँ सभी युगल हैं। सभी जगह द्वैत सिद्धान्त प्रचलित है चाहे जीव-जगत् हो या स्थावर-जगत। 'दो' का यह खेल हमारे रक्त में भी चालू है।

रक्त

हमारे शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग रक्त से पोषण एवं जीवन प्राप्त करते हैं। रक्त के तत्त्वों से हड्डी, मांस एवं मज्जा आदि का निर्माण होता है। रक्त दो प्रकार का है—क्षारीय एवं अम्लीय। अम्लीय रक्त से शरीर को काफी शक्ति प्राप्त होती है एवं शरीर की अन्य कमी पूरी होती है। जब कि क्षारीय रक्त, शरीर के सुगठित निर्माण में महत्व-पूर्ण पार्ट अदा करता है। स्नायु, मांसपेशी, हड्डियाँ एवं मज्जा आदि का निर्माण क्षारीय रक्त से ही होता है। इसके अतिरिक्त अम्लीय रक्त, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को स्थायी रखता है एवं रोगों के जीवाणुओं को नष्ट कर रोग का नाश करता है।

भोजन-विज्ञान-शास्त्रियों का मत एक नहीं है कि रक्त में अम्ल एवं क्षार रक्तका अनुपात क्या है? डा० हावर्ड के मतानुसार रक्त के क्षारीय अंश एवं अम्लीय अंश का अनुपात है ८० : २०। लेकिन अन्य विद्वान जैसे क्लीफर्ड टी० वारब्रोक जिन्होंने भोजन के विषयपर काफी अन्वेषण किया है, का मत है कि यह अनुपात ७५ : २५ है।

धौति की विशेष प्रक्रिया से भारतीय योगी पेट से रक्त वाहर निकाल कर रक्त के गुणों को बता सकते हैं। शुद्ध एवं अशुद्ध रक्त के

रंग में भेद होता है। यौगिक मत के अनुसार सात्विक रक्त में ६०-७० प्रतिशत क्षारीय रक्त होता है। स्वस्थ्य व्यक्ति में इसी प्रकार के रक्त की प्रधानता होती है। रक्त का क्षारीय भाग अगर ५०-६० प्रतिशत से कम हो जाता है तो इसे राजसिक रक्त कहा जाता है और क्षारीय भाग अगर ५० प्रतिशत से भी कम हो जाता है तो उसे तामसिक रक्त कहा जायगा। तामसिक रक्त-प्रधान शरीर या तो रोगी होगा अन्यथा शीघ्र ही रोगों का शिकार बन जायेगा। अत्यधिक अम्लीय रक्त—तामसिक रक्त का पर्याय है। जब तक शरीर में तामसिक रक्त की प्रधानता नहीं होगी, शरीर रोगी नहीं होगा।

रक्त के क्षारीय भाग को भोजन के माध्यम से ही स्थायी रखा जा सकता है। बशर्ते हम यह भली प्रकार समझ लें कि कौन-सा भोजन पाचन के बाद क्षारीय होता है।

भारत के प्राचीन मनीषि-गण और आधुनिक विद्वान एक मत हैं कि खट्टे या मीठे फल, सभी हरी सब्जियाँ, सभी प्रकार की दाल, दूध, मट्ठा, दही क्षारीय भोजन हैं जिनके सेवन से शरीर में क्षारीय रक्त बढ़ता है। चूँकि इस प्रकार के रक्त में नमक का भाग अधिक होता है इसलिये इसे 'क्षारीय' कहा जाता है।

मछली, मांस, अण्डे एवं भात, रोटी आदि अम्लीय भोजन हैं। इनके सेवन से शरीर में अम्ल-प्रधान रक्त यानी अम्लीय रक्त उत्पन्न होता है।

घी, मक्खन, तेल आदि द्रव्य न तो क्षारीय हैं और न ही अम्लीय। इन्हें तटस्थ (Neutrals) कहा जा सकता है। किन्तु इनका पाचन काफी कठिन होता है और अम्ल उत्पन्न हो जाता है। यह अम्ल रक्त के साथ मिलकर शरीर को हानि पहुँचाता है एवं रक्त को अम्लीय बना देता है।

अंडे, मांस, एवं घी या मक्खन में बनी मिठाइयाँ आदि घनीभूत खाद्य पदार्थ हैं। अतएव इनका सेवन स्वस्थावस्था में भी कम से कम

मात्रा में करना चाहिये। थाइरायड, यकृत, प्लीहा एवं अग्न्याशय आदि पाचन-ग्रन्थियों को इस प्रकार के भोजन का पाचन करने के लिये अधिक श्रम करना पड़ता है एवं शरीर पर रोगों के आक्रमण का भय हो जाता है। अतएव शरीर की स्वस्थावस्था में ही भोजन की सतर्कता बरतनी चाहिये। शरीर के लिये पौष्टिक नहीं बल्कि संतुलित भोजन की आवश्यकता है।

भारतीय मत के अनुसार संतुलित भोजन में $\frac{2}{3}$ भाग क्षारीय एवं $\frac{1}{3}$ भाग अम्लीय भोजन होना चाहिये। अतएव मांसाहारी सदैव यह स्मरण रखें कि मछली, मांस अंडे, भात एवं रोटी आदि दैनिक भोजन का $\frac{1}{3}$ भाग से कभी भी अधिक न खावें। भोजन के अवशेष $\frac{2}{3}$ भाग में शाक-सब्जी, फल और दूध शामिल करें। शाकाहारियों को भी इस विषय में सतर्कता बरतनी चाहिये। भात, रोटी और कोई भी ऐसा पदार्थ जिससे अम्लीय रक्त की वृद्धि होती हो भोजन के $\frac{1}{3}$ भाग से अधिक न खावें। भोजन का अवशेष $\frac{2}{3}$ भाग पकाई हुई दाल, शाक-सब्जी, फल, दूध एवं बादाम आदि से पूरा करें। संतुलित भोजन का नुश्खा यही है।

पाश्चात्य प्राणि-विज्ञान के विद्वान शरीर की ग्रन्थियों से उत्पन्न रसों से अभी तक भली प्रकार परिचित नहीं हैं—ऐसा प्रतीत होता है। उनका अन्धानुकरण करनेवाले लोग भारत में भी रोगियों को अण्डा एवं छेना आदि खाने की सलाह देते हैं। यद्यपि ये वस्तुएँ सुपाच्य ही हैं परन्तु इन सभी वस्तुओं से शरीर की प्रणाली में यूरिक (uric) एसिड उत्पन्न होती है जो यकृत एवं वृक्क को क्षतिग्रस्त करती है एवं थाइरायड और पिट्यूटरी ग्रन्थि को कमजोर बनाती है। इस प्रकार रोगी के स्वस्थ होने में यह बाधा पैदा करती है। अतएव इस विषय में सभी चिकित्सकों को सतर्क रहना अति आवश्यक है।

क्या हम मांसाहारी (carnivorous) हैं ?

क्रमशः हमलोग अपने भोजन में अधिक मछली एवं मांस खाने का अभ्यास कर रहे हैं, फिर भी हम पूर्णतया मांसाहारी नहीं हैं। हमारा स्वभाव शाकाहारी जीवों से अधिक मिलता-जुलता है। मांसभक्षी जीवों की कुछ अपनी विचित्रताएँ होती हैं। जैसे—उनकी चमड़ी में रन्ध्र नहीं होते हैं, उन्हें दौड़ने या मेहनत के बाद पसीना नहीं पैदा होता है जब कि शाक-भोजी जन्तुमें थोड़ा-सा भी श्रम करनेके बाद पसीना पैदा होता है। उनके शरीर के चर्म में रन्ध्र होते हैं। मांसभक्षी जीवों की लार में अम्लांश मौजूद रहता है जबकि शाक-भक्षी जीवों की लार क्षारीय होती हैं। मांसभक्षी जन्तुओं के शरीर में (organic protein) पदार्थों के पाचन के लिये व्यवस्था बनी हुई है जबकि शाकाहारी जन्तुओं के शरीर में प्रोटीन पचाने की सुव्यवस्था नहीं है। प्राणिविज्ञान के आधार पर मांसभक्षी एवं शाकभक्षी जन्तुओं में काफी समता है फिर भी मनुष्य पूर्णतया अमांसभोजी नहीं है।

समता में वन्दर मनुष्यों के अति सन्निकट है। आम तौर पर वे शाक भोजी हैं और पेड़-पौधों के हरे पत्ते, फल, वीज आदि खाकर निर्वाह करते हैं। लेकिन भूख से अत्यधिक उत्तेजित होकर साधारण खाद्य के अभाव में वे चिड़ियों के घोंसलों में प्रवेश कर अण्डे आदि खा जाते हैं। बन्दर मछली नहीं खाते हैं। लेकिन अगर किसी वन्दर को दो दिन तक लगातार भूखा रखा जाये और तीसरे दिन मछली खाने को दी जाय तो भूख से त्रस्त होने के कारण वह मछली भी खा डालेगा। इन सव उदाहरणों को दृष्टिगत रखते हुए हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मूल रूप में मनुष्य अमांसभक्षी है लेकिन किसी विशेष परिस्थिति में वह भूखा न रह जाय एतदर्थ चर्वी आदि द्रव्य पचाने के लिए उसके शरीर में यन्त्रों की व्यवस्था प्रकृति ने की है ; ताकि संकट की घड़ी में शाकाहारी द्रव्यों के अभाव में मांस, मछली आदि भक्षण कर जीवन-

निर्वाह कर सके। इसी प्रकार मांसभक्षी जीव भी संकट की घड़ी में मांस आदि के अभाव में जीवन निर्वाह कर सके, प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है। ये जीव आवश्यकतानुसार भात, रोटी या प्रोटीनयुक्त फल खाकर जीवन निर्वाह कर सकते हैं। घरेलू पशु—जैसे कुत्ते, बिल्ली आदि में ऐसा देखा गया है कि जब मांस-मछली आदि आवश्यक मात्रा में उनको प्राप्त नहीं हो पाते हैं तब वे भात, रोटी या प्रोटीन-युक्त फल खाकर जीवन निर्वाह करते हैं। मांस-मछली आदि द्रव्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने पर वे शाकाहारी द्रव्य कभी भी नहीं खाते हैं।

प्रकृति की इस आपत्‌कालीन व्यवस्था को हम अगर अपनी प्रकृति बनाकर नियमित रूप से मांसादिक का भक्षण करने लगें तो हमें निश्चय ही इनके दुर्गुणों से प्रभावित होना पड़ेगा। मांसभक्षी जीवों की पाचन-ग्रन्थियों से अम्लप्रधान रस प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता रहता है जिसके फलस्वरूप वे मांस-मछली आदि द्रव्यों को सुगमता से पाचन कर लेते हैं। लेकिन मनुष्य में इस प्रकार की शक्ति नहीं है। बरियार एवं चुर जैसे विख्यात जर्मन वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिखा दिया है कि मांसभक्षी जीवों के यकृत में शाकभक्षी जीवों की अपेक्षा १५ गुनी अधिक यूरिया उत्पन्न होती है। यह यूरिया ही प्रोटीन द्रव्यों के पाचन का कार्य करती है और बिना पचे हुए अवशेष द्रव्यों को मल या मूत्र के मार्ग से बाहर निकाल देती है।

मनुष्यों की अपेक्षा मांसभक्षी जानवरों के शरीरमें अम्ल एवं अम्लीय रक्त अधिक होता है। जब कि मनुष्यों के शरीर में क्षार एवं क्षारीय रक्त अमांसभक्षीय जीवोंकी अपेक्षा दुगुना होता है। यद्यपि मांस साधारण तौरपर अम्लप्रधान भोजन है फिर भी मांसभक्षी जीवों के मांस और अ-मांसभक्षी जीवों के मांस में काफी अन्तर है। मांसभक्षी जीवों के मांस में अम्ल की इतनी अधिकता होती है कि मनुष्य इसे खाना पसन्द नहीं करेंगे। यह स्वास्थ्य के लिये भी हानिप्रद है। यही कारण है कि मनुष्य बिल्ली, कुत्ते, चीते आदि की जगह शाकाहारी जानवर जैसे

बकरी, भेड़, हरिण, गाय और सुअर आदि का मांस खाना ही पसन्द करते हैं।

आर्गनिक प्रोटीन-युक्त द्रव्य के खाद्य सम्बन्धी मूल्यों एवं इनकी उपयोगिता के बारे में सोचने के लिये मांसभक्षी एवं शाकभक्षी जीवों के विषयमें हमने चर्चा की है। आशा है कि सभी इस पर विचार करेंगे।

औसतन ऊँचाई प्राप्त करने के उपाय

हमारे शारीरिक ढाँचे के अनुसार शरीर की औसत ऊँचाई होने का संतुलित भोजन से गहरा सम्बन्ध है। अतएव इसकी चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

रक्त में स्थित अम्लांश की अधिकता के कारण शरीर में कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। इस विषय में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। रक्त में अम्ल भाग की अधिकता के फलस्वरूप शरीर का विकास भी रुक जाता है। एक परिवार के सदस्यों की ऊँचाई भिन्न-भिन्न होती है। कुछ सदस्य नाटे, कुछ मझोले एवं कुछ लम्बे कद के होते हैं। इस विभिन्नता के पीछे निश्चय ही कोई न कोई कारण रहता है। कारण कि खोज करने से एक साथ ही इन कारणों को दूर करने के उपाय के विषय में विचार करने से हम मनुष्य जाति को नाटे कद के अफिशाप से बचा सकते हैं।

पुरुषों की औसत ऊँचाई ५½ से ६ फुट है। स्त्रियों को औसतन ५¼ से ५ फुट १० इञ्च तक लम्बा होना चाहिये। पुरुष आम तौर पर अपने स्तर से गिरते जा रहे हैं इस पर हमें विचार करना चाहिये, ताकि स्तर को पुनः प्राप्त किया जा सके।

रक्त में स्थित अम्ल अंश एवं क्षारिय अंश के सम्बन्ध में सविस्तार व्याख्या इससे पूर्व की जा चुकी है। भारत के समान देश में जहाँ

छः ऋतुओं का वर्षभर में समागम होता है वहाँ क्षारिय रक्त एवं अम्लीय रक्त का अनुपात ६०-४० होना चाहिए। अगर इस अनुपात में किसी कारणवश हेरफेर हो जाये तो मनुष्य रोगी नहीं होता है, लेकिन उसका विकास रुक जाता है और ऊँचाई कम हो जाती है।

हमारे स्वास्थ्य एवं ऊँचाई आदि के बारे में कमजोर यकृत विशेष रूप से दोषी होता है। यकृत अपने अवस्थान से ही भोजन के पाचन के लिये समुचित मात्रा में यूरिया नामक पदार्थ पैदा करता है। भोजन से रस एवं रस से रक्त का निर्माण यकृत से ही होता है। डेक्सट्रोज नामक पदार्थ भी यकृत से ही एकत्रित होता है। आवश्यकता होने पर यही डेक्सट्रोज शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सबल यकृत शरीर को सबल एवं विकसित बनाता है और दोषी यकृत शरीर को रोगी एवं कमजोर बनाता है। शरीर में स्थित पिट्यूटरी, थायरायड एवं अग्नाशय की प्रमुख ग्रन्थियाँ शरीर के विकास में सहायता होती हैं पर यकृत स्वस्थ न रहने पर इन्हें अधिक कार्य करना पड़ता है और क्रमशः ये निष्क्रिय हो जाती हैं। इस प्रकार शरीर का विकास रुक जाता है। अतएव जिस मनुष्य का बचपन में जब कि शरीर का सर्वाधिक विकास होता है तथा युवावस्था में यकृत अगर स्वस्थ है तो शरीर का सर्वाङ्गीण विकास होता है और शरीर की ऊँचाई औसत स्तर की होती है।

इस प्रकार यह प्रामाणित होता है कि आहार की भूल के कारण अर्थात् सन्तुलित एवं आदर्श भोजन के अभाव में यकृत एवं शरीर की अन्य प्रमुख ग्रन्थियाँ कमजोर हो जाती हैं और शरीर साधारण स्तर की ऊँचाई प्राप्त नहीं कर पाता है।

इस सम्बन्ध में हमने बच्चों पर काफी प्रयोग किये। बच्चों के एक समूह को सिर्फ आदर्श भोजन दिया गया, दूसरे समूह को संतुलित भोजन दिया गया एवं तीसरे समूह को प्रोटीन-प्रधान भोजन दिया

गया। इसका परिणाम यह पाया गया कि जिन बच्चों को आदर्श भोजन दिया गया वे माता-पिताओं से भी अधिक लम्बे हुए। जिन बच्चों को सन्तुलित भोजन दिया गया वे मध्य स्तरीय ऊँचाई तक पहुँच सके एवं जिन बच्चों को अम्ल प्रधान अर्थात् प्रोटीन-प्रधान भोजन दिया गया वे नाटे कद के रहे। वे माता-पिताओं के समान लम्बाई नहीं प्राप्त कर सके। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि भोजन का शरीर की लम्बाई से सीधा सम्पर्क है।

भारत के विभिन्न भागों में मनुष्यों की ऊँचाई भिन्न-भिन्न है। पूर्वी एवं दक्षिण भारत के निवासियों की ऊँचाई कम होती है। यहाँ पर मझोला या नाटा कद ही अधिक पाया जाता है। उत्तरी एवं मध्य भारत में लम्बे कद के पुरुषों की अधिकता रहती है। इसका भोजन की परम्पराओं के साथ गहरा सम्पर्क है।

भारत के पूर्वी भाग अर्थात् आसाम, बंगाल, उड़ीसा के निवासियों का प्रमुख भोजन है चावल एवं मछली। भोजन के पदार्थों में वे चावल को सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। अन्यान्य द्रव्य उनकी दृष्टि में सहायक पदार्थ ही हैं। इन प्रान्तों में दूध की काफी कमी है और फल की तरफ यहाँ के रहनेवालों की रुचि कम है। वे धान या चावल से बने विभिन्न भोजन का उपयोग करते हैं। धनी वर्ग कुछ घी, आटा, क्रीम या मिठाई आदि सेवन करते हैं। कुछ रोटी, मक्खन और अंडों का प्रयोग कर पाश्चात्य अनुकरण करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वी भारत का प्रमुख भोजन 'अम्ल-प्रधान' है। यही कारण है कि यहाँ के निवासी छोटे कद के रोगी एवं अल्पायु होते हैं। शाक-सब्जी, दाल, फल और दूध का मूल्य भोजन की दृष्टि से चावल या आमिष पदार्थों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं, बल्कि काफी अधिक है। पूर्वी भारत के निवासी जब तक भोजनके इस महत्वपूर्ण पहलू को भली प्रकार हृदयंगम नहीं कर लेते, तब तक उनका इन अभिशापों से छुटकारा पाना कठिन है।

भारत के पूर्वी भाग में आम, खरबूजा, तरबूज, वेल, पपीता, जामुन, अनारस, नारंगी, केला, नारियल एवं मूंगफली आदि का अभाव नहीं है। यद्यपि इन फलों का स्वाद अंगूर, सेव, किसमिस आदि से भिन्न है, परन्तु उत्तर भारत में प्राप्त इन सब फलों से पूर्वी भारत में प्राप्त फलों के पौष्टिक मूल्य में कुछ भी कमी नहीं है। पोषण की दृष्टि से नारियल मां के दूध के समान है। कटहल मांस के समान गुणकारी है तथा वादाम, मांस, अंडे और घी आदि सभी से अधिक महत्वपूर्ण है। आश्चर्य है कि पूर्वी भारत के निवासी फल में रूचि नहीं रख भात एवं थोड़ी-सी मछली में ही काफी सन्तोष का अनुभव करते हैं।

पूर्वी भारत के प्रतिभाशाली व्यक्ति अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। साधारण मनुष्यों की मृत्यु से होनेवाली क्षति की पूर्ति हो जाती है, लेकिन जिन पर राष्ट्र एवं जाति का भाग्य निर्भर करता है ऐसे व्यक्तियों की अकाल मृत्यु से असीम दुःख एवं ऐसी क्षति होती है जिसकी पूर्ति नहीं हो पाती। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, केशवचन्द्र सेन, देशबन्धु चित्तरंजन, आशुतोष मुखोपाध्याय, श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय जैसे प्रतिभा-सम्पन्न एवं आदर्श व्यक्तियों की मृत्यु बहुत कम समय में ही हुई। जहाँ तक राजनैतिक एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की मृत्यु का प्रश्न है, उड़ीसा एवं आसाम की भी यही दशा है। इस प्रकार की क्षति अगर हम चाहें तो रोक सकते हैं। पूर्वी भारत की क्षति के बारे में जो कुछ कहा गया है सम्पूर्ण विश्व के लिये कटु सत्य है। इन अकाल मृत्युओं का प्रमुख कारण है सन्तुलित भोजन का न करना या इसके विषय में पूरी जानकारी का न होना। सन्तुलित भोजन सेवन करने के पक्ष में यह हमारा अकाट्य और पुष्ट प्रमाण है। भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के नागरिकों को सन्तुलित भोजन करना चाहिये।

पूर्वी भारत में शाकाहारी नगण्य हैं। उच्च घराने की विधवाएँ शाकाहार का सेवन करती हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि इन

विधवाओं का स्वास्थ्य काफी अच्छा होता है। एक बात हम यहाँ स्मरण करना आवश्यक समझते हैं कि शाकाहारी भी अगर मक्खन, घी, छेना, मिठाई आदि द्रव्यों का बराबर उपयोग करेंगे तो वे भी स्वस्थ नहीं रह सकेंगे और विकास निश्चित रूप से रुक जायगा।

सम्पूर्ण भारत में, पूर्वी भारत के निवासी मसाले के अधिक प्रेमी हैं। भोजन के पदार्थों में मसाले आदि के संयोग से वे भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यंजन तैयार करते हैं। धनी वर्ग में ३०-४० प्रकार के भोजन पदार्थ उत्सव आदि पर परोसे जाते हैं। दूध को खोवा, सन्देश, रसगुल्ला एवं अन्य पदार्थों के रूप में परोसने की परम्परा है। बंगाली अच्छे मिष्ठान्न निर्माता होते हैं, पर स्वास्थ्य की दृष्टि से यह कोई महत्व की बात नहीं है। जैसे दूध अपने मूल रूप में ही अधिक स्वास्थ्यप्रद है, उसी प्रकार अन्य पौष्टिक पदार्थों को तेल, घी और मसालों की प्रचुर मात्रा में नहीं पकाया जाय तभी वे स्वास्थ्यप्रद हैं।

भारत के पूर्वी हिस्से के समान ही दक्षिणी भाग में दूध की कमी है एवं मछली अधिक मात्रा में प्राप्य है। यद्यपि दक्षिण भाग के रहनेवाले पूर्वी भाग के निवासियों की अपेक्षा अधिक शाकाहारी हैं, फिर भी दोनों भागों के निवासियों में स्वभाव आदि की काफी समानता है। दक्षिण में भी लम्बे आदमी कम होते हैं। भारत के मध्य एवं पश्चिमी भाग में मछली कम पायी जाती है। इस भाग के निवासी ज्यादा संख्या में शाकाहारी हैं। यहाँ दूध बहुतायत से पाया जाता है, शाक-सब्जी प्रचुर मात्रा में उपजती है एवं सुलभ है। इस भाग के अधिकांश व्यक्ति लम्बे होते हैं—इसका कारण यही है। इनमें से जो व्यक्ति मांस, मछली और अण्डों का सेवन कर प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते हैं वे औसत लम्बाई प्राप्त नहीं कर पाते। वे मझोले या छोटे कद के होते हैं। शारीरिक अवस्था देखकर निर्बल व्यक्तियों के कमजोर बच्चों की ओर सभी का ध्यान आकर्षित होता है।

संसार के विभिन्न भागों के निवासियों की लम्बाई पर वहाँ के प्रचलित भोजन का कितना प्रभाव हुआ है—हम इसका सविस्तार विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इतिहास में ऐसी असभ्य और जंगली जातियों के उदाहरण भी हैं जो जंगली जानवर या मछलियों का मांस भक्षण करते थे। यहाँ तक कि वे भेड़िया या चीते का मांस भी खाते थे। शाक सब्जी उन्हें सुलभ नहीं था। इस जाति के व्यक्ति संसार में सबसे छोटे कदवाले एवं अल्पायु होते हैं। ये जातियाँ लेपलेन्डर्स सेमोयेडीस आदि हैं। इनकी औसत लम्बाई ४ फुट है। उनमें ४ फुट ६ इञ्च लम्बे व्यक्ति बहुत कम हैं।

समुद्र एवं मछलियों से चारों ओर से घिरे प्रदेश में जापानी एक द्वीप पर निवास करते हैं। वे मांस कभी-कभी खाते हैं। वे दूध एवं शाक-सब्जी खाने के लिये सचेष्ट रहते हैं। लेकिन परम्परागत अभ्यास के फलस्वरूप उनके भोजन का आधे से अधिक भाग मछली एवं चावल है जिसके फलस्वरूप उनका रक्त अधिक अम्लीय हो जाता है। यही कारण है कि इनकी सम्पूर्ण जाति नाटे कद की है।

चीन के पूर्वी एवं दक्षिणी प्रदेश समुद्र एवं नदी से घिरे रहने के कारण मछली से भरपूर है। उत्तरी एवं पश्चिमी प्रदेश में मछली की कमी है इसीलिये वे पूर्वी एवं दक्षिणी हिस्सों के निवासियों से अधिक लम्बे होते हैं।

यूरोप एवं अमेरिका के निवासियों में सन्तुलित भोजन करने का अभ्यास है। लेकिन जब से इनमें मछली एवं मांस खाने का प्रचलन अधिक हुआ है उनमें छोटे कद के मनुष्यों का अनुपात अधिक होता जा रहा है।

एशिया के निवासियों में अरब एवं अफगान सबसे अधिक स्वस्थ एवं लम्बे होते हैं। इनकी औसत लम्बाई ६ फुट की होती है। वे छुहारे आदि सूखे मेवे एवं दूध का सेवन अधिक करते हैं। वे गाय, गधा, ऊँट, बकरी आदि दुधारू जानवरों के दूध का सेवन करते हैं।

इनके अलावा वे छुहारा, वादाम पिश्ता अंगूर एवं सेव आदि पोषक चीजों का भी सेवन करते हैं। काठ, जंगल एवं नदी आदि का वहाँ अभाव है। इस प्रकार उन्हें मछली खाने का अवसर नहीं मिलता है, फलतः वे क्षारीय खाद्य पदार्थ का अधिक सेवन करते हैं। वे एशिया की जातियों में सर्वाधिक लम्वे एवं वलिष्ठ हैं—इसका कारण यही है।

पूर्वी अफ्रीका की वातूसी जाति संसार की सवसे लम्वी जाति है। उनकी औसत लम्वाई ७ फुट है। उनमें से वहुत से व्यक्ति ७ फुट ३ इंच लम्वे भी होते हैं। उनकी निम्नतन ऊँचाई ६ फुट होती है। वे जहाँ रहते हैं वह स्थान जंगल एवं उपजाऊ जमीन से परिपूर्ण है। सभी के पास वड़ी संख्या में गाय, भैंस, एवं वकरियाँ आदि पायी जाती हैं। इन घरेलू जानवरों का दूध, सोयावीन एवं अन्य फल इत्यादि उनके भोजन के प्रमुख अंग हैं। इस प्रकार के भोजन पदार्थों के फलस्वरूप वे विश्व से अत्यधिक ऊँचे मनुष्य हो सके हैं। वे काफी स्वस्थ एवं वलिष्ठ भी होते हैं।

विश्व की विभिन्न प्रकारकी जातियों के सम्वन्ध में प्राप्त जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसी व्यक्ति का लम्वा और स्वस्थ शरीर हो सकता है जो न तो दाल-भात, रोटी, मांस, मछली, अण्डे आदि अम्लप्रधान खाद्य पदार्थों का सेवन करते हैं और न ही घी, मक्खन, छेना या मिठाई का अधिक सेवन करते हैं, वल्कि इनके स्थान पर दूध, फल, शाक-सब्जी आदि का सेवन करते हैं।

मनुष्य जाति के भोजन की आलोचना करते समय जानवरों के भोजन पर भी एक दृष्टि डालना उचित है। जानवरों में भी मांसभोजी जानवर जैसे विल्ली, कुत्ते, लोमड़ी, शेर और चीते आदि अमांसभोजी जानवर जैसे गाय, घोड़े, भैंस, हाथी आदि से आकृति में छोटे होते हैं। अमांसभोजी जानवरों की अपेक्षा मांस-भोजी जानवरों की आयु भी कम होती है। जीव-जगत् के इन तथ्यों पर हमें ध्यान देना चाहिये। अमांस-भोजी जानवर जैसे हाथी घोड़े आदि में मांसभक्षी जानवरों की

अपेक्षा बुद्धि की भी विशेषता है। मांस-भक्षी जानवर सिर्फ भयानक ही होते हैं।

प्राणिजगत् के सभी पेड़-पौधे अमांसभक्षी हैं। वे अपना भोजन जमीन, जल, वायु एवं सूर्य की रश्मियों से प्राप्त करते हैं। उनकी आकृति एवं दीर्घायुष्य आदि का दायित्व उनके इस प्रकार के शाक-प्रधान खाद्य पर ही है। पृथ्वी का कोई भी लम्बा से लम्बा जानवर बाँस, खजूर या नारियल के पेड़ की ऊँचाई प्राप्त नहीं कर सकेगा। कुछ विशेष प्रकार के पेड़ ही इनसे अधिक लम्बे हो सकते हैं। कहा जाता है उत्तरी ध्रुव के समुद्र में पायी जानेवाली व्हेल मछली जो ६० से १०० फीट तक लम्बी होती है संसार का सबसे बड़ा प्राणी है। इसके भोजन के विषय में यद्यपि हम अधिक नहीं जानते हैं फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुख्य रूप से समुद्री घास, मिट्टी, जल, वायु और सूर्य के प्रकाश पर ही इसका जीवन आधारित है।

मनुष्य हवा एवं प्रकाश से पोषण प्राप्त करने के लिये सक्षम है। आधुनिक प्राणी-विज्ञान के ज्ञाताओं के मतानुसार नग्न शरीर पर सूर्य की किरण पड़ने से चर्म के नीचे एकत्रित चर्बी विटामिन-डी में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार शरीर के केल्सियम एवं फॉस्फोरस की कमी पूरी होती है। शरीर की लम्बाई के लिये केल्सियम सर्वाधिक आवश्यक है। रोम के माध्यम से शरीर की चमड़ी हवा ग्रहण करती है जो जीवनी शक्ति बढ़ाती है। उत्तरी एवं मध्य भाग के श्रमिकों में लम्बे व्यक्तियों की संख्या अधिक है जो प्रायः पैसे के अभाव में नंगे बदन रहते हैं। ये सस्ते खाद्य पदार्थ जैसे चने और दाल, भुने हुए बादाम एवं अन्य क्षारीय पदार्थों के अलावा मूल्यवान् खाद्य पदार्थ खरीद कर नहीं खा पाते। उनके शरीर की लम्बाई एवं स्वास्थ्य इन्हीं भोजन, खुली हवा एवं सूर्य की किरणों से ही बना रहता है। लेकिन हम सभ्य व्यक्ति इस वातावरण को असभ्य कह कर टाल देते हैं। यह बहुत आवश्यक है कि हम इस प्रकार के भ्रम का निराकरण अविलम्ब करें।

पश्चिम में एक विचारधारा ने जन्म लिया है। पश्चिमी जगत् के मनुष्य स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक हैं। सप्ताह के अंत में लन्दन जैसे भीड़-भरे शहर से बाहर जानेवाले व्यक्तियों की बढ़ती हुई जन-संख्या यही प्रमाणित करती है कि कृत्रिम साधनों से खोये हुए स्वास्थ्य एवं शक्ति को पुनः प्राप्त करने की भावना का पुनः जागरण हुआ है। जर्मनी, अमेरिका आदि की नग्न बस्तियाँ इस सिद्धान्त की चरम सीमाएँ हैं। यद्यपि इस प्रकार के सिद्धान्तों के पीछे छिपे गुण स्पष्ट हैं लेकिन भारतीय योगियों की दृष्टि से इसके अवगुण भी छिपे हुए नहीं हैं। इनके फलस्वरूप होनेवाले गुणों को कोई भी नजरन्दाज नहीं कर सकता है। आस्ट्रिया एवं स्विटजरलैण्ड में ऐसे बहुत से केन्द्र हैं जहाँ पथ्य, सूर्य के प्रकाश एवं विशुद्ध हवा के माध्यम से क्षयरोग की चिकित्सा की जाती है। ऐसा विश्वास अब होने लगा है कि आधुनिक विज्ञान निकट भविष्य में प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों को सर्वोपरि मानने लगेगा।

आजकल बहुत से औषध-विक्रेता मनुष्य को लम्बा बनाने की औषधि का प्रचार कर नासमझ व्यक्तियों को भुलावे में डाल रहे हैं। अगर औषधियों एवं विटामिन आदि के जरिये मनुष्य को लम्बा बनाया जा सकता तो पृथ्वी के सभ्य संसार में नाटे कद के आदमी नजर ही नहीं आते। सभी देश की सरकारों को इस प्रकार के प्रचार से अपनी जनता को सावधान कर देना चाहिये।

वास्तव में ऊँचाई प्राप्त करने के लिये क्षार भोजन सर्वाधिक आवश्यक है। जिसके सेवन से शरीर में क्षारीय रक्त का अनुपात बढ़ता है। इस प्रकार के रक्त के फलस्वरूप यकृत और प्लीहा एवं अन्य सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थियाँ स्वस्थ रहती हैं। यह क्षारप्रधान रक्त ही शरीर की अन्य ग्रन्थियों से उत्पन्न रस के साथ मिलकर शरीर को लम्बा बनाता है और शरीर को स्वस्थ एवं बलिष्ठ बनाये रखता है। कोई भी औषधि रक्तमें क्षारांश को स्थायी रूप से नहीं बढ़ा सकती, जिससे सभी ग्रन्थियाँ

भली प्रकार अपना कार्य कर सकें एवं शरीर की लम्बाई वढ़ा सके। अतएव कोई भी व्यक्ति पेटेन्ट औषधियों के व्यापारियों के इस प्रकार के भ्रामक प्रचार के धोखे में कमी न आवे।

युद्ध की लिप्सा रोकने एवं शराव-वन्दी के उपाय

मनुष्य की भयंकर गलतियों में से शराव पीना भी एक है। यही कारण है कि बहुत से सभ्य देशों में इसके प्रचलन को सामाजिक अपराध घोषित कर इसे कानूनन वन्द करने की दिशा में कदम बढ़ाये गये हैं। भारतीय सरकार की पूर्ण रूप से नशावन्दी के लिये एक स्पष्ट नीति है। जब भारत पराधीन था तब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में नशावन्दी आन्दोलन चालू था। आजकल कई प्रान्तों में शराव पीना कानूनन निषिद्ध है; फिर भी पूर्ण सफलता इस दिशा में अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। छिपे-छिपे शराव का कारोबार अभी भी चालू है। शराब पीने के आधारभूत कारणों का पहले विश्लेषण करने के उपरान्त इसे रोकने के उपायों पर प्रकाश डाला जायगा।

शराव अंगूर के रस को सड़ाकर वनायी जाती है। भारत के पूर्वी भागों में खजूर या ताड़ के वृक्षों के रस से देशी शराब बनायी जाती है। चूँकि शराव क्षारीय खाद्य पदार्थों को सड़ाकर वनायी जाती है, अतएव ये क्षारीय पदार्थ विष रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यह विष अधिक प्रोटीन-युक्त भोजन करने के फलस्वरूप उत्पन्न अम्ल विष को अस्थायी तौर पर शान्त करता है। यही कारण है कि प्रोटीन-बहुल खाद्य पदार्थ खानेवाले व्यक्ति शराब के लिये तरसते रहते हैं। उन्हें अगर शराब पीने की लत एक बार हो गई तो फिर वे छोड़ नहीं सकते। शराब चूँकि शरीर में उत्पन्न अम्ल विष को एक वार शान्त कर देती है, इसलिये एक वार शरीर में शक्ति उत्पन्न करती है। शराबियों की क्षणिक खुशी से प्रायः सभी परिचित हैं। अतएव हम यह विशेष रूप से

कहते हैं कि मांस-भक्षण एवं शराब पीने का आपस में काफी सम्पर्क है। शाकाहारी शराब पीना पसन्द नहीं करते हैं। लेकिन खराब संगत के फलस्वरूप वे इस बुरी आदत के शिकार हो भी जाते हैं तो अन्य शराबियों की अपेक्षा उनके लिये इस आदत को छोड़ना काफी सहज होता है। अतएव शराब-वन्दी कानून बनाने के पूर्व अधिक मांस-भक्षण भी कानूनन निषिद्ध करना चाहिये। यह तथ्य स्पष्ट है कि अगर मनुष्य जाति को शराब से मुक्त करना है तो हमें संतुलित या आदर्श भोजन अपनाना होगा तभी प्रभावशाली ढंग से शराब बन्दी हो सकती है।

मोटर या हवाई दुर्घटनाओं के कारणों में शराब पीना भी एक प्रमुख कारण है। अगर मोटर एवं वायुयानके चालक शराब पीना छोड़ दें तो इस प्रकार की दुर्घटनाओं में ६० से ७० प्रतिशत तक की कमी हो सकती है। जव तक मांस, मछली, अंडे आदि के प्रचुर सेवन पर प्रतिवन्ध नहीं लगाया जाता तब तक कोई भी कानून उन्हें शराब सेवन से नहीं रोक सकता है। साथ ही सैकड़ों निर्दोष मनुष्यों को अकाल मृत्यु से नहीं वचा सकता है।

जो व्यक्ति संतुलित या आदर्श भोजन का सेवत करते हैं, वे मांसभक्षी के मन में उत्पन्न होनेवाली शरात्र की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

अधिक मात्रा में मांस भक्षण का दुष्प्रभाव यह है कि इसके सेवन से मन में घृणा एवं द्वेष उत्पन्न होता है। इन्हीं भावनाओं के फल-स्वरूप कभी-कभी भयानक युद्ध भी हो जाते हैं। हिन्दू-शास्त्रों में मांस, मछली आदि का सेवन कतई निषिद्ध है। ताकि मनुष्य अपने आप में स्थित राक्षसी भावनाओं का शमन कर अच्छा वन सके। खाद्य सम्त्रन्धी गवेषणा करनेवाले विद्वान अव इससे सहमत होने लगे हैं। प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर श्री जी० एस० फोलर ने कहा है कि—मांस नैतिकता नष्ट कर, कामोत्तेजक विचार एवं असंतुलित स्वभाव आदि उत्पन्न करता है। जव कि मनुष्यत्व के लिये इसके विपरीत होना आवश्यक है। क्या आप अपने वच्चों को जानवरों की तरह झगड़ालू,

भयानक, इर्ष्यालु, घृणा करनेवाला वनाना पसन्द करेंगे, तो उन्हें अधिक मांस भक्षण करावें। अगर आप उन्हें सभ्य आचरण करनेवाले वनाना चाहते हैं तो शाकाहारी खाद्य दें।

रावर्ट नामक एक अन्य खाद्यवेत्ता गवेषणाकार का मत है—"मैं अ-मांसभक्षी भोजन को स्वस्थ एवं शारीरिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन के लिए अति आवश्यक समझता हूँ।"

हिन्दू-शास्त्रों में देवी-देवताओं के लिए बलि का विधान है। यह सिर्फ क्षत्रिय के लिए है। विदेशी आक्रमण से स्वदेश की रक्षा करने वालों के मन में सैनिक प्रवृति जगाने के उद्देश्य से यह व्यवस्था की गई है। मातृभूमि के रक्षार्थ युद्ध जैसे कार्य में कूद पड़ना सरल स्वभाव के व्यक्तियों के लिये जो रक्त-पात के नाम से ही घवराते हों—उनके लिये असम्भव-सा है। अतएव जबतक पड़ोसी देश अपनी लालच या असभ्य स्वभाव न छोड़ दें तब तक प्रत्येक राज्य में इस प्रकार की एक बलिष्ठ जाति का पोषण करना आवश्यक हो जाता है जो सिर्फ देवी-देवताओं को दी जानेवाली बलि के नाम से ही घवड़ा न जाये। यही कारण है कि हिन्दू शास्त्रों में मांस भक्षण निषिद्ध नहीं है। चूंकि हिन्दू जाति भैंस का मांस भक्षण नहीं करती है इसीलिये भैंस की बलि चढ़ाने का विधान है। जिन व्यक्तियों को इस प्रकार के रक्त पात में आनन्द आता है उन्हें शत्रुओं को मारने में भी संकोच नहीं होगा। लेकिन इस प्रकार के मांस-भक्षण की भी सीमा है। क्षत्रिय जाति भी इस मांस को काली के प्रसाद के रूप में ही सेवन कर सकती है। क्षत्रिय भी कसाईखाने से मांस खरीद कर नहीं खा सकते। शास्त्रों में प्रसाद के अतिरिक्त मांस का भक्षण क्षत्रिय के लिये भी वर्जित है।

पशुहत्या विधिर्यत्र पुराणे निगमे तथा।
उक्तं रजस्तमोभ्यां वा केवलं तमसापि वा॥

—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण।

अर्थात् वेद एवं पुराण में जहाँ कहीं भी वलि का विधान है, यह सिर्फ योद्धाओं के लिए ही है, जिनकी राजस एवं तामस-मिश्रित प्रकृति है या जो सिर्फ तामस प्रकृति के व्यक्ति हैं।

यह सुनिश्चित है कि जिस किसी व्यक्ति को सभ्यता पर गर्व है वह कभी भी युद्ध-लिप्सु नहीं होगा। वह कभी भी लाखों व्यक्तियों के जीवन को नष्ट कर गर्वित न होगा। भारतवासी यह चाहते हैं कि संसार युद्ध के भय से मुक्त हो। युद्ध की प्रवृत्ति के पीछे एवं शराब सेवन की प्रवृत्ति के पीछे एक ही भावंना काम करती है। अतएव जब तक मांस-भक्षण पर प्रतिवन्ध नहीं लगाया जाता है और राज्य एवं सेना के प्रमुख अधिकारियों द्वारा मांस भक्षण नहीं त्याग दिया जाता है तव तक विश्व को न युद्ध की उत्तेजना से वचाया जा सकता है और न ही विश्व में रक्तपात रोका जा सकता है। मांस भक्षण के स्थान पर संतुलित भोजन या आदर्श भोजन का व्यापक उपयोग होना चाहिये। अतएव पृथ्वी पर अमन-चैन कायम करने के लिए मांस भक्षण का निषेध अति आवश्यक है।

हम जिस किसी भोजन का सेवन करते हैं उसीसे हमारे शरीर में जीवनी शक्ति का संचार होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार पदार्थसे मस्तिष्क का निर्माण होता है। इस प्रकार भोजन एवं मस्तिष्क का आपस में प्रवल सम्वन्ध है। यही कारण है कि भारत के सभी महान व्यक्तियों ने मांस-भक्षण का सदा विरोध किया है और पश्चिम के महापुरुषों ने भी मांस-भक्षण को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। यद्यपि पश्चिम की जलवायु मांस-भक्षण के उपयुक्त है। यह सही है कि मनुष्य रातोंरात शाकाहारी नहीं हो सकता, फिर भी मांस के प्रति अपने आकर्षण को रोक सकता है और क्रमशः आहार को संतुलित एवं आदर्श बनाया जा सकता है। इसमें कतई सन्देह नहीं है कि अगर मनुष्य जाति का भोजन संतुलित हो जाये तो यह निश्चित है कि मनुष्य शरावखोरी और युद्ध की विभीषिका से अपनी सम्पूर्ण जाति की रक्षा कर सकता है।

अकाल-मृत्यु पर विजय

प्रजनन-शक्ति प्राप्त करने के उपरान्त सभी प्रकार के जीवों का विकास रुक जाता है। आम तौर पर ऐसा देखा गया है कि जीवन की औसतन पूरी आयु—जन्म से प्रजनन शक्ति प्राप्त करने की आयु से ५ या ६ गुना है। उदाहरण के लिये—अगर गाय अपनी आयु के चौथे वर्ष में बच्चा देती है तो उसकी आयु आम तौर पर २० वर्ष की होगी। उसी प्रकार बिल्ली का प्रथम गर्भाधान १८-२४वें महीने की आयु में होता है, तो उसकी पूरी आयु ८-१० वर्ष से अधिक नहीं होती है। जो महिला १८ या १९ वर्ष की उम्र में मां बनती है उसे ९०-९५ वर्ष तक जीना चाहिए और एक युवक की औसत आयु १००-१२५ वर्ष तक की होनी चाहिए।

इसी आधार पर ऋषि-मुनियों ने मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष लिखी है। "शतायुर्वै मनुष्यः, जिजीविषेत् शतं समाः"—संसार के सभी भागों में कम या अधिक शतायु या इससे भी अधिक आयु के व्यक्ति विद्यमान हैं।

सौ वर्ष जीने के उपरान्त मनुष्य मर जाता है। लेकिन शारीरिक विकास रुकने के फलस्वरूप मनुष्य का बौद्धिक विकास नहीं रुक पाता है। शारीरिक विकास की अपेक्षा मनुष्य बौद्धिक विकास धीरे-धीरे होता है। अविकसित मस्तिष्क या सांसारिक विषयों में उलझे हुए मस्तिष्क का पूर्ण विकास होने में हमारी कल्पना से भी अधिक समय लगेगा। मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की गति इतनी मन्द है कि पूर्णविकास के लिये १००० हजार वर्ष लग सकते हैं। इसलिए १ या २ बार जन्म ग्रहण कर कोई भी पूर्ण रूप से अपने मस्तिष्क को विकसित नहीं कर पाते हैं इसीलिए पुनर्जन्म होते हैं। इसी कारणवश पुनर्जन्म के सिद्धान्त को वेद एवं उपनिषदों में स्वतः सिद्ध मान लिया गया है। अगर पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त किसी कारणवश लड़खड़ा जाय तो हिन्दू

शास्त्रों का प्रभुत्व और वेद-वेदान्तों का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय और पृथ्वी पर हिन्दू-धर्म के अस्तित्व की आवश्यकता ही न रहे।

पृथ्वी पर हमारी औसत आयु करीब १००० वर्षकी है। इस १००० वर्ष की लम्बी आयु को हम चाहें तो १० बार जन्म ग्रहण कर पूर्ण करें या २० बार जन्म ग्रहण कर पूरा करें या बड़े-बड़े योगियों की तरह दो जन्म में ही पूरा कर लें। योगी एक जन्म में ही ५०० वर्ष का जीवन प्राप्त कर लेते हैं। यों सभी को मृत्यु प्राप्त करना ही पड़ता है। मृत्यु से कोई बच नहीं सकता है। लेकिन यह निश्चय है कि हम आत्मसंयम से पुनर्जन्म की संख्या में कमी कर सकते हैं। अगर हम जन्म से अविकसित हैं या कुसंगति के प्रभाव से अकाल मृत्यु को प्राप्त करते हैं तो निश्चय ही इस संसार में हमें पुनर्जन्म लेकर आना है।

यह विश्वास व्यापक है कि मनुष्य का अकाल-मृत्यु पर नियन्त्रण नहीं है और अकाल-मृत्यु जीवन का प्राकृतिक एवं पूर्व निश्चित परिणाम है। रोगी माता-पिताओं की सन्तान बचपन में ही काल-कवलित हो जाती है। इन रोगी माता-पिताओं का आहार असंतुलित होता है। इस दोष से वचा जा सकता है। बाल-कल्याण की ओर विश्व के अन्य राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अगर समय पर माता-पिताओं के स्वास्थ्य का सुधार कर लिया जाय, उनके आहार सम्बन्धी अनियमितताओं को सुधार लिया जाय तो एक भी शिशु को मृत्यु हम से नहीं छीन सकती। हम सिर्फ एक प्रकार की अकाल-मृत्यु का निराकरण नहीं कर सकते हैं, वह है—दुर्घटनाजन्य मृत्यु। दुर्घटना-जनित मृत्यु हिन्दू शास्त्रों के अनुसार पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। वास्तव में हम मनुष्य हजारों प्राणियों की ज्ञात या अज्ञात रूप से हत्या करते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में कितने ही निर्दय एवं राक्षसी कृत्य करते हैं। इन्हीं कृत्यों के परिणाम को हमें अगले जन्म में भुगतना पड़ता है। क्योंकि सभी अच्छे या बुरे कर्मों की प्राकृतिक प्रतिक्रिया होती है।

योगियों ने इस तथ्य को खोज निकाला है कि जीवन को किस प्रकार हम अपनी इच्छा के अनुसार घटा या बढ़ा सकते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है फिर भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल रहे हैं।

यौगिक मत के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति १ मिनिट में १५ बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया दोहराता है। इस आधार पर हम १ घण्टे में ६०० एवं २४ घण्टे में २१६०० बार यह क्रिया करते हैं। साधारण अवस्था में हमारे श्वास ग्रहण क्रिया १० अंगुली—अर्थात् ५ इंच लम्बी है एवं श्वास छोड़ने की क्रिया १२ अंगुली-अर्थात ६ इंच लम्बी है। शारीरिक श्रम के समय परिश्रम के अनुपात से श्वास के वेग में परिवर्तन होता है। पूर्ण निद्रावस्था में श्वास छोड़ने की क्रिया ८० अंगुली लम्बी हो जाती है शारीरिक श्रम एवं निद्रा को दृष्टिगत रखते हुए वर्ष भर के लिये आवश्यक श्वास की संख्या निश्चित है जिसकी हम आसानी से गणित के आधार पर ठीक-ठीक गणना कर सकते हैं। इन आंकड़ों के आधार पर हमारी आयु १०० वर्ष निश्चित है। अपने आयु की १०० वर्ष की अवधि हम तभी पूर्ण कर सकते हैं जबकि हम काम और आराम का अनुपात ठीक रखें, काम और क्रोध पर नियन्त्रण रखे और भोजन को संतुलित रख सबल स्वास्थ्य को स्थायी बनाये रखें। लेकिन अगर हम इसके विपरीत आचरण करेंगे—अर्थात् क्षमता से अधिक परिश्रम करें, असंयमी जीवन निर्वाह करें, अत्यधिक काम-आचरण करें, अधिक नींद लें, संतुलित भोजन के नियमों का उल्लंघन करें तो हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो जायेगा एवं शरीर निश्चय ही दुर्बल हो जायगा। ऊपर लिखी सभी क्रियाओं का श्वास-क्रिया पर प्रभाव पड़ता है, अर्थात् श्वास अस्वाभाविक रूप से लम्बा हो जाता है जिसका हमारी आयु पर पूरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य किस प्रकार अपनी आयु का अपव्यय कर जानबूझ कर अकाल मृत्यु को वरण करता है। यह बताना अब निरर्थक है कि किस प्रकार विश्व के

खिलाड़ी अधिक श्रम करने के फलस्वरूप जीवन की निश्चित अवधि के पूर्व ही मृत्युको प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि वे श्वास-प्रश्वास का दुरुपयोग करते हैं।

श्वास के फलस्वरूप होनेवाली आयु की क्षति को समझाने का हम अब प्रयास कर रहे हैं। साधारण अवस्था में ३० मिनिट में हम ३०×१२×१५=५४०० अंगुली अर्थात् २२५ क्युबिक्स या ३३७½ फीट श्वास छोड़ते हैं। औसतन यह ७½ क्यूबिक या १७½ फीट प्रति मिनिट होता है। निद्रावस्था में उसी ३० मिनिट की अवधि में हम श्वास छोड़ते हैं—३०×१५×८० = ३६००० अंगुली अर्थात् १५०० क्युबिक्स या २२०० फीट। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अगर हम आलस्यवश आधा घण्टा अधिक सोते हैं तो [(३६००००-५४००) ÷ १५×१२)] अंगुली = जीवन के २ घण्टे ५० मिनिट प्रतिदिन नष्ट करते हैं। जो प्रातः तड़के नहीं उठते, वे दीर्घजीवी नहीं होते हैं ऐसा देखा गया है। इस प्रकार आवश्यकता से अधिक सोकर हम अपनी आयु घटाते हैं एवं रोगको निमन्त्रण देते हैं। मनुष्य अपने अस्वाभाविक आचरण के फलस्वरूप ही अकाल मृत्यु प्राप्त करता है। गम्भीर रोगोंकी अवस्था में श्वास छोड़ने की क्रिया ८० अंगुली से भी अधिक लम्बी हो जाती है। मृत्यु के समय यह क्रिया सर्वाधिक लम्बी होती है जो जीवन के बचे हुए श्वासों को शीघ्र ही समाप्त कर देती है।

जीवन का यह नियम दुर्घटना, आत्महत्या या युद्ध में होनेवाली मृत्यु के लिये लागू नहीं है। ये मृत्यु व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के दुष्कर्म का परिमाण है। इसे 'दुर्भाग्य' या विपत्ति कहा जा सकता है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि १०० वर्ष जीवित रहना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है।

रोग एवं असंयम के फलस्वरूप हमारा जीवन घटता है। यौगिक उपायों से श्वास-प्रश्वास को छोटा कर हम अपने जीवन को लम्बा बना सकते हैं। यही कारण है कि योगीगण श्वास-प्रश्वास को १०-१२

अंगुली से ६-१० अंगुली तक घटा लेते हैं। इस प्रकार योगी अभ्यास के अनुसार अपने जीवन को १००-२०० वर्ष तक अपने प्रयास से बढ़ा लेते हैं। यही कारण है कि भारत में २००-३०० वर्ष की आयु के योगी पाये जाते हैं।

चूंकि हमारी आयु श्वास के आधार पर निश्चित है, हम अपने जीवन में श्वास-प्रश्वास की क्रिया को घटा-बढ़ाकर, जीवन के वर्षों को कम या अधिक कर सकते हैं। यह ऊपर बताया जा चुका है कि असंयम रोग, अधिक परिश्रम या अधिक सोने से मनुष्य अल्पायु होता है। ये सभी अवगुण संतुलित भोजन या आदर्श भोजन का सेवन न करने के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। अधिक प्रोटीन-युक्त या दुष्पाच्य भोजन का सेवन करनेवाले अपने आप को रोग या काम-आचरण से नहीं बचा सकते। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संतुलित भोजन या आदर्श भोजन के सेवन से अकालमृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस तथ्य को योगीगण भी समर्थन करते हैं।

References—Tables of composition of Food-stuff (Bulletin no. 23) Published by the Government of India. Food and Nutrition in India—by an Indian Dietarian, Food—by Robert Mccarrison, Khadya Katha—by Dr. Anil Kumar Roy, M. B., Khadyer Nababidhan—by Sj. Kularanjan Mukhopadhyay, Shishupalan—by Parul Devi, M. A.

आदर्श भोजन

भोजन : भारतीय परम्परा के अनुसार भोजन को ३ भागों में विभक्त किया गया है। सात्विक, राजसिक एवं तामसिक—अर्थात्, उत्कृष्ट, मध्यम एवं अधम कोटि का भोजन। भारतीय दृष्टिकोण इस

विषय में काफी व्यापक है परन्तु पाश्चात्य मतानुसार यह क्षेत्र केवल शारीरिक ही नहीं है। इसका मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ता है—भारतीय दृष्टिकोण इसका समर्थन करता है।

सात्विक भोजन : सात्विक या उत्कृष्ट प्रकार के भोजन के सेवन से शरीर स्वस्थ, सवल, तथा रोग से सुरक्षित रहता है। इसके सेवन से शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक संतुलन कभी नहीं डगमगाता है। भोजन के सूक्ष्म भाग से शरीर एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से मस्तिष्क का निर्माण होता है, अतएव यह जरूरी है कि सभी सात्विक भोजन को भली प्रकार समझ लें। ताकि सात्विक और असात्विक भोजन के अन्तर को वे पहचान सकें। 'आयुः-सत्त्व-वलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः।' सात्विक भोजन का सेवन कर मनुष्य शतायु हो सकता है। इतना ही नहीं मृत्यु पर्यन्त उसकी स्वभाविक शक्ति बनी रहती है और रोग उसके शरीर पर कभी भी आक्रमण नहीं कर सकते। इस प्रकार सात्विक भोजन शरीर एवं मस्तिष्क की सुख-शान्ति को स्थायी वनाता है।

राजसिक भोजन : आधुनिक समय में प्रचलित खाद्य ही राजसिक खाद्य है, जिसमें मांसादिक पदर्थ एवं शाक-आदि पदार्थों का निश्चित अनुपात में समावेश है। दोनों ही प्रकार के खाद्य पदार्थों को इस प्रकार के मशालों से वनाया जाता है, ताकि यह जायकेदार वन जाय। इसके फलस्वरूप भोजन के सात्विक गुण एवं अन्य मूल्यवान गुण नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार का भोजन रोग एवं दुःख का कारण वन जाता है। हो सकता है कि राजसिक भोजन से युवकों को क्षति न हो लेकिन इस श्रेणी के भोजन के सेवन से मनुष्य का नैतिक उत्थान नहीं हो पाता। अतएव प्रथम श्रेणी के नैतिक स्तर के व्यक्तियों को इसका सेवन नहीं करना चाहिये।

जिन मनुष्यों ने वौद्धिक विकास को अपने जीवन का उद्देश्य वना लिया है उनके लिये ऋषि-मुनियों ने राजसिक भोजन का सेवन निषिद्ध कर दिया है। उनके मत के अनुसार यौवन प्राप्ति के पूर्व और यौवना-

वस्था के अन्त में राजसिक भोजन का सेवन न करें। इस सत्परामर्श के फलस्वरूप सिर्फ मानसिक और बौद्धिक विकास ही नहीं होता है, बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी अति आवश्यक है ; ताकि जीवन के ऊँचे आदर्शों को प्राप्त करने में सफलता मिल सके। इस परामर्श के कारणों पर भी हम प्रकाश डालेंगे।

तामसिक भोजन : असंतुलित, बासी, अस्वच्छ, सड़ा हुआ एवं सूखा भोजन आम तौर पर तामसिक भोजन कहलाता है। यह भोजन की अधमाधम श्रेणी है जो शरीर के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिये हानिकर है।

मांस, मछली और दाल

मांस-मछली के अवगुणों के सम्बन्ध में संतुलित भोजन के प्रकरण में पूर्व ही बताया जा चुका है। आम तौर पर वे सभी खाद्य पदार्थ स्वास्थ्यके लिये हानिकर हैं जो शरीर में पाचनके उपरान्त यूरिक एसिड अधिक मात्रा में उत्पन्न करते हैं। क्योंकि यूरिक एसिड के एकत्रित होने से शरीर में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। यूरिक एसिड के शरीर में एकत्रित होने पर काम और क्रोध जैसे शत्रु शरीर में प्रबल होकर उत्तेजना एवं युद्ध आदि प्रारम्भ कर डालते हैं। आधुनिक अन्वेषण के सिद्धान्त भी इसका समर्थन करते हैं कि मांस-मछली शरीर में अधिक यूरिक एसिड उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि भारतीय ऋषि-मुनियों ने कभी मांस आदि भोजन पदार्थों को मान्यता नहीं दी।

हमारी पाचन क्रिया की प्रणाली इस प्रकार है—प्रकृति विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियों के माध्यम से जो रस, अम्ल या पित्त आदि उत्पन्न करती है। भोजन का पाचन करने में उनका ही उपयोग किया जाता है, इसलिये अम्ल विष शरीर में एकत्रित नहीं हो पाता है। लेकिन मांसादिक खाद्य पदार्थ इतनी आसानी से नहीं पच पाते हैं। इन खाद्य

पदार्थों को पचाने के लिये हमारी पाचन-ग्रन्थियों एवं अन्य सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली को पाचक रसों की समुचित मात्रा उत्पन्न करने के लिये अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार उत्पन्न पाचक रस एवं खाद्य पदार्थ के संयोग से एमिनो एसिड बनती है। हमारे शरीर की प्रकृति अपनी क्षमता के अनुसार इस एमिनो एसिड से प्रोटीन प्राप्त करने का एवं उसे शरीर में फैलाने का प्रयास करती है। लेकिन इस प्रकार उत्पन्न एमिनो एसिड को सम्पूर्ण रूप से जज्ब करने में असफल हो जाती है और एमिनो एसिड यकृत में क्रमशः एकत्रित होकर यूरिक एसिड में परिणत हो जाती है। इस यूरिक एसिड को हमारे शरीर में स्थित वृक्क शरीर से मूत्र (urea) के रूप में बाहर निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार मांस अगर नियमित रूप से एवं अधिक मात्रा में खाया जाय तो शरीर की समस्त पाचन-ग्रन्थियों को अधिक कार्य करना पड़ता है। जिसके परिणामस्वरूप वृक्क आदि यन्त्र निर्बल हो जाते हैं और यूरिक एसिड का शरीर से निष्क्रमण नहीं हो पाता। शरीर में यूरिक एसिड की मात्रा में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप शरीर की ग्रन्थियाँ एवं स्नायु शिथिल हो जाती हैं और शरीर पर रोगों के आक्रमण का भय वन जाता है।

आधुनिक खाद्य गवेषण के अनुसार एक वयस्क व्यक्ति को शाक-सब्जी एवं मांस के प्रोटीन दोनों मिलाकर २ औंस प्रतिदिन सेवन करना चाहिये। एक औंस प्रोटीन के लिये ५ औंस मांस खाने की आवश्यकता होती है लेकिन मांसाहारी इस सीमा का अतिक्रमण ही करते हैं।

पकाई हुई दाल प्राचीन भारत के गवेषकों की आधुनिक आलू के समान ही महत्वपूर्ण देन है। दाल में मांस की अपेक्षा प्रोटीन थोड़ा अधिक होता है। एक स्वस्थ व्यक्ति दोनों समय के भोजन में ४ औंस दाल का सेवन कर सकते हैं। ताकि १ औंस प्रतिदिन प्रोटीन शरीर को प्राप्त होता रहे। दाल में कार्बोहाइड्रेट ६०%, चर्बी ५% और खनिज नमक २% है। अर्थात् दाल में उन सभी आवश्यक द्रव्यों का

समावेश है जिनकी शरीर को आवश्यकता है। मांस और मछली में कार्बोहाइड्रेट नहीं पाया जाता है। इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से मांस-मछली या इसी प्रकार के अन्य खाद्य पदार्थों की अपेक्षा दाल का मूल्य अधिक है। साथ ही दाल मांस-मछली की तरह हानिकारक भी नहीं है।

पाश्चात्य खाद्य शास्त्रियों का मत है कि दाल को पचाना दुष्कर है और इसमें स्थित प्रोटीन को सम्पूर्णतया पचाना कठिन है। यह प्रयोग पश्चिम जंगल के निवासियों पर किया गया है। लेकिन भारत का कोई भी साधारण रूप से स्वस्थ व्यक्ति भली भाँति पकाई हुई दाल को मांस एवं अन्य मांस सदृश्य खाद्य पदार्थों की अपेक्षा आसानी से पचा सकता है।

आसाम के चाय बागानों में स्थित कई यूरोपियन जब एलोपैथिक चिकित्सा से अपनी यकृत एवं चर्म की बीमारियों का समुचित इलाज नहीं करवा पाते हैं तब वे हमारी शरण लेते हैं। हम उन्हें शाक-सब्जी का रस एवं मूंग और हरे चने की भली प्रकार पकाई हुई दाल का ग्रीष्म ऋतु में महीनों सेवन कराते हैं। प्रारम्भ में कुछ असुविधा अवश्य हुई, लेकिन शीघ्र ही वे रोगी दाल खाने के प्रेमी हो गये। इस प्रकार मांसादिक द्रव्यों के छोड़ने से उनका स्वास्थ्य अच्छा हो गया।

हमारा यह परामर्श है कि पश्चिमी देशों के लोग अगर अपने भोजन में मांस के स्थान पर दालका उपयोग करने लगें तो वे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को भली प्रकार कायम रख सकते हैं। अगर पश्चिम में ऐसी प्रथा प्रचलित हो जाय तो पूर्व में आशानुरूप प्रतिक्रिया होगी।

पश्चिम देशों के निवासी सोच-समझ कर या परम्परानुसार संतुलित भोजन के सिद्धान्तों का पालन करते हैं। लेकिन भारत में मांसाहारी व्यक्ति संतुलित भोजनके सिद्धान्तों के प्रति जागरूक नहीं हैं।

यही कारण है कि वे रोगग्रस्त रहते हैं। मांसाहारी, उच्च घराने की विधवायें प्रतिज्ञापूर्वक मांसादिक का सेवन त्याग देती हैं। इसके फल-स्वरूप उनका स्वास्थ्य सुदृढ़ होता है। शाकाहारी मनुष्य को शल्यसाध्य बीमारी बहुत कम होती है। शाक-सब्जी से उत्पन्न प्रोटीन, मांस से उत्पन्न प्रोटीन से कम हानिप्रद है। इन तथ्यों को मांसप्रेमी व्यक्ति नजरन्दाज कर सकते हैं।

अंडे

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार अंडे सात्विक भोजन में सम्मिलित नहीं हैं। यह मध्यम कोटि का भोजन अर्थात् राजसिक भोजन है। इसमें गुण या अवगुण दोनों होते है।

मांसाहारी द्रव्य के गुण-अवगुणों के विषय में विचार करते समय हम यह बता चुके हैं कि मांसाहारी खाद्य पदार्थ एवं शाकाहारी खाद्य पदार्थ को पचाने में व्यय होनेवाली शक्ति में काफी अन्तर है। शाका-हार के बाद शरीर में अम्ल-विष एकत्रित नहीं हो पाता है। लेकिन मांस आदि सेवन के उपरान्त परिणाम उल्टा होता है। मांस-भक्षण के परिणामस्वरूप शरीर में अम्ल विष एकत्रित होने लगता है। यह अम्ल विष यूरिक एसिड है और वृक्क इसे आसानी से नहीं निकाल पाता है। इसको निकालने के लिये वृक्क को अधिक श्रम करना पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप कुछ रोग शरीर को घेर लेते हैं। भारतीय ऋषि मुनियों ने इसलिये मछली, मांस, अण्डे आदि को सात्विक भोजन में शामिल नहीं किया है।

आधुनिक विज्ञान के मतसे अण्डा स्वयं पूर्ण खाद्य पदार्थ है। उनके मतानुसार अण्डे में वे सभी गुण विद्यमान हैं जिनकी आवश्यकता शरीर के निर्माण एवं पोषण के लिये अत्यधिक है। अण्डे में ७२% जल, १३.५% प्रोटीन, १३.७% चर्बी तथा १% खनिज द्रव्य हैं। मुर्गी के

अण्डे में ७३.७% जल १३.३% प्रोटीन, १३.३% चर्वी है। अण्डों में कार्बोहाइड्रेट नहीं पाया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि अण्डे में सामान्य मात्रा में कार्बोहाइड्रेट भी है। लेकिन अण्डों में थोड़ा-सा कार्बोहाइड्रेट है इसमें हम सहमत नहीं हैं।

भारतीय मत के अनुसार, कोई भी ऐसा आदर्श खाद्य पदार्थ नहीं हो सकता जिसमें शरीर के निर्माण एवं पोषण के लिये आवश्यक गुण न हो या पाचन के उपरान्त जो शरीर में विष का भाग एकत्रित करता है। कार्बोहाइड्रेट शरीर के पोषण के लिए सर्वाधिक आवश्यक वस्तु है। यह अण्डे में नहीं पाया जाता है। मांस-मछली के समान ही अंडे के पाचन के उपरान्त यूरिक एसिड शरीर में एकत्रित होता है। हमारी दृष्टि में अंडा इसी कारणवश उत्कृष्ट अर्थात् सात्विक भोजन नहीं है।

एलोपैथिक डाक्टरों के मत के अनुसार अंडे जैसा उत्कृष्ट पदार्थ अन्य नहीं है। वे दो मास के शिशु को भी अण्डा खाने का परामर्श देते हैं। उन्हें अगर अण्डे के गुण-अवगुण का भली प्रकार ज्ञान होता तो शायद वे ऐसा न करते। **इतनी कम उर्म में ही अंडे आदि के सेवन से यकृत खराब होकर शरीर नानाविध रोगों का शिकार हो जाता है। इतनी ही नहीं शरीर का निर्माण एवं पोषण की गति भी धीमी हो जाती है। स्मरणशक्ति एवं प्रतिभा नष्ट हो जाती है। अर्थात् बच्चे शिक्षा के क्षेत्र में भी पिछड़ जाते हैं।**

ऐलोपैथ विद्वानों का मत है कि मछली, मांस और अंडे के सेवन न करने से नेत्रों की ज्योति घट जाती है। इसके फलस्वरूप शरीर क्षेत्र के निवासी इन वस्तुओं का काफी सेवन करते हैं। ६-७ वर्ष की उम्र से ही बच्चे चश्मा लगाने लगते हैं। स्कूल जानेवाले बच्चों में चश्मा लगानेवालों की संख्या आधे से भी अधिक है। गलत प्रकार का भोजन करना यकृत, प्लीहा एवं अन्य यंत्रों के लिये हानिकारक है। अंडे के सेवन से चूंकि शरीर में यूरिक ऐसिड की काफी मात्रा शरीरमें एकत्रित

हो जाती है अतएव अंडे का सेवन वयस्कों के लिये भी हानिकारक है। संतुलित भोजन के नियमों का उल्लंघन करने से ही यकृत-दोष, पायरिया, रक्त-चाप, हृदयरोग आदि वीमारियाँ हो जाती हैं। हृदयरोग के रोगी को डाक्टर अंडे एवं अन्य दुष्पाच्य भोजन करने की सलाह देते हैं। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी को, जो एक हृदयरोगी थे, काश्मीर में दिये गये भोजन पर हमें आश्चर्य हुआ। हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा है कि मरणासन्न अवस्था में भी उन्हें प्रतिदिन २ अंडे दिये जाते थे।

पूर्वी भारत के डाक्टरोंका साधारणतया स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। वे शीघ्र ही अकाल मृत्यु प्राप्त करते हैं। उनके घर भी अस्पताल से कम नहीं रहते, जहाँ उनके स्त्री-वच्चे बीमार रहते हैं। हमने कुछ डाक्टरों को अपनी खाने की आदतों में सुधार करने का परामर्श दिया। जिन डाक्टरों ने इस पर अमल किया उन्हें काफी लाभ हुआ है।

कोई भी ऐसा भोजन, जिसके सेवन से शरीर में यूरिक ऐसिड जम जाये, बच्चों, बूढ़ों एवं रोगियों के लिये उपयुक्त नहीं है। वाल्यावस्था की घटनाएँ मुझे स्मरण आती हैं, जब गाँवों में आधुनिक खाद्य पदार्थ सम्वन्धी सिद्धान्तों का प्रचार नहीं हुआ था। ६-७ वर्ष की उम्र के पूर्व बच्चों को मछली भी खाने के लिये नहीं दी जाती थी। दस वर्ष की उम्रके पूर्व वड़ी मछली, मांस और अण्डे खाना भी निषिद्ध था। कसाईखाने का मांस खाना पचास वर्ष की उम्र के बाद निषिद्ध था। इस प्रकार की परम्पराओं का हिन्दू-शास्त्रों में उल्लेख है। आज भी वड़े-बूढ़े इन परम्पराओं को मानते हैं। पूर्वी भारत में काम करनेवाले युवकों के लिये थोड़ा बादाम या जल में भिगोया हुआ चना, कुछ रसदार फल सर्वोत्तम नाश्ता माना जाता है। आधुनिक फैशनपरस्त व्यक्ति इसके स्थान पर पोच, कवाव, कटलेट या स्वादिष्ट मिठाइयों का सेवन करने लगे हैं।

संतुलित भोजन के नियमों के उल्लंघन के फलस्वरूप वच्चों, युवकों एवं वृद्ध व्यक्तियों के स्वास्थ्य में ह्रास हो रहा है। भारत के युवक

रोगी होकर भी किसी प्रकार निर्वाह कर लेते हैं लेकिन वृद्ध यह नहीं कर सकते। इनका बुढ़ापा बोझ बन जाता है। हृदय-रोग, गठिया आदि के असंख्य वृद्ध रोगी भारत में हैं।

अगर भारतीय खाद्य सिद्धान्तों का विधिवत् पालन किया जाय तो वृद्धावस्था में मृत्यु विना किसी दुःख के होने लग जाय जैसे कि किसी वृक्ष से पका हुआ फल गिरता है।

दुग्धचूर्ण के हानिप्रद प्रभाव

दुग्धचूर्ण का एक लोकप्रिय व्यापार है। भारत के पूर्वी एवं दक्षिणी भागों में देशी-विदेशी कई प्रकार के दुग्ध चूर्ण उपलब्ध होते हैं। क्योंकि इन भागों में दूध का अभाव बना रहता है।

घी, मक्खन, छेना या घनीभूत दूध आदि की तरह ही दुग्ध चूर्ण एक अत्यधिक पोषण पदार्थ है। दूध में प्रोटीन, चर्बी, मक्खन और छेना आदि सुरक्षित रूपसे पाये जाते हैं। फिर भी दूध के स्थान पर इन पदार्थों का उपयोग असम्भव है। इसी प्रकार दुग्धचूर्ण भी दूध के समान उपयोगी नहीं है, क्योंकि दूध को सुखाते समय इसके महत्वपूर्ण गुण नष्ट हो जाते हैं। यह दूध से बना एक खाद्य पदार्थ है। दूध बच्चे आसानी से पचा सकते हैं। साथ ही दूध में ही स्थित अन्य सभी पौष्टिक पदार्थ भी पच जाते हैं। इसके फलस्वरूप शरीर को पोषण मिलता है। लेकिन बच्चों को अगर हम नियमित रूपसे घी, मक्खन या मिठाई भोजन में देंगे तो उनका यकृत रुग्ण हो जायगा एवं स्वास्थ्य भी खराब हो जायगा। उन्हें इस प्रकार शीघ्र ही मर जाना होगा। इन्हीं सब कारणवश बच्चों को दुग्धचूर्ण की हानिकर खुराक का आदी नहीं बनाना चाहिए।

दुग्धचूर्ण के व्यापार में कई नाम काफी प्रसिद्ध हैं—जैसे—काउ एण्ड गोट, ग्लेक्सो, ओस्टर मिल्क, नेस्प्रे, लेक्टोजन, नेस्टो माल्ट आदि।

आज के युग में व्यापारी वर्ग के लिये रुपया ही महान है। राष्ट्र की भलाई रुपये के लिये न्योछावर करते वे आगा-पीछा नहीं देखते हैं।

शिशु खाद्य के लिये वे आकर्षक ढंग से विज्ञापन करते हैं जिसका साधारण ज्ञानवाले व्यक्ति पर काफी प्रभाव पड़ता है। आमतौर पर भारतीय डाक्टरगण भी हम सबसे अधिक ज्ञान नहीं रखते हैं। क्योंकि शिशु खाद्य के लिये उन्हें भी परामर्श देते देखा गया है। हमारी समझ में शिशु खाद्य उत्पादक इसके गुण-अवगुणों को भली प्रकार जानते हैं, क्योंकि सेवन विधि में वे फलों का रस खाने का परामर्श देते हैं। साधारण दूध कब्ज निवारक है, लेकिन दूध को उबालकर अगर घनीभूत कर दिया जाय तो दूध कब्ज का कारण हो जाता है। इसीलिये शिशु खाद्य उत्पादक बच्चों को फलों के रस सेवन करने का परामर्श देते हैं क्योंकि फलों का रस निर्दोष और विरेचक है।

दुग्ध को घनीभूत करने या इससे अन्य स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बना लेने से, दूधके प्राकृतिक गुण नहीं रह जाते और न तो साधारण प्राकृतिक क्रियाओं से पचता ही है। इन सब व्यजनों के लिये पाचक रस की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता होती है। शिशु खाद्य के भोजन से बच्चों की पाचन-ग्रन्थियाँ यकृत आदि रोगी होकर अशक्त हो जाती हैं। यही कारण है कि शिशु खाद्य के सेवन के फलस्वरूप बच्चों को अपच की शिकायत, खाज-खुजली आदि होने लगती है। इस प्रकार से नष्ट हुआ यकृत साधारण दूध में पानी मिला देने पर भी, उसे भली प्रकार पचा नहीं पाता है। उनके चेहरे की हँसी-खुशी समाप्त हो जाती है और उनका चेहरा कान्तिहीन हो जाता है। बचपन से ही उनका शरीर रोगों का स्थायी घर हो जाता है जो युवावस्था में भी नहीं सुधर पाता। आधुनिक खाद्य विज्ञान के आंकड़ों के आधार पर हम माता के दूध एवं दुग्धचूर्ण की तुलना करते हैं :—

	जलांश	प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	चर्वी	खनिज द्रव्य
माँ का दूध	८२.०	१.०	७.०	३.६	०.१
दुग्ध चूर्ण	४.१	३८.०	५१.०	०.१	६.८

उपर्युक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रोटीन एवं कार्बोहाइड्रेटकी इतनी अधिक मात्रा मौजूद रहने के परिणामस्वरूप भी शिशु खाद्य मां के दूध की समता नहीं कर सकता है। **दुग्धचूर्ण में जल मिला देने के फलस्वरूप भी माँ के दूध की बराबरी यह कभी नहीं कर सकता है ;**

हमारा यह अनुभूत परामर्श है कि शिशुखाद्य बच्चों को दूध के स्थान पर खाने के लिये न दिया जाय। डाक्टरों के परामर्शानुसार शिशुओं को शिशु खाद्य देने का फल है—उनका गिरा हुआ स्वास्थ्य। **अतएव इसके सम्बन्ध में हमारी राय काफी अनुभव एवं प्रयोगों के परिणाम के आधार पर बनी है। साधारण सूचनाओं के आधार पर हमने अपने विचारों का निर्माण नहीं किया है।**

दुग्धचूर्ण के माध्यम से छेना एवं मक्खन भली प्रकार बनाया जा सकता है। इस प्रकार मक्खन घी आदि की पूर्ति की जा सकती है। **लेकिन दुग्धचूर्ण का शिशु खाद्य के रूप में उपयोग कानूनन निषिद्ध कर देना चाहिये।** चाहे यह कितने ही व्यापक रूप से हमारे जीवन में प्रचलित क्यों न हो चुका हो और इसके व्यापक प्रचलन का कोई भी कारण क्यों न हो। सरकार से हमारा आग्रह है कि वह इस दिशा में ठोस कदम उठावे।

हमारी केन्द्रीय एवं राज्यों की सरकार के सहयोग से रेडक्रास सोसाइटी ने गरीब परिवारों में दुग्ध चूर्ण का वितरण किया है। चूँकि यह स्वास्थ्य के सिद्धान्तों के विपरीत है, अतः हम सबको इसका विरोध करना चाहिये। बहुत से दूध बेचनेवाले भी पानी में दुग्धचूर्ण का मिश्रण तैयार कर शुद्ध दूध के स्थान पर बिक्री करते हैं। इस प्रकार इस गरीब देश के बच्चे शिशु खाद्य, मुफ्त में दुग्धचूर्ण देनेवालों एवं इन मिलावटी दूधवालों—तीन तरफ से घिर चुके हैं और वे मृत्यु के मुख में ढकेले जा रहे हैं। इसलिये हम सभी राज्य के स्वास्थ्य-मन्त्रियोंका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं।

भारत के पूर्वी हिस्सों में दूध काफी कम मात्रा में उपलब्ध है। गाय वनस्पति पदार्थ खाकर हमें दूध देती है। अतएव हम वनस्पति पदार्थों का अधिक सेवन करने लगें तो दूध की कमी की पूर्ति कर सकते हैं। दूध के स्थान पर नारियल का उपयोग आसानी से किया जा सकता है। हमारी माताएँ वनस्पति के स्थान पर मांस का भक्षण अधिक करने लगी हैं। यही कारण है कि उनके स्तनों में दूध की मात्रा क्रमशः कम होती जा रही है। प्राकृतिक रूप से शिशु को अगर उसकी मां का दूध प्राप्त होता रहे तो उसे दूध या अन्य पदार्थों की कतई आवश्यकता नहीं है। मां का दूध बच्चों के लिये अमृत तुल्य है। माताओं को इसका ख्याल रखना आवश्यक है। **हमारा यह दावा है कि माताएँ अगर संतुलित आहार का ऊपर लिखे अनुसार सेवन करें तो बच्चों के लिये कभी भी दूध की कमी न हो।**

जिन प्रान्तों में दूध देनेवाली गायों की कमी है वहाँ गाय रखना व्यवसाघ्य हो जाता है। इसका मुख्य कारण है चारागाहों का अभाव। पश्चिम बंगाल की सरकार ने हरिणघाटा में पशुपालन केन्द्र स्थापित कर इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित किया है। कलकत्ते में इस केन्द्र के माध्यम से दूध वितरण की एक व्यापक योजना कार्य कर रही है। जिन प्रदेशों में गाय या दूध की कमी है वे इसका अनुसरण कर दूध की मात्रा बढ़ा सकते हैं। अगर प्रत्येक थाने या सवडीवीजन के अन्तर्गत इस प्रकार की गोशालाएँ स्थापित हो जायें तो दूध की कमी सर्वदा के लिये मिट जाय।

हरिनघाटा का दूध पीने का अवसर हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ। हमें इस प्रकार की सूचना मिली है कि वहाँ शुद्ध दूध में दुग्धचूर्ण मिश्रित किया जाता है। अगर यह शिकायत सत्य है तो हम पश्चिम बंगाल के स्वास्थ्यमन्त्री एवं मुख्य मन्त्री से निवेदन करते हैं कि इस हानिकारक मिलावट करने की नीति का वे अविलम्ब त्याग कर दें।

हमारे देश के निवासियों का यह अभ्यास है कि वे कोई भी सस्ती चीज का गरीवी के कारण या नासमझी के कारण—भक्षण कर लेते हैं, बुद्धिजीवियों के लिये यह एक समस्या बन गयी है। क्योंकि हमारे देश के नैतिक स्तर के ह्रास, विचार-क्षमता में गिरावट एवं व्यापक रूप से पायी जानेवाली सुस्ती का यही कारण है।

संक्षिप्त भारतीय भोजन-विज्ञान

शिशुओं का भोजन : मां के दूध के अभाव में नारियल से तैयार किया हुआ दूध बच्चों को सिमित मात्रा में दें। दूध के समान ही यह हल्का गर्म कर मिश्री मिलाकर दें। भारत के उन प्रदेशों में जहाँ दूध प्रचुर मात्रा में नहीं पाया जाता है वहाँ नारियल काफी संख्या में पाये जाते हैं जो मां के दूध के स्थान पर व्यवहार किये जा सकते हैं।

अगर नारियल का भी अभाव हो तो गाय का या बकरी के दूध में समुचिम मात्रा में जल मिलाकर बच्चों को सेवन कराने योग्य बनाया जा सकता है। बच्चों को नियमित रूपसे संतरे का रस या पानी में नीबू का रस और मिश्री मिलाकर सेवन करने के लिये दें।

निषेध : दूध के स्थान पर दुग्धचूर्ण का व्यवहार कभी भी न करें। यह बच्चों के लिये अति हानिकर है।

लड़के-लड़कियों का भोजन : दूध, हाथ की बनी रोटियाँ एवं नाना प्रकार के फल ६ वर्ष से कम उम्र के बच्चे को खाने के लिये देना उपयुक्त है। नारियल, मूंगफली, पानीमें भिगोये हुए हरे चने आदि बड़ी उम्र के लड़के-लड़कियों को नाश्ते में दें।

निषेध : जब तक बच्चों की उम्र १० साल से अधिक न हो जाये उन्हें मांसादिक पदार्थ खाने के लिये न दें। घनीभूत खाद्य पदार्थ जैसे

मछली, मांस, अंडे, घी, मक्खन, पका हुआ दूध, छेना मिठाई आदि खाने से बच्चों का यकृत नष्ट हो जाता है। यही रोग का कारण बनकर शरीर के विकास में बाधक बन जाता है। बचपन में जब दूध के दाँत सभी गिरकर उसके स्थान पर नये दाँत पूर्ण रूप से निकल आवें, बच्चों को मांसाहारी द्रव्य खाने के लिये तभी दें। यह आदर्श भारतीय सिद्धान्त है। इस प्रकार के गरिष्ठ भोजनों से शरीर में यूरिक एसिड उत्पन्न होती है जो बच्चों के लिये अत्यधिक हानिकर है। इस प्रकार के गरिष्ठ भोजन से उनका यकृत नष्ट होकर शरीर का विकास रुक जाता है।

मांसाहारी खाद्य पदार्थ या गरिष्ठ खाद्य पदार्थों के पाचन के लिए थाइरायड ग्रन्थि से उत्पन्न रस भी आवश्यक है। इसका उत्पादन बाल्यावस्था में काफी मात्रा में नहीं होता है। अतएव इस प्रकार के भोजन से थाइरायड ग्रन्थि को भी अधिक श्रम करना पड़ता है जो कालान्तर में निर्बल हो जाती है। इसके फलस्वरूप शरीर अशक्त, रोगी और अविकसित हो जाता है। इस प्रकार बच्चों का बौद्धिक विकास भी रुक जाता है! इसलिये नये दाँत न आने तक ऋषि-मुनियों ने इस प्रकारके खाद्य पदार्थों का सेवन निषिद्ध कर रखा है। इन सब सिद्धान्तों के भली प्रकार पालन न करने के कारण ही बच्चों का नियमित विकास नहीं हो पाता है।

एशिया एवं अफ्रीका जैसे उष्णप्रधान देशोंमें बच्चों के लिये सुरक्षित रखे खाद्य पदार्थ उपयोगी नहीं हैं। माता-पिताओं को इसका ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे बिस्कुट, लाजेन्स आदि वस्तुओं का मनमानी उपयोग न कर सकें। बच्चों एवं युवकों के लिये हारलिक्स आदि द्रव्य भी उपयोगी नहीं हैं। इन वस्तुओं के उपयोग से अपचन की शिकायत और कोष्ठबद्धता हो जाती है। इस प्रकार यकृत की क्रिया में बाधा उपस्थित हो जाती है।

भुजिया और अरवा चावल

भुने हुए चावल में तीनों किस्मे लड़के-लड़कियों के लिये उपयोगी नहीं हैं। इसके साथ नारियल या पका हुआ केला अवश्य मिलाना चाहिये। इसकी भी अधिक मात्रा भोजन में देने के फलस्वरूप यकृत कमजोर हो जाता है एवं लड़के-लड़कियों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

युवकों का भोजन : संतुलित भोजन के प्रकरण में लिखे अनुसार ही मांसाहारी या शाकाहारी स्त्री-पुरुषों को अम्लीय या क्षारीय भोजन का सेवन करना चाहिये। इस उम्र में सिमित मात्रा में घी, मक्खन, छेना, मिठाई आदि द्रव्यों का भी सेवन किया जा सकता है।

निषेध : युवावस्था में भी रोगी को भोजन के नियमों का रोग के अनुसार ही पालन करना चाहिये।

माताओं का भोजन : गर्भिणी युवतियों को संतुलित भोजन या आदर्श भोजन के प्रकरण में लिखे नियमों का पालन करना चाहिये। हरी शाक-सब्जी, दूध, रसदार फल गर्भिणी के लिये अमृत हैं। अगर भोजन के इन नियमों का समुचित रूप से पालन किया जाय जो गर्भावस्था के रोग, प्रसव के समय होनेवाली वेदना में काफी कमी हो जाये। उनके स्तनों में शिशु के लिये पर्याप्त मात्रा में दाँत न निकलने तक दूध उपलब्ध होता रहे।

निषेध : अगर गर्भिणी स्त्री अधिक मात्रा में मांसादिक एवं गरिष्ठ भोजन का सेवन करेगी तो सम्भव है उन्हे प्रसव-बेदना अधिक हो और स्तनों में दूध समुचित मात्रा में एकत्र न हो सके। प्रसव के समय उत्पन्न मृत शिशु—गर्भिणी स्त्रियों के भोजन सम्बन्धी असावधानी का ही परिणाम है।

विवाहित स्त्री-पुरुषों को यह विषेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि संतुलित भोजन के नियमों का उल्लंघन करने के फलस्वरूप उन्हें

लड़कियों की संख्या अधिक होगी। मादा शिशु की अपेक्षा नर-शिशु के निर्माण में अधिक केल्सियम की आवश्यकता होती है। अधिक मांसादिक द्रव्यों के सेवन से शरीर में केल्सियम की कमी हो जाती है और यही कारण है कि मांसभक्षी परिवारों में लड़की अधिक उत्पन्न होती है।

वृद्धों का भोजन : वृद्धावस्था का भोजन आदर्श भीजन ही होना चाहिये। पचास वर्ष (शीतप्रधान देशों में) की उम्र के वाद मांस-मछली, अंडे आदि का पूर्ण रूपेण त्याग कर देना चाहिये। इस उम्र में मिठाई, घी, मक्खन आदि गरिष्ठ भोजन का भी त्याग कर देना चाहिये। अगर इन वस्तुओं को पूर्णतया नहीं त्याग सकें तो इनका सेवन कम से कम मात्रा में सप्ताह में एक बार करें। भोजन के इन सब नियमों के भली-भाँति पालन करने के फलस्वरूप मनुष्य वृद्धावस्था में भी स्वस्थ रहकर अकाल मृत्यु को जीत सकता है और मृत्यु के समय अधिक कष्ट नहीं भोगना होगा। मृत्यु विना किसी भयानक बीमारी के प्राकृतिक रूप से होगी।

भोजन और नैतिक दृष्टिकोण

जिस प्रकार राज्य के प्रशासन के लिये विविध कानून एवं नियमों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस संसार के पालनकर्त्ता के बनाये हुए नियम कानून हैं, जिनका उल्लंघन करनेसे दण्ड का भी विधान है। इन दैविक नियमों की परम्परा को हम धर्म कहते हैं। **धर्मो रक्षित धार्मिकम्**—के अनुसार जो व्यक्ति इन नियमों का भली भाँति पालन करते हैं उनकी रक्षा प्रकृति करती है। प्रकृतिके नियम ही धर्म है। संसार के पालन के लिये प्रकृति को इन नियमों की आवश्यकता होती है।

पृथ्वी पर इस प्रकार की अनेक जातियों का आगमन हुआ जिन्होंने शक्ति एवं कामाशक्ति के वशीभूत होकर निरीह मनुष्यों को लूटा

खसोटा एवं उन पर विजय प्राप्त की। लेकिन उनका आज नामोनिशान भी नहीं है। इतिहास में ही उनकी काली-करतूतों का जिक्र है। अन्य सभी जातियों में सिर्फ हिन्दू ही वैदिक सभ्यता का झंडा अभी भी ऊँचा किये हुए है। कई प्रकार के आक्रमणों के वावजूद आज भी भारत की आत्मा मरी नहीं है। ज्योंही भारत ने धर्म की शरण ली उसे पुनः अपना वैभव प्राप्त हुआ। धर्म ने सदा ही भारत की आत्मा की रक्षा की है।

एक हजार वर्ष के दासत्व काल में भी भारत ने अपनी परम्पराओं से मुख नहीं मोड़ा। भारत के धर्म का मूल मन्त्र है "शांति एवं विश्वबन्धुत्व"। भगवान बुद्ध, महाराज अशोक, महात्मा गांधी जैसी इतिहास प्रसिद्ध विभूतियाँ इसी मन्त्र को जपती थीं। राक्षसी सभ्यताके हाथों आज भी हजारों निरीह प्राणियों को सताया जाता है। इस प्रकार की दुविधापूर्ण स्थिति में आज भी भारत तटस्थ रहकर अपनी पूर्व परम्पराओं का ही पालन कर रहा है। भारत अगर धर्म या दैविक नियमों से कभी विचलित न हो तो अकेला धर्म उसकी रक्षा करने में सक्षम है।

आज भी मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य से भली प्रकार परिचित नहीं है। अपनी आत्मा के वैभव का उसे आज भी ज्ञान नहीं है और यही कारण है कि वह अपने सगे-सम्बन्धियों या छोटे-छोटे अन्य जीवों की हत्या करने में नहीं हिचकिचाता है। इस प्रकार की जीव-हत्या से हमारे हृदय को चोट पहुँचती है। इस बात का प्रमाण यही है कि इस प्रकार के नीच कृत्य के लिये धर्म की आज्ञा नहीं है। इस नैतिक दुःख से बचने के लिये मनुष्य ने कसाईखानों का निर्माण किया है जहाँ मनुष्यके संरक्षण में रहनेवालों लाखों निरीह जानवरों की हत्या की जाती है। ये वेजबान जानवर अपना विरोध नहीं प्रकट कर सकते, लेकिन प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक अच्छी या बुरी क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। इस नियम से ये बच नहीं सकते हैं। इस प्रकार की

असभ्यता का इन्हें प्रतिरोध मिलता है और यही कारण है कि वे आपसी झगड़ों में एक-दूसरे की हत्या कर डालते हैं। लड़ाई-झगड़ों में मनुष्य व्यापक रूप से व्यस्त है। अपने बनाये अस्त्रों से ये आपस में ही कटते-मरते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य पर दुःखदायी एवं प्राणघातक बहुत-सी बीमारियों का आक्रमण होता रहता है जिसके फलस्वरूप उनके सगे-सम्बन्धी अकाल मृत्यु के शिकार होते रहते हैं। जीवहत्या का प्रतिशोध प्रकृति इसी प्रकार लेती है।

अगर हम इस दृष्टिकोण से भारत की स्थिति पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि रोग एवं अकाल मृत्यु का प्रभाव उन राज्यों में अधिक है जहाँ मांसादिक भोजन का प्रचलन अधिक है। बाढ़, भूकम्प, अकाल, शासन की गड़बड़ी, राजनीतिक अव्यवस्था आदि के शिकार भी ये प्रदेश अधिक होते रहते हैं।

हमारे इस कथन पर औसत ज्ञान रखनेवाले मनुष्य को हँसी आयेगी लेकिन जिसने सत्य को पहचाना है उसे तब तक चैन कहाँ—जब तक कि वह जानवरों पर होनेवाली निर्दयता के प्रति मनुष्य को जाग्रत नहीं कर दे, जिसके फलस्वरूप मनुष्य आज स्वस्थ और दीर्घजीवी नहीं हो सकता है। अतएव यदि हमें संसार से युद्ध को बिदा करना है तो जीव-हत्या के कलंक से अपने आप को बचाना होगा। विज्ञान के युग में यह बात बेतुकी जँचती है कि स्वस्थ रहने या स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये इन निरीह जानवरों की हत्या आवश्यक है। शाकाहारी खाद्य पदार्थों में उन सभी पोषक तत्त्वों का समावेश है जिनकी हमारे शरीर को आवश्यकता है।

"जीवन पर ही जीवन आश्रित है"—इस सिद्धान्त के अनुसार शाकाहारी भोजन के लिये भी हमें थोड़ी-सी जीवहत्या करनी पड़ती है। लेकिन पके फल तोड़ने में पेड़ को क्षति नहीं होती है। धान, चावल, बार्ली या दाल की खेती की कटाई हम तब करते हैं जब कि उनके पौधे मरने लगते हैं। यह सत्य है कि हरी शाक-सब्जी प्राप्त करने में हमें

थोड़ी हिंसा करनी पड़ती है। लेकिन जीव-धारण के लिये इतनी हिंसा करना आवश्यक हो जाता है। पौधे का मस्तिष्क चूँकि भली प्रकार विकसित नहीं है इसलिये उन्हें कष्ट कम होता है। पेड़-पौधे भी अकाल मृत्यु नहीं चाहते हैं। इसीलिये पेड़ की कई शाखा-प्रशाखायें निकलती रहती हैं जब कि मरने के बाद जीव, पुनर्जीवित नहीं हो सकता है। अतएव फल आदि प्राप्त करने के लिये जो सामान्य जीव-हिंसा हमें करनी पड़ती है वह अहिंसा के समान ही है।

प्रकृति एक विशिष्ट उद्देश्य की ओर अग्रसर होती रहती है। मनुष्य नामधारी कुछ स्वार्थी, खतरनाक जीवों को उत्पन्न कर वह संतुष्ट नहीं है। जिस प्रकार एक माता सुन्दर एवं बुद्धिमान बच्चे की माता बनने की इच्छा करती है, एक कलाकार एक खराब चित्रका दोष सुधारने के लिये सचेष्ट रहता है उसी प्रकार प्रकृति भी महान् पुरुष उत्पन्न करने के लिये सचेष्ट रहती है। मनुष्य जिसमें भला-बुरा पहचानने की शक्ति है अगर उदण्डता को वशीभूत न कर अपने से छोटे-प्राणियों को अपने क्रोध का शिकार बनाता है तो प्रकृति भी इसका प्रतिशोध लेती है। वह भी इस प्रकार की राक्षसी प्रवृत्तिवाले मनुष्य को अपने संरक्षण से हटा देती है। मनुष्य द्वारा आविष्कृत अस्त्र-शस्त्र जैसे एटम बम, हाइड्रोजन बम एवं अन्य विनाशक प्रक्षेपणास्त्र विनाश के पूर्व चिह्न हैं।

आदिमकाल के बन्दर की तरह मनुष्य भी फल एवं लता आदि का भक्षण कर जीवन निर्वाह करता था। जब शाक पदार्थों से उसकी उदर पूर्ति नहीं हो पाती थी तभी वह जीव-हत्या कर अपना पोषण करता था। खेती की शुरुआत के साथ ही मनुष्य को एक विशिष्ट सभ्यता के विकास का सुअवसर मिला। लेकिन बढ़ती हुई आबादी ने खाद्य की कमी उपस्थित कर दी और अब यह एक समस्या बन गई है। खाद्य समस्या को राजनीतक आन्दोलनों का मुख्य विषय बना ये राजनीतिक दल निरीह जनता को एक दूसरे के विरुद्ध उत्तेजित कर देते हैं। जब

तक खाद्य समस्या का कोई व्यावहारिक हल नहीं निकल जाता तब तक मनुष्यता राजनीतिक दासता का सदैव ही शिकार रहेगी।

कुछ स्वार्थी एवं झगड़ा-पसन्द मनुष्यों की उत्पत्ति ही प्रकृति का उद्देश्य नहीं है। जब प्रकृति दैविक प्रेम, असीम ज्ञान आदि गुणोंसे भरपूर किसी व्यक्ति को जन्म नहीं देती तब तक उसका अभिष्ट सिद्ध नहीं होता। वनस्पति-जगत अपना पोषण जमीन, जल एवं वायु आदि से प्राप्त करता है। अतएव इसे किसी प्रकार की अशान्ति नहीं उत्पन्न करनी पड़ती है। इसे किसी अन्य जीव-जन्तु को सताना या उसकी हत्या नहीं करनी पड़ती है। मनुष्य को प्रकृति से भोजन प्राप्त करने के लिये उपायों का वैज्ञानिक अन्वेषण करना है। इस अभिष्ट की सिद्धि के साथ ही मनुष्य की सभ्यता का नया इतिहास प्रारम्भ होगा।

कुछ सौ वर्ष पहले, हवा में उड़ना स्वप्न की बात थी। प्रकृति द्वारा हवा एवं प्रकाश के माध्यम से भोजन प्राप्त करना भी उसी प्रकार स्वप्नवत् मालूम होता है। लेकिन आवश्यकता के वशीभूत हो वैज्ञानिक अन्वेषण की दिशा में मोड़ आयेगा और यह स्वप्न साकार होगा। जब मनुष्य खाद्य की चिन्ता से मुक्त हो जायेगा तभी आज के सामाजिक ढाँचे में परिवर्त्तन कर नये ढाँचे का निर्माण कर मनुष्य में दैविक भावनाओं का अभ्युदय होगा। इस नये युग में कल्याण को चरितार्थ करने के लिये हमें जातीय-स्तर पर कार्य करना होगा—कठोर परिणाम एवं शुद्ध हृदय के साथ। हमें अपने हृदय एवं मस्तिष्क से सोचकर अपने से निम्न स्तर के प्राणियों के प्रति विद्यमान हिंसा की भावना को समाप्त कर देना होगा। **अतएव जब मनुष्य के हृदय से सभी के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम का रक्त प्रवाहित होगा तभी उसकी खाद्य समस्या का हल प्राप्त हो सकेगा।** इसके बाद ही आपस में हिंसा की भावना की समाप्ति हो सकेगी।

जिस प्रकार विद्या अध्ययन के लिये वर्णमाला का ज्ञान होना

आवश्यक है उसी प्रकार शुद्ध एवं अकाल मृत्यु के भय से मुक्ति प्राप्त करने के लिये अहिंसा भी आवश्यक है ।

अहिंसा के प्रति हमारा प्रेम सिर्फ प्राणिजगत तक ही सीमित न रहे । हमें पेड़ पौधों के प्रति भी अपने मन में प्रेम उत्पन्न करना होगा । पेड़-पौधों के कारण ही ऋतुओं पर संतुलन रखा जा सकता है । पेड़-पौधों के माध्यम से कार्बन आक्सीजन के रूप में परिवर्तित होता है जो हमारी प्राण-वायु है । आक्सीजन युक्त हवा ही हमारा प्रमुख खाद्य है जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते । इसके अलावा पेड़ के माध्यम से वर्षा होती है जो जमीन को उपजाऊ बनाती है ताकि हमें फल एवं छाया प्राप्त हो सके । मनुष्य प्रतिदिन जितने पेड़ नष्ट करता है उससे आधे भी वह आरोपण करने लगे तो दुनिया में इतने तूफान, बाढ़, अकाल तथा मरुस्थल न हों । अतएव हमारे जीवन के लिये हमें पेड़ों की रक्षा करनी चाहिये । व्यापक स्तर पर जंगलों को नष्ट करने के फलस्वरूप ही भारत की जलवायु दिन-प्रति-दिन गर्म होती जा रही है । अतएव जीवहत्या ही नहीं हमें वृक्षहत्या के परिणामों के प्रति भी जागरूक रहना होगा ।

जिन मूल-द्रव्यों से विभिन्न जानवरों के शरीर की रचना हुई है उसीसे मनुष्य के शरीर की भी रचना हुई है, मनुष्य एवं जानवर दोनों में मस्तिष्क भी है जिसके द्वारा जानवर आश्चर्यजनक करिश्मे करते हैं । जिस प्रकार मनुष्य में ज्ञान-शक्ति है जिसके माध्यम से हम आश्चर्यजनक कार्य कर डालते हैं उसी प्रकार जानवरों में भी ज्ञानशक्ति विद्यामान है । कहने का तात्पर्य यह है कि जगत में सभी प्राणी एक हैं एवं इनका सम्बन्ध आपस में अटूट है । दुनिया में सभी अपने हैं । हमसे कोई दूर नहीं है । अतएव किसी भी प्राणी के प्रति की गई हिंसा, मेरे साथ की गई हिंसा के समान है और अपने से की गई हिंसा उस भगवान के साथ की गई हिंसा के समान है जो सभी प्राणियों को अपनी छत्र-छाया में रख रहा है । **अतएव हमें प्राणिमात्र से प्रेम**

करना चाहिये। सच्चा साम्यवाद यही है। सब को अपना ही अंग समझें यही भारतीय अध्यात्म की शिक्षा है। मनुष्य की अन्तरात्मा जब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से सतर्क न हो जाये तब तक मानव-मस्तिष्क पूर्णरूप से अहिंसक नहीं हो सकता है। इस नये युग का प्रारम्भ तभी होगा जब संसार की अधिक से अधिक आबादी अहिंसा-वादी अर्थात् Monism के सिद्धान्तों का पालन करेगी। तभी हम इस भयंकर खाद्य समस्या का भी कोई न कोई हल खोज निकालेंगे। अतः मानव का प्रमुख उद्देश्य यही होना चाहिये कि किस प्रकार वह इस नये युग को चरितार्थ करे, जिससे खाद्य समस्या से सम्बन्धित विवादों का हल हो सके। हम भी भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों के स्वर में स्वर मिलाकर संसार में यह गुंजित करना चाहते हैं "राक्षसी युद्ध की प्रवृत्तियों का विनाश हो, मनुष्य अन्यान्य जानवरों की हत्या बन्द करे और संसार के सभी जीवों के प्रति सहानुभूति में मनुष्य का हृदय द्रवित हो। अहिंसा परमो धर्मः। वसुधैव कुटुम्बकम्—यथार्थ अहिंसा ही परम धर्म है, जगती हमारा कुटुम्ब है।"

उत्तेजक वस्तुओं का उत्पादन रोको

चाय और कॉफी

हमारे देश या दुनिया के किसी भी देश में चाय या कॉफी के स्टाल्स (दुकानों) को हम देखना नहीं चाहते। क्योंकि ये शराब की दुकानों की तरह ही हानिकारक हैं। प्रत्येक चाय या कॉफी के प्याले में २½ ग्रेन कैफीन की मात्रा वर्तमान रहती है जो कि एक शक्तिशाली विष है। चाय और कॉफी का पीना वास्तव में शरीर में विष का प्रवेश कराना है जिससे कि बाद में अजीर्ण, अनिद्रा रक्ताल्पता, स्नायुदौर्बल्यता, अन्त्रक्षत, चक्षु, दोष, मोतियाबिन्द एवं अन्य बहुत सारी बीमारियाँ हो जाती है। यदि माँ चाय या कॉफी पीने की अभ्यस्त है तो उनके

स्तन का दूध सूख जाता है। अतः चाय और कॉफी का पीना हल्के जहर को पीने के समान है। बच्चे जो स्तन का दूध नहीं पीते अच्छे स्वास्थ्य के अधिकारी कभी नहीं हो सकते। उनकी मानसिक उन्नति में ह्रास होता है। अतः आधुनिक माताओं को सोचना चाहिये कि वे चाय और कॉफी की अभ्यस्त वन कर अपने बच्चों का कितना नुकसान कर रही हैं। अतः हम समस्त माताओं से चाय या कॉफी न लेने को अनुरोध करते हैं ताकि वे अपना, अपने बच्चों का एवं समस्त मानवजाति का कल्याण कर सकें।

कहना व्यर्थ होगा कि असन्तुलित (गलत) भोजन स्तनों के दूध को सुखाने का दूसरा कारण है। यदि सात्विक भोजन लिया जाय तो माताओं के स्तनों में वर्ष भर में दो बच्चों को पिलाने के लिये पर्याप्त दूध होगा। यह प्रकृति की व्यवस्था है। किन्तु आमिष एवं असन्तुलित भोजन के व्यवहार के कारण आधुनिक माताएँ केवल एक बच्चे की मांग को भी पूरा नहीं कर सकतीं। अतः हम पुनः दुहराना चाहेंगे कि माताओं का अपने स्तन में दूध न रखना, बच्चों के लिये ही नहीं वरन् पूरे राष्ट्र के लिये हानिकारक है।

इसलिये समस्त विवाहिताओं को सात्विक भोजन करना चाहिये। अपने-अपने बच्चे एवं राष्ट्र कल्याण को ध्यान में रखकर चाय या कॉफी नहीं पीना चाहिये।

दूध और फलों का रस, चाय, कॉफी और तम्बाकू के विष को आंशिक रूप से क्षीण करने की क्षमता रखते हैं। यदि दूध या फलों का रस एक किलो पिया जाय तो दिन में चाय या कॉफी के एक कप लिये जा सकते हैं। किसी को चाय, कॉफी आदि जैसे उत्तेजक एवं हानिकारक वस्तुओं के लिये पैसे नहीं खर्च करने चाहिये। भारत में दूध एवं फलों के रसों की बहुलता नहीं, अतः भारतीय जनता को इस प्रकार के विषैले पानीय को छूना तक नहीं चाहिये।

सिगरेट और नस्य

हमारे युग में सिगरेट के हानिकारक प्रभाव के बारे में सभी को पता है फिर भी यह आश्चर्य है कि किसी राज्य के नेता या विश्व की कोई सरकार ने अपने राज्य में सिगरेट के उत्पादन को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। क्या विश्व में एक भी ऐसा नेता नहीं है जो कि मानव के कष्टों को नहीं समझता है।

नस्य सिगरेट से भी अधिक हानिकारक है। नस्य का विष मस्तिष्क के रगों की कार्यशीलता को प्रत्यक्षतः दुर्बल कर देता है। और मानसिक रोग उत्पन्न करते हुए मस्तिष्क के स्नायुओं को शून्य कर देता है। यदि हम मानसिक अस्पतालों में अनुसन्धान करें तो पायेंगे कि ८०% मानसिक रोगी नस्य के आदी हैं। उनके उन्माद का मुख्य कारण नस्य है। राज्य में इस हानिकारक विष का उत्पादन होना चाहिये क्या?

शराब

मानव शरीर के लिये शराब का प्रभाव हानिकारक है—हम सभी जानते हैं। हमने पहले ही कहा है कि अण्डे, मांस एवं मछली खाने वाले स्वभावतः शराब के प्यासे होते हैं। अतएव यदि मानव खाद्य में से मांसजनित खाद्य निकाल दिया जाय तो मानव समाज से 'मद्य' का बहिष्कार किया जा सकता है।

पान के पत्ते

आधुनिक भारत में एक दूसरी नशीली वस्तु है—पान के पत्ते को चूना सुपारी और कत्थे के साथ खाना। पान का पत्ता वास्तव में हानिकारक नहीं है पर जब कत्था, चूना और तम्बाकू के पत्ते के साथ लिया जाता है तब वह चाय या कॉफी से ज्यादा हानिकारक बन जाता है।

इस तरह जो इसके आदी हो जाते हैं उन्हें असह्य सिर-दर्द होता है। भारतियों के द्वारा क्या यही लाभदायक पथ्य की खोज की गई है।

जब हम अपने सरकारी आफिसों में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि चाय लाने वाले लड़के समस्त समय आफिसरों एवं किरानियों के चाय लाने में ही व्यस्त रहते हैं। कार्यालय-कक्ष सर्वदा सिगरेट के धुएँ से भरा रहता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस प्रकार के उत्तेजक पदार्थों के सेवन से शारीरिक एवं मानसिक वृद्धि में ह्रास होता है। तब हम कैसे आशा रख सकते हैं कि हमारे आफिसर और किरानी अच्छे स्वभाव वाले, ईमानदार परिश्रमी, कर्त्तव्य-परायण एवं दायित्व वाले हैं।

हमें ऐसे अपराधों को निर्मूल करना चाहिये। अतः हम अपनी एवं विश्व की सरकारों से निवेदन करते हैं कि वे एक ऐसा कानून बनाएँ जिससे कि मन्त्रियों, सरकारी अफसरों, किरानियों एवं अन्य कर्मचारियों को चाय, कॉफी, सिगरेट, नस्य, पान आदि लेने से रोका जा सके।

किसी प्रकार का नशा करना मन्त्रियों एवं अन्य सरकारी कर्मचारियों की अयोग्यता होगी। नशा करने वाले व्यक्ति कभी भी सन्तुलित मस्तिष्क के नहीं हो सकते। अतः सरकारी कर्मचारियों को सभी प्रकार के उत्तेजक द्रव्य से दूर ही रहना चाहिये और अन्य व्यक्तियों को भी नशा लेने की आदत से मुक्त करवाने का प्रयास करना चाहिये।

आधुनिक विश्व के सभी राज्य उन्मादाश्रम के समान हो गये हैं। विश्व के करीब-करीब सभी पुरुष आंशिक रूप से पागल मानसिक अशान्ति, मानसिक असन्तुलन के अधिकारी हो गये हैं। प्रायः सभी लोग दुधर्ष पशुओं की भाँति, स्वार्थी, आत्म-केन्द्रिक एवं निर्दयी हो गये हैं। उनमें अपने साथियों के लिये प्यार, स्नेह नहीं रह गया है। यह उनके गलत अभ्यास, मांस जनित, असन्तुलित भोजन एवं उत्तेजक पदार्थों के सेवन के कारण ही है।

यदि विश्व की सरकारों में कर्त्तव्य की दायित्व की थोड़ी-सी भी भावना निहित है तो उन्हें अपने देश में चाय, तम्बाकू, अफीम, शराब आदि जो कि मानवके लिये क्षतिकारक है के उत्पादन की अनुमति नहीं देनी चाहिये।

यदि भारतीय सरकार नारियल के उत्पादन को बढ़ावा दे तो चाय, तम्बाकू और शराब के उत्पादन से जो लाभ वह अर्जित करती है, उसकी क्षति पूरी की जा सकती है।

चाय, कॉफी, तम्बाकू, शराब आदि के व्यापार किसी भी सरकार को अक्षम्य दोष मानना चाहिये।

सरकार को जनता को नशा कर बीमारियों से पीड़ित होने की अनुमति नहीं देनी चाहिये एवं उसे दृढ़ एवं ईमानदार रहकर मादक द्रव्यों का व्यापार नहीं करना चाहिये। गर्म पेय के लिये राज्य को यथेष्ट दूध की व्यवस्था करनी चाहिये।

हमने बार-बार कहा है कि नारियल मस्तिष्क बढ़ाने के लिये अच्छा भोजन है। इससे स्मरण शक्ति एवं प्रतिभा बढ़ती है। माँ के दूध का विकल्प केवल मात्र नारियल का दूध ही है। बालिगों के लिये नारियल का दूध सुन्दरतम टॉनिक है। नारियल का प्रत्येक हिस्सा मूल्यवान एवं लाभवान है। नारियल के बाहरी भाग से तार बनाये जाते हैं। नारियल की पैदावार को बढ़ाना मानव-समाज के लिये हितकारी है। साथ ही साथ यथेष्ट विदेशी मुद्रा के आय का साधन है। जहाँ ये आसानी से बढ़ सकते हैं वहाँ हम पर्याप्त नारियल के वृक्ष देखना चाहते हैं। आसाम, बंगाल, तमिलनाड, केरल, अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह नारियल के पैदावार के योग्य स्थान हैं। जन पथ एवं लोह-पथ के दोनों किनारों पर एवं अन्य खाली स्थानों पर नारियल के वृक्ष भरे होने चाहिये।

खाद्य पदार्थों का विश्लेषण

(प्रतिशत में)

आमिष खाद्य-पदार्थ

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
पाठा मांस	२४.६	२.५	×	१.३	१३३
गाय मांस	२२.६	२.६	×	१.०	११४
मुरगी मांस	२१.०	३.०	×	१.०	१४४
भेड़ मांस	१८.५	३.०	×	१.५	१६५
मुरगी अण्डा	१३.३	१३.३	×	१.०	१७४
हंस अण्डा	१३.५	१३.७	०.७	१.०	१८०
हिल्सा मछली	२१.८	१९.४	×	०.९५	२७०
मांगुर व सिंघी	१९.५०	.५०	×	१.३०	८५
रोहू	१८.३५	७.५५	×	१.४०	१४०
कतला	१८.५	२.४	×	१.२०	१०२
मृगेल	१८.५	१.०	×	१.०	७१
चिंगड़ी	१८.८	१.६	×	१.६	९२
पोठिया	१८.१	२.४	×	१.८	९६
मौरला	१८.०	४.१	×	१.२५	११२
कवई	१७.७५	.४५	×	१.०	७८
टेंगरा	१७.३०	.३०	×	१.१०	७२
भेटकी	१६.२५	४.१०	×	.८५	१०५
सौरी	१६.२	२.३	×	.९६	८८

दाल

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
सोयाबीन	४३.२	१९.५	२०.९	४.६	४३२
खेसारी	२८.२	०.६	५८.२	३.०	३५६
मसूर	२५.१	०.७	५९.७	२.१	३४६
बरबटी	२४.६	०.७	५५.७	३.२	३२७
मूँग	२४.०	१.३	५६.६	३.६	३३४
उरद	२४.०	१.४	६०.३	३.४	३५०
मटर	२२.९	१.४	६३.५	२.३	३५८
चना	२२.५	५.२	५८.९	२.२	३७२
अरहर	२२.३	१.७	५७.२	३.६	३३३

बादाम व तेल (स्नेह) जनित पदार्थ

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
चीना बादाम	३१.५	३९.८	१९.३	२.३	५६१
सरसों तेल	२२.०	३९.७	२३.८	४.२	५४१
हिजली बादाम	२१.२	४६.९	२२.३	२.४	५९६
बादाम	२०.८	५८.९	१०.५	२.९	६५५
तिल	२०.३	३७.१	२८.८	२.४	५३०
पिस्ता	१९.८	५३.५	१६.२	२.८	६२६
अखरोट	१५.६	६४.५	११.०	१.८	६८७
माखन	१.५	८५.०	×	१.५	७६०
घी	×	९९.२	×	×	९२२
कॉडलिवर आयल	×	१००.०	×	×	९००

खाद्य शस्य (Starch)

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
अरवा चावल	८.६	.६	.७८	.७	३५१
अरवा (मशीन का)	६.६	.४	७६.१	.५	३४८
भुजिया चावल	८.५	.६	७७.४	.६	३४६
भुजिया (मशीन का)	६.६	.४	७६.२	.८	३४६
चूड़ा	७.८	.०१	७७.५	३.२	३४४
मूढ़ी	७.५	.१	७४.२	३.४	३२८
खोई	७.२	.२	७७.०	१.८	३४२
आटा	१२ १	१.७	७२.२	१.८	३५३
मैदा	११.०	.६	७४.१	.४	३४६
जौ	११.५	१.२	६६.३	१.५	३३५
भुट्टा	११.१	३.६	६६.८	१.५	३४२
वाजरा	११.६	५.०	६७.१	२.७	३६०
साबूदाना	.२	.२	८७.१	.३	३५०

मीठा खाद्य

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
गन्ने का गुड़	.४	.१	६५.०	०.६	३८३
खजूर का गुड़	१.४६	.२६	८६.७	.०५	३६४
पटाली गुड़	१.३७	.११	८७.३७	.५	३६५
चीनी	×	×	६६.५	×	३६०
मधु	.५	×	७३.०	.३	३८५

दूध व दूधजनित खाद्य पदाथ

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
मातृ-दूग्ध	१.०	३.६	७.०	.१	६७
गदही का दूध	१.७	१.०	६.५	.४	४७
गो-दूग्ध	३.३	३.६	४.८	.७	६५
वकरी का दूध	३.७	५.६	४.७	.८	८४
भैंस का दूध	४.३	८.८	५.१	.८	११७
दही	२.६	२.६	३.३	.६	५१
घोल	.८	१.१	.५	.१	१५
छाना	२१.५	१७.५	.७५	१.७५	२५२
पनीर	२४.१	२५.१	६.३	४.२	३४८
गुड़ा दूध	३८.०	१.०	५१.०	६.८	३५७
मक्खनरहित दूध	२.५	.१	४.६	.७	२६
मक्खन	१.५	८५.०	×	१.५	७६०
घी	×	६६.२	×	×	६६२

सब्जी-तरकारी

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
आलू	१.६	.१	२२.६	.६	६६
मीठा आलू	१.२	.३	३१.०	१.०	१३२
शंख आलू	.७	.२	३८.७	१.०	१५६
कच्चू	३.५	.१	२२.१	१.७	१०१
मानकच्चू	२.३	१.०	२२.५	१.६	१००
ओल	२.३	३.०	१८.४	.८	७६
मूली	.६	.३	७.४	.६	३५
कच्चा केला	१.४	.२	१४.७	.५	६६

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
मोचा (केला फूल)	१.५	.२	५.०	१.८	२८
केला का थाम	.५	.१	६.७	.६	४२
कोहड़ा	.५	.१	४.३	.३	२०
मीठा कोहड़ा	.४	.१	३.२	.३	१५
लौकी	.२	.१	२.६	.५	१३
बैंगन	१.३	.३	६.४	.५	३४
झिंगा	.५	.१	३.७	.३	१८
कटहल के वीज	६.६	.४	३८.४	१.५	१८४
फूल गोभी	३.५	.४	५.३	१.४	३९
वांधा गोभी	१.८	.१	६.३	.६	३३
गांठ गोभी	१.१	.२	५.९	.७	३०
शलजम	.५	.२	७.६	.६	३४
पियाज	१.८	.१	१३.२	.६	६१
चुकन्दर	१.७	.१	१३.६	.८	६२
गाजर	.९	.१	१०.७	१.१	४७
टमाटर	१.९	.१	४.५	.७	२७
भिंडी	२.२	.२	७.७	.७	४१
करैली	२.९	१.०	९.८	१.४	६०
करैला	१.१	.२	४.२	.८	२५
सीम	४.५	.१	१०.०	१.०	५९
बरवटी	३.७	.२	९.९	१.४	५६
सजना	२.५	.१	३.७	२.०	२६
फ्रेंच वीन	१.७	.१	४.५	.५	२६

साग के पत्ते

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	तापमूल्य
पालङ्ग	१.६	.६	४.०	१.५	३२
चौराई	४.६	.५	५.७	३.१	४७
कलमी	२.६	.४	४.३	२.१	३२
बथुआ	४.७	.४	३.७	३.३	३७
पुंई	५.३	×	×	२.५	×
हेलेञ्चा	२.६	.२	५.५	२.२	३५
सजिना पत्ता	६.७	१.७	१३.४	२.३	६६
खेसारी	६.१	१.०	७.६	१.१	६४
चना	७.०	१.४	११.७	२.१	८७
सरसों	५.१	.४	७.१	२.५	५२
पुदीना	४.८	.६	८.०	१.६	५७
धनिया	३.३	.६	६.५	१.७	४५
मेथी	४.६	.६	६ ८	१.६	६७
क्रेस	५ ८	१.०	८.७	२.२	६७
नीम-पत्ता	७ १	१.०	२२.६	३.४	१२६
कच्चा नीम-पत्ता	१.६	३.०	२१.२	२ ६	१५८
लेढिउस	२.१	.३	३.०	१.२	२३

मशाले

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
जीरा	१८.७	१५.०	३६.६	५.८	३५६
गोल मिर्च	११.५	६.८	४६.५	४.४	३०५
हरी मिर्च	४ ८	२.७	२७.३	१.८	१५३
हल्दी	६.३	५.१	६६.४	३.५	३४६
धनिया	१४.१	१६.१	२१.६	४.४	२८८
लवंग	५.२	८६	४७.६	५.२	२६३
इलायची	१०.२	२.२	४२.१	५.४	२२६

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
अदरख	२.३	.६	१२.३	१.२	६७७
हिंग	४.०	१.१	६७.८	७.०	२६७
रंसून	६.३	.१	२६.०	१.०	१४२

फल

खाद्य वस्तु का नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण	ताप मूल्य
केला	१.३	.२	३६.४	.७	१५०
पपीता	.५	.२	६.५	.४	४०
आम	.६	.१	११.८	.३	५०
अमरूद	१.५	.२	१४.५	.८	६६
नारियल	४.५	४१.६	१३.०	१.०	४४४
लीची	२.८	.२३	६.३	१.१	२२
जामुन	३.३	.१२	३.४	१.७	१२
कमला नीबू	.६	.३	१०.६	.४	४६
अनारस	.६	.१	१२.०	.५	५०
फूट	१.३	×	४.०	.७	१२
तरबूज	.१	.२	३.८	.२	१७
जम्बूरा	.६	१०.१	१०.८	.५	४४
कटहल	१.६	.१	१८.६	.८	८४
बैर	.८	.१	१२.८	.४	५५
इमली	३.१	.१	६७.४	२.६	२८३
अनार	१.६	१०.१	१४.६	.७	६५
नीबू	१.०	.६	११.१	.३	५७
जलपई	१.४	.१	३३.७	.६	१४१
बेल	.७	.७	१६.२	.८	७५
सेव	.३	.१	१३.४	.३	५६
खजूर	३.०	.२	६७.३	१.३	२८३
अंगूर	१.०	.१	१०.०	.४	४५
किशमिश	२.०	.२	७०.३	२.०	२१६

विभिन्न पुस्तकों में खाद्य विश्लेषण एवं उनके फलाफलों में अन्तर दिखलाई पड़ता है। इसका कारण मिट्टी की उर्वरता एवं जलवायु का अन्तर है। पूर्व बंग के नारियल में जितनी अधिकता दूध या रस की होती है उतनी आसाम या अन्य स्थानों के नारियलों में नहीं। उर्वर मिट्टी के शाक-सब्जी में पुष्टिकर पदार्थ जितनी मात्रा में रहते हैं अनुर्वर मिट्टी के शाक-सब्जी में उतनी मात्रा में नहीं रहते हैं। सम्भवतः यहीं कारण है कि विभिन्न खाद्य गवेषकों के खाद्य-विश्लेषण में कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार के अन्तर होने के बावजूद हम इस खाद्य विश्लेषण तालिका से खाद्य पदार्थों के गुणागुण के बारे में जान सकते हैं।

ताप मूल्य

आधुनिक खाद्य विज्ञान के मतानुसार किस उम्र में कितना परिमाण के ताप मूल्य का भोजन ग्रहण करना आवश्यक है। निम्नलिखित देखिये :—

१-२ वर्ष	८४०	२-३ वर्ष	१०००
३-५ ,,	१२००	५-७ ,,	१४००
७-९ ,,	१६८०	९-१० ,,	१९००
११-१२ ,,	२१६०	१२-१५ ,,	२४००
१५ व अधिक	२४००		

शीत प्रधान मुल्क के भोजन में ताप-मूल्य का अधिक होना आवश्यक है। सबसे अधिक ताप-मूल्य युक्त खाद्य पदार्थ मक्खन और घी है। यही कारण है कि शीत प्रधान पश्चिमी देशों में मक्खन का इतना अधिक आदर है। एवं भारत के शीत प्रधान पार्वत्यांचल में भी इसी कारण मक्खन व घी आदरणीय है। द्वितीय श्रेणी के ताप-मूल्य युक्त खाद्य पदार्थ है—चावल-दाल, प्रभृति शस्य पदार्थ। तृतीय श्रेणी के ताप-मूल्य युक्त खाद्य पदार्थ हैं—मछली, मांस, अण्डे आदि। फल-मूल आदि खाद्य पदार्थों में ताप-मूल्य सब से कम होता है।

हमारे इस गरम देश में सूर्य का उत्ताप ही शरीर में पर्याप्त मात्रा में ताप मूल प्रवेश कराता है। यही कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में घी-मक्खन आदि अधिक ताप मूल्य के खाद्यों से कम ताप मूल्य के खाद्य पदार्थ ठण्डे फल वगैरह अधिक रुचिकर एवं उपकारी होते हैं। अतः खाद्य पदार्थों के ताप मूल्य के हिसाब से हमारे गर्म देश में खाद्य पदार्थों का चयन बेकार है। सुषम पथ्य विधि के अनुसार या आदर्श पथ्य विधि के अनुसार खाद्य पदार्थों का चयन ही हमारे शरीर के लिये कल्याणकर होगा एवं वह प्रयोजनीय ताप मूल्य प्रदान करेगा।

[सहायता—फूड बुलेटिन नं० २३, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित ; फूड एण्ड न्यू ट्रीशन इन इंडिया—एक भारतीय डाइटेरियन द्वारा। खाद्य कथा—श्री अनिल कुमार राय, एम० बी० ; खाद्य नव-विधान—श्री कुलरंजन मुखोपाध्याय ; फूड—राबर्ट मेकारीशन ; शिशु पालन—पारूल देवी, एम० ए० ; प्रसूति व नव-जातक—डा० शत्रुजीत शंकर दास गुप्त, एम० बी०।]

शिशु-पालन के नियम

भोजन

शिशु राष्ट्र के भविष्य की निधि हैं। इस अमूल्य सम्पत्ति की रक्षा किस तरह करनी है, किस तरह उसका लालन-पालन करना है ; इस विषय को पूर्ण ज्ञान प्रत्येक नर-नारी के लिये आवश्यक है। जिस राष्ट्र में शिशु-पालन के ज्ञान का अभाव है वह राष्ट्र सभ्यता की विजय-यात्रा में उतना ही पीछे रहेगा। इसलिये देश सेवा और देशकल्याण के लिये पहले से ही शिशु-पालन के लिये उचित व्यवस्था करनी चाहिये। हमारे देश में शिक्षित और अशिक्षित दोनों श्रेणी के स्त्री-पुरुष शिशु पालन के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है, यह अनभिज्ञता दूर करना जरूरी है।

यदि माता का स्वास्थ्य ठीक होगा तो छः महीने तक शिशु के लिये माता के दूध को छोड़कर दूसरे भोजन की जरूरत नहीं पड़ेगी। साधारणतः स्वस्थ माता के स्तन में दो शिशुओं के पीने लायक दूध संचित रहता है। शिशु आठ महीने का हो जाने पर माता के दूध के परिमाण में ह्रास होना शुरू हो जाता है।

स्वाभाविक नियम के अनुसार माता के स्तन में जो दूध संचित रहता है उतना दूध शिशु के लिये आवश्यक नहीं होता है। इसलिये शिशु के स्तन-पान के वाद अतिरिक्त दूध स्तन से निकाल देना चाहिये। इस प्रकार अतिरिक्त संचित दूध निकाल देने पर फिर शिशु के आहार तक दूध स्तन में प्रचुर मात्रा में संचित हो जाता है। स्तन के दूध कम होने की आशंका नहीं रहेगी। माता के स्तन में आवश्यक दूध संचित क्यों नहीं होता इस विषय में प्रत्येक माता का सचेतन होना आवश्यक है। हमारी इस पुस्तक में (उल्लिखित) निर्दिष्ट खाद्य ग्रहण करने से माता के स्तन में शिशु के लिये आवश्यक खाद्य प्रचुर मात्रा में संचित हो जायेगा। मछली, माँस और अण्डे आदि खाद्य और चाय, कॉफी, तम्बाकू आदि नशेवाली चीजों से माता के स्तन का दूध सूख जाता है। सन्तान के कल्याण के लिये प्रत्येक माता को मांसाहारी भोजन एवं चाय, कॉफी, पान तम्बाकू आदि का सेवन त्याग करना चाहिये। प्रचुर मात्रा में शाक, सब्जी, दाल, फल, दूध, दही आदि चीजों का सेवन स्वाभाविक रूप से करना प्रत्येक माता के लिये आवश्यक है।

शिशु के जन्म के वाद २१ घण्टा प्रसूति को विश्राम करना जरूरी है। १२ घण्टे के वाद सन्तान को स्तन-पान करना चाहिये। प्रथम दो दिन स्तन से दूध कम मात्रा में निकलता है किन्तु यह २-४ बूँद दूध ही शिशु के लिये महोपकारी है, यह विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये। पहले दिन शिशु को सिर्फ तीन बार स्तन-पान कराना चाहिये ८ घण्टे के अन्तर पर। दूसरे दिन छः घण्टे के अन्तर पर एवं तीसरे दिन ३ घण्टे के अन्तर पर शिशु को दूध देना चाहिये। शिशु

को नियमित समय पर स्तन का दूध पिलाना चाहिये। जब तक शिशु तीन महीने का नहीं हो जाता तब तक उसे सुबह ६ बजे से लेकर रात ९ बजे तक प्रति ३ घण्टे के बाद स्तन-पान कराना चाहिये। इस प्रकार सुबह ६ बजे, ९ बजे, दोपहर २ बजे फिर ३ बजे और सन्ध्या के ६ बजे तथा रात के ९ बजे। ६ बार नियम से शिशु को स्तन पान कराना चाहिये। रात को रोने पर स्तन का दूध नहीं देना चाहिये। दूध के बदले तब पानी देना चाहिये। शिशु को स्तन देने के पहले स्तन को ठण्डे पानी से धोना चाहिये और शिशु के स्तन पान के पश्चात् भी स्तन को ठण्डे पानी से धोकर पोंछ कर साफ रखना चाहिये। एक और विषय में माताओं को सचेत रहना चाहिये सोने के समय बच्चे के मुँह में स्तन नहीं रहना चाहिये।

शिशु चार महीने का होने पर तीन घण्टे की जगह चार घण्टे के अन्तर पर उसको भोजन देना चाहिये। अतः इस समय से पाँच बार भोजन देना उचित है। प्रातः छ बजे, १० बजे, दोपहर २ बजे और सन्ध्या के ६ बजे एवं रात के १० बजे स्तन दूध देना ठीक है। शिशु के छः महीने होने तक यह व्यवस्था रहेगी। भोजन और स्नान के नियम मान कर चलना विशेष उपकारी है। नियमों को मानने से शिशु सहज ही इन नियमों को मानने का आदी हो जाता है। शिशु निद्रित समय पर भी भोजन के समय जाग उठेगा। अतः स्नान और भोजन के समय नियम भंग न हो, इसका ध्यान प्रत्येक माता को रखना चाहिये। तीन महीने में पदार्पण करने के संग-संग शिशु को फलों का रस देना चाहिये। शिशु को दूसरे और तीसरे बार भोजन के पश्चात एक दो चम्मच सन्तरे का रस देना चाहिये।

क्रमशः इसे बढ़ते-बढ़ते सारे दिन में एक सन्तरे का रस दिया जा सकता है। सन्तरे का रस न मिलने पर मौसमी नींबू का रस दिया जा सकता है। मौसमी का रस भी न मिलने पर मिश्री के शरबत के साथ दो चम्मच नींबू का रस मिलाकर शिशु को खाने के लिये देना चाहिये।

सन्तरे और मौसमी के रस के अलावा अनारस, सेव, अंगूर आदि फलों के रस भी दिये जा सकते हैं।

सातवें महीने से शिशु का आहार दिन में ४ बार कर देना चाहिये—प्रातः ७ बजे दोपहर ११ बजे शाम के ३ बजे और सन्ध्या के ७ बजे।

हम लोगों के हिन्दू समाज में बच्चों को ७।८ महीने में अन्न प्रायः देने की व्यवस्था है। इस उम्र में शिशु को दूध के अतिरिक्त दूसरे खाद्य की भी आवश्यकता होती है और वह दूध के अतिरिक्त दूसरे खाद्य को ग्रहण के लिये लालायित रहता है।

इस अवस्था में दोपहर में एक बार कुछ परिमाण में हरी शाक-सब्जी का सूप, तरकारियों का झोल, या उबले हुये आलू, अरवी, कच्चा केला आदि तरकारी के साथ मिला कर उससे नरम करके बच्चे को खिलाना चाहिये। भात देरी से हजम होने वाला खाद्य है इसलिये १८ महीने के पहले शिशु को भात खिलाना उचित नहीं है। आलू अरबी, कच्चा केला, जमिकन्द आदि भात के समान ही गुण-सम्पन्न और पुष्टिकर है—किन्तु भात के समान देरी से हजम होनेवाला खाद्य नहीं है।

शाक-सब्जी का जूस एवं आलू अरबी आदि की तरकारी शिशु के शरीर गठन और शक्ति वृद्धि में बहुत सहायक है। बड़े चाय के चम्मच का दो चम्मच नारियल का दूध भी इस उम्र में शिशु के लिये बहुत उपकारी होता है।

स्तन दूध से वंचित शिशु का भोजन

जिन शिशुओं का शैशव में ही मातृ-वियोग हो जाता है या जिन माताओं का स्तन में शिशु के लिए पर्याप्त स्तन-दूध संचारित नहीं होता उन शिशुओं के लालन-पालन के सम्बन्ध में सतर्कता की आवश्यकता है। माता का दूध शिशु के लिये अमृत के समान होता है। जिन शिशुओं को जन्म ग्रहण के पश्चात् माँ का दूध नहीं मिलता उनका यह

दुर्भाग्य ही है। **जो मातायें अपनी सन्तान को अपने वक्ष के निकट पाकर भी उन्हें अपने स्तन के अमृत से लालन-पालन नहीं कर पाती वो मातायें भी सुमाता नहीं हैं। वे सर्वथा माता बनने के अयोग्य है।**

गाय का दूध उनके बछड़े के लिये उपयोगी है। बकरी का दूध उसके बच्चे के लिये उपयोगी है, वह मानव शिशु के उपयुक्त नहीं है। किन्तु मातृ दूध से वंचित मानव शिशु के लालन-पालन के लिये हमें गाय या बकरी के दूध की शरण लेनी पड़ती है। माँ के दूध में जिस परिमाण में प्रोटीन रहता है उससे तीन गुणा अधिक प्रोटीन गाय या बकरी के दूध में पाया जाया जाता है; गाय या बकरी का दूध मानव शिशु के लिये उपयोगी नहीं है, इसलिये गाय के दूध या बकरी के दूध में पानी मिला कर शिशु के उपयोगी बनाया जाता है।

गाय या बकरी के दूध से **नारियल का दूध शिशु के लिये अधिक उपयोगी है**। कुछ नारियल को पीस कर उसमें थोड़ा गरम पानी मिला कर छान लेने से शिशु के लिये उपयोगी नारियल का दूध तैयार हो जाता है। शिशु की हजम शक्ति के अनुसार नारियल दूध का परिमाण ठीक करना चाहिये। इस प्रसंग में 'नारियल फल की उपकारिता' पर प्रबन्ध को देखिये।

शिशु के एक महीने उम्र तक गाय या बकरी के दूध में उसका दो गुणा पानी मिला कर शिशु के लिये उपयोगी दूध बनाना चाहिये। अर्थात् बकरी या गाय का दूध यदि एक पाव हो तो उसके साथ आधा सेर पानी मिलाकर तीन पाव दूध बनाना चाहिये। इस दूध के साथ आवश्यकतानुसार मिश्री का पानी मिला कर उसको शिशु के उपयोगी (स्वादिष्ट) बनाना चाहिये। ५।६ दिन की उम्र से ही शिशु को प्रत्येक बार में कम-कम इस प्रकार का पानी मिला हुआ दूध १ छटाक परिमाण में पिलाना चाहिये। शिशु की उम्र के साथ-साथ दूध का परिमाण भी बढ़ाते रहना चाहिये। एक महीने के शिशु के प्रत्येक बार में

आधा पाव दूध की आवश्यकता होती है, चौथे महीने में प्रति बार तीन छटाक आठवें और नौवे महीने में प्रति बार एक पाव दूध की आवश्यकता होती है।

दूसरे महीने में भी दूध में दो गुणा पानी मिलाना चाहिये। तीसरे महीने में डेढ़ गुणा पानी; चौथे महीने से छठे महीने तक दूध और पानी का भाग समान-समान रहना चाहिये। ग्यारहवें महीने के पश्चात् शिशु के दूध में पानी मिलाने की आवश्यकता नहीं रहती है। उसे एक उफान में उवला हुआ शुद्ध दूध दे सकते हैं।

दो महीने पश्चात् शिशु को दिन में कम-से-कम दो बार फल का रस देना चाहिये। शिशु की उम्र ७।८ महीने की होने पर उसको शाक-सब्जी का सूप देना चाहिये। सूप तैयार करने का नियम—सब्जियों के छिलकों को फेंक कर उसके साथ कुछ शाक की पत्तियाँ मिला कर खूब उवाल लेना चाहिये। उवलने पश्चात् दाल के काँटे से उन्हें अच्छी तरह घोंट कर थोड़े से तेल में मिर्च का सम्भार देकर उतार लेना चाहिये। इस प्रकार के सब्जियों का सूप बच्चों के लिये बहुत उपयोगी होता है। सब्जियों के सूप में शिशु के लिये विशेष उपयोगी कैलशियम, फॉसफोरस, आयरन एवं 'ए' 'सी' आदि विटामिन पाये जाते हैं—वह शिशु के मस्तिष्क और शरीर को बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस उम्र के शिशु को आलू, अरबी, कच्चा केला, उवला हुआ या इन सब तरकारियों के मेल से सूप बना कर दिया जा सकता है।

शिशु जव एक वर्ष का हो जाय, उसे सुबह ८।६ बजे रोटी या नारियल के साथ थोड़ी मूढ़ी देना चाहिये। इन सख्त चीजों को चबाने से शिशु के दाँत और मसूढ़े मजबूत होते हैं। **दो वर्ष की उम्र तक दूध ही शिशु का प्रधान खाद्य है।** रोटी, मूढ़ी आदि कुछ हलका भोजन प्रातःकाल एक बार देना आवश्यक है। दोपहर में परिमित मात्रा में ऊपर लिखे गये शाक-सब्जियों का सूप इत्यादि देना चाहिये। इसके साथ कुछ

दूध भात भी शिशु को दिया जा सकता है। एक पके केले के साथ थोड़ा भात लेकर दूध के साथ अच्छी तरह मिला कर शिशु को खिलाना चाहिये। दो वर्ष के पश्चात् चार वर्ष तक शिशु को नियमित रूप से दूसरे भोजन भी देना चाहिये। सुबह ७ बजे दूध रोटी, फल; दिन के ११ बजे शाक-सब्जी का सूप, कुछ दाल एवं दूध-भात, दोपहर ४ बजे दूध, फल, रोटी और शाक-सब्जी का सूप; सन्ध्या के ७ बजे दूध रोटी या शाक-सब्जी का सूप। इस नियम से शिशु के भोजन की व्यवस्था करने से शिशु कभी भी बीमार नहीं होगा; बुद्धिहीन नहीं होगा। वल्कि उपयुक्त स्मृति शक्ति, बुद्धि एवं प्रतिभाशाली होकर वंश का गारव बढ़ायेगा।

शिशु के लिये हानिकारक भोजन

हमारे देश में दरिद्रता का रूप बड़ा ही भयानक है पूर्व भारत में ८० प्रतिशत परिवार शिशु के उपयोगी दूध संग्रह करने में असमर्थ है। अधिकांश परिवार ही शिशु के लिये रक्षतांक से अधिक दूध संग्रह नहीं कर पाते। माता के दूध से वंचित शिशु के भोजन की कमी १ पाव दूध से नहीं होती है। इसलिये पूर्व भारत के अधिवासी चिकित्सकों के परामर्श अनुयायी साबूदाना, सूजी, वार्लि इत्यादि पानी में उबालकर छोटे शिशु को खाने के लिये देते हैं। माता के दूध में चीनी के प्रकार का खाद्य ७% रहता है और इस सब खाद्यों में श्वेतसार (starch) और चीनी का परिमाण १०/१२ गुणा अधिक होता है। साबूदाने में ८७%, सूजी में ८३%, बार्लि में ७०% श्वेतसार होता है। **इस प्रकार अत्यधिक श्वेतसार युक्त खाद्य कोमल शिशु के लिये कभी भी उपकारी नहीं हो सकता है।** हमारे देश के चिकित्सकों का शिशु के भोजन सम्बन्ध में यह अज्ञानता दूर होनी आवश्यक है।

आधुनिक खाद्य वैज्ञानिकों का कहना है—चीनी किस्म के खाद्यों को हजम करने के लिये मुँह में पाचन रस की आवश्यकता होती

होती है शिशु के दाँत न निकलने तक उसकी यह ग्रन्थि पुष्ट नहीं होती अतएव शिशु के मुँह से कोई रस नहीं निकलता है। अतः शिशु के दाँत निकलने के पूर्व उन्हें कभी भी साबूदाना, सूजी बार्लि आदि भोजन नहीं देना चाहिये। शिशु यह सब भोजन कभी भी स्वाभाविक रूप से हजम नहीं कर सकता है। अतः शिशु का स्वास्थ गिर जाता है, वह पेट के रोग, आमाशय आदि से आक्रान्त हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सक-गण दो-तीन महीने के शिशु को अण्डा, पेटेण्ट दूध के पाउडर भोजन के लिये देते हैं। यह सब भोजन शिशु के स्वास्थ्य के लिये भयंकर रूप से हानिकारक हैं। अतः शिशु के प्रयोजन अनुसार दूध संग्रह करने की क्षमता न होने पर भी, दाँत न निकलने तक शिशु को कभी भी बार्लि, साबूदाना, सूजी इत्यादि भोजन में नहीं देना चाहिये। मिल्क पाउडर भी ठीक नहीं है। अच्छे नारियल के उपादान प्रायः माता के दूध के समान होता है। शाक-सब्जी के सूप का उपादान भी माता के दूध के समान ही हैं। नारियल के दूध की व्यवस्था करना कुछ कठिन है किन्तु शाक-सब्जी के सूप की व्यवस्था करना प्रत्येक गृहस्थ के लिये सम्भव है। ४।५ वार के भोजन में से जितनी बार शिशु के लिये उपयोगी दूध की व्यवस्था करना गरीव गृहस्थ के लिये सम्भव है, करने के पश्चात् बांकी कमी को शाक-सब्जी के सूप द्वारा—पूरा करना चाहिए। शाक-सब्जी का सूप शिशु को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता है। माता के दूध के वदले में नारियल का दूध शिशु के लिये महा उपकारी भोजन है। **अतः शिशु के आठ महीने की आयु पूर्ण न होने तक शिशु को माता का दूध, पानी मिलाया हुआ पशु का दूध, परिमित नारियल का दूध, शाक-सब्जी का सूप और फलों के रस के अतिरिक्त कोई दूसरा भोजन नहीं देना चाहिये—शिशु खाद्य नीति का यह मूल आदर्श प्रत्येक माता-पिता, प्रत्येक गृहस्थ एवं प्रत्येक चिकित्सक को अवश्य ज्ञात होना चाहिये।** इस विषय में हमलोगों को पूरा ज्ञान न होने के कारण

भोजन के दोष से शिशु को कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। शिशु के स्वाभाविक शरीर की वृद्धि में बाधा पहुँचती है। रोग प्रतिषेधक शक्ति के अभाव में शिशु के जीवन की अशंका बनी रहती है, कभी-कभी अकाल मृत्यु भी हो जाती है।

२-४ महीने के शिशु को अण्डा खाने के लिये दिया जाता है—आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के मतानुसार हमारे देश के चिकित्सक बेपरवाह होकर इस नीति का पालन करते हैं। स्कूल—पाठ्य, स्वास्थ्य नीति ग्रन्थ में भी छात्र-छात्राओं को इस गलत शिशु भोजन नीति की शिक्षा दी जा रही है।

बत्तख या मुर्गी पालना किसी गृहस्थ के लिये कठिन नहीं है। इससे अण्डा सस्ता और आसानी से मिल सकता है। इसी कारण चिकित्सक के उपदेश अनुसार देश के युवक, वृद्ध और महिलायें उत्साह के साथ इसे पालते हैं। परिणाम स्वरूप रोगों के शिकार बन जाते हैं।

दो वर्ष की आयु तक शिशु का भोजन किस प्रकार का होना चाहिये इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। पूर्व भारत के साधारण गृहस्थ शिशु के एक वर्ष पूर्ण होते ही आवश्यकता से अधिक परिमाण में उसे मूढ़ी, दाल-भात आदि खाने के लिये दे देते हैं। इस प्रकार का भोजन उनके लिये हानिकारक होता है। भात, मूढ़ी अत्यधिक चीनी प्रधान खाद्य है यह सरलता से हजम भी नहीं होते। २।३ वर्ष के शिशु के लिये इस प्रकार भोजन अधिक करने से यकृत और दूसरी प्रधान-प्रधान ग्रन्थियाँ विकल हो जाती है। भात और मूढ़ी अधिक परिमाण में खाने से शरीर में स्थित पित्तनाशक और वायुनाशक रक्त में सन्तुलन नहीं रहता है—इसलिये भात और मूढ़ी की मात्रा शिशुओं के लिये बहुत कम होना उचित है।

शिशु को भात, रोटी, डबल रोटी के साथ कभी भी घी या मक्खन देना ठीक नहीं है। दस वर्ष की आयु न होने तक बालक और बालिकाओं को घी, मक्खन छेना घी में बनी या छेना से तैयार की हुई

मिठाई एवं माँस, मछली और अण्डे आदि आमिष खाद्य नहीं देना चाहिये। कम उम्र में इन सब खाद्य वस्तुओं को ग्रहण करने से यकृत खराब हो जाता है और शरीर में कोई भी रोग आसानी से प्रवेश कर जाता है। बालक-बालिकाओं की स्मृति शक्ति और प्रतिभा की उन्नति में बाधा पड़ती है क्योंकि ये भोजन हानि पहुँचाते हैं—जिनके मुख्य-मुख्य कारणों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

एक और सहज मे ही समझ में आने वाले कारण का यहाँ उल्लेख किया जाता है। आमिष खाद्य शरीर में यूरिक एसिड विष संचित करती है। **इस यूरिक एसिड विष के प्रभाव से शरीर में स्थित कैलशियम फॉसफोरस इत्यादि धातव लवण नष्ट हो जाते हैं। धातव लवण ही शरीर की वृद्धि में सहायता करते हैं। स्मृति शक्ति और प्रतिभा की सृष्टि में सहायता करते हैं। इसलिये हम भारतीयों के मत के अनुसार माँस, मछली, अण्डा, घी मक्खन मिठाई आदि आमिष एवं गुरु पाक खाद्य शिशुओं को देना अनुचित है।**

धनी लोगों के घर में आमिष खाद्य एवं संहत खाद्य प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। इसी प्रकार के भोजन के दोष के कारण ही धनी गृहस्थों के घर में उत्कृष्ट श्रेणी के प्रतिभावान बालक-बालिकाओं का आविर्भाव नहीं होता है।

शैशव में दाँत गिर जाने के पश्चात् फिर नये दाँत जब निकलते हैं तब से बालक-बालिकाओं को कुछ परिमाण में आमिष खाद्य दिया जा सकता है। शैशव में दाँत पड़ने की क्रिया जब तक समाप्त न हो जाये तब तक आमिष खाद्य बालक-बालिकाओं को नहीं देना चाहिये। यही भारत का बहुत पुराना एवं प्रचलित मत है। इस चिराचरित भारतीय भोजन के नियमों को तोड़ने के कारण बालकों में इतनी स्वास्थ-हीनता और जीवनी-शक्ति का अभाव हो गया है। इस जीवनी-शक्ति के अभाव के कारण ही बालक-बालिकाओं के दाँतों में कीड़े लगते हैं।

एशिया और अफ्रिका जैसे गर्म देशों की तरह संरक्षित कोई खाद्य हमारे बालक-बालिकाओं के लिये उपयोगी नहीं है। अतः बच्चों को लाजेन्स, बिस्कुट खाने का मौका न मिले इस विषय में माता-पिता को सतर्क रहना चाहिये। **बच्चों के हाथ में रस वाले फल देकर उन्हें प्यार करना चाहिये, न कि लाजेन्स, बिस्कुट, हारलिक्स या मिठाई द्वारा।** लाजेन्स, बिस्कुट, हारलिक्स आदि के सेवन से शिशु की भूख कम हो जाती है—कोष्ट साफ नहीं होता—अधिक मात्रा के सेवन से यकृत खराब होने का भय रहता है।

शिशु के रोग की चिकित्सा

शिशु के थोड़ा-सा भी अस्वस्थ हो जाने पर चिकित्सक और दवाई का सहारा लेना उचित नहीं है। पथ्य के दोष से ही शिशु वीमार होता है। पथ्य के विषय में सतर्क रहने से ही शिशु की वीमारी ठीक हो जाती है। अगर शिशु का पेट नियमित साफ न हो, शिशु की जीभ मैली हो अथवा बच्चा बार-बार उल्टी करे तो बच्चे को रात का दूध बन्द कर देना चाहिये और दिन के आहार के परिमाण में कमी कर देनी चाहिये। शिशु के आहार के सम्बन्ध में इस तरह सतर्क रहने से शिशु पूर्ण रूप से स्वस्थ रहेगा। शिशु थोड़ा-सा भी अस्वस्थ होने पर खाने की अनिच्छा प्रकट करता रहता है किन्तु मातायें शिशु की इस अनिच्छा का ख्याल नहीं रखती है और शिशु को जबरदस्ती खिला देती है। मताओं की इन भूलों के कारण ही बच्चे अस्वस्थ हो जाते हैं। रोगी शिशुकी पथ्य की मात्रा में विशेष ह्रास करने से ही बच्चे जल्दी स्वस्थ हो जाते हैं। दवाई बच्चे के लिये विष के समान महा अपकारी है। इसे स्मरण रखकर दवाओं का जहाँ तक हो सके त्याग करना चाहिये।

माता-पिता के स्वस्थहीन होने के कारण बहुत से शिशु क्षीण जीवन शक्ति लेकर जन्म ग्रहण करते हैं इन बच्चों को थोड़ी सी भी ठंड लगने से सर्दी और बुखार हो जाता है। इन सब बच्चों को ठंड न लगे इस

विषय में माता-पिता को विशेष सतर्क रहना जरूरी है। शिशु के २-४ बार छीकने से ही समझ जाना चाहिये कि बच्चे को टॉनसिल है और गला खुस-खुस कर रहा है। बच्चे को तुरन्त ही गर्म कपड़ा पहनाना चाहिये। ठंड के दिन या सर्दी के दिन में बच्चों का गला मफलर और कान टोपी से ढक देना चाहिये। इस समय बच्चे को हवा के बीच घूमने देना नहीं चाहिये। इस तरह का सतर्कता का पालन करने से शिशु को पुनः सर्दी नहीं होगी। टाइफायड और निमोनिया रोग बच्चे को नहीं होंगे। शिशु की अकाल मृत्यु नहीं होगी।

शिशु को अमाशय एवं पेट का रोग होने से अग्निसार द्वारा इसको १ दिन में ही ठीक किया जा सकता है। बच्चे को गोद में बैठा कर माता को अपने हाथ से कराना होगा।

शिशु को स्नान कराने के नियम

धूप में स्नान :—शिशु के शरीर में प्रतिदिन १५ मिनट से लेकर ३० मिनट तक धूप लगाने की व्यवस्था करें। कम उम्र के शिशु के सिर को छाया में रखकर बाकी सारे शरीर में धूप लगाना चाहिये। बड़े शिशु के लिये धूप में खेलने-कूदने की व्यवस्था करनी चाहिये। सुबह ८ बजे से ११ बजे तक शिशु को धूप में स्नान करने का उपयुक्त समय है। **जल में स्नान**—स्नान के पहले शिशु के समस्त शरीर में अच्छी तरह तेल मल देना चाहिये। जितने दिन कोमल शिशु के नाभि का घाव अच्छी तरह सूख नहीं जाता उसे नहलाना नहीं चाहिये। ऐसी अवस्था में प्रतिदिन दोपहर में शिशु के सिर को ठण्डे जल से धो देना चाहिये। शिशु के नाभि के घाव में पानी न लगे। इसकी ध्यान रखना चाहिये। जाड़े के दिनों में धूप में रखे गर्म पानी से शिशु को स्नान कराना चाहिये। धूप में किया गया गर्म पानी न मिले तो ठण्डे पानी के साथ थोड़ा गर्म पानी मिला लेना चाहिये। शिशु के स्नान का जल शिशु के शरीर के उत्ताप से अधिक गर्म न होकर बल्कि १ डिग्री ठण्डा होना

चाहिये—इस प्रकार का पानी शिशु के स्नान के लिये उपयोगी है। अधिक गर्म पानी में स्नान करना शिशु एवं अधिक उम्र वालों के लिये भी हानिकारक है। जुकाम न हो तो गर्म पानी में स्नान करना ठीक नहीं। गर्मी के दिनों में सदा ठण्डे पानी से स्नान करना चाहिये। शिशुओं को स्नान के टब में स्नान कराना विशेष उपकारी है। एक छोटे टब या बड़े गमले के बीच में शिशु को कमर तक डुबो कर बैठा देना चाहिये। तत्पश्चात् उसके सिर को नीचा करके टब के पानी द्वारा उसके सिर को अच्छी तरह धुला देना चाहिये। उसके बाद गीले तौलिया या हाथ से शिशु के शरीर को मलना चाहिये। अन्त में शिशु के शरीर पर २-३ भग पानी डालकर उसका स्नान समाप्त करना चाहिये। इस बात का ध्यान रखे कि शिशु के छाती में अधिक पानी न डाला जाय। आवश्यक होने पर शिशु का मस्तक और पेट धुलाकर स्नान कराना भी शिशु के लिये उपकारी है।

माता का स्वास्थ्य

महिलाएँ राष्ट्र की जननी हैं। इसलिये उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य स्वस्थ्य और निर्दोष न होना, राष्ट्र के लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है। रुग्न माताओं की सन्तान देश के सम्पद न बन कर देश के लिये बोझ बन जाते हैं। महिलाओं की अस्वस्थता उनके पारिवारिक जीवन में भी अशान्ति का कारण बन जाती है।

माता का भोजन—सात्त्विक भोजन सुषम पथ्य के प्रति माताओं का मन सचेतन रहे। यदि वे सात्त्विक और सुषम भोजन के नियमों का उल्लंघन न करे तो उसका शरीर स्वस्थ रहेगा। इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं है कि अगर दाम्पत्य जीवन में संयम न रहे तो कोई भी पथ्य विधि उनको स्वस्थ नहीं कर सकती।

तरुणियों को सन्तान सम्भावना होने पर सुषम और सात्त्विक पथ्य के नियम अनुयायी पित्तनाशक और वायुनाशक खाद्यों को नियम पूर्वक

ग्रहण करना चाहिये। हरी शाक-सब्जियाँ, दूध एवं फल-मूल आदि सन्तान की माता बनने वाली महिलाओं के लिये खूब उपकारी खाद्य है। इस प्रकार का आदर्श भोजन के नियमों का पालन करने से सन्तान के आगमन के समय माता को कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। असहनीय प्रसव पीड़ा भी उनको नहीं भोग करनी पड़ती है। इस प्रकार के भोजन से माता के स्तन में इतने दूध का संचार होता है कि शिशु के दाँत न निकलने तक उसे स्तन दूध के अतिरिक्त और किसी खाद्य की आवश्यकता नहीं होगी।

निषेध—संतान की माँ वननेवाली तरुणी यदि सात्त्विक भोजन के नियमों का उल्लंघन कर अत्यधिक आमिष भोजन ग्रहण करती है एवं चाय और पान आदि के नशे में लिप्त रहती है तो ऐसी माताओं को दीर्घ समय तक प्रसव वेदना से कष्ट भोगना पड़ता है। माता के स्तन में भी शिशु के लिये पर्याप्त परिमाण में दूध का संचार नहीं होता है। कभी-कभी माता के पथ्य में त्रुटि से मृत सन्तान के प्रसव का कारण बन जाती है।

'सुषमा पथ्य विधि' एवं 'दीर्घ देह पाने के उपाय' प्रसंग में हमने रक्त में अम्ल भाग के सम्बन्ध में आलोचना की है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के शरीर में अम्लधर्मी रक्त का परिमाण कुछ अधिक रहता है। इसी कारण महिलायें पुरुष से कुछ छोटी होती है। इस सम्बन्ध में एक और विषय में दम्पतियों को मालूम होना चाहिये कि सुषम विधि उल्लंघन करके जो दम्पति अम्लधर्मी भोजन जैसे मछली, माँस, अण्डा आदि अधिक परिमाण में ग्रहण करते हैं, उनके घर में कन्याओं का जन्म अधिक संख्या में होता है। कन्या शिशु के शरीर गठन के लिये जिस परिमाण में कैलशियम आदि लवण की आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक परिमाण में पुत्र शिशु के लिये इन सब वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अत्यधिक आमिष भोजन करने वाले तथा संहत खाद्य ग्रहण करनेवाले दम्पतियों के शरीर में पुत्र सन्तान के शरीर के गठन के लिये

पर्याप्त परिमाण में कैलशियम नहीं मिलता है। इसी कारण उनके घर में पुत्र की अपेक्षा कन्याओं की संख्या अधिक होती है। **माताओं का रोग**—गर्भावस्था के अन्त्रि में किसी-किसी प्रसूति के पैर में सूजन हो जाती है—यह कोई रोग नहीं हैं। गर्भस्थ सन्तान के शरीर के वोझ से कभी-कभी ऐसा होता है। पैरों को किसी ऊँचे तकिये पर रख कर सोने से और विश्राम करने से ही ये सूजन चली जाती है। गर्भ की प्रथम अवस्था में ही यदि ऐसा होने लगे और बाद में हाथ और मुँह भी सूजने लगे तो इसे भयानक रोग का लक्षण समझना चाहिये आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इस व्याधिका नाम है **एकलामृशिया** (Eclamsia) इस रोग में समय-समय पर प्रसूति को मूर्छा आ जाती है। सन्तान सम्भावित माता के रक्त में दुषित पदार्थ का संचार होने से इस रोग की सृष्टि होती है। देखा जाय तो खाद्य के दोष से इस रोग की सृष्टि होती है। जो मातायें सुषम पथ्य विधि का उल्लंघन करके अम्ल धर्मी और संहत खाद्य अधिक ग्रहण करती हैं उनके रक्त में यूरिक एसिड संचित होकर इस रोग की सृष्टि होती है। अतएव ठीक समय पर सावधान न होने पर माता का प्राण संकट में पड़ सकता है। इस विपत्ति का खयाल रख कर प्रत्येक माता को इस पुस्तक में बताये गये सात्त्विक भोजन के नियम और सुषम भोजन के नियम निष्ठा के साथ पालन करना चाहिये। इस एक ही कारण से महिलाओं के जरायु में कैन्सर रोग हो सकता है।

सन्तान सम्भावित माताओं का साधारणतः पेट का मल साफ नहीं होता है। कोष्ठ काठिन्य भी पथ्य के दोष के कारण होता है। इसी ग्रन्थ में इस रोग को दूर करने के लिये जो-जो नियम एवं पथ्य की व्यवस्था है और उषापान के नियमों का निष्ठा के साथ पालन करने से माँ वननेवाली महिलायें सहज ही इस रोग से मुक्ति पा सकती हैं।

हमारे देश की महिलाओं में और दो कुअभ्यास प्रचलित है एक पान और दूसरी चाय। केवल पान हानिकारक नहीं होता है किन्तु

जब उसके साथ चूना, कत्था, जर्दा, तम्बाकू आदि मिला दिया जाता है तो वह बड़ी नशे की वस्तु बन जाती है।

स्वस्थ सवल विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिये प्रधान भोजन के पश्चात एक बार मशालेयुक्त पान खाना हानिकर नहीं है। एक या दो बार में जितना चूना कत्था हम पान के साथ खाते हैं उससे अधिक चूना और कत्था को शरीर के उपयोगी बना कर हजम करने की शक्ति हमारे शरीर के पाचन यन्त्र में नहीं है। अतः विवाहित स्त्री पुरुष भी यदि १-२ बार से अधिक पान खाते हैं तो अतिरिक्त चूना कत्था हमारे शरीर में संचित होकर विषाक्त हो जाता है। इस विष से हमारे यकृत आदि कोमल अंग के कोष प्रभावित होकर नष्ट हो जाते हैं। यह विष अक्सर रक्त के साथ सिर तक चढ़ जाता है और सिर में यन्त्रणा की सृष्टि होती है। अतः अत्यधिक पान चवाना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। पान के साथ जर्दा-तम्बाकू आदि का प्रयोग महिलाओं के लिये और भी हानिकारक है। ऐसी माताओं के सन्तान भी रुग्ण शरीर लेकर जन्म ग्रहण करता है। इसलिये स्वस्थ रहने को इच्छुक माता के लिए पान, चाय आदि का सेवन करना बिल्कुल मना है।

सन्तान की माँ बननेवाली महिलाओं को निम्नलिखित योग क्रिया का अभ्यास करना चाहिये :—

प्रातः निद्रा से उठने के कुछ देर बाद २ ग्लास पानी पीकर अर्ध-शलभासन—१ मिनट, पवनमुक्तासन—३ बार, सहज प्राणायाम नं० १ २ मिनट, त्रिकोणासन—२ मिनट, भद्रासन—२ मिनट, प्रातः क्रियादि, टब स्नान टब में बैठ कर सहज प्राणायाम न० ३—२ मिनट।

मध्याह्न भोजन के पूर्व टब स्नान ५-१० मिनट। टब में बैठ कर सहज प्राणायाम नं० ३ और ७—प्रत्येक व्यायाम २ मिनट।

सन्ध्या के समय—अर्धशलभासन—१ मिनट पवन मुक्तासन ३ वार भद्रासन २ मिनट, सहज प्राणायाम नं० १, ३ और ७ प्रत्येक आसन २ मिनट।

सन्तान सम्भावना की अवस्था में ऊपर लिखे गये आसन, मुद्रा और प्राणायाम का अभ्यास करने से, सात्त्विक भोजन ग्रहण करने से माता को असहनीय प्रसव वेदना नहीं भोगनी पड़ती है। वह एक पूर्णाङ्ग स्वस्थ शिशु लाभ करती है।

नारियल की उपादेयता

वचपन में हमारे गाँव में पण्डितजी महाराज पुराण की कहानियाँ एवं रामायण-महाभारत आदि की कथायें सुप्रिय संगीत के सहयोग से मधुर भाषा में कहा करते थे। आदर्श राजा-महाराजाओं एवं मुनि-ऋषिओं के जीवन-चरित्र तथा देवी-देवताओं की कहानियाँ वे इस प्रकार कहते कि शिक्षित व अशिक्षित ग्रामवासियों के नैतिक चरित्र गठन में, एवं उनके हृदय में धार्मिक भाव उत्पन्न होने में मदद मिलती। हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व एवं आदर्श को वे सहज भाषा में वर्णन करते। वास्तव में ये पुराण-वक्ता ही ग्राम-वासियों के प्रत्यक्ष शिक्षक होते थे। ये पुंराण वक्ता ज्ञान-गुण से सम्पन्न एवं अतुलनीय चरित्र के अधिकारी होते थे। अतः ये हिन्दू समाज में विशेष सम्मान पाते थे। ग्रामवासियों द्वारा स्वेच्छा एवं श्रद्धा से दिये गये अन्न द्वारा ही अपना जीवन-पोषण करते थे।

हमारे वचपन में कोई कहानियों की पुस्तक नहीं थी, अतः इस प्रकार के प्रशान्त, सात्त्विक एवं आनन्दमय मूर्ति के अधिकारी से हम कहानियाँ सुनाने को आग्रह करते। एकाग्रता इतनी थी कि हम कभी-कभी आहार-निद्रा तक भूल जाते। एक दिन विश्वामित्र चरित्र वर्णन के समय पण्डितजी ने नारियल वृक्ष की उत्पत्ति एवं उसके गुणों का वर्णन किया। इस कहानी ने मेरे ७-८ वर्ष के सरल-हृदय के अन्तर्तम हिस्से को स्पर्श किया। अतः इस कहानी को मैं भूला नहीं हूँ। इसका एक और कारण है। मुझे इच्छा-अनिच्छा पूर्वक नारियल खाना पड़ता था। पितृ-गृह के आस-पास कोई उच्च अंग्रेजी विद्यालय नहीं

था। अतः पाठशाला की पढ़ाई खत्म कर मामा के घर में आश्रय लिया। वहाँ से उच्च अंग्रेजी विद्यालय की दूरी करीब २ मील थी। मांसाहारी परिवार में जन्म ग्रहण करने के बावजूद मछली-मांस के गन्ध मुझे असह्य थे। अतः मेरा भोजन करना विधवा नानी के कमरे में निश्चित हुआ। वहीं पर नारियल के साथ किसी प्रकार भात खाकर प्रतिदिन विद्यालय जाना पड़ता। स्कूल वापसी पर भी नारियल एवं मूढ़ी जलपान के रूप में खाना पड़ता। पुराण-वक्ता के मुखारविन्द से नारियल के गुणों की प्रशंसा सुनकर मेरे मन में नारियल के प्रति जो असन्तोष था वह दूर हो गया। वह कहानी संक्षेप में मैं कह रहा हूँ।

ऋषि विश्वामित्र कठोर साधना एवं तपस्या से सिद्धि लाभ कर स्वयं को विधाता के समान असीम शक्तिशाली समझने लगे। अतः सृष्टि-कर्त्ता के सृष्टि-विषयक दोष-त्रुटि आदि के संशोधन की इच्छा भी उनके मन में जगी। पहले ऋषि ने मन में सोचा—विधाता ने मानव सृष्टि की जो पद्धति चालू की है वह सुरूचि का द्योतक नहीं है, मानव माता के लिये भी वह अगौरव की बात एवं दुःखदायी है। अतः मानव-शिशु-सृष्टि के लिये एक सभ्य एवं क्लेश-रहित पथ का आविष्कार कर विधाता की इन त्रुटियों को दूर करना आवश्यक है।

ऋषि ने सोचा—विधाता की वृक्ष उत्पादन पद्धति बुरी नहीं है। यह किसी के लिये कष्टदायक भी नहीं। इसलिये वृक्ष से मानव-शिशु-उत्पादन का उपाय आवश्यक है। मानव-शिशु के शारीरिक गठन में जिन-जिन उपादानों की आवश्यकता होती है, उनको मिट्टी, आकाश, अग्नि, वायु एवं जल से संग्रह कर योजनानुसार ऋषि विश्वामित्र ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से नारियल वृक्ष की उत्पत्ति की। नारियल वृक्ष के फल से जब मानव शिशु उत्पादन की व्यवस्था करीब-करीब सम्पूर्ण हो गयी तब ब्रह्मा विचलित हो गये। वे विश्वामित्र के इस नयी सृष्टि के प्रयास के सम्बन्ध में जगत-पालक विष्णु एवं संहारक

शिव को सूचित किये। पश्चात् ब्रह्मा-विष्णु-महेश ने निश्चय किया किसी प्रकार भी विश्वामित्र की इस नयी सृष्टि की योजना को व्यर्थ करना होगा। अन्यथा मनुष्य की दृष्टि में ब्रह्मा के प्रति कोई निष्ठा नहीं रह जायेगी।

तत्पश्चात् विष्णु के नेतृत्व में तीनों देवता विश्वामित्र के पास पहुँचे, विष्णु ने विश्वामित्र से कहा—राजन्! आपने जिस पद्धति से मानव-सृष्टि की योजना बनाई है वह सफल होने पर मानव जाति का ही सर्वनाश होगा। मानव-संख्या में द्रुत वृद्धि होकर थोड़े ही समय में पृथ्वी मनुष्यों से पूर्ण हो जायेगी। तब इतने अधिक संख्यक सन्तानों का पालन-पोषण पृथ्वी माता के लिये असम्भव होगा। उचित खाद्याभाव के कारण विभिन्न मानव जाति संघर्ष-रत हो जायेगी, चतुर्दिक युद्ध की नरकाग्नि प्रज्ज्वलित हो जाएगी। कुछ नर-रक्त-लोलुप युद्धबाज नर-पशु का प्रभुत्व पृथ्वी पर होगा, धर्म व धार्मिकों का स्थान पृथ्वी पर नहीं होगा। अतः सृष्टि के कल्याण की चेष्टा कर आप महा अकल्याण ही करेंगे। अतः आपसे निवेदन है कि वृक्ष-फल से मानव-उत्पान की योजना का परित्याग करें।

विष्णु के युक्तिपूर्ण उपदेश ने ऋषि के अन्तर को स्पर्श किया। वे अपनी योजना का परित्याग करने के लिये राजी हो गये।

विश्वामित्र के सहयोग से सन्तुष्ट होकर विष्णु ने पुनः कहा—राजन्! आपने मानव-शिशु उत्पादन हेतु जो वृक्ष उत्पन्न किये हैं उसकी उचित मर्यादा हम देंगे। चूंकि वृक्ष से नर या मनुष्य की सृष्टि आपने करने की अभिलाषा की थी, अतः हमने उसका नाम नारियल रखा है। यह नारियल फल पृथ्वी का सर्वोत्कृष्ट फल होगा। इस फल को जो रोज खायेगा वह आप ही के समान तेजस्वी एवं तपस्वी होगा। यह फल स्वादिष्ट जल से भरा रहेगा। इसके जल से प्यासा तृप्ति पाएगा एवं रोगी नीरोग होगा।

शैशव में पंडित के मुख से इन कहानियों को वेद वाक्य की तरह सत्य समझता। उम्र के साथ-साथ ज्ञान-वृक्ष का फल खाकर शैशव के उस विश्वास को खो दिया हूँ। अतः आज प्रतीत होता है कि नारियल के ऊपर मानव-शिशु समान नेत्र, मुँह व नाक के चिह्नों को देखकर एवं इसके जल की उपकारिता को अनुभव कर पुराण लेखक ने इस प्रकार के कहानी की रचना की होगी। या आधुनिक युग के आलू एवं गोभी के आविष्कार की भाँति ही वैदिक युग के ऋषि विश्वामित्र ने नारियल फल को खाद्य के रूप में आविष्कार का जन-समाज में प्रचलित किया था, अतः पुराणकार ने विश्वामित्र के स्मृति को अक्षय करने के लिये इस कहानी की रचना की। इस कहानी को आधार बनाकर नारियल की उपकारिता का सही-सही वर्णन किया गया है। नारियल का दूध मातृ-विहीन शिशु के लिये अमृत-समान है। शारीरिक पुष्टता एवं रोग निरामय की क्षमता नारियल दूध एवं इसके जल में है।

नारियल में शक्तिशाली मस्तिष्क-गठन के उपादान विद्यमान हैं। यही कारण है कि भारत वर्ष के तीन नारियल-प्रधान प्रदेश, बंगाल, तामिलनाड एवं केरल में पर्याप्त प्रतिभा विद्यमान है।

ऊँचे स्तर के धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, कलाकार आदि अन्य प्रदेशों की तुलना में इन्हीं तीन प्रदेशों में अधिक हैं। केरल एवं तमिलनाड में तो केवल जलपान ही नहीं भोजन में भी नारियल का व्यवहार होता है।

कहना व्यर्थ होगा कि बंगाल का मस्तिष्क-गौरव वर्तमान में अधो-मुख है, तमिल एवं केरल की अवस्था भी प्रायः समान ही है। भारत की शान्ति एवं शृङ्खला की रक्षा के प्रश्न पर भी ये तीनों प्रदेश समस्या बन गये हैं। भारत के गौरव इन तीन प्रदेशों की मानसिक अवनति का मूल कारण खोज निकालने की आवश्यकता है।

खाद्य द्वारा जिस प्रकार हमारा शरीर पुष्ट होता है उसी प्रकार

खाद्य के सूक्ष्मांश द्वारा हमारी मानसिक चिन्ता प्रभावित होती है, इन तीन प्रदेशों के मनो राज्य में जो क्रान्ति हो रही है उससे खाद्य नीति का कोई सम्वन्ध है या नहीं—इस विषय पर भी अनुसन्धान आवश्यक है। बंग भंग के कारण हो या कोई अन्य कारण हो। वंगाली समाज आज नारियल के व्यवहार से दूर हो गया है। उसके साथ-ही-साथ समस्त भारतवर्ष आज मांस, मछली, डिम, छाना, सन्देश, रसगुल्ला आदि मिठाइयों की ओर आकर्षित हो रहा है। इस युग के चिकित्सक भी इन वस्तुओं की प्रशंसा में रत हैं। इन खाद्य पदार्थों का एक पहलू अपकारिता भी है। चूँकि ये सुषम पथ्य-विधि द्वरा परिचालित नहीं है अतः ये शरीर एवं मन दोनों के लिये हानिकारक हैं—इतना ज्ञान भी आज के ये चिकित्सक अर्जित नहीं कर पाये हैं। यही कारण है कि वच्चों को वे अण्डे, छाना आदि खाद्य देकर उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य हमेशा के लिये नष्ट कर दे रहे हैं। विद्यालय के खाद्य एवं पथ्य नीति पुस्तक में सुषम खाद्य के नाम पर विषम खाद्य-व्यवस्था दिया जाता है—फलतः हमारे देश में मानव के स्थान पर कुछ बन्दर तैयार हो रहे हैं।

आधुनिक विज्ञान के रासायनिक विश्लेषण में नारियल के गरी के खाद्य गुण के सम्बन्ध में जो कहा गया है, हम यहाँ उसीका उल्लेख कर रहे हैं। नारियल गरी प्रति १०० ग्राम में, प्रोटिन ४.५ ग्राम, स्नेह ४१.६ ग्राम एवं शर्करा १३ ग्राम है। इसके अलावा कैल्शियम, फॉस्फोरस आदि धातव-लवण हैं। जिस प्रकार बालू, सीमेण्ट आदि प्रासाद निर्माण में अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार शरीर-निर्माण के एव संरक्षण में धातव लवण की आवश्यकता है। ये धातव लवण शरीर को सबल, कार्यक्षमताशील करते हैं एवं रोगाक्रमण से वचाते हैं। नारियल के समकक्ष सब प्रकार के धातव लवण किसी अन्य फल या खाद्य पदार्थ में नहीं है। अतः ऐसे भी नारियल को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्कृष्ट फल कहा जा सकता है।

दुग्ध विश्लेषण

दुग्ध नाम	प्रोटिन	स्नेह	शर्करा	धातव लवण
नारियल दुग्ध	·६०	७.१०	१.८	५.५
मातृ-दुग्ध	१.०	३.६	७.०	.१
गो-दुग्ध	३.३	३.६	४.८	.७
पावडर दुग्ध	३८.०	१.०	५१.०	६.८

उपर्युक्त दुग्ध-विश्लेषणों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि नारियल का दूध माता के दूध के प्रायः समान ही है। मातृ-दुग्ध से नारियल के दूध में प्रोटिन थोड़ा ही कम है पर धातव लवण एवं स्नेह अधिक है। धातव लवण शरीर गठन में एवं शरीर को नीरोग रखने में तथा स्नेह, शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने में सहायता करता है।

जिस उम्र में जितनी आवश्यकता हो उससे अधिक प्रोटिन लेना हानिकारक है। अतिरिक्त प्रोटिन को संचित रखने की कोई प्रणाली मानव-शरीर में नहीं है, इसीलिये अभिभावकों को ध्यान रखना चाहिये कि आवश्यकता से अधिक प्रोटिन बच्चों के खाद्य में न हो। इस अधिक प्रोटिन को शरीर से बाहर निकालने में यकृत, मूत्रनली आदि को काफी परिश्रम करना पड़ता है जिससे शरीर दुर्बल हो जाता है। नारियल दूध के अभाव में जल-मिश्रित गाय या बकरी का दूध बच्चों को दे सकते हैं। चूँकि इन दूधों में माता के दूध से तीन गुणा अधिक प्रोटिन वर्तमान रहता है एवं इससे कम प्रोटिन अन्य किसी दूध में नहीं पाया जाता है, नारियल दूध को छोड़कर। परन्तु ३८% प्रोटिन युक्त पावडर दूध से निर्मित शिशु खाद्य एवं अण्डे व छाना आदि प्रकार के प्रोटिन समृद्ध खाद्य मानव शिशु व बालक-बालिका के लिये उचित पथ्य नहीं हो सकते। जो चिकित्सक बच्चों को अण्डे एवं "ग्लाक्सो" इत्यादि पथ्य बताते हैं, उन्हें राजदण्ड का अभियुक्त बनाना उचित है। पावडर दूध को शिशु-पथ्य कह कर आज जो वृहत व्यवसायी बन गये हैं, वे

अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये शिशुओं का महा अनिष्ट कर रहे हैं। शिशु हत्या का अभियोग इन पर चलाना चाहिये। पावडर दूध खाकर जिन शिशुओं का यकृत एवं हजम शक्ति नष्ट हो गया है उनके लिये नारियल दूध विशेष सहायक है। यह हमारे द्वारा परीक्षा किया हुआ है। अम्ल व गैस के रोगी चूँकि गाय या भैंस का दूध पचा नहीं पाते अतः उनके लिये नारियल का दूध बहुत उपकारी पथ्य एवं दवा है।

नारियल-दुग्ध बनाने की विधि

नारियल के चूर्ण से नारियल का दूध बनाया जाता है। प० बंगाल एवं भारत के अन्य स्थानों पर पाये जानेवाले नारियल की अपेक्षा पूर्व बंगाल के नारियलों में अधिक दूध होता है। दूध तैयार करने के लिये नारियल के (महीन पीसे हुए) चूर्ण को चम्मच से गरम पानी में डालने से ही दूध बन जायेगा। पश्चात् उसे साफ कपड़े द्वारा छान लें। यह दूध गाय या भैंस के समान गाढ़ा न होकर माता के दूध के समान पतला होगा। एक बड़े नारियल से २ सेर दूध निकल सकता है।

रूस में सुरक्षित बोतलों में दूध का विक्रय होता है। दही भी इसी प्रकार विकता है। रासायनिक पद्धति से दूध एवं दही को सुरक्षित रख कर रूस सरकार बोतलों में समग्र देश को दूध वितरण करती है। भारत सरकार को भी वैज्ञानिकों की सहायता से इस प्रकार प्रत्येक भारत-वासी को दूध उपलब्ध कराने का प्रयास करना चाहिये। इस प्रकार दूध वितरण सम्भव न होने पर यन्त्रों की सहायता से नारियल से दूध निकालकर वितरण की व्यवस्था कराने पर भारतीयों का महाकल्याण होगा। एवं दूध का अभाव पूर्ण होगा। मातृ-दुग्ध-वंचित शिशु भी सुपथ्य-स्वरूप नारियल का दूध पाकर उपकृत होंगे एवं जीवनोन्मृत अवस्था से उनकी रक्षा हो सकेगी।

नारियल प्रधान-प्रदेशों में नारियल-दूध के कारखाने स्थापित करने से इन समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है।

नारियल का पानी

कच्चा नारियल पके नारियल के दूध के समान ही उपकारी है। इसके समान पुष्टिकर एवं सुस्वादु पेय कहीं नहीं है। भारतीय-पथ्य-नीति में दूध को अमृत कहा गया है। नारियल भी समान प्रशंसा के योग्य है। हरे नारियल के पानी में प्रोटीन, स्नेह, शर्करा एवं कैल्शियम, पोटाशियम सोडियम, लोहा आदि धातव लवण दूध से भी अधिक परिमाण में हैं। जो रोगी नारियल का गुदा हजम नहीं कर पाता है उसके लिये नारियल के दूध एवं पानी महोपकारी पथ्य हैं।

पश्चिम वंगाल में नारियल के पानी का दुरुपयोग होता है। नारियल में जब गुदा तैयार होना शुरू होता है तब उसके पानी में पौष्टिक तत्त्व संचित होते हैं। इसे सुपुष्ट 'डाभ' कहते हैं। यह काफी उपकारी होता है। पर इसके स्थान पर लोगों में कच्चे नारियल को खाने का प्रचलन अधिक है कच्चे नारियल का पानी लवणयुक्त एवं समुचित गुणरहित होता है। पूर्व बंगाल, तमिलनाड एवं केरल प्रदेश में कच्चे नारियल का उपयोग वहुत कम होता है। केवल एक प्रकार के रोगी के लिये यह खरीदा जाता है। प० बंगाल में ६०% नारियल कच्चे नारियल के रूप में ही बिकते हैं। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

अपुष्ट कच्चे नारियल एक ओर कम उपकारी हैं तो दूसरी ओर राष्ट्र के आर्थिक क्षति के कारण भी हैं। सुपुष्ट नारियलके अनेक उपयोग हो सकते हैं। इसके खोल आवश्यक कारीगरी के काम में आ सकते हैं। इसके छिलके से रस्सी तैयार होता है। रस्सीकी मांग देश-विदेश में है। अतः कच्चे नारियल का दुरुपयोग रोकना अनिवार्य है।

नारियल को अच्छी तरह से पीस कर उसके साथ दूध मिला कर सन्देश तैयार करने से वह छेना के सन्देश से ज्यादा सुस्वादु एवं पुष्टिकर

होता है। यह नारियल का सन्देश आबाल-वृद्ध-वनिता के लिये उपयुक्त खाद्य है।

छेना द्वारा निर्मित मिठाइयों के स्थान पर यदि नारियल निर्मित मिठाइयों का प्रचलन होता तो उससे वृहत्तर कलकत्ता-निवासी शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक रूप से अवश्य ही लाभान्वित होते। चाय स्टालों को दुग्ध-वितरण केन्द्र में परिणत करने के लिये एवं दूध से छेना न तैयार करने के लिये एक सर्व भारतीय कानून की आवश्यकता है। इस विषय में हमारे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल सचेत हो तो देशवासी का कल्याण हो सकता है।

भारत के आसाम, उड़ीसा, गुजरात आदि प्रदेश में प्रचुर मात्रा में नारियल का उत्पादन सम्भव है। दुग्ध-दुर्लभ पूर्व भारत में नारियल व नारियल के दूध की सहायता से दूध का अभाव दूर करने की आवश्यकता है। शाक-सब्जी के साथ एक नारियल भी सर्व-साधारण लोग खरीद सकें इसके लिये नारियल का मूल्य भी सीमित होना चाहिये। अपनी-अपनी जमीन पर प्रत्येक गृहस्थ क्षमतानुसार यदि नारियल वृक्ष लगाये तभी समग्र राष्ट्र की मांग के अनुसार नारियल उत्पन्न करना सम्भव होगा। राष्ट्र की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर विदेशों को निर्यात करने से वहाँ भी इसकी मांग में वृद्धि होगी। इस प्रकार दूसरे देश भी उपकृत होंगे तथा इससे विदेशी मुद्रा भी अर्जित की ज़ा सकेगी।

भारत के केवल नारियल प्रधान प्रदेश ही हमेशा भारतीय प्रतिभा के केन्द्र होकर रहें—ऐसी हमारी इच्छा नहीं है। वरन् भारत के सभी प्रदेश समान रूप से उन्नत हो—यही हमारी अभिलाषा है। केवल भारत ही क्यों, पृथ्वी के समग्र मानव जातियों की भावनाएँ भारतीय महापुरुष के समान हों, मानव की उन्नति की गति अविरत हो, मानवों में देव भावों की प्रतिष्ठा हो—ऐसी हमारी कामना है।

रूस के लोग अपने देश के प्रत्येक शहर एवं गाँव के रास्तों के दोनों ओर सेव आदि के वृक्ष लगाकर प्रत्येक गाँव एवं शहर में

फलोत्पादन प्रचुर मात्रा में कर रहे हैं। प्रायः ३५० वर्ग मील के मास्को नगर के पथ-बीथियों के दोनों किनारों पर जिस परिमाण में फल उत्पन्न होता है, अनुमानतः यह फल मास्कोवासियों की आवश्यकता पूरी करने के लिये पर्याप्त है। हम भी हमारे राष्ट्रीय नेताओं से अनुरोध करते हैं कि वे भी नगरों व ग्रामों के मार्गों के दोनों ओर ८।१० हाथ की दूरी पर नारियल वृक्ष लगाकर नारियल उत्पादन में बढ़ोत्तरी करें। इससे मार्गों को सुशीतल छाया भी मिलेगी और साथ-ही-साथ विदेशी मुद्रा भी।

कहना व्यर्थ होगा कि रूस के इन वृक्षों से फल की चोरी नहीं होती है। रास्ते के बगल के वृक्षों से स्कूल-कालेज के छात्र-छात्राएँ एक भी फल नहीं तोड़ते हैं। हमारे देश में रास्ते के वृक्ष की बात छोड़ दें, गृहस्थ के घर से लगे हुए वृक्षों के फल भी चोरों के हाथ आरक्षित हैं। चोरी होने के बावजूद फल-वृक्ष लगाने की आवश्यकता है। चोर-डकैत भी गैर नहीं है, अपने देशवासी ही हैं। चोरी-डकैती करने की प्रवृत्ति के मूल कारण को दूर करना होगा—जन कल्याणकारी सरकार को।

हमने पहले ही कहा है—सुषम खाद्य विधि द्वारा नियन्त्रित न होने के कारण छेना, संदेश, रसगुल्ले, मक्खन आदि युवक-युवतियों के लिये हानिकारक हैं। ये मस्तिष्क शक्ति के ह्रास के साथ-साथ नाना प्रकार के कठिन रोग की उत्पत्ति में सहायक हैं। अतः भारतीय-पथ्य-नीति के अनुसार ये गुरुपाक खाद्य पदार्थ केवल पूजा एवं उत्सवादि तथा शीत-ऋतु में कभी-कभी खाया जा सकता है। ये खाद्य पदार्थ शरीर के अन्दर दूषित वस्तु (यूरिक एसिड विष) तैयार करते हैं। दुग्ध जनित छेना, सन्देश अत्यधिक प्रोटीनयुक्त हैं; २५ वर्ष की उम्र के पश्चात् अधिक प्रोटीन शरीर के लिये अनावश्यक हैं। नारियल का एवं इसके दूध का प्रोटीन शिशु, युवा, वृद्ध अर्थात् सभी नर-नारियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य रक्षा के अनुकूल है। मांस, अण्डा,

घी, मक्खन, भात-रोटी, छेना, सन्देश, रसगुल्ले आदि आवश्यकता से अधिक खाने पर मस्तिष्क शक्ति का ह्रास करते हैं।

नारियल प्रथम श्रेणी का सर्वोत्कृष्ट मस्तिष्क गठनकारी खाद्य पदार्थ है। दूध व दही द्वितीय एवं शाक-सब्जी दाल आदि फल तृतीय श्रेणी के मस्तिष्क गठनकारी खाद्य पदार्थ हैं। इन मस्तिष्क गठनकारी खाद्य पदार्थों के साथ थोड़ी मात्रा में भात या रोटी रहे तो भारतीय मतानुसार यही आदर्श या सात्विक भोजन है। जो कि ऋषि समान महा प्रतिभा तैयार करने के उपयुक्त है। शिशु एवं किशोर-किशोरी को इस प्रकार का आदर्श भोजन देने से वे अपने को नीरोग रख सकेंगे एवं उनमें यथोचित बुद्धि व प्रतिभा का उन्मेष होगा।

१६ से ५० वर्ष तक यौवनकाल है। इस समय में उल्लिखित मस्तिष्क गठनकारी भोजन २।३ अंश एवं बांकी १।३ भाग केवल भात रोटी, मछली, मांस या अण्डा, थोड़ा घी या मक्खन आदि के द्वारा पूरा करना होगा—यही भारतीय मतानुसार सुषम (सन्तुलित) भोजन है। पचास वर्ष पश्चात् अर्थात् प्रौढ़ व वार्धक्य में पुनः सात्विक भोजन ग्रहण करना आवश्यक है। इससे शरीर नीरोग रहेगा एवं अपमृत्यु मानसिक शक्ति भी अक्षय रहेगी। प्रौढ़ व वृद्धावस्था में आदर्श भोजन से विचलित होने पर शरीर में व्याधियों का स्थान होगा एवं अकाल-मृत्यु होगी।

नारियल की इस उपयोगिता के बारे में प्रत्येक गृहस्थ सचेत होकर अपने-अपने घर में नारियल वृक्ष लगाने को प्रयत्नशील होगा एवं प्रत्येक माता-पिता, बच्चों को अल्पाहार में क्षमतानुसार नारियल देने का प्रयास करेंगे—यही वांछनीय है।

दशम परिच्छेद

"यौगिक अस्पताल"

हम मरीजों को अपने अस्पताल में अधिक-से-अधिक एक या दो महीने रहने की इजाजत देते हैं और उसके बाद हमारे यौगिक उपचार पत्रिका के साथ उन्हें घर भेज दिया जाता है। इसमें कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह रोग जो चिरस्थायी होता है उनको सुधरने में काफी समय लगता है। कम-से-कम तीन महीनों की आवश्यकता होती है। परन्तु कई जटिल रोग जैसे—बहुमूत्र, कैन्सर इत्यादि तीन महीनों में ठीक नहीं किया जा सकता। साधारणतः इनको ठीक होने के लिए छः महीने या इससे अधिक समय लग जाता है। लकवा (Paralysis) को ठीक होने के लिए पूरे दो साल या इससे अधिक समय लगता है। इसमें कहने की आवश्यकता नहीं है कि आपरेशन वाले रोगी भी हमारे पास आते हैं तथा वह लोग बिना आपरेशन के ठीक हो जाते हैं। हमारी योग्यता से हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि सब प्रकार के रोगों को "हथ्था-योगा-प्रक्रिया" से ठीक कर सकते हैं जिनको हमने प्रारम्भ किया है।

हमारे देश के अनुभवी लोगों की मृत्यु अधिकतर हृदय-रोग से होती है। हमारी उन लोगों से प्रार्थना है कि वे लोग हमारी इन किताबों को पढ़े तथा उसमें लिखे हुये उपचारों को अपनाने की कोशिश करें। हमने इन यौगिक-तरीकों से रोगों को रोकने के उपचारों को अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी तथा बंगला में छापा है।

इन सब रोगों का मूल कारण असंतुलित भोजन है अतः संतुलित भोजन प्रत्येक रोगी के लिए आवश्यक है।

यौगिक अस्पताल का वार्षिक-विवरण

April, 1971 to March, 1972.

हमारे पास भीतरी रोगी १२१ हैं और बाहरी १७०५ रोगी। इस प्रकार कुल मिलाकर १८२६ मरीज हैं।

(१) **हृदय रोग**—११, ये ११ रोगी अब बिल्कुल ठीक हो गये हैं। अब उनको दुबारा यह रोग कभी आक्रमण नहीं कर सकता यदि वे हमारे दिये गये नियमों तथा सन्तुलित भोजन पर ध्यान रखें।

(२) **रक्त-चाप तथा अपमृत्यु**—९३, इन ९३ मरीजों में से ८९ मरीज बिल्कुल ठीक हो गये हैं। बाकी चार रोगी भी कुछ-कुछ ठीक हो गये हैं। हम सोचते हैं ये चारों रोगी हमारे इन नियमों का पालन सही तरीकों से नहीं करते हैं।

(३) **दमा या श्वास रोग**—५०, सभी दमा रोगी ठीक हो गये हैं। हम सभी दमा रोगी को हमारे इन यौगिक तरीकों को अपनाने का निमन्त्रण देते हैं।

(४) **खट्टापन, गैस तथा हाजमे का बिगड़ना**—२८९, सभी ठीक हो गये।

(५) **गठिया**—७०, इन रोगियों में ५४ रोगी ठीक हो गये, बाकी १४ रोगी उन्नति की ओर हैं।

(६) **बवासीर**—४२, सभी ठीक हो गये।

(७) **गले की गिल्टियों की सूजन**—२३, सभी ठीक हो गये।

(८) **सर्दी-जुकाम**—१६१, सभी ठीक हो गये।

(९) **दीर्घस्थायी दस्त**—९१, सभी ठीक हो गये।

(१०) **अतिसार या पेट चलने का रोग**—४१, सभी ठीक हो गये।

(११) **पाचक व नासूर** (Peptic & Ulcer)—५७, सभी ठीक हो गये।

(१२) कब्ज—२२७, सभी ठीक हो गये।

(१३) बहुमूत्र—४३, ३१ ठीक हो गये, १२ उन्नति पर हैं।

(१४) शक्तिहीनता—७०, सभी ठीक हो गये।

(१५) Wet dreams—४२, ३६ ठीक हो गये, ३ उन्नति पर हैं।

(१६) लकवा–१२, ३ ठीक हो गये। ६ उन्नति पर है।

(१७) मासिक-धर्म कठिनाइयाँ—५२, सभी ठीक हो गये।

(१८) श्वेत-कुष्ठ–६, सभी उन्नति पर हैं।

(१९) श्वेत प्रदर नामक स्त्रियों का रोग (Lucorrhoea)—२५—ठीक हो गये और ८ उन्नति पर है।

(२०) नासूर (Fistula)—४, सभी ठीक हो गये।

(२१) कुष्ठ या कोढ़–४ सभी ठीक हो गये।

(२२) रक्तहीनता, जोड़ों की सूजन, उदर पीड़ा तथा अन्य रोग—३९५, प्रायः सभी ठीक हो गये।

मरीजों के पत्र

जून १९६७ की बात है, मुझे हृदय रोग, जो कि रक्तचाप से जुड़ा था, आक्रमण हुआ और यह बढ़ते-बढ़ते अपमृत्यु की आशंका तक पहुँच गया। इसके साथ मुझे दमा (जो श्वास-रोग से सम्बन्धित था) का भी कष्ट था। मैंने पहले अपना इलाज "रेलवे-केन्द्रीय-अस्पताल" जो मेलिगाँव में है, परन्तु वहाँसे इलाज का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। मैं अपना दिन भय तथा जिन्दगी के अनिश्चित ढाणों में काट रहा था। मैं किसी भी समय मृत्यु की आशंका कर रहा था।

इस समय मेरे एक विशेष मित्र ने मुझे "यौगिक-प्रक्रिया" से इलाज करवाने का आदेश दिया। उनके कहने के अनुसार मुझे कूँमाऊ पर्वत के "ऊमाचल यौगिक अस्पताल" में दाखिल किया गया। वहाँ पर मैं स्वामी शिवानन्द सरस्वती महाराज तथा अन्य यौगिक अध्यापकों

की देख-भाल में रहा और तीन महीने के अन्दर ही मुझे अपने ही अन्दर काफी परिवर्तन दिखाई पड़ा और एक साल के अन्दर मैंने न केवल अपनी खोयी हुई शक्ति तथा साहस को पाया बल्कि मेरे पूर्णतया स्वस्थ्य होने की घोषणा भी की गयी और दुबारा हृदय रोग के भय से भी दूर हो गया। मेरा पेशा एक इन्सपेक्टर के रूप में है और अब मैं काम करने के पूर्णतया काबिल हूँ। केवल एक काम मुझे करना पड़ता है और वह है साधारण यौगिक कसरत जिसके साथ सीमित खाद्य लेना पड़ता है। (स्वामीजी द्वारा निर्धारित भोजन)। मैं प्रत्येक मनुष्य से निवेदन करता हूँ जो भी कोई इस प्रकार की भयंकर रोगों से ग्रस्त हैं ओर जिन्होंने अपनी जिन्दगी की आशा छोड़ दी है, वे लोग यौगिक उपायों द्वारा अपने को सुधारने की चेष्टा करें। इन यौगिक-उपायों से न केवल रोग ही ठीक होते हैं बल्कि अच्छे स्वस्थ्य-जीवन के लिये भी इनका विशेष महत्व है।

हरीशचन्द्र बोस
इन्सपेक्टर
उ० फ० रेलवे
मालीगाँव, गोहाटी-११

मुझे २१-११-७१ को हृदय रोग से बहुत कष्ट मिला और मुझे रेलवे के बी० आर० सिंह अस्पताल में दाखिल किया गया। ढाई महीने के पश्चात् मुझे अस्पताल से छुट्टी मिली। डाक्टर के निर्देशानुसार मैं नियमित रूप से जाँच करवाने के लिये जाता रहा। मेरे साथ कई दूसरे हृदय-रोगी भी होते थे। मैंने उन मरीजों में एक बात का ध्यान दिया—उन लोगों में अपने जीवन के प्रति उत्साह समाप्त हो चुका था और अपने जिन्दगी के हर पल को गिन रहे थे। इससे मुझे बहुत निराशा हुई। भाग्य से उसी समय मैंने "अमृत बाजार" पत्रिका में एक लेख "भयंकर हृदय-रोग से बचो" पढ़ा। यह लेख डा० ए० के० मजुमदार द्वारा १५ अप्रैल १९७२

में लिखा था। इसमें उन्होंने यौगिक व्यायाम के बारे में लिखा हुआ था जो कि स्थायी रूप से हृदय-रोगी को आराम देता है। इस लेख को पढ़कर मेरे मन में काफी उत्साह बढ़ा।

वचपन से ही मुझे स्वामी शिवानन्द सरस्वती महाराज को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जिन्होंने सभी प्रकार के रोगों को केवल अपने यौगिक प्रक्रिया द्वारा ठीक किया था। अप्रैल महीने के प्रारम्भ से मैंने उनकी किताब "योगोवाले-रोगारोग्य" में दिये गये निर्देशनों का पालन करने लगा। इससे मुझे थोड़ा वहुत आराम मिलने लगा एवं मेरा उत्साह भी वढ़ा। इसके पश्चात् मैंने स्वयं स्वामीजी महाराज से ८ अक्टूबर १९७२ को उनके "वारानगर आश्रम" में भेंट की। तब से मैं उनके बताये गये "यौगिक व्यायाम" की अभ्यास करता हूँ। इस थोड़े से समय में ही मैंने अनुमान से अधिक फायदा पाया है। सचमुच यह आश्चर्यजनक सी बात है कि मेरे पुराने सभी रोग जैसे गुर्दे की दर्द, पेटकी खराबी, दस्त इत्यादि रोग जिनसे मेरा हृदय-रोग और भी वढ़ गया था, ठीक हो गये। अब मैं यह महसूस करता हूँ तथा पक्का विश्वास भी है कि मैं भविष्य में कभी और इस भयंकर हृदय-रोग से कष्ट नहीं पाऊँगा।

देवदास घोष
8F, वीरपारा लेन,
कलकत्ता-३०

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

हमलोगों के द्वारा प्रकाशित

अन्यान्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

अंग्रेजी विभाग :

१. यौगिक थेरपी या यौगिक वे टू क्योर डिजीजेज :

इसमें लगभग सभी साधारण एवं कठिन रोगों की चिकित्सा का उपाय यौगिक पद्धति के द्वारा वतलाया गया है। जो अपने शरीर एवं जीवन को पूर्णतः रोगमुक्त रखना चाहते हैं वे इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य अपने पास रखें। मूल्य—वारह रुपये।

२. ब्रह्मचर्य फॉर ब्वॉयज एण्ड गर्ल्स :

यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सच्चा पथ-प्रदर्शक एवं उनके चरित्र निर्माण में सहायक सिद्ध होगा। मूल्य—दो रुपये पचास पैसे।

३. बिल्ड न्यू इंडिया एण्ड ए न्यू वर्ल्ड :

यह पुस्तक मानवीय सामाजिक जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में एवं मानव के शारीरिक एवं मानसिक ह्रास के कारणों को दूर करने में सच्चा पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा। मूल्य—दो रुपये।

हिन्दी विभाग :

१. छात्र एवं छात्राओं का ब्रह्मचर्य : (शीघ्र ही प्रकाशित होगा)
मूल्य : दो रुपये

२. नवीन भारत की रचना के उपाय : (शीघ्र ही प्रकाशित होगा)
मूल्य : दो रुपये

३. योग और स्वस्थ्य जीवन : मूल्य : पचास पैसे मात्र

बंगला विभाग :

१. योग बले रोग आरोग्य :	मूल्य : दस रुपये
२. सहज यौगिक व्यायाम (प्रथम खण्ड) :	,, तीन रुपये
३. सहज यौगिक व्यायाम (द्वितीय खण्ड) :	,, तीन रुपये
४. खाद्य नीति ओ शिशु पालन विधि :	,, तीन रुपये
५. छात्र-छात्रीर ब्रह्मचर्य :	,, दो रुपये
६. ईशोपनिषद् :	,, तीन रुपये

मराठी विभाग :

१. योग ने रोग निवारण :	मूल्य : बारह रुपये

योगेश्वर :

यह हमारे द्वारा प्रकाशित पत्रिका है जिसमें कि योग सम्बन्धी लेख एवं चर्चायें, बंगला, असमिया एवं अंग्रेजी भाषा में रहती हैं।

हमारा केन्द्रीय आश्रम :

उमाचल योगाश्रम

कामाख्या, गौहाटी-१० (आसाम)

शाखा :

शिवानन्द योगाश्रम

४७१, नेताजी कॉलोनी, कलकत्ता-५०

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

१. उमाचल योगाश्रम, कामाख्या गौहाटी-१०, (आसाम)
२. शिवानन्द योगाश्रम, ४७१ नेताजी कॉलोनी, कलकत्ता-५०
३. उमाचल प्रकाशनी, ५८/१/७-बी, राजा दीनेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता-६
४. एक्मे एण्ड कम्पनी, ८/१, स्प्लानेड ईस्ट, कलकत्ता-१
५. लॉयर बुक स्टाल, पान बाजार, गौहाटी-१ (आसाम)
६. डॉ० एस० जी० वर्मन, रासायन फार्मेसी,
३, दरियागंज अन्सारी रोड, दिल्ली-६
७. रामकृष्ण एण्ड सन्स, १६-बी कर्नाट प्लेस नयी दिल्ली-१
८. चेतना लिमिटेड, ३४ रामपार्ट रो, वम्बई-१
९. लोक भारती १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद-१ (उ० प्र०)
१०. दि यूनिवर्सल बुक स्टाल, दि माल, कानपुर-४ (उ० प्र०)
११. सर्वोदय साहित्य भण्डार, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर
१२. सर्वोदय बुक स्टाल, हावड़ा स्टेशन, हावड़ा
१६. महेश लाइब्रेरी, २/१ श्यामाचरण दे स्ट्रीट, कलकत्ता-१२
१४. पीपुल्स बुक फोरम, पान वाजार, गौहाटी-१ (आसाम)

आसन एवं मुद्राओं के चित्र

अर्द्ध-कूर्मासन (पृष्ठ ३२५)

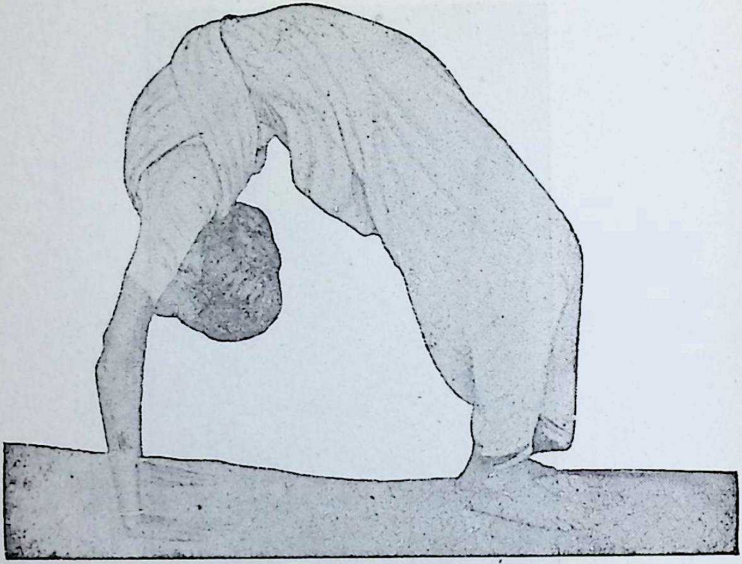

अर्द्ध-चक्रासन (पृष्ठ ३२५)

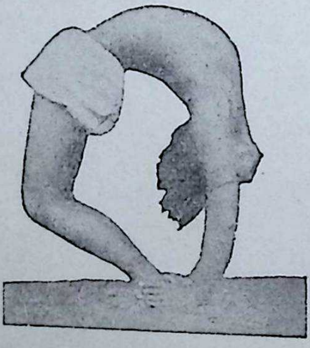

चक्रासन

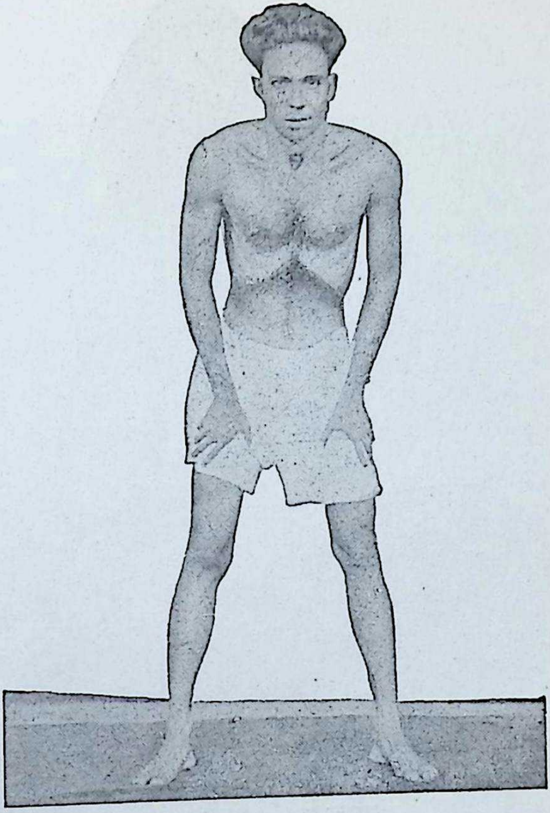

उड्डीयन बन्ध मुद्रा (पृष्ठ ३२७)

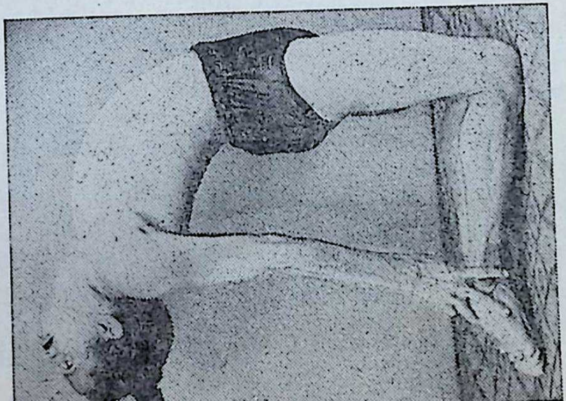

उष्ट्रासन (पृष्ठ ३२८)

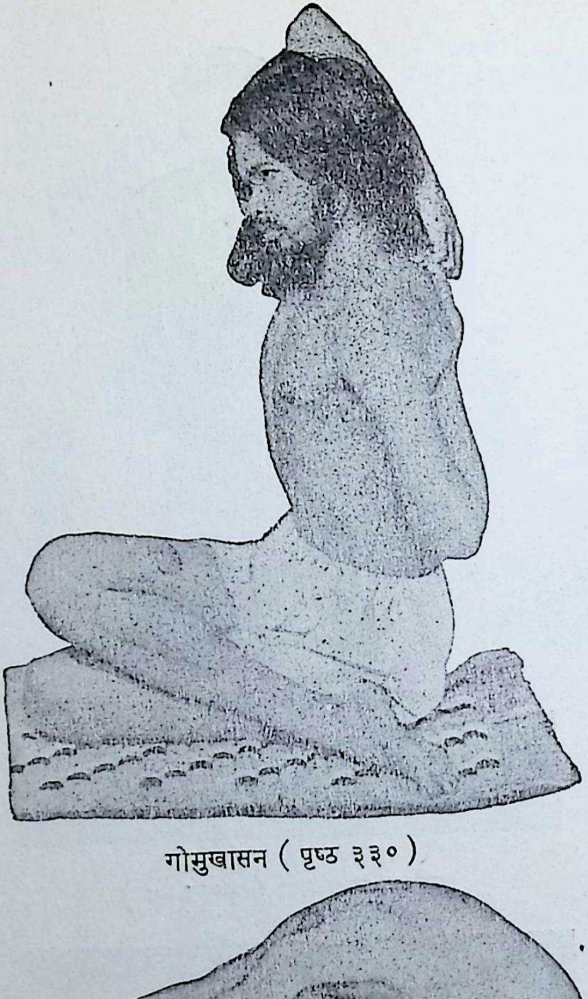

गोमुखासन (पृष्ठ ३३०)

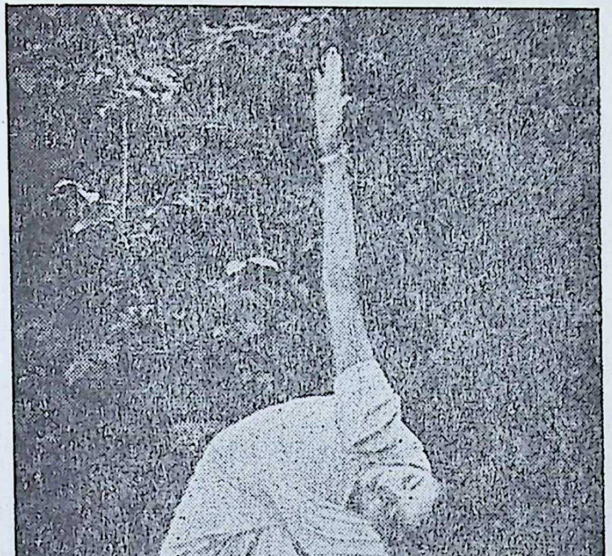

त्रिकोणासन (पृष्ठ ३३१)

धनुरासन (पृष्ठ ३३१)

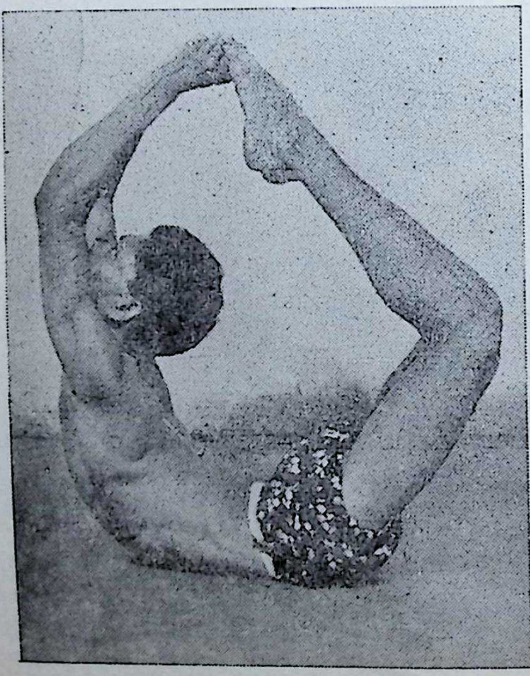

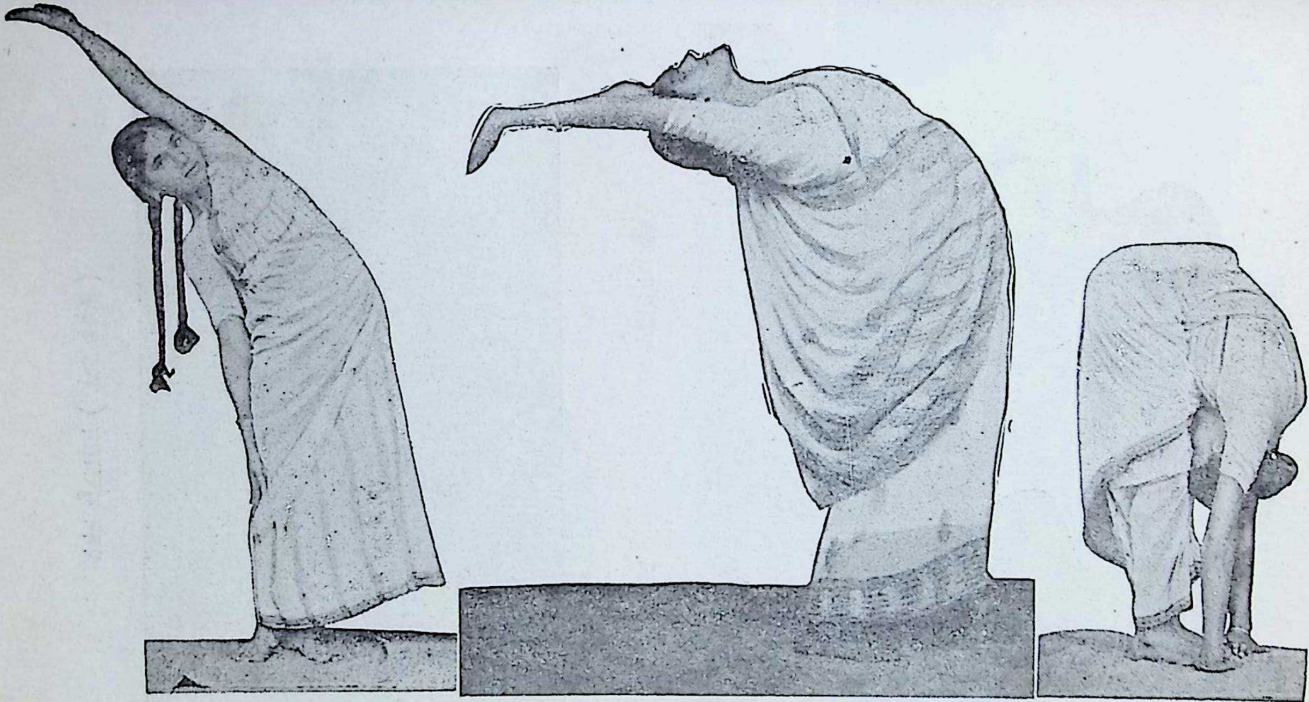

पादहस्तासन (पृष्ठ ३३३)

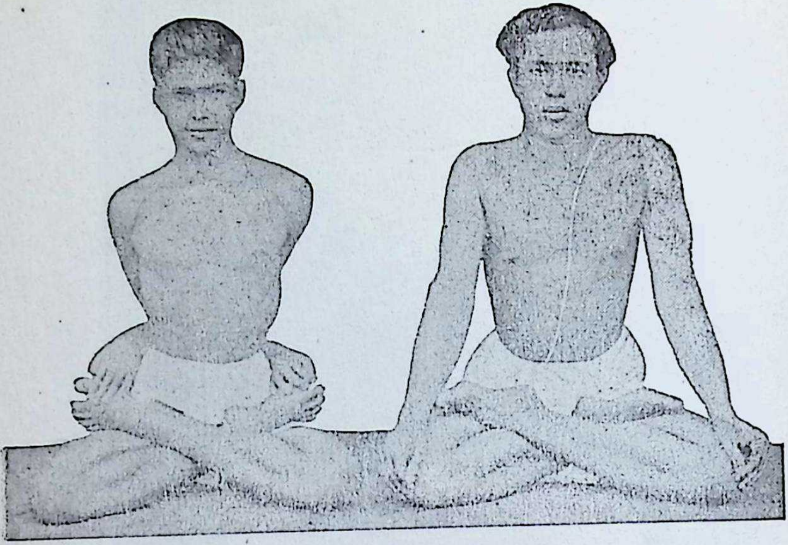

बद्ध पद्मासन पद्मासन (पृष्ठ ३३२)

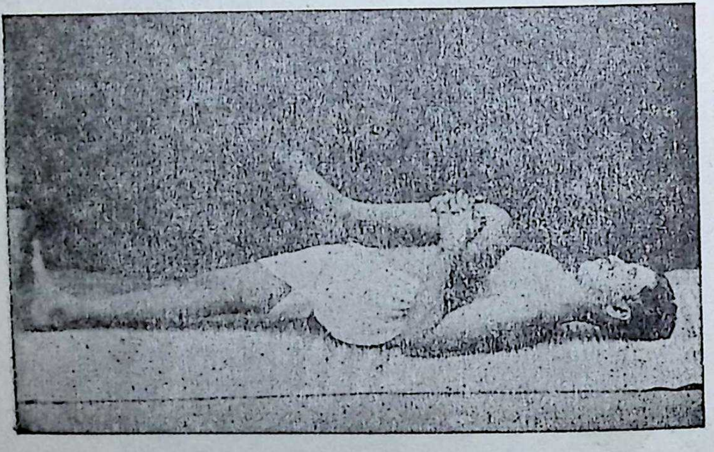

पवन मुक्तासन (पृष्ठ २३५)

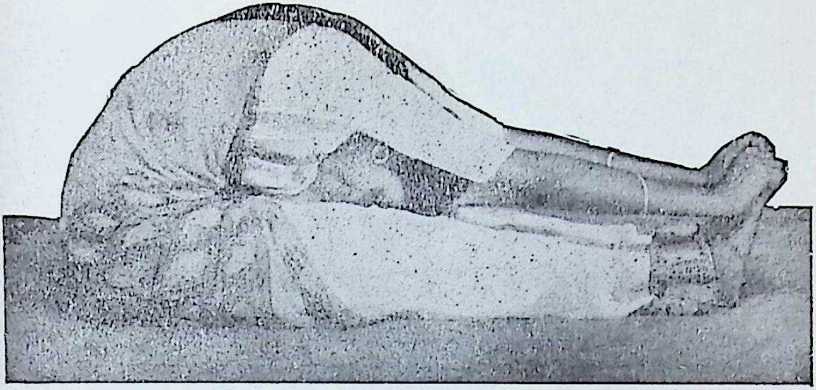

पश्चिमोत्तासन (पृष्ठ ३३५)

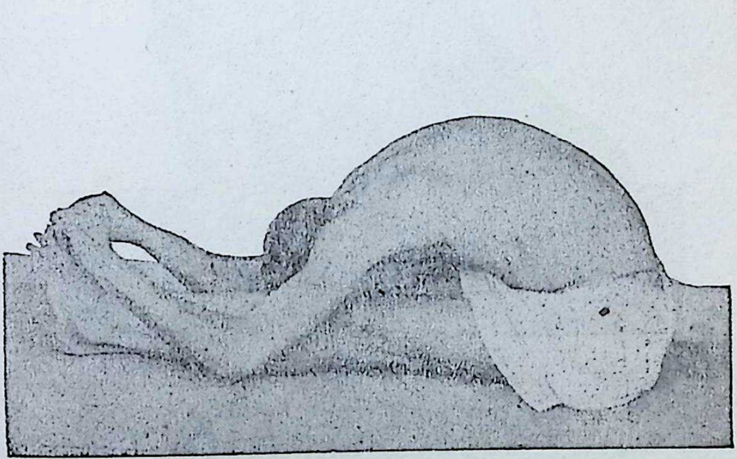

पश्चिमोत्तासन नं० २

वज्रासन (पृष्ठ ३३७)

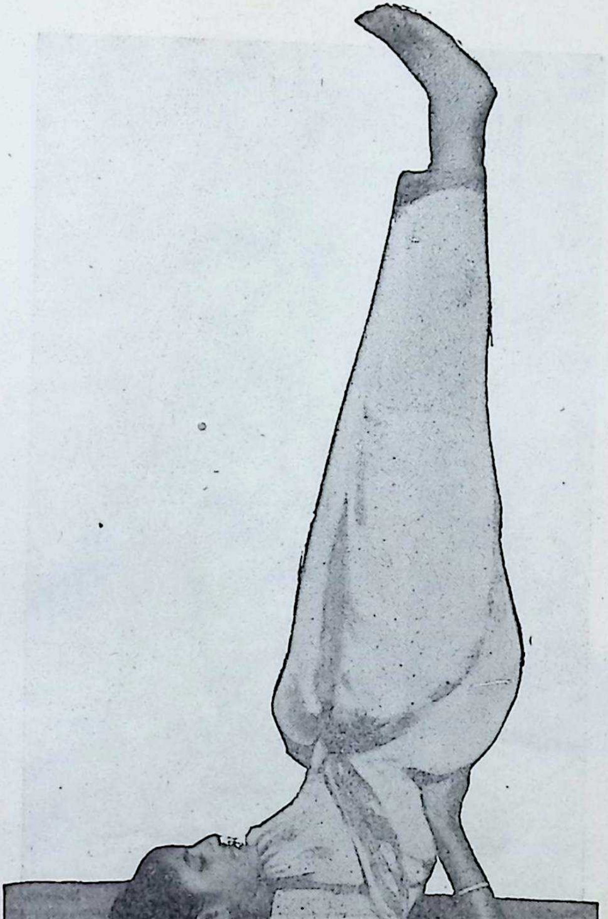

विपरीतकरणी मुद्रा (३३८)

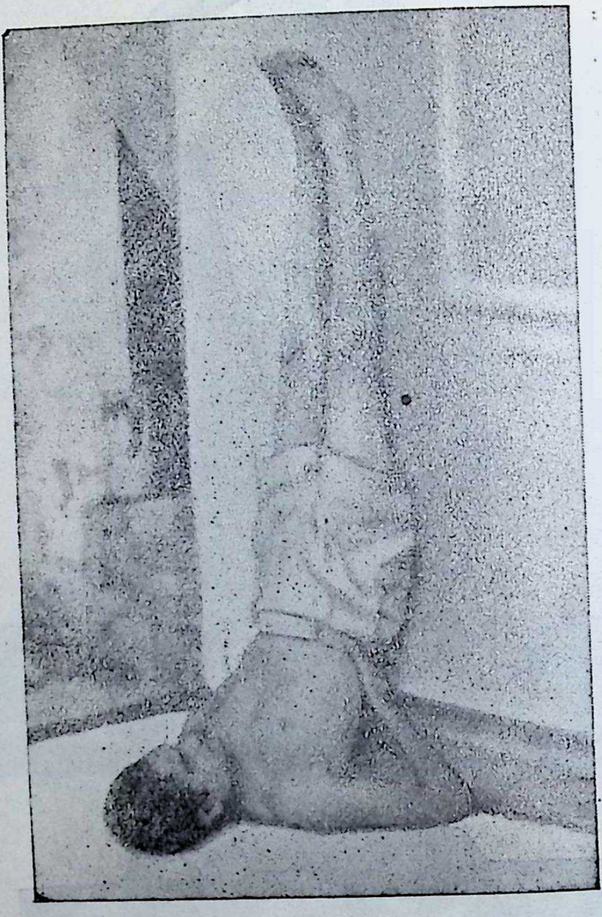

सहज विपरीतकरणी मुद्रा (पृष्ठ ३४०)

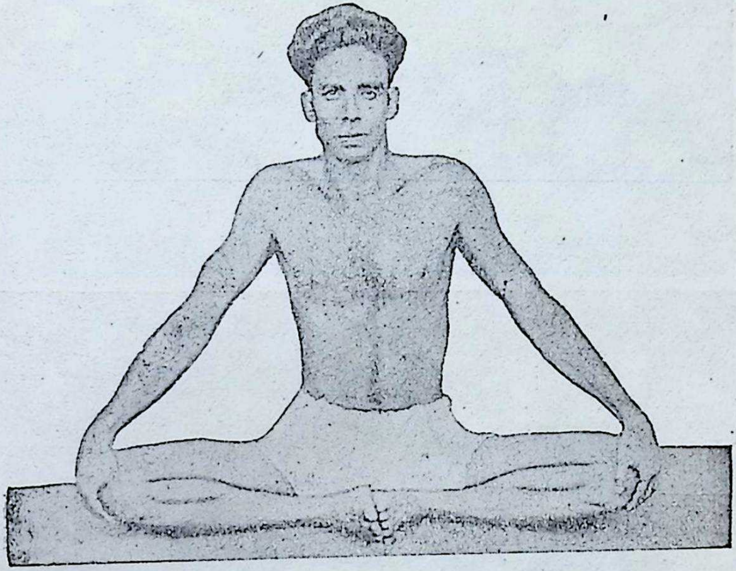

भद्रासन (पृष्ठ ३४०)

भुजंगासन (पृष्ठ ३४०)

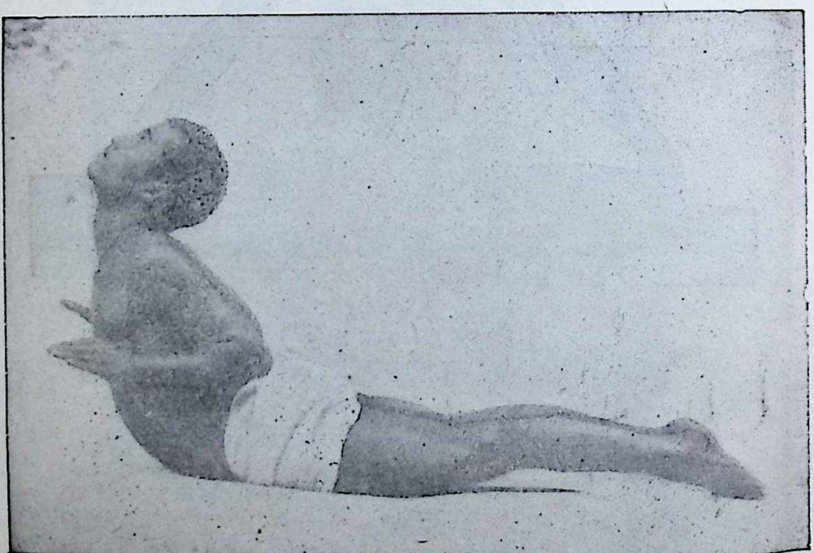

भुजंगासन न० २

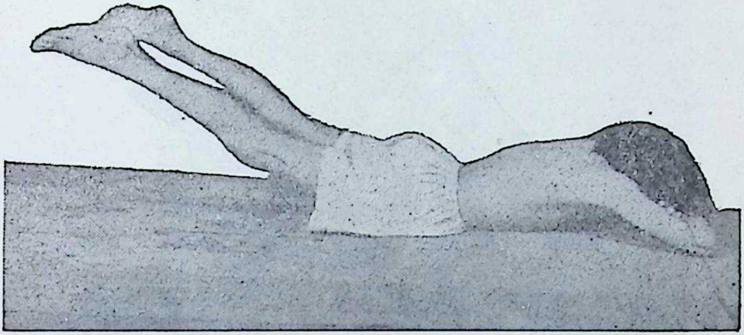

मकरासन (पृष्ठ ३४१)

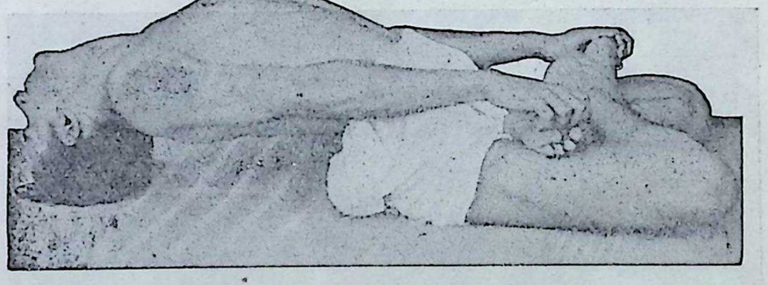

मत्स्यासन (पृष्ठ ३४२)

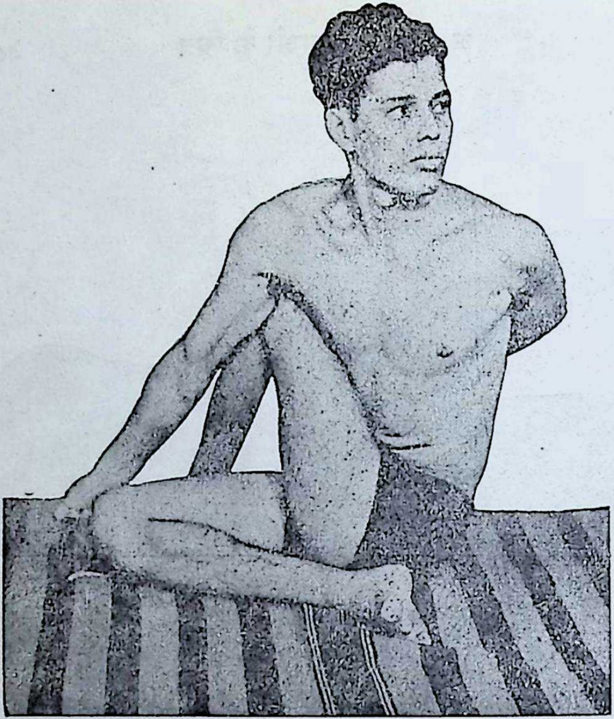

अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन (पृष्ठ ३४३)

मयूरासन (पृष्ठ ३४४)

शीर्षासन या मस्तक मुद्रा (पृष्ठ ३४५)

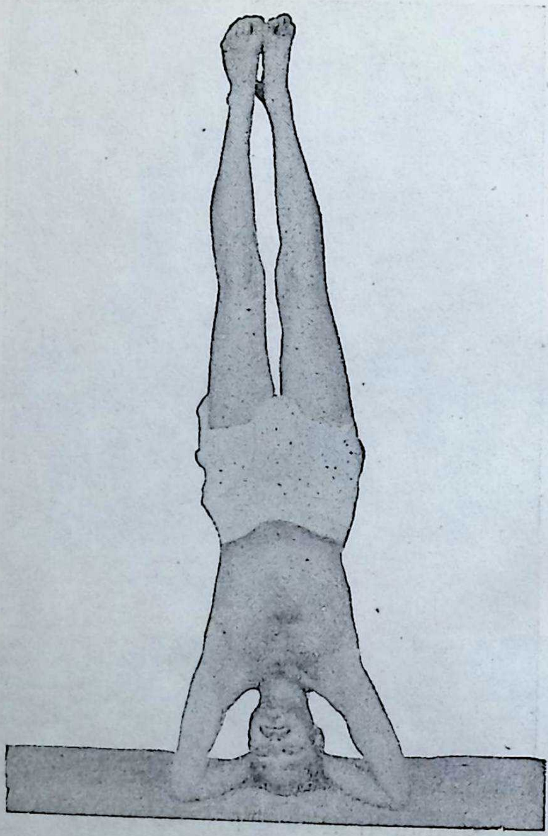

शीर्षासन या मस्तक मुद्रा न० २ (पृष्ठ ३४५)

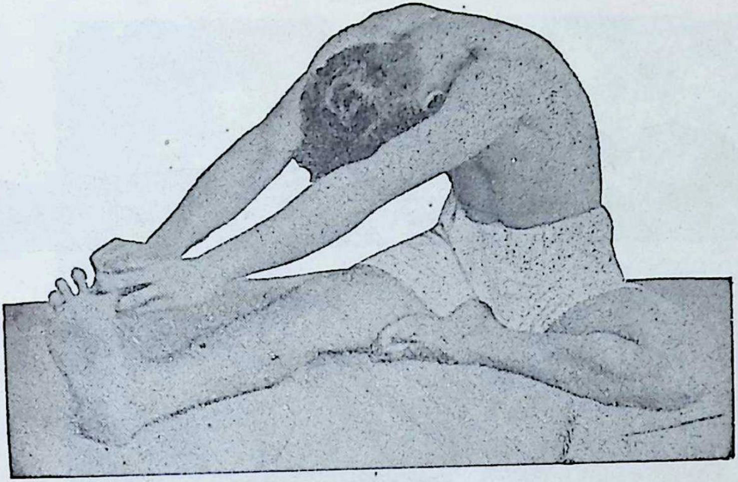

महासुद्रा (पृष्ठ ३५०)

योग सुद्रा (पृष्ठ ३५३)

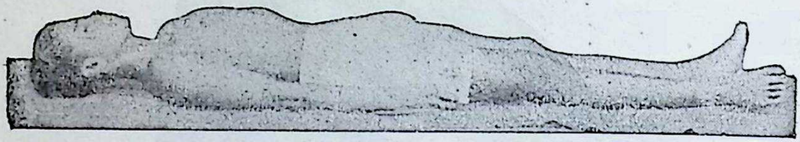

शवासन (पृष्ठ ३५७)

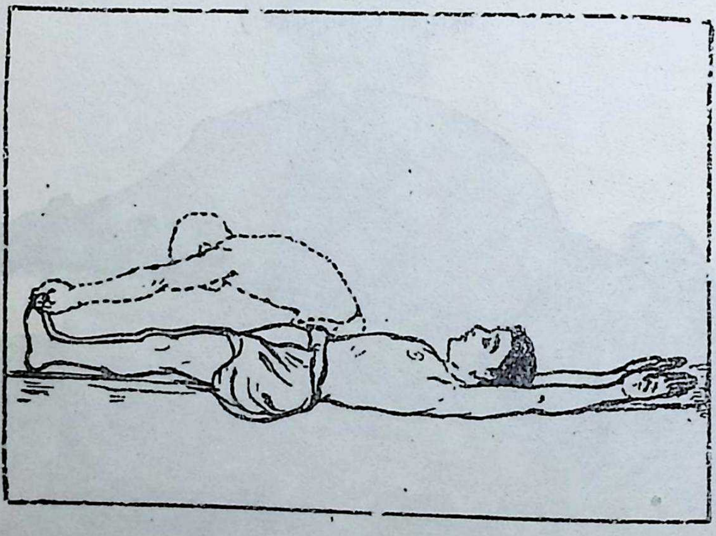

शयन पश्चिमोत्तान (पृष्ठ ३३७).

शलभासन (पृष्ठ ३५६)

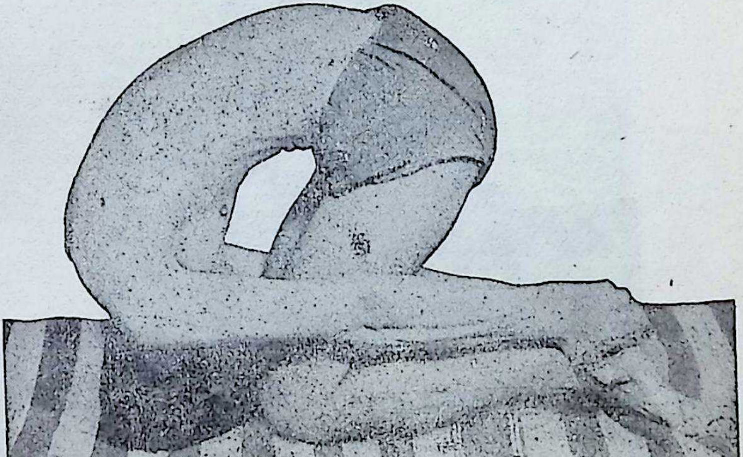

शशागांसन (पृष्ठ ३५७)

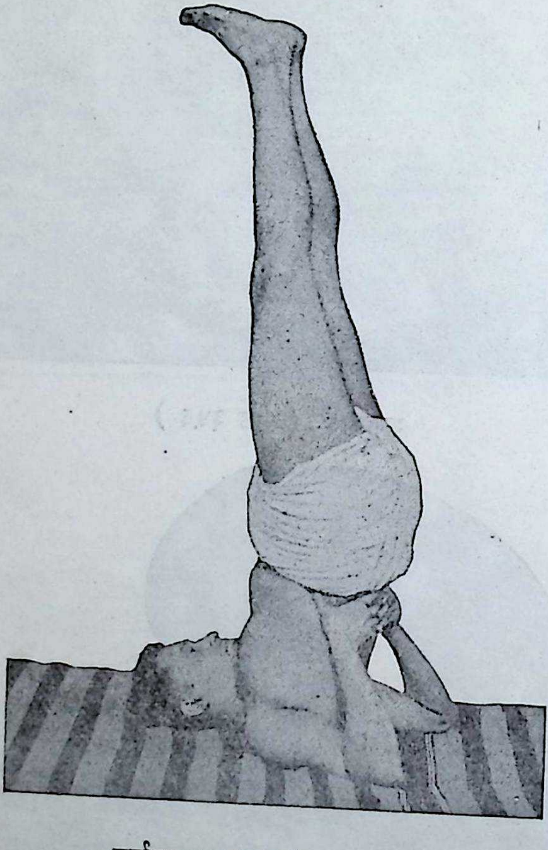

सर्वाङ्गसाधन मुद्रा (पृष्ठ ३५६)

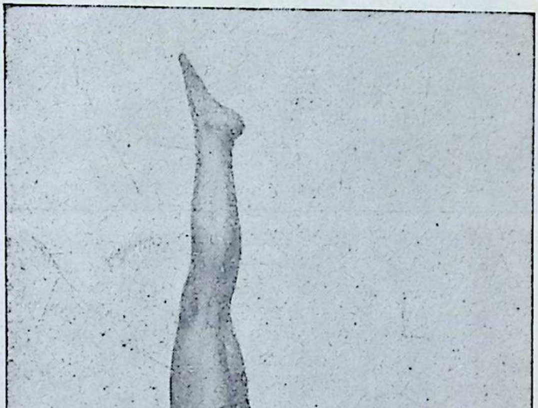

सर्वाङ्गसाधन मुद्रा न० २

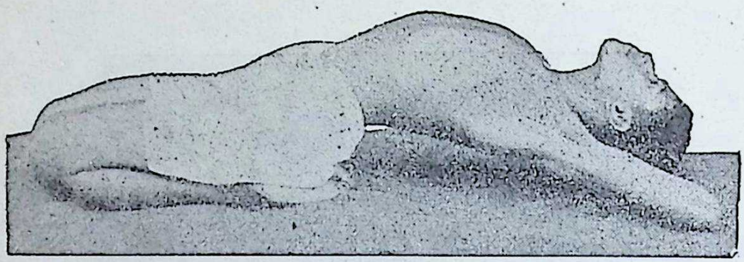

सुप्त वज्रासन

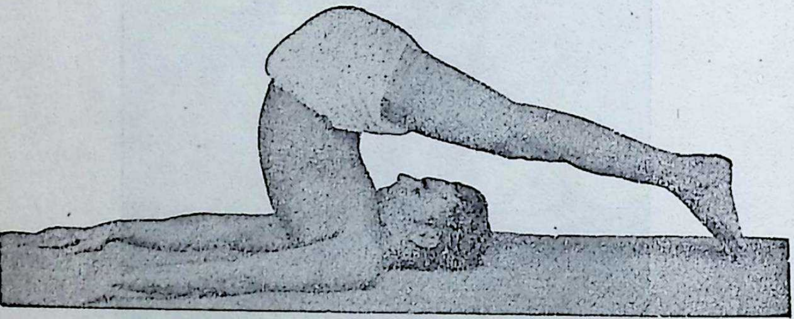

हलासन (पृष्ठ ३६२)

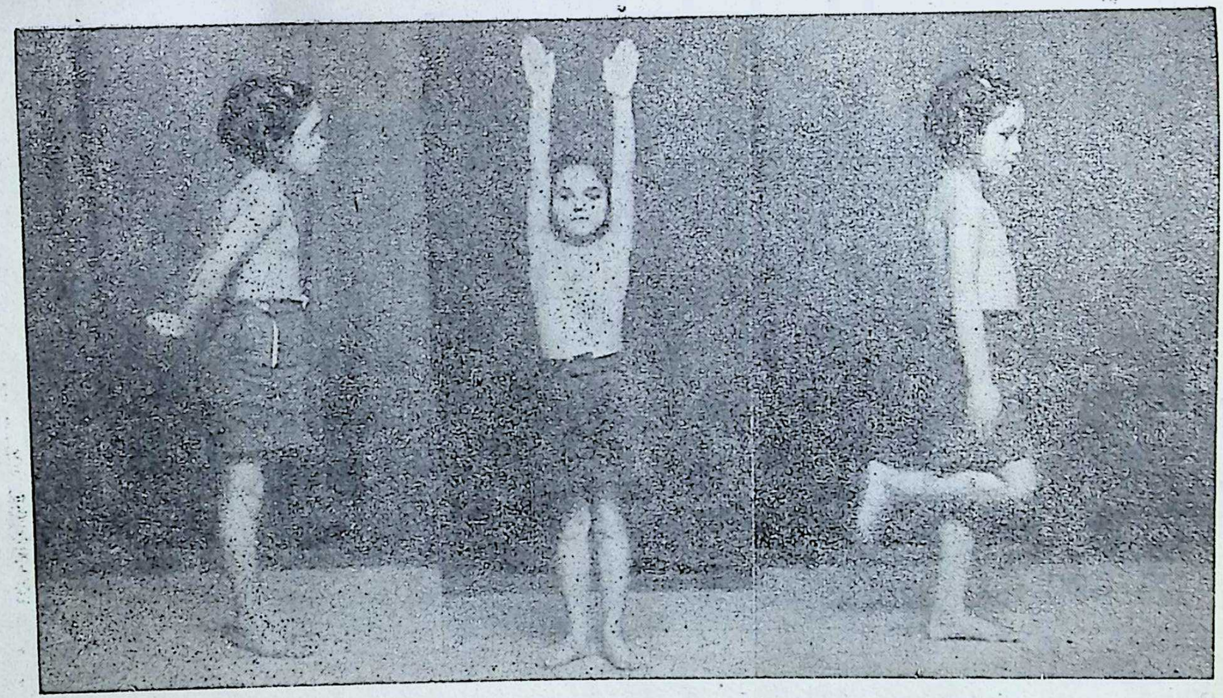

पाश्चात्य प्राणायाम (पृष्ठ ३७४)

वारिसार धौति (पृष्ठ ३८०)

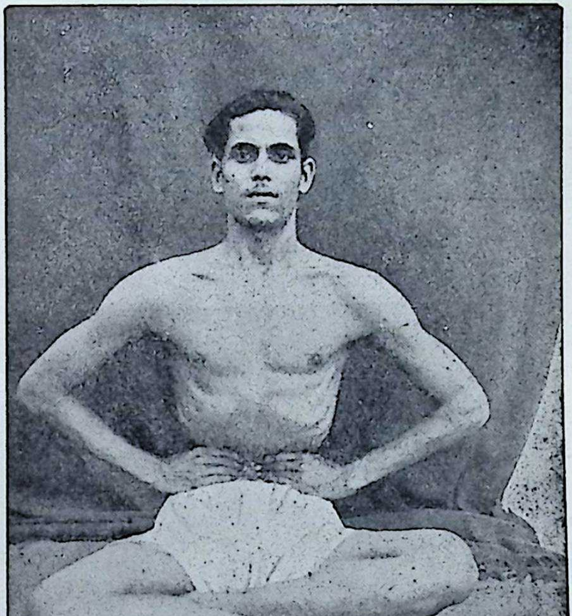

सहज अग्निसार धौति (पृष्ठ ३८२)

विभक्तासन

नौली (पृष्ठ ३८६)

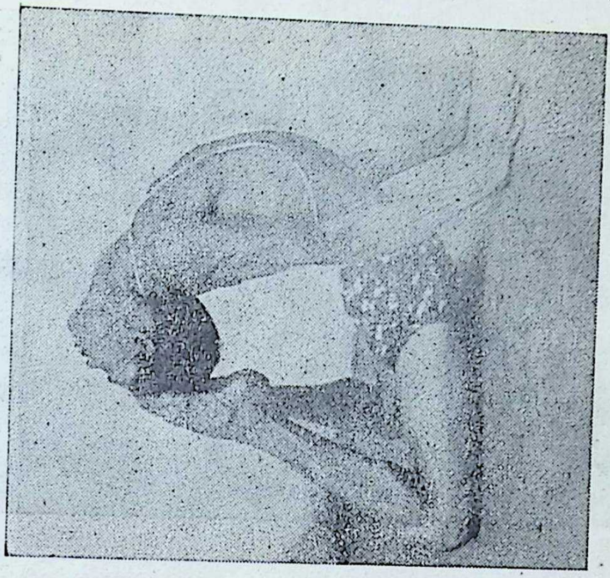

भुजंगासन ३

सूत्र नेति (पृष्ठ ३८४)

ॐकारासन

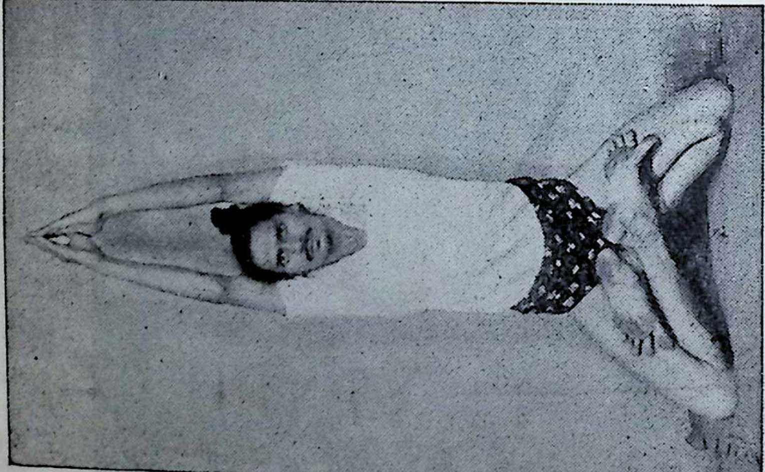

पर्वतासन

वर्णानुक्रमिक-सूची

विषय	पृष्ठांक
प्रथम संस्करण की भूमिका	१
प्रथम परिच्छेद	६-२३०
योग शास्त्र में शरीर विज्ञान एवं रोग निदान	६
योग शास्त्र पर एक दृष्टि	६
लय-योग और स्वरोदय योग	१२
विकारों के स्थूल प्रभाव	११
हमारी भौतिक देह और ईश्वरीय सृष्टि	१४
द्वितीय परिच्छेद	२४-३८०
ग्रन्थियों का विवरण	२४
अग्नि ग्रन्थि	२६
अहं ग्रन्थि	३३
पृथ्वी ग्रन्थि	३२
ब्रह्म ग्रन्थि	३५
भारत में ग्रन्थि विज्ञान पश्चिमी देन नहीं	३७
महत् ग्रन्थि	३४
व्योम ग्रन्थि अथवा नभो ग्रन्थि	२५
वरुण ग्रन्थि	३१
वायु ग्रन्थि	२७
तृतीय परिच्छेद	३९-६२०
आयुर्वेद में शरीर विज्ञान एवं रोग विज्ञान	३९
आयुर्वेद की विभिन्न शाखायें	४०

विषय	पृष्ठांक
प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान में रोग-जीवाणु और कीटाणु	६०
पित्त और उसके पाँच प्रकार	४६
मिस्र और ग्रीस की सभ्यता से और भी प्राचीन	३६
वायु और उसके पाँच प्रकार	४३
श्लेष्मा या कफ और उसके पाँच प्रकार	५१
त्रिदोष के प्रकोप और परिणाम	५८
चतुर्थ परिच्छेद	६३-३२१
चिकित्स्य रोगों की संक्षिप्त सूची	६३
अजीर्ण	६५
अन्त्रवृद्धि (Hernia)	६६
अन्त्रोपाङ्ग प्रदाह या एपेंण्डिसाइटिस	१०५
अर्द्धोन्माद (Mania)	७७
अम्ल	७१
अर्श (Pites)	७८
आंशिक क्लैव्य और क्लैव्य (Impotency)	८१
आमाशय (Dysentry)	८४
आरथ्राइटिस	८७
इन्फ्लुएञ्जा (Influenza)	९०
उदरामय (Diarrhoea)	९२
उन्माद (Insanity)	९३
उपदंश (Syphilis)	९८
ऋतु रोग (Menstrual Troubles)	१०१
एलर्जी	१०७
कच्छ्र या पामा (Itches and Seabs)	१०९
काला पानी (ज्वर) (Black water fever)	१११

विषय	पृष्ठांक
कॉरोनरी थ्राम्ब्रोसिस (Coronary thrombosis)	११३
कुष्ट (Leprosy)	११८
कृशता (Thinness)	१२२
कैंसर (कर्कट रोग)	१२४
कोष वृद्धि (Hydrocele)	१२८
कोष्टबद्धता	१३०
खाँसी (Cough)	१३४
गलगण्ड (Goitre)	१३७
गलग्रन्थि प्रदाह (Tonsilities)	१४०
ज्वर	१४३
जरायु की स्थानच्युति (Displacement of the Uterus)	१४८
टॉयफायड (Typhoid)	१५२
दन्त रोग (Tooth troubles)	१५८
दन्त वेष्ट रोग (Pyorrhoea)	१६१
दुष्ट व्रण (Carbuncle)	१६४
दृष्टि क्षीणता	१६५
धातु दौर्बल्य	१७२
नाक से रक्तस्राव (Epistaxis)	१७२
निमोनिया या वायु यन्त्र प्रदाह (Pneumonia)	१७३
पक्षाघात (Paralysis)	१७६
पाकस्थली का घाव या अन्त्रक्षत (Duodenal Ulcer & Gastric Ulcer)	१८०
पाण्डु रोग (Jaundice)	१८४
पित्त पथरी (Gall stone)	१८६
प्रदर (Leucorrhoea)	१९०
प्रमेह (Gonorrhoea)	१९३

विषय	पृष्ठांक
प्लीहा एवं यकृत के रोग (Liver & spleen Disease)	१६५
प्लुरिसी (Pleurisy)	१६८
बन्ध्यात्व (Sterility)	२०३
वसन्त (Small pox & Chicken pox)	२६८
वहरापन	२०५
वहुमूत्र रोग (Dıabetes)	२०७
वाधक वेदना	२७४
वेरी-वेरी	२१२
भगन्दर	२१८
मदन ग्रंथि की निवृद्धि (Prostate Enlargement)	२२५
मलेरिया (Malaria)	२२०
मवाद-युक्त, व्रण और फोड़े फुंसी (Abscess Boils)	२२८
मुँहासा अथवा यौवन पीड़िका (Acme)	२३१
मूर्च्छा (Hysteria & Fainting)	२३४
मूत्र-अश्मरी (पथरी) (Renal calculi)	२३८
मेद रोग (Obesity)	२४०
रक्त-चाप वृद्धि	२४३
रक्त पित्त एवं रक्त वमन	२४८
रक्तहीनता	२५२
राज यक्ष्मा (Tuberculosis)	२५६
वात (Rheumatism)	२७१
वृहदन्त्र प्रदाह (Colitis)	२७६
श्लीपद रोग (Elephantiasis)	२८६
श्वास रोग	२७८
श्वास नाली प्रदाह (Bronchitis)	२८४
श्वेत कुष्ट (Leucoderma)	२६५

विषय	चित्रांक	पृष्ठांक
शिरो रोग (Headache)		२८६
शूल-व्याधि		२९०
शोथ रोग (Dropsy)		२९७
संन्यास एवं मृगी रोग		३००
सर्दी		३०७
स्नायु दौर्बल्य (Nervous debility)		३०८
स्वप्न-दोष (Wet dreams)		३१०
हृद्-रोग (Heart disease)		३१३
हैजा अथवा विसूचिका		३१८
हैजा (गम्भीर)		३२१
पंचम परिच्छेद		३२२-३७८
आसन मुद्रा और प्राणायाम		३२२
आसन और मुद्रायें		३२३
अंगुष्ठासन		३२५
अर्द्ध कूर्मासन	५६७	३२५
अर्द्ध चक्रासन	५६८	३२५
अश्विनी मुद्रा		३२६
आकर्ण धनुरासन		३२७
उड्डीयन बन्ध मुद्रा	५६९	३२७
उष्ट्रासन	५६९	३२८
क्रम-वर्धमान व्यायाम		३७६
कुक्कुटासन		३२९
गोमुखासन	५७०	३३०
जानुशिरासन	५७०	३३०
त्रिकोणासन	५७१	३३१

विषय	चित्रांक	पृष्ठांक
धनुरासन	५७२	३३१
पद्मासन	५७४	३३२
पद हस्तासन	५७३	३३३
पवन-मुक्तासन	५७४	३३५
पश्चिमोत्तानासन	५७५	३३५
पाश्चात्य प्राणायाम	५९१	३७४
प्राणायाम		३६४
भद्रासन	५७९	३४०
भ्रमण प्राणायाम		३७१
भुजंगासन	५८०	३४०
मकरासन	५८१	३४१
मत्स्य मुद्रा या मत्स्यासन	५८१	३४२
मत्स्येन्द्रासन (अर्द्ध)	५८२	३४३
मयूरासन	५८२	३४४
मस्तक मुद्रा या शीर्षासन	५८३/४	३४५
महाबन्ध मुद्रा		३४८
महा मुद्रा	५८५	३५०
महा वेध मुद्रा		३४९
मूल बन्ध मुद्रा		३५०
योग मुद्रा	५८५	३५३
वज्रासन	५७६	३३७
विपरीत करणी मुद्रा	५७७.	३३८
शक्तिचालनी मुद्रा		३५४
शयन पश्चिमोत्तान	५८६	३३७
शलभासन	५८७	३५६
शवासन	५८६	३५७

विषय	चित्रांक	पृष्ठांक
शशांगासन	५८७	३५८
श्वास बदलने की क्रिया		३७५
सहज विपरीत करणी	५७८	३४०
सहज प्राणायाम		३६५
सर्वांग साधन मुद्रा	५८८/९	३५९
हलासन	५९०	३६२
षष्ठ परिच्छेद		३७९-४०३
आभ्यन्तरिक शुद्धि		३७९
अग्निसार धौति		३८२
अर्द्ध स्नान		३९७
उपवास की क्रिया		३९८
जल पीने के नियम		३९७
जल स्नान		३९४
टब स्नान		३९५
नासा पान		३८४
नियम या व्यवस्था पत्र		३९९
नेति-क्रिया	५९५	३८४
नौलि	५९४	३८६
पूर्ण स्नान		३९५
वमन धौति		३८०
वारिसार धौति	५९२	३८०
सहज अग्निसार धौति	५९३	३८२
सहज वस्तिक्रिया		३८८
साधारण स्नान		३९६
सूर्य स्नान		३९२

विषय	पृष्ठांक
सप्तम परिच्छेद	४०४-४१७
औषधि सेवन के दोष	४०४
औषधि का सीमित क्षेत्र	४१३
हमारा सत्परामर्श	४१०
अष्टम परिच्छेद	४१८-४५१
अस्वास्थ्यकर यौन जीवन	४१८
आदर्श दाम्पत्य जीवन	४२७
योग विद्या का विजय-अभियान	४३५
नवम परिच्छेद	४५२-५५५
खाद्य नीति और शिशु पालन विधि	४५२
अकाल-मृत्यु पर विजय	४६१
अण्डे	५००
आदर्श भोजन	४६५
औसतन ऊँचाई प्राप्त करने के उपाय	४७८
उत्तेजक वस्तुओं का उत्पादन रोको	५१६
क्या हम मांसाहारी हैं ?	४७६
कार्बो हाइड्रेट	४६५
खनिज लवण	४५७
खाद्य पदार्थों का विश्लेषण	५२१
चर्बी (Fats)	४६५
ताप मूल्य	५२८
दुग्ध चूर्ण के हानिकारक प्रभाव	५०३
नारियल का पानी	५५२
नारियल की उपादेयता	५४५

विषय	पृष्ठांक
नारियल दुग्ध बनाने की विधि	५५१
प्रोटीन	४६३
भुजिया और अरवा चावल	५०६
भोजन का नैतिक दृष्टिकोण	५१०
भोजन के विभिन्न अंश	४६३
माता का स्वास्थ्य	५४१
मांस, मछली और दाल	४६७
युद्ध की लिप्सा रोकने एवं शराब बन्दी के उपाय	४८७
रक्त	४७३
विटामिन	४६६
शिशु के लिये हानिकारक भोजन	५३५
शिशु के रोग की चिकित्सा	५३६
शिशु को स्नान कराने के नियम	५४०
शिशु पालन के नियम : भोजन	५२६
स्तन दूध से वंचित शिशु का भोजन	५३२
संतुलित भोजन	४७२
संक्षिप्त भारतीय भोजन विज्ञान	५०७
दशम परिच्छेद	५५६-५६०
मरीजों के पत्र	५५८
यौगिक अस्पताल	५५६
यौगिक अस्पताल का वार्षिक विवरण	५५७

...I have gone through all books of Swami Shivananda Saraswati Maharaj of Kamakhya, Assam, and I think his books are a great boon to the mankind......

Vaidya Babu Hari lal B. Trivedi
Balasinor, Gujrat

...We recommend this Yogic Therapy (योगसे रोग निवारण) strongly not only to the sick and the ailing but also to Medical Practitioners and physicians who, we believe, can learn a lot from it. We pay our respectful tributes to Swami Shivananda Saraswati of Assam for giving to the world his Yogic knowledge in such a clear and practical form for the benefit of the humanity at large...

CHETANA
34 Rampart Row, Bombay.

Comment on our New Book

"BUILD NEW INDIA AND A NEW WORLD"

I am very much impressed on going through your book—BUILD NEW INDIA AND A NEW WORLD. Dear Swamiji, I think, God Himself has written this book by your hand to save humanity, to guide human society in right way. I hope, God will write more noble books through your pen.

With best regard.

Meena Grikupels
Box 1128, Mena, Arkansas 71953 (U. S A.)

Dear Swamiji,

May I thank you for sending me a copy on 'Build New India and a New World' written by you. I went through it and found it extremely interesting. Your noble ideas for integration without caste, colour, creed or religion are perhaps highly philosophical in the atmosphere of our present day material world. I feel, however, that unless such ideas are propagated and practised, there will be no solution for the future peace of mankind. I only wish there were more noble souls like you to expand this philosophy so that gradually it spreads throughout the world.
With kind regards.

Yours sincerely,
Fazal A Fazalbhoy
President—Friends of Yoga Society
95-E Oomer Park. B. Desai Road, Bombay 26.
10th January, 1972